नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर-गुरुभ्यो नमः

सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

भाग 35



आगम ४३

"उत्तराध्ययनानि" मूलं एवं वृत्तिः [१]

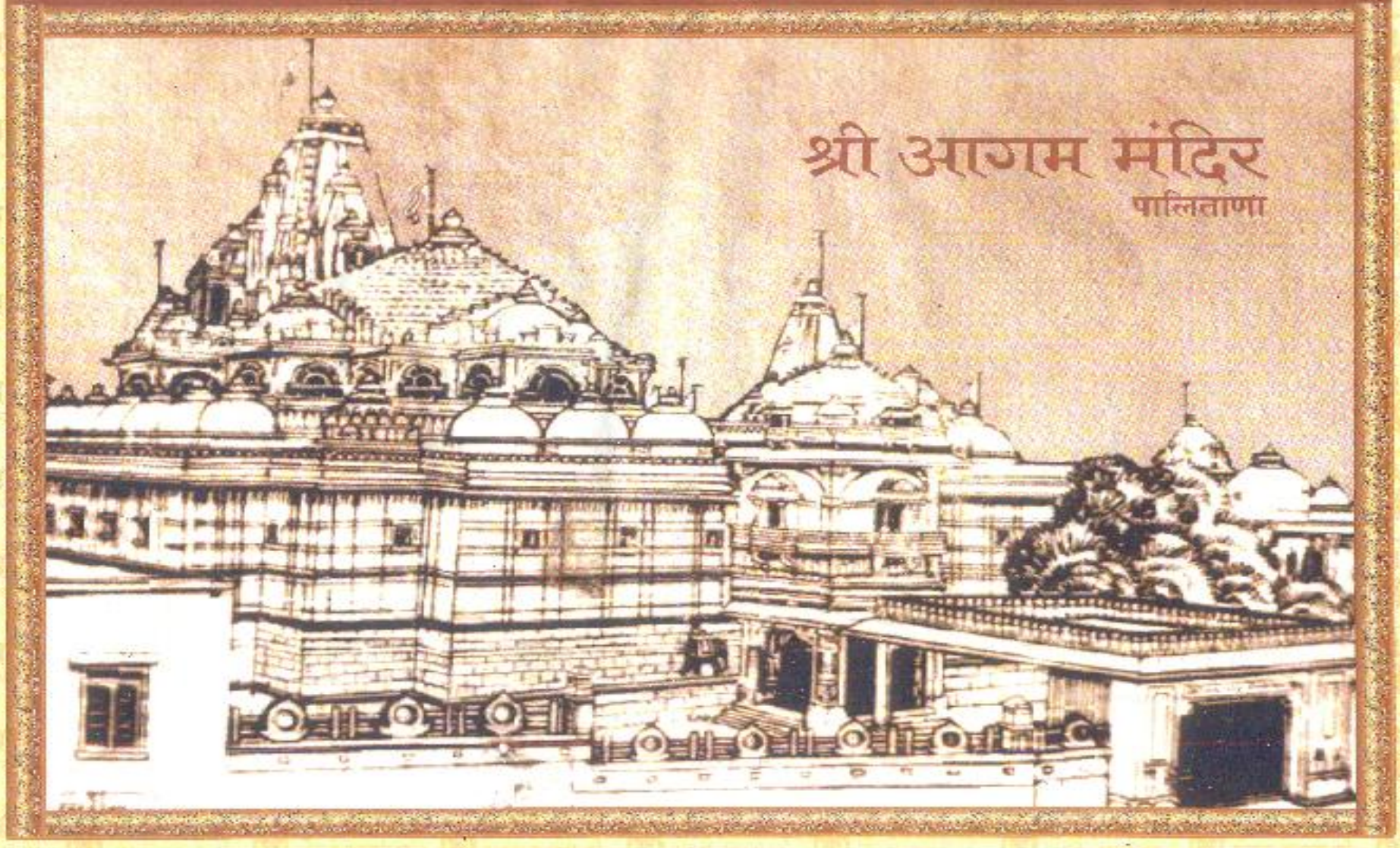
मूल संशोधक :- पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

अभिनव-संकलनकर्ता :- आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी [M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

पूज्य शासनप्रभावक आचार्यश्री हर्षसागरसूरिजी की प्रेरणा से

'वर्धमान जैन आगम मंदिर संस्था' पालिताणा

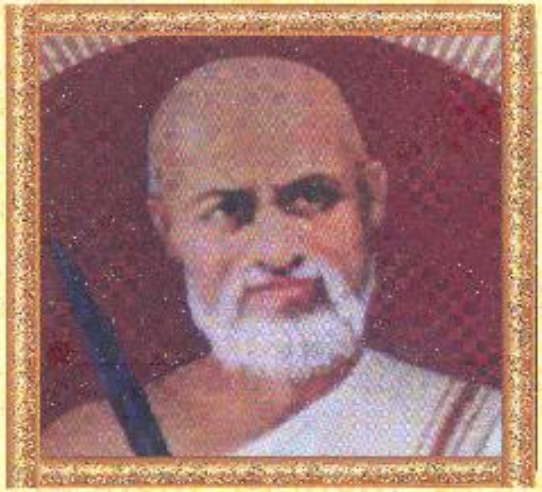
ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता



नमो नमो निम्मलदंसणस्स

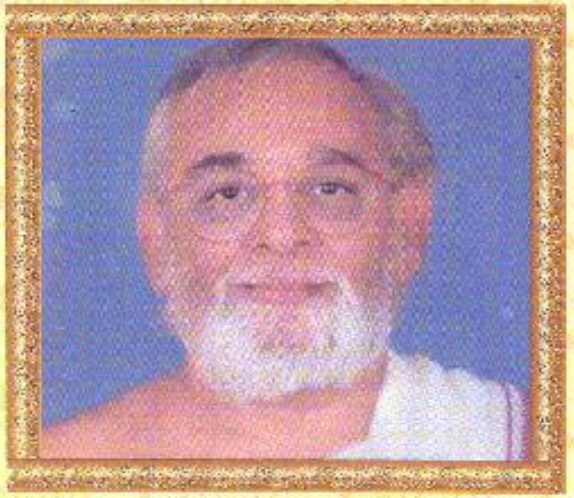
सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

मूल संशोधक



पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

अभिनव-संकलनकर्ता



आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदाबाद Mo 9825598855 / 9825306275



आगम

वाचना शताब्दी वर्ष

[भाग-३५] श्री उत्तराध्ययनानि (मूलसूत्रम्-४/१)

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य श्रीआनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर गुरूभ्यो नम:

“उत्तराध्ययनानि” मूलं एवं वृत्ति:

[मूलं + निर्युक्ति: + शान्तिसूरि-रचिता वृत्ति:]

[आद्य संपादकश्री]

पूज्य आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागर सूरीश्वरजी म॰ सा॰

(किञ्चित् वैशिष्ठ्यं समर्पितेन सह)

पुन: संकलनकर्ता→ मुनि दीपरत्नसागर (M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि)

28/07/2017, शुक्रवार, २०७३ श्रावण शुक्ल ५ ‘सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि’ श्रेणि भाग-35

श्री आगमोद्धारक-वाचना-शताब्दी-वर्ष-निमित्त ‘आगम-वृत्ति-मुद्रण-प्रोजेक्ट’

सामाचारी-संरक्षक, ज्ञानधनी, आगम-संशोधक, तीव्र-मेधावी, समाधिमृत्यु-प्राप्त, बहुमुखीप्रतिभाधारक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

◆ जिन्होने शुद्ध-श्रद्धा, सम्यक्-श्रुत आराधना, यथाख्यातचारित्र के प्रति गति और अंत समय देह-ममत्व के त्याग के द्वारा कायोत्सर्ग नामक अभ्यंतर-तप कि मिशाल कायम कि है ऐसे बहुश्रुत आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरजी महाराज का परिचय कराना मेरे लिए नामुमकिन है , फ़िर भी गुरुभक्ति बुद्धि से श्रद्धांजली स्वरुप एक मामुली सी झलक पैस करने का यह प्रयास मात्र है |

◆ चारित्र-ग्रहण के बाद अल्प कालमे जो अपने गुरुदेव की छत्रछाया से दूर हो गये , तो भी गुरुदेव के स्वर्ग-गमन को सिर्फ़ कर्मो का प्रभाव मानकर अपने संयम के लक्ष्य प्रति स्थिर रहते हुए अकेले ज्ञान-मार्ग कि साधना के पथ पर चले | पढाई के लिए ही कितने महिनो तक रोज एकासणा तप के साथ बारह किल्लोमिटर पैदल विहार भी किया | लेकिन अपने मंझिल पे डटे रहे, और परिणाम स्वरुप संस्कृत एवं प्राकृत भाषा का, प्राचीन लिपिओ का, व्याकरण-न्याय-साहित्य आदि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया | जैन आगमशास्त्रो के समुद्र को भी पार कर गए|

◆ एक अकेला आदमी भी क्या नहीं कर शकता? इस प्रश्न का उत्तर हमें इस महापुरुष के जीवन और कवन से मिल गया, जब वे चल पड़े देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के स्थापित पथ पर. बिना किसी सहाय लिए हुए सिर्फ अकेले ही "जैन-आगम-शास्त्रो" को दीर्घजीवी बनाने के लिए अनेक हस्तप्रतो से शुद्ध-पाठ तैयार किये | दो वैकल्पिक आगम, कल्पसूत्र और निर्युक्तिओ को जोड़कर ४५ आगम-शास्त्रो को संशोधित कर के संपादित किया | फिर पालीताणामें आगम मंदिर बनवाकर आरस-पत्थर के ऊपर ये सभी आगम-साहित्य को कंडारा , सूरतमें ताम्रपत्र पर भी अंकित करवाए और "आगम मंजूषा" नाम से मुद्रण भी करवा के बड़ी बड़ी पेटीमें रखवा के गाँव गाँव भेज दिए | वर्तमानकालमे सर्व प्रथमबार ऐसा कार्य हुआ |

◆ सिर्फ मूल आगम के कार्य से ही उन के कदम रुके नही थे , उन्होंने आगमो की वृत्ति, चूर्णि, निर्युक्ति, अवचूरी, संस्कृत-छाया आदि का भी संशोधन-सम्पादन किया | उपयोगी विषयो के लिए उन्होंने एक लाख श्लोक प्रमाण संस्कृत-प्राकृत नए ग्रंथो की रचना भी की | कितने ही ग्रंथो की प्रस्तावना भी लिखी | ये सम्यक्-श्रुत मुद्रित करवाने के लिए आगमोदय समिति, देवचंद लालभाई इत्यादि विभिन्न संस्था की स्थापना भी की |

◆ ज्ञानमार्ग के अलावा सम्मेतशिखर, अंतरीक्षजी, केशरियाजी आदि तीर्थरक्षा कर के सम्यक-दर्शन-आराधना का परिचय भी दिया | राजाओं को प्रतिबोध कर के और वाचनाओ द्वारा अपनी प्रवचन-प्रभावकता भी उजागर करवाई | बालदिक्षा, देवद्रव्य-संरक्षण, तिथि-प्रश्न इत्यादि विषयोमे सत्य-पक्षमें अंत तक दृढ़ रहे | जैनशासन के लिए जब जरुरत पड़ी तब अदालती कारवाईंओ का सामना भी बड़ी निडरता से किया था |

◆ सागरानंदजी के नाम से मशहूर हो चुके पूज्य आनंदसागरसूरीश्वरजीने अपने परिवार स्वरुप ८७० साधू-साध्वीजी भी शासन को भेट किये |

...ये थे हमारे गुरुदेव "सागरजी"... *.....मुनि दीपरत्नसागर...*

संयमैकलक्षी, उपधान-तप-प्रेरक, चारित्र-मार्ग-रागी, प्रवचन-पटु, सुपरिवार-युक्त

पूज्य गच्छाधिपतिआचार्यदेव श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

*** परमपूज्य आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी के पाट-परंपरामे हुए तिसरे गच्छाधिपति थे पूज्य आचार्य श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी , जो एक पून्यवान् आत्मा थे, दीक्षा ग्रहण के बाद अल्पकालमे ही एक शिष्य के गुरु बन गये | फ़िर क्या ! शिष्यो कि संख्या बढती चली , बढ़ते हुए पुन्य के साथ-साथ वे आखिर 'गच्छाधिपति' पद पे आरूढ़ हो गए | इस महात्मा का पुन्य सिर्फ शिष्यों तक सिमित नही था, वे जहा कहीं भी 'उपधान-तप' की प्रेरणा करते थे, तुरंत ही वहां 'उपधान' हो जाते थे | प्रवचनपटुता एवं पर्षदापुन्य के कारण उन के उपदेश-प्राप्त बहोत आत्माओने संयम-मार्ग का स्वीकार किया | खुद भी संयमैकलक्षी होने के कारण चारित्रमार्ग के रागी तो थे ही , साथसाथ ज्ञानमार्ग का स्पर्श भी उन का निरंतर रहेता था | आप कभी भी दुपहर को चले जाइए, वे खुद अकेले या शिष्य-परिवार के साथ कोई भी ग्रन्थ के अध्ययन-अध्यापनमें रत दिखाई देंगे |

*** ये तो हमने उनके जीवन के दो-तीन पहेलु दिखाए | एक और भी अनुसरणीय बात उन के जीवनमें देखने को मिली थी- 'आराधना-प्रेम'. कैसी भी शारीरिक स्थिति हो , मगर उन्होंने दोनों शाश्वती ओलीजी , [पोष}दशमी, शुक्ल पंचमी, त्रिकाल देववंदन, पर्व या पर्वतिथि के देववंदन आदि आराधना कभी नहीं छोड़ी | आखरी सालोमें जब उन को एहसास हो गया की अब 'अंतिम-आराधना' का अवसर नजदीक है, तब उन के मुहमें एक ही रटण बारबार चालु हो गया- "*अरिहंतनुं शरण, सिद्धनुं शरण, साधुनुं शरण, केवली भगवंते भाखेला धर्मनुं शरण*" इसी चार शरणो के रटण के साथ ही वे समाधि-मृत्यु-रूप सम्यक् निद्रा को प्राप्त हुए थे | ऐसे महान् सूरिवर को भावबरी वंदना | *** मुनि दीपरत्नसागर...

◆◆◆ श्री वर्धमान जैन आगम मंदिर संस्था, पालिताणा ◆◆◆

पूज्यपाद आनंदसागर-सूरीश्वरजी की बौद्धिक-प्रतिभा का मूर्तिमंत स्वरुप ऐसी इस संस्था की स्थापना विक्रम-संवत १९९९ मे महा-वद ५ को हुइ | *पूज्य आचार्य हर्षसागरसूरिजी की प्रेरणा से* जिन की तरफ़ से इस *सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि* के लिए संपूर्ण द्रव्य-सहाय की प्राप्ति हुइ |

शिल्प-स्थापत्य , शिलोत्कीर्ण आगम और समवसरण स्थित नयनरम्य ४५ चौमुख जिन-प्रतिमाजी से सुशोभित ऐसा ये 'आगममंदिर' है, जो शत्रुंजय-गिरिराज कि तलेटीमे स्थित है | वर्तमान २४ जिनवर, २० विहरमान जिनवर और १ शाश्वत मिलाकर ४५ चौमुखजी यहा बिराजमान है | जहां ४० समवसरण की रचना मेरु पर्वत के तिनो काण्ड के वर्णो के अनुसार चार अलग-अलग रंगो के आरस-पत्थर से बना है, देवो द्वारा रचित समवसरण के शास्त्र वर्णन-अनुसार आगम-मंदिर कि समवसरण का स्थापत्य है | ऐसी अनेक विशेषता से युक्त ये आगममंदिर है |

*** *मुनि दीपरत्नसागर...*

'सागर-समुदाय-एकता-संरक्षक, तीर्थ-उद्धार-कार्य-प्रवृत्त, गुणानुरागी'

इस "सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि' श्रेणि भाग १ से ४० के संपूर्ण अनुदान के प्रेरणादाता

पूज्य शासनप्रभावक आचार्य श्री हर्षसागरसूरिजी महाराज साहेब

पूज्यपाद स्व॰ गच्छाधिपति देवेन्द्रसागर-सूरीश्वरजी के विनयी शिष्य एवं दो गच्छाधिपतिओ के मुख्य सहायक के रुपमे 'सागर समुदाय' के सुचारु संचालक पूज्य हर्षसागरसूरिजी, जिन की प्रेरणा से ये "सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि" के मुद्रण के लिए संपूर्ण द्रव्यराशि प्राप्त हुई, उनका अत्यल्प परिचय यहां करेंगे| समुदाय-एकता के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हुए ये महात्मा *समुदाय के साधु-साध्वीजी* की आवश्यकताओकी पूर्ती के लिए भी प्रवृत्त रहेते है, प्राचीन-अर्वाचीन तीर्थो के जीर्णोद्धार एवं विकाश के लिए भी उत्साहित रहेते है, ज्ञान-क्षेत्र अछूता न रहे इसीलिए अनुमोदना, अनुदान एवं समय मिलने पर शास्त्र-वांचनमें भी रूचि रखते है | समुदाय के जरूरतमंद साध्वीजी भगवंतो के आवास का विषय हो या साध्वीजी के विहारमें मजदूर का वेतन चुकाना हो, ऐसे छोटे-छोटे कार्यो के प्रति भी उन का लक्ष्य रहेता है | दर्शन-शुद्धि के लिए जब उन्होंने समग्र भारतवर्ष के १०० साल तक के पुराने जिनालयो में १८ अभिषेक की प्रेरणा की, उस वक्त लगभग सभी अभिषेक-सामग्री की द्रव्य-शुद्धि का ख़याल रखते हुए अपनी मेधावी बुद्धि का परिचय दिया था, साथमे अनुकंपा भाव से पुजारी या विधि करानेवाले को यत्किंचित् बहुमान प्रगट करते हुए कुछ धन-राशि प्रदान करवाई |

ऐसे बहुगुण-संपन्न महात्मा पूज्य आचार्यश्री हर्षसागर-सूरिजी को हम भावभरी वंदना करते हुए इस श्रुतकार्य का प्रारंभ करने जा रहे है |

**** मुनि दीपरत्नसागर*

[कात्रज]पूना, कपडवंज, प्रभासपाटण आदि स्थानोमे आगममंदिर के प्रेरक, कर्मग्रंथ अभ्यासु, निस्पृह महात्मा

पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्य श्री दौलतसागर-सूरीश्वरजी महाराज साहेब

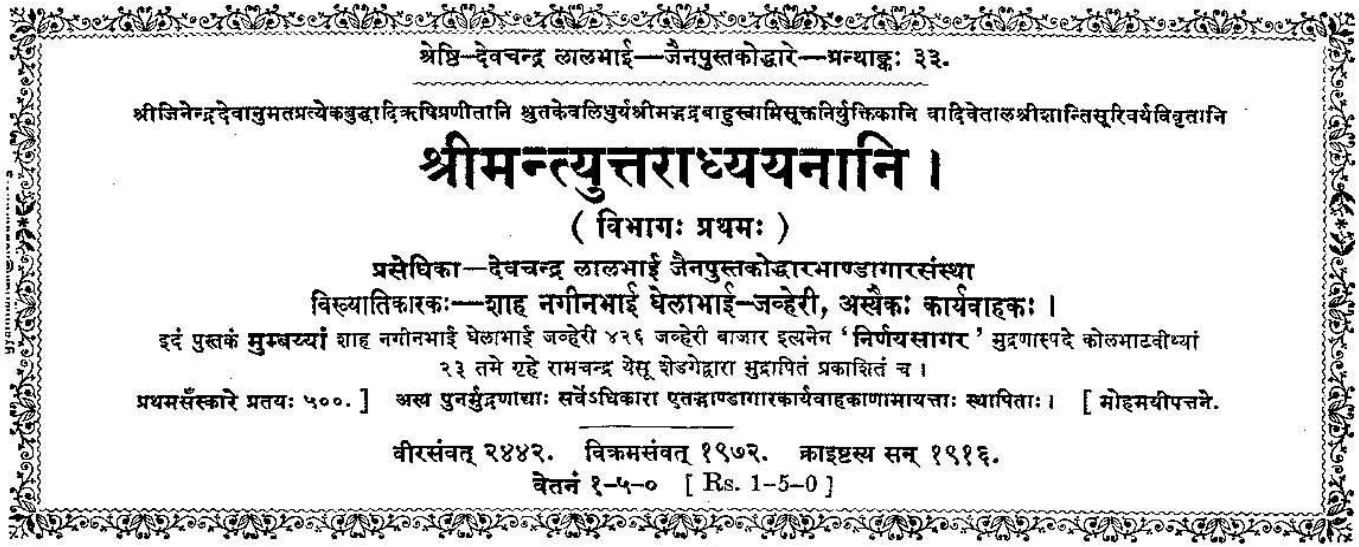
(एवं) अजातशत्रु, स्वाध्याय-रसिक, प्रशांतमूर्ती और अपने गुरु के प्रीतिपात्र

परम पूज्य आचार्य श्री नंदीवर्धनसागर-सूरिजी महाराज साहेब

इस पवित्र श्रुत-कार्यमे दोनो सूरिवरो का स्मरण करते हुए कोटि कोटि वंदना के साथ

.....मुनि दीपरत्नसागर

प्रत सूत्रांक [–] दीप अनुक्रम [–]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्तिः



श्रेष्ठि–देवचन्द्र लालभाई—जैनपुस्तकोद्धारे—ग्रन्थाङ्कः ३३.

श्रीजिनेन्द्रदेवानुमतप्रत्येकबुद्धादिऋषिप्रणीतानि श्रुतकेवलिधुर्यश्रीमद्भद्रबाहुस्वामिसूक्तनिर्युक्तिकानि वादिवेतालश्रीशान्तिसूरिवर्यविवृतानि

श्रीमन्त्युत्तराध्ययनानि ।

(विभागः प्रथमः)

प्रसेधिका—देवचन्द्र लालभाई जैनपुस्तकोद्धारभाण्डागारसंस्था

विख्यातिकारकः—शाह नगीनभाई धेलाभाई–जव्हेरी, अस्यैकः कार्यवाहकः ।

इदं पुस्तकं मुम्बय्यां शाह नगीनभाई धेलाभाई जव्हेरी ४२६ जव्हेरी बाजार इत्यनेन 'निर्णयसागर' मुद्रणास्पदे कोलभाटवीथ्यां २३ तमे गृहे रामचन्द्र येसू शेडगेद्वारा मुद्रापितं प्रकाशितं च ।

प्रथमसँस्करे प्रतयः ५००.] अस्य पुनर्मुद्रणाद्याः सर्वेऽधिकारा एतद्भाण्डागारकार्यवाहकाणामायत्ताः स्थापिताः । [मोहमयीपत्तने.

वीरसंवत् २४४२. विक्रमसंवत् १९७२. क्राइष्टस्य सन् १९१६.

वेतनं १–५–० [Rs. 1–5–0]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उत्तराध्ययन० सूत्रस्य मूल "टाइटल पेज"

मूलांक:	अध्ययनं	पृष्ठांक:		मूलांक:	अध्ययनं	पृष्ठांक:		मूलांक:	अध्ययनं	पृष्ठांक:
०००१	०१ विनयसूत्तं	०३१		०४०७	१३ चित्रसंभूतियं			०९६३	२५ यज्ञकियं	
००४९	०२ परिषह विभक्ति:	१५३		०४४२	१४ इषुकारियं			१००७	२६ सामाचारी	
००९५	०३ चातुरंगियं	२९०		०४९५	१५ सभिक्षुकं			१०५९	२७ खलुंकियं	
०११५	०४ असंस्कृतं	३८७		०५११	१६ ब्रह्मचर्यसमाधि०			१०७६	२८ मोक्षमार्गगति:	
०१२८	०५ अकाममरणियं	४६४		०५३९	१७ पापश्रमणियं			१११२	२९ सम्यक्त्वपराक्रमं	
०१६०	०६ क्षुल्लकनिर्ग्रन्थियं			०५६०	१८ संयतियं			११८९	३० तपोमार्गगति:	
०१७९	०७ औरभ्रियं			०६१४	१९ मृगापुत्रिकं			१२२६	३१ चरणविधि:	
०२०९	०८ कापिलियं			०७१३	२० महानिर्ग्रन्थियं			१२४७	३२ प्रमादस्थानं	
०२२८	०९ नमिप्रव्रज्या			०७७३	२१ समुद्रपालितं			१३५८	३३ कर्मप्रकृत्ति:	
०२९१	१० द्रुमपत्रकं			०७९७	२२ रथनेमियं			१३८३	३४ लेश्या-अध्ययनं	
०३२८	११ बहुश्रुतपूजा			०८४७	२३ केशीगौतमियं			१४४४	३५ अणगारमार्गगति:	
०३६०	१२ हरिकेशियं			०९३६	२४ प्रवचनमाता			१४६५	३६ जीवाजीवविभक्ति:	

[उत्तराध्ययनानि- मूलं एवं वृत्तिः] इस प्रकाशन की विकास-गाथा

यह प्रत सबसे पहले "उत्तराध्ययनानि सूत्र" के नामसे सन १९१६ (विक्रम संवत १९७२) में देवचन्द्र लालभाइ पुस्तकोद्धार संस्था द्वारा प्रकाशित हुई, इस के संपादक-महोदय थे पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी (सागरानंदसूरिजी) महाराज साहेब |

इसी प्रत को फिर अपने नामसे 'जिनशासन आराधना ट्रस्ट' की तरफ से आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजीने छपवाई , जिसमे उन्होंने खुदने तो कुछ नहीं किया, मगर इसी प्रत को ऑफसेट करवा के , ऊपर अपना नाम एवं अपनी प्रकाशन संस्था का नाम छाप दिया. यह स्पष्ट रूपसे एक प्रकारसे अदत्तादान ही है, ऐसी अनेक प्रतो के अगले दो पेज पलटकर या नए डालकर उन्होंने अपने नामसे छपवाइ है , इस तरह वो अपने आपको बड़ा आगम संरक्षक साबित करनेकी अनुचित चेष्टा कर चुके है |

इसी उत्तराध्ययन०-सूत्र की प्रत को ऑफसेट की मदद से दुसरोने भी प्रकाशित करवाई है , किसीने पूज्यश्री सागरानंदसूरीश्वरजी महाराजश्री का नाम बड़ी इज्जत के साथ अपनी जगह पे ही रखा है , और खुदका नाम पुनः संपादक रूप से पेश किया है तो किसीने अपना नाम आगे कर दिया है और पूज्य सागरानंदसूरीश्वरजीका नाम गौण कर दिया है या उड़ा दिया है |

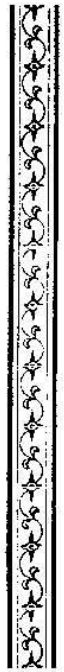
✣ हमारा ये प्रयास क्यों?✣ आगम की सेवा करने के हमें तो बहोत अवसर मिले, ४५-आगम सटीक भी हमने ३० भागोमे १२५०० से ज्यादा पृष्ठोमें प्रकाशित करवाए है, किन्तु लोगो की पूज्यश्री सागरानंदसूरीश्वरजी के प्रति श्रद्धा तथा प्रत स्वरुप प्राचीन प्रथा का आदर देखकर हमने इसी प्रत को स्केन करवाई, उसके बाद एक स्पेशियल फोरमेट बनवाया , जिसमे बीचमे पूज्यश्री संपादित प्रत ज्यों की त्यों रख दी , ऊपर शीर्षस्थानमे आगम का नाम , फिर अध्ययन--मूलसूत्र आदि के नंबर लिख दिए, ताँकि पढ़नेवाले को प्रत्येक पेज पर कौनसा अध्ययन, सूत्र, आदि चल रहे है उसका सरलतासे ज्ञान हो शके | बायीं तरफ आगम का क्रम और इसी प्रत का सूत्रक्रम दिया है , उसके साथ वहाँ 'दीप अनुक्रम' भी दिया है, जिससे हमारे प्राकृत, संस्कृत, हिंदी गुजराती, इंग्लिश आदि सभी आगम प्रकाशनोमें प्रवेश कर शके | हमारे अनुक्रम तो प्रत्येक प्रकाशनोमें एक सामान और क्रमशः आगे बढते हुए ही है , इसीलिए सिर्फ क्रम नंबर दिए है, मगर प्रत में गाथा और सूत्रों के नंबर अलग-अलग होने से हमने जहां सूत्र है वहाँ कौंस [-] दिए है और जहां गाथा है वहाँ ||-|| ऐसी दो लाइन खींची या 'गाथा' शब्द लिखा है| हर पृष्ठ के नीचे विशिष्ठ फूटनोट दी है |

शासनप्रभावक पूज्य आचार्यश्री हर्षसागरसूरिजी म०सा० की प्रेरणासे और श्री वर्धमान जैन आगममंदिर, पालिताणा की संपूर्ण द्रव्य सहाय से ये 'सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि' भाग-३५ का मुद्रण हुआ है, हम उन के प्रति हमारा आभार व्यक्त करते है |

.....मुनि दीपरत्नसागर.

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



श्रेष्ठिदेवचन्द्रलालभाई-जैनपुस्तकोद्धार-ग्रन्थाङ्के—

अर्हम्

पूर्वोद्धृतजिनभाषितश्रुतस्थविरसंदब्धानि ।

श्रीमद्भद्रबाहुस्वामिसंकलितनिर्युक्तियुतानि ।

श्रीशान्त्याचार्यविहितशिष्यहिताख्यवृत्तियुक्तानि ।

श्रीउत्तराध्ययनानि ।

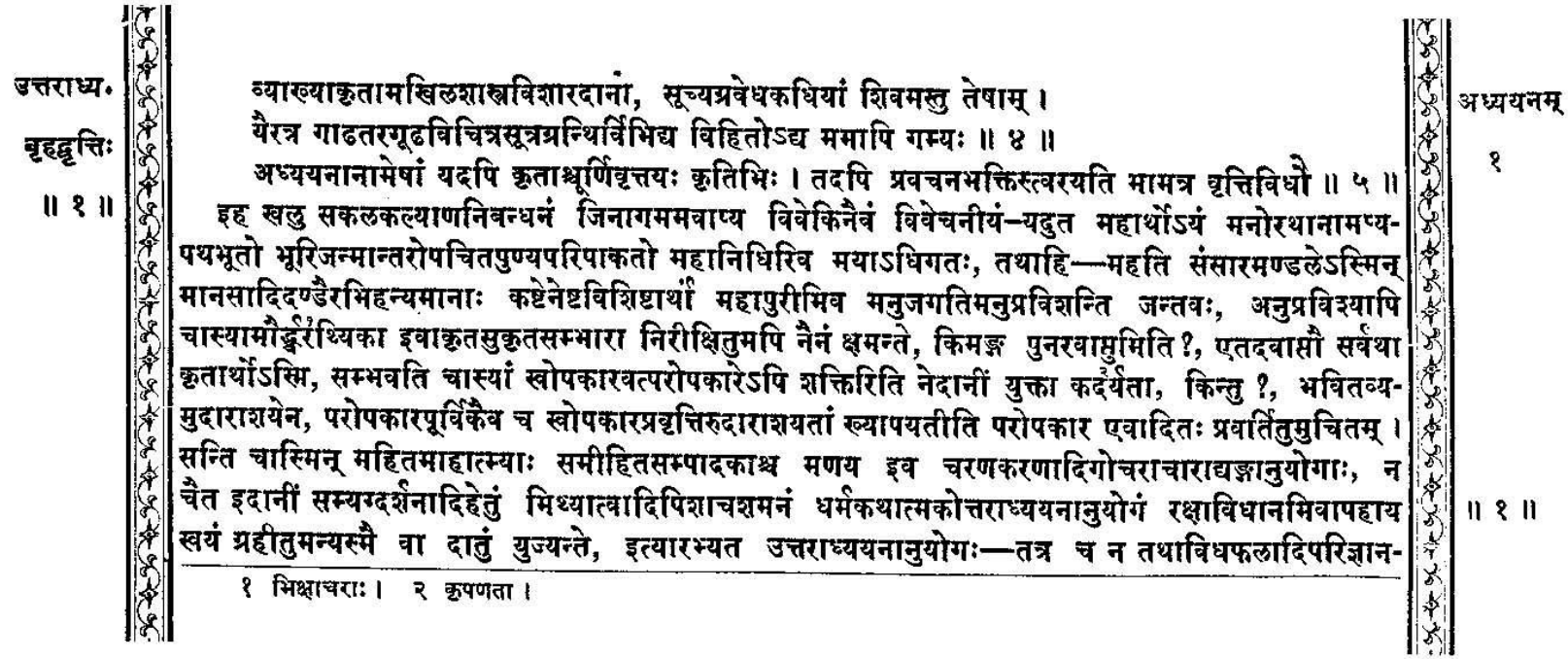
शिवदाः सन्तु तीर्थेशा, विघ्नसङ्घातघातिनः । भवकूपोद्धृतौ येषां, वाग् वरत्रायते नृणाम् ॥ १ ॥
समस्तवस्तुविस्तारे, व्यासपर्त्तैलवज्जले । जीयात् श्रीशासनं जैनं, धीदीपोद्दीप्तिवर्द्धनम् ॥ २ ॥
यत्प्रभावादवाप्यन्ते, पदार्थाः कल्पनां विना । सा देवी संविदे नः स्तादस्तकल्पलतोपमा ॥ ३ ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ १ ॥

व्याख्याकृतामखिलशास्त्रविशारदानां, सूच्यग्रवेधकधियां शिवमस्तु तेषाम् ।
यैरत्र गाढतरगूढविचित्रसूत्रग्रन्थिर्विभिद्य विहितोऽद्य ममापि गम्यः ॥ ४ ॥
अध्ययनानामेषां यदपि कृताश्चूर्णिवृत्तयः कृतिभिः । तदपि प्रवचनभक्तिस्त्वरयति मामत्र वृत्तिविधौ ॥ ५ ॥
इह खलु सकलकल्याणनिबन्धनं जिनागममवाप्य विवेकिनैवं विवेचनीयं–यदुत महार्थोऽयं मनोरथानामप्यपथभूतो भूरिजन्मान्तरोपचितपुण्यपरिपाकतो महानिधिरिव मयाऽधिगतः, तथाहि—महति संसारमण्डलेऽस्मिन् मानसादिदण्डैरभिहन्यमानाः कष्टेनेष्टविशिष्टार्थां महापुरीमिव मनुजगतिमनुप्रविशन्ति जन्तवः, अनुप्रविश्यापि चास्यामौर्द्धरथिका इवाकृतसुकृतसम्भारा निरीक्षितुमपि नैनं क्षमन्ते, किमङ्ग पुनरवाप्तुमिति?, एतदवाप्तौ सर्वथा कृतार्थोऽस्मि, सम्भवति चास्यां स्वोपकारवत्परोपकारेऽपि शक्तिरिति नेदानीं युक्ता कदर्यता, किन्तु?, भवितव्यमुदाराशयेन, परोपकारपूर्विकैव च स्वोपकारप्रवृत्तिरुदाराशयतां ख्यापयतीति परोपकार एवादितः प्रवर्तितुमुचितम् । सन्ति चास्मिन् महितमाहात्म्याः समीहितसम्पादकाश्च मणय इव चरणकरणादिगोचराचाराद्यङ्गानुयोगाः, न चैत इदानीं सम्यग्दर्शनादिहेतुं मिथ्यात्वादिपिशाचशमनं धर्मकथात्मकोत्तराध्ययनानुयोगं रक्षाविधानमिवापहाय स्वयं ग्रहीतुमन्यस्मै वा दातुं युज्यन्ते, इत्यारभ्यत उत्तराध्ययनानुयोगः—तत्र च न तथाविधफलादिपरिज्ञान-

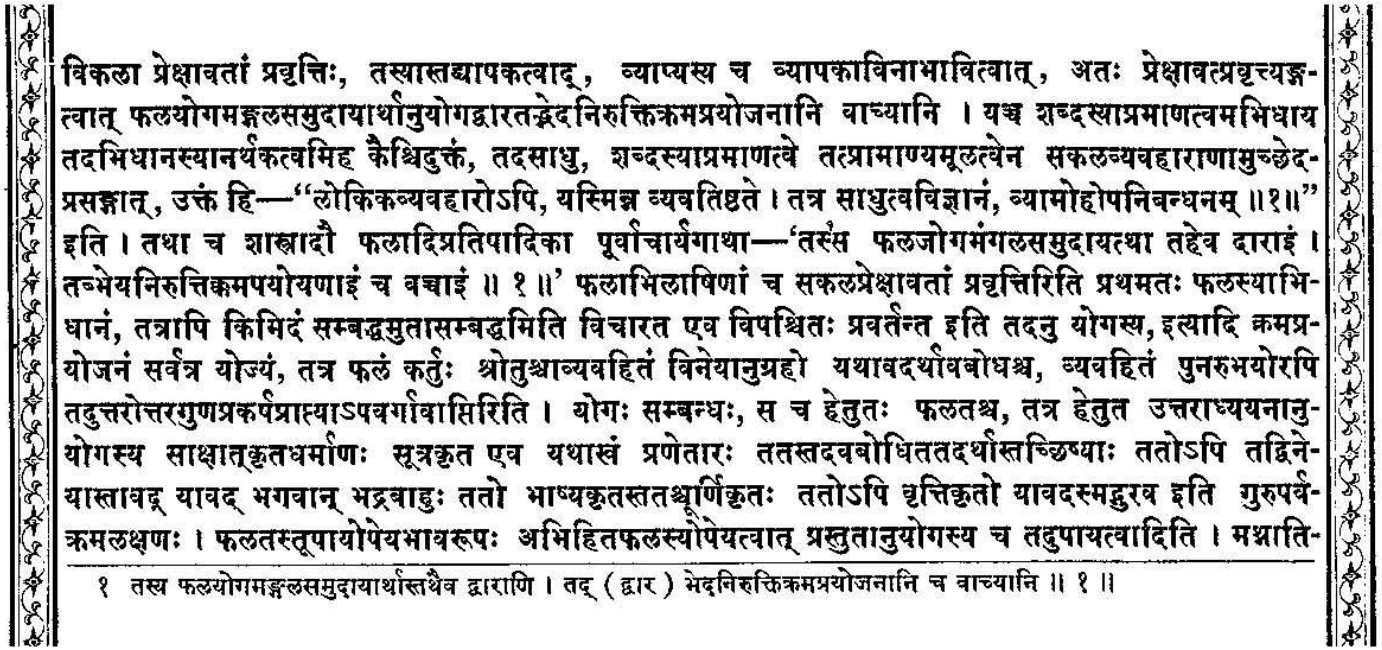
१ भिक्षाचराः । २ कृपणता ।

अध्ययनम् १ ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



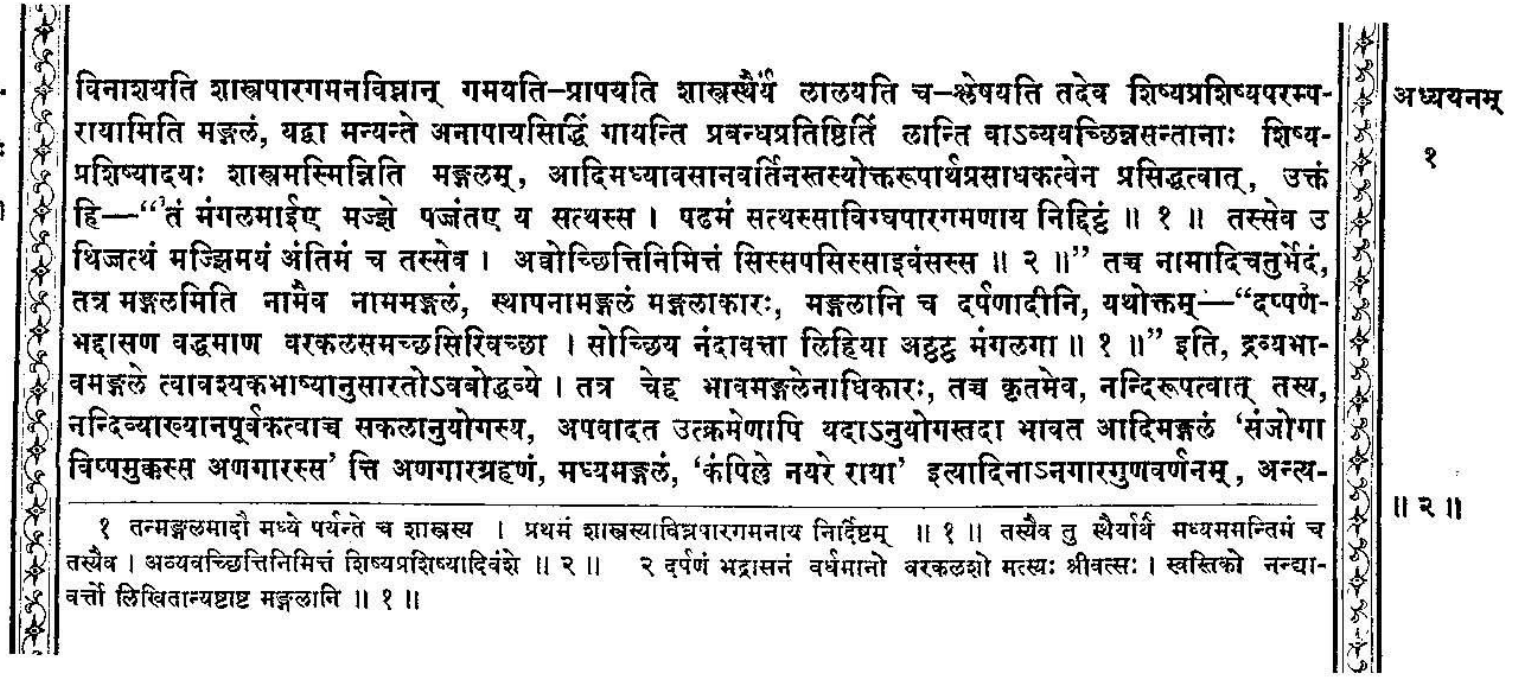
विकला प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः, तस्यास्तद्व्यापकत्वाद्, व्याप्यस्य च व्यापकाविनाभावित्वात्, अतः प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यङ्गत्वात् फलयोगमङ्गलसमुदायार्थानुयोगद्वारतद्भेदनिरुक्तिक्रमप्रयोजनानि वाच्यानि । यच्च शब्दस्याप्रमाणत्वमभिधाय तदभिधानस्यानर्थकत्वमिह कैश्चिदुक्तं, तदसाधु, शब्दस्याप्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यमूलत्वेन सकलव्यवहाराणामुच्छेदप्रसङ्गात्, उक्तं हि—"लोकिकव्यवहारोऽपि, यस्मिन्न व्यवतिष्ठते । तत्र साधुत्वविज्ञानं, व्यामोहोपनिबन्धनम् ॥१॥" इति । तथा च शास्त्रादौ फलादिप्रतिपादिका पूर्वाचार्यगाथा—'तस्स फलजोगमंगलसमुदायत्था तहेव दाराइं । तब्भेयनिरुत्तिक्कमपओयणाइं च वच्चाइं ॥ १ ॥' फलाभिलाषिणां च सकलप्रेक्षावतां प्रवृत्तिरिति प्रथमतः फलस्याभिधानं, तत्रापि किमिदं सम्बद्धमुतासम्बद्धमिति विचारत एव विपश्चितः प्रवर्तन्त इति तदनु योगस्य, इत्यादि क्रमप्रयोजनं सर्वत्र योज्यं, तत्र फलं कर्तुः श्रोतुश्चाव्यवहितं विनेयानुग्रहो यथावदर्थावबोधश्च, व्यवहितं पुनरुभयोरपि तदुत्तरोत्तरगुणप्रकर्षप्राप्त्याऽपवर्गावाप्तिरिति । योगः सम्बन्धः, स च हेतुतः फलतश्च, तत्र हेतुत उत्तराध्ययनानुयोगस्य साक्षात्कृतधर्माणः सूत्रकृत एव यथास्वं प्रणेतारः ततस्तदवबोधिततदर्थास्तच्छिष्याः ततोऽपि तद्विनेयास्तावद् यावद् भगवान् भद्रबाहुः ततो भाष्यकृतस्ततश्चूर्णिकृतः ततोऽपि वृत्तिकृतो यावदस्मद्गुरव इति गुरुपर्वक्रमलक्षणः । फलतस्तूपायोपेयभावरूपः अभिहितफलस्योपेयत्वात् प्रस्तुतानुयोगस्य च तदुपायत्वादिति । मश्राति-

१ तस्य फलयोगमङ्गलसमुदायार्थास्तथैव द्वाराणि । तद् (द्वार) भेदनिरुक्तिक्रमप्रयोजनानि च वाच्यानि ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ २ ॥

विनाशयति शास्त्रपारगमनविघ्नान् गमयति–प्रापयति शास्त्रस्थैर्यं लालयति च–श्लेषयति तदेव शिष्यप्रशिष्यपरम्परायामिति मङ्गलं, यद्वा मन्यन्ते अनापायसिद्धिं गायन्ति प्रबन्धप्रतिष्ठितिं लान्ति वाऽव्यवच्छिन्नसन्तानाः शिष्यप्रशिष्यादयः शास्त्रमस्मिन्निति मङ्गलम्, आदिमध्यावसानवर्तिनस्तस्योक्तरूपार्थप्रसाधकत्वेन प्रसिद्धत्वात्, उक्तं हि—"[1]तं मंगलमाईए मज्झे पज्जंतए य सत्थस्स । पढमं सत्थस्साविग्घपारगमणाय निद्दिट्ठं ॥ १ ॥ तस्सेव उ थिज्जत्थं मज्झिमयं अंतिमं च तस्सेव । अव्वोच्छित्तिनिमित्तं सिस्सपसिस्साइवंसस्स ॥ २ ॥" तच्च नामादिचतुर्भेदं, तत्र मङ्गलमिति नामैव नाममङ्गलं, स्थापनामङ्गलं मङ्गलाकारः, मङ्गलानि च दर्पणादीनि, यथोक्तम्—"दप्पणे-भद्दासण वद्धमाण वरकलसमच्छसिरिवच्छा । सोच्छिय नंदावत्ता लिहिया अट्ठट्ठ मंगलगा ॥ १ ॥" इति, द्रव्यभावमङ्गले त्वावश्यकभाष्यानुसारतोऽवबोद्धव्ये । तत्र चेह भावमङ्गलेनाधिकारः, तच्च कृतमेव, नन्दिरूपत्वात् तस्य, नन्दिव्याख्यानपूर्वकत्वाच्च सकलानुयोगस्य, अपवादत उत्क्रमेणापि यदाऽनुयोगस्तदा भावत आदिमङ्गलं 'संजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स' त्ति अणगारग्रहणं, मध्यमङ्गलं, 'कंपिल्ले नयरे राया' इत्यादिनाऽनगारगुणवर्णनम्, अन्त्य-

१ तन्मङ्गलमादौ मध्ये पर्यन्ते च शास्त्रस्य । प्रथमं शास्त्रस्याविघ्नपारगमनाय निर्दिष्टम् ॥ १ ॥ तस्यैव तु स्थैर्यार्थं मध्यमसन्तिमं च तस्यैव । अव्यवच्छित्तिनिमित्तं शिष्यप्रशिष्यादिवंशे ॥ २ ॥ २ दर्पणं भद्रासनं वर्धमानो वरकलशो मत्स्यः श्रीवत्सः । स्वस्तिको नन्द्यावर्त्तो लिखितान्यष्टाष्ट मङ्गलानि ॥ १ ॥

अध्ययनम् १

॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

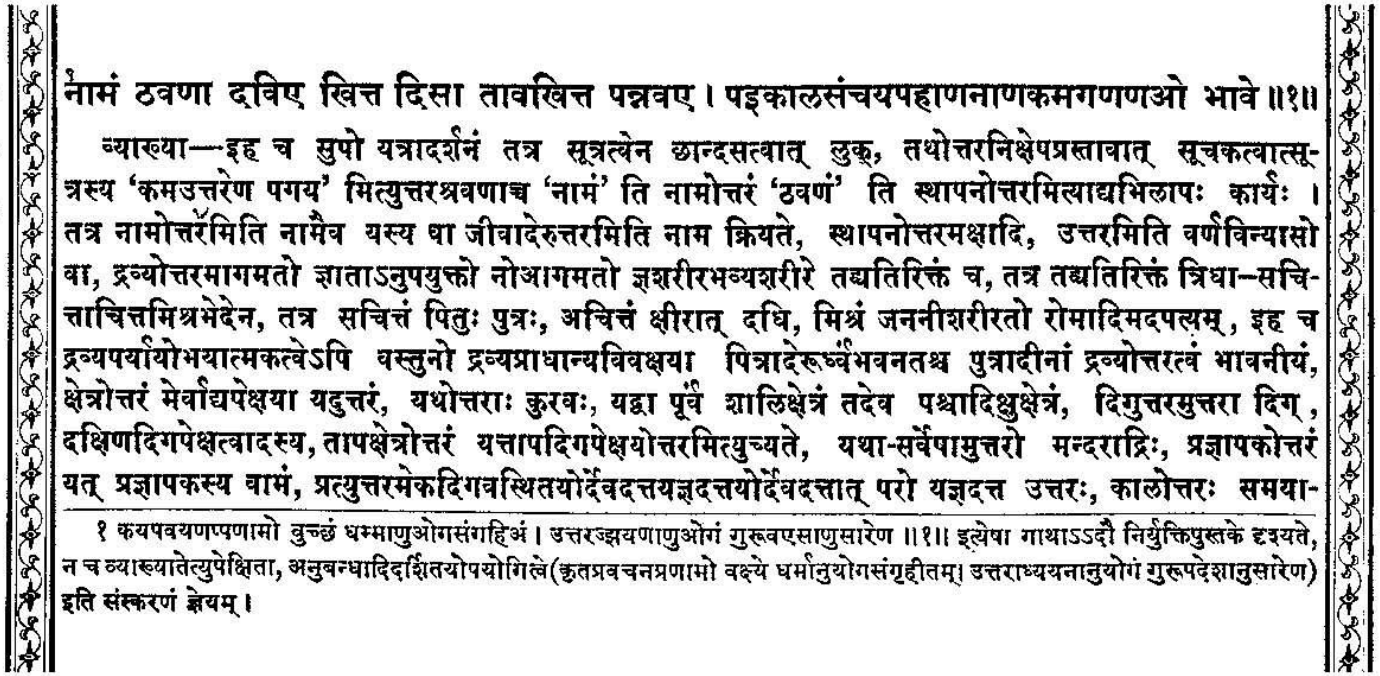
मङ्गलम् 'इह पाउकरे बुद्धे' इत्यादिना बुद्धाद्यभिधानं । समुदायो-वर्णपदवाक्यश्लोकाध्ययनकदम्बकात्मकश्रुतस्कन्धरूपस्तस्याभिधेयोऽर्थः समुदायार्थः, स चेह धर्मकथात्मकः, विशेषतस्त्वेनं 'पढमे विणओ' इत्यादिना निर्युक्तिकार एव वक्ष्यति । द्वाराणीति प्रक्रमादनुयोगद्वाराणि, तत्र चानुगतमनुरूपं वा श्रुतस्य स्वेनाभिधेयेन योजनं-सम्बन्धनं तस्मिन् वाऽनुरूपोऽनुकूलो वा योगः श्रुतस्यैवाभिधानव्यापारोऽनुयोगः, तदुक्तम्—"अणुजोयणमणुजोगो सुयस्स नियएण जमभिधेयेणं । वावारो वा जोगो जो अणुरूवोऽणुकूलो वा ॥१॥" तस्य द्वाराणि-उपक्रमादीनि अनुयोगद्वाराणि तानि तद्भेदनिरुक्तिक्रमप्रयोजनानि च 'तत्थज्झयणं पढम' मित्यत्र वक्ष्यामः । आह—प्रकृतोऽयमुत्तराध्ययनानुयोगः, तत्र किमेतान्युत्तराध्ययनान्यङ्गमङ्गानि श्रुतस्कन्धः श्रुतकन्धा अध्ययनमध्ययनानि उद्देशक उद्देशकाः ?, उच्यते, नाङ्गं नाङ्गानि, श्रुतस्कन्धो न श्रुतस्कन्धाः, नाध्ययनमध्ययनानि, नोद्देशको नोद्देशका इति । अस्य च नामनिक्षेपे 'उत्तराध्ययनश्रुतस्कन्ध' इति नाम, तत्रोत्तरं निक्षेप्सव्यमध्ययनं श्रुतस्कन्धश्च, तत्रोत्तरनिक्षेपाभिधानायाह भगवान् निर्युक्तिकारः—

१ अनुयोजनमनुयोगः सूत्रस्य निजकेन यदभिधेयेन । व्यापारो वा योगो योऽनुरूपोऽनुकूलो वा ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ ३ ॥

नामं ठवणा दविए खित्त दिसा तावखित्त पन्नवए। पइकालसंचयपहाणनाणकमगणणओ भावे ॥१॥

व्याख्या—इह च सुपो यत्रादर्शनं तत्र सूत्रत्वेन छान्दसत्वात् लुक्, तथोत्तरनिक्षेपप्रस्तावात् सूचकत्वात्सूत्रस्य 'कमउत्तरेण पगय' मित्युत्तरश्रवणाच्च 'नामं' ति नामोत्तरं 'ठवणं' ति स्थापनोत्तरमित्याद्यभिलापः कार्यः। तत्र नामोत्तरमिति नामैव यस्य वा जीवादेरुत्तरमिति नाम क्रियते, स्थापनोत्तरमक्षादि, उत्तरमिति वर्णविन्यासो वा, द्रव्योत्तरमागमतो ज्ञाताऽनुपयुक्तो नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरे तद्व्यतिरिक्तं च, तत्र तद्व्यतिरिक्तं त्रिधा–सचित्ताचित्तमिश्रभेदेन, तत्र सचित्तं पितुः पुत्रः, अचित्तं क्षीरात् दधि, मिश्रं जननीशरीरतो रोमादिमदपत्यम्, इह च द्रव्यपर्यायोभयात्मकत्वेऽपि वस्तुनो द्रव्यप्राधान्यविवक्षया पित्रादेरूर्ध्वभवनतश्च पुत्रादीनां द्रव्योत्तरत्वं भावनीयं, क्षेत्रोत्तरं मेर्वाद्यपेक्षया यदुत्तरं, यथोत्तराः कुरवः, यद्वा पूर्वं शालिक्षेत्रं तदेव पश्चादिक्षुक्षेत्रं, दिगुत्तरमुत्तरा दिग्, दक्षिणदिगपेक्षत्वादस्य, तापक्षेत्रोत्तरं यत्तापदिगपेक्षयोत्तरमित्युच्यते, यथा-सर्वेषामुत्तरो मन्दराद्रिः, प्रज्ञापकोत्तरं यत् प्रज्ञापकस्य वामं, प्रत्युत्तरमेकदिगवस्थितयोर्देवदत्तयज्ञदत्तयोर्देवदत्तात् परो यज्ञदत्त उत्तरः, कालोत्तरः समया-

१ कयपवयणप्पणामो वुच्छं धम्माणुओगसंगहिअं। उत्तरज्झयणाणुओगं गुरूवएसाणुसारेण ॥१॥ इत्येषा गाथाऽऽदौ निर्युक्तिपुस्तके दृश्यते, न च व्याख्यातेत्युपेक्षिता, अनुबन्धादिदर्शितयोपयोगित्वे(कृतप्रवचनप्रणामो वक्ष्ये धर्मानुयोगसंगृहीतम्। उत्तराध्ययनानुयोगं गुरूपदेशानुसारेण) इति संस्करणं ज्ञेयम्।

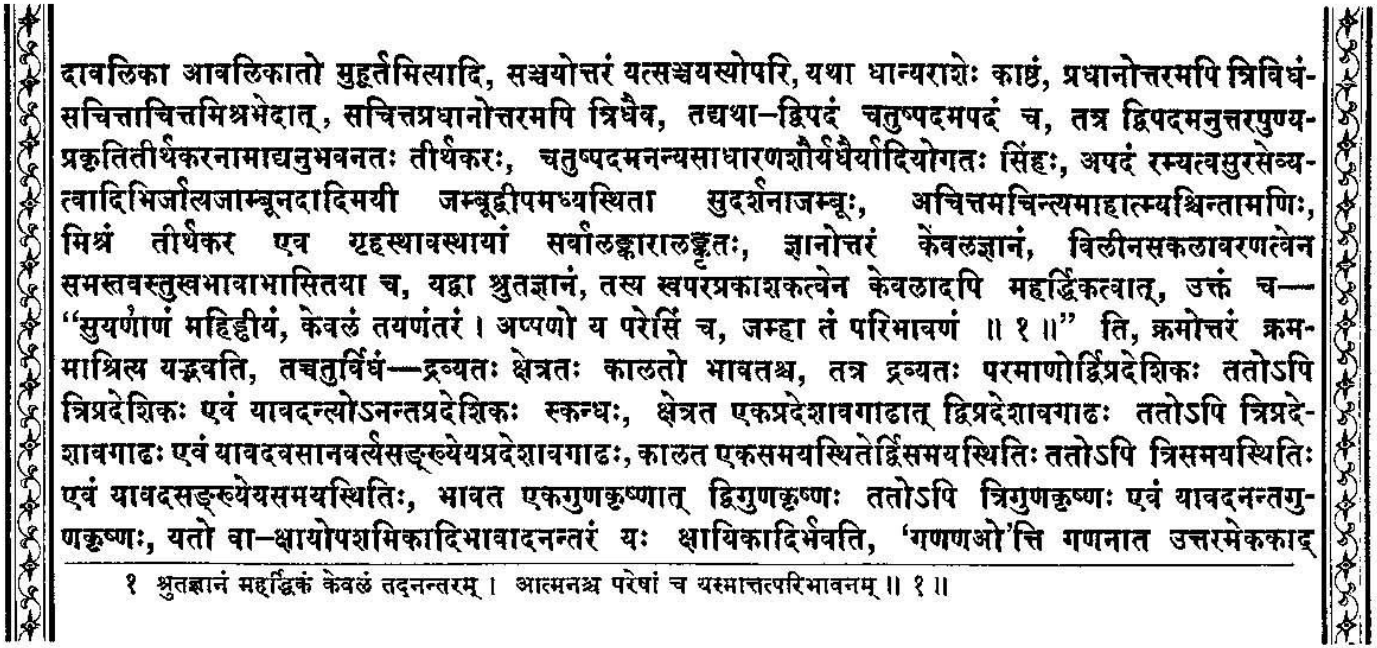
अध्ययनम् १

॥ ३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



दावलिका आवलिकातो मुहूर्तमित्यादि, सञ्चयोत्तरं यत्सञ्चयस्योपरि, यथा धान्यराशेः काष्ठं, प्रधानोत्तरमपि त्रिविधं-सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्, सचित्तप्रधानोत्तरमपि त्रिधैव, तद्यथा–द्विपदं चतुष्पदमपदं च, तत्र द्विपदमनुत्तरपुण्यप्रकृतितीर्थकरनामाद्यनुभवनतः तीर्थकरः, चतुष्पदमनन्यसाधारणशौर्यधैर्यादियोगतः सिंहः, अपदं रम्यत्वसुरसेव्यत्वादिभिर्जात्यजाम्बूनदादिमयी जम्बूद्वीपमध्यस्थिता सुदर्शनाजम्बूः, अचित्तमचिन्त्यमाहात्म्यश्चिन्तामणिः, मिश्रं तीर्थकर एव गृहस्थावस्थायां सर्वालङ्कारालङ्कृतः, ज्ञानोत्तरं केवलज्ञानं, विलीनसकलावरणत्वेन समस्तवस्तुस्वभावाभासितया च, यद्वा श्रुतज्ञानं, तस्य स्वपरप्रकाशकत्वेन केवलादपि महर्द्धिकत्वात्, उक्तं च—"सुयणाणं महिड्ढीयं, केवलं तयणंतरं । अप्पणो य परेसिं च, जम्हा तं परिभावणं ॥ १ ॥" ति, क्रमोत्तरं क्रममाश्रित्य यद्भवति, तच्चतुर्विधं—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः परमाणोर्द्विप्रदेशिकः ततोऽपि त्रिप्रदेशिकः एवं यावदन्त्योऽनन्तप्रदेशिकः स्कन्धः, क्षेत्रत एकप्रदेशावगाढात् द्विप्रदेशावगाढः ततोऽपि त्रिप्रदेशावगाढः एवं यावदवसानवर्त्यसङ्ख्येयप्रदेशावगाढः, कालत एकसमयस्थितेर्द्विसमयस्थितिः ततोऽपि त्रिसमयस्थितिः एवं यावदसङ्ख्येयसमयस्थितिः, भावत एकगुणकृष्णात् द्विगुणकृष्णः ततोऽपि त्रिगुणकृष्णः एवं यावदनन्तगुणकृष्णः, यतो वा–क्षायोपशमिकादिभावादनन्तरं यः क्षायिकादिर्भवति, 'गणणओ'त्ति गणनात उत्तरमेककाद्

१ श्रुतज्ञानं महर्द्धिकं केवलं तदनन्तरम् । आत्मनश्च परेषां च यस्मात्तत्परिभावनम् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

द्विकस्ततोऽपि त्रिक एवं यावच्छीर्षप्रहेलिका, भावोत्तरं क्षायिको भावः, तस्य केवलज्ञानदर्शनाद्यात्मकत्वेन सकलौदयिकादिभावप्रधानत्वाद् । आह—एवमस्य प्रधानोत्तर एवान्तर्भावादयुक्तं भेदेनाभिधानं, यद्येवमत्यल्पमिदमुच्यते, एवं हि नामादिचतुष्टय एव सर्वनिक्षेपाणामन्तर्भावात्तदेवाभिधेयं, तत इहान्यत्र च यन्नामादिचतुष्टयाधिकनिक्षेपाभिधानं तच्छिष्यमतिव्युत्पादनार्थं सामान्यविशेषोभयात्मकत्वख्यापनार्थं च सर्ववस्तूनामिति भावनीयमिति गाथार्थः ॥ १ ॥ इहानेकधोत्तराभिधानेऽपि क्रमोत्तरमेवाधिकरिष्यति, विषयज्ञाने च विषयी सुज्ञानो भवति इति मन्वानो यत्रास्य सम्भवो यत्र चासम्भवो यत्र चोभयं तदेवाह—

जहण्णं सुत्तरं खलु उक्कोसं वा अणुत्तरं होइ । सेसाइं उत्तराइं अणुत्तराइं च नेयाणि ॥ २ ॥

व्याख्या—जघन्यं सोत्तरं 'खलु' अवधारणे, सोत्तरमेव 'उक्कोसं' ति उत्कृष्टं, वाशब्दस्यैवकारार्थस्य भिन्नक्रमत्वाद् अनुत्तरमेव भवति, 'शेषाणि' मध्यमानि 'उत्तराणि' इति अर्शआदित्वेनाजन्तत्वात् मतुब्लोपाद्योत्तरवन्ति अनुत्तराणि च ज्ञेयानि । द्रव्यक्रमोत्तरादीनि हि जघन्यान्येकप्रदेशिकादीनि उपरि द्विप्रदेशिकादिवस्त्वन्तरभावात् सोत्तराण्येव, तदपेक्षयैव तेषां जघन्यत्वात्, उत्कृष्टानि त्वन्त्यानन्तप्रदेशिकादीन्यनुत्तराण्येव, तदुपरि वस्त्वन्तराभावाद्, अन्यथोत्कृष्टत्वायोगात्, मध्यमानि तु द्विप्रदेशिकादीनि त्रिप्रदेशिकाद्यपेक्षया सोत्तराणि एक-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

प्रदेशापेक्षया त्वनुत्तराणि, उपरितनवस्त्वपेक्षयैव सोत्तरत्वात् इति गाथार्थः ॥ २ ॥ उत्तरस्यानेकविधत्वेन येनात्र प्रकृतं तदाह—

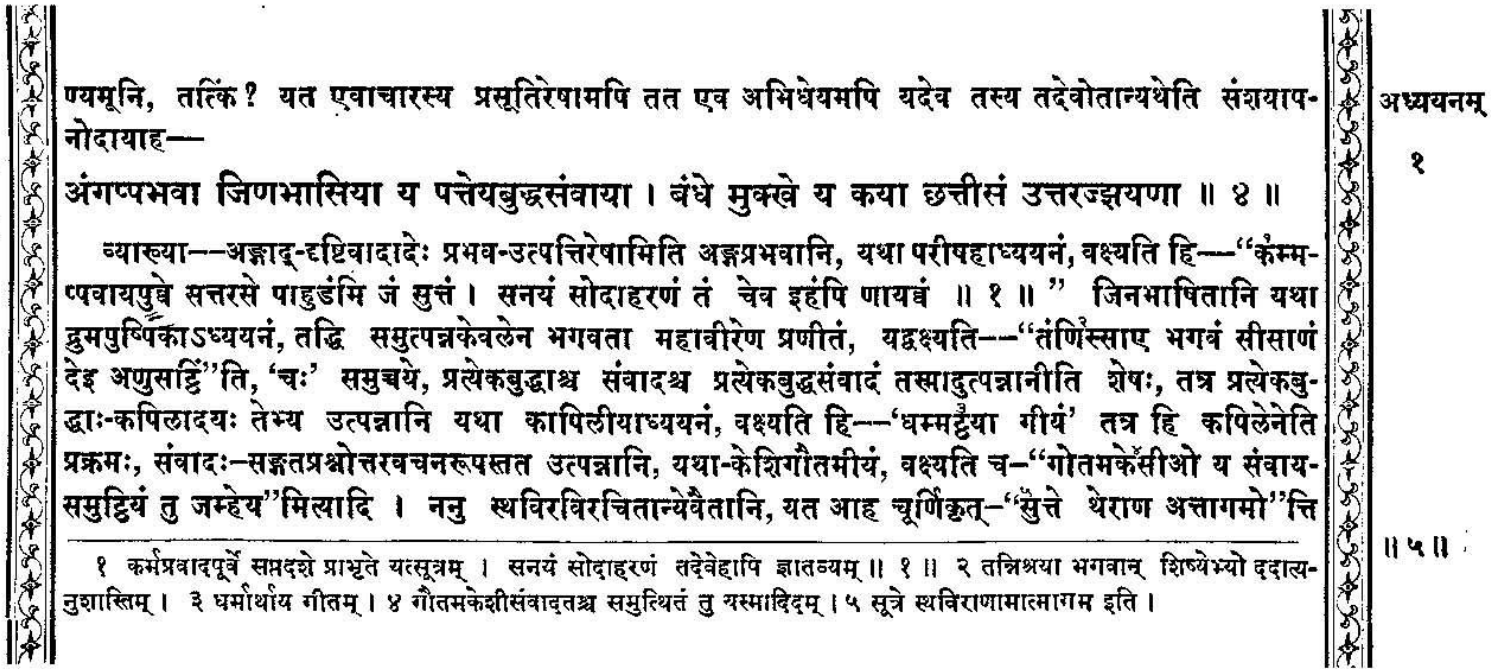
कमउत्तरेण पगयं आयारस्सेव उवरिमाइं तु । तम्हा उ उत्तरा खलु अज्झयणा हुंति णायव्वा ॥ ३ ॥

व्याख्या—क्रमापेक्षमुत्तरं क्रमोत्तरं, शाकपार्थिवादित्वान्मध्यपदलोपी समासः, तेन प्रकृतम्–अधिकृतम्, इह च क्रमोत्तरेणेति भावतः क्रमोत्तरेण, एतानि हि श्रुतात्मकत्वेन क्षायोपशमिकभावरूपाणि तद्रूपस्यैवाऽऽचाराङ्गस्योपरि पठ्यमानत्वेनोत्तराणीत्युच्यन्ते, अत एवाह–'आयारस्सेव उवरिमाइं'ति एवकारो भिन्नक्रमः, ततश्चाचारस्योपर्येव–उत्तरकालमेव 'इमानी'ति हृदि विपरिवर्तमानतया प्रत्यक्षाणि, पठितवन्त इति गम्यते, 'तुः' विशेषणे, विशेषश्चायं यथा-शय्यम्भवं यावदेष क्रमः, तदाऽऽरतस्तु दशवैकालिकोत्तरकालं पठ्यन्त इति,'तम्हा उ'त्ति 'तुः' पूरणे, यत्तदोश्च नित्यमभिसम्बन्धः, ततो यस्मादाचारस्योपर्येवेमानि पठितवन्तस्तस्माद् 'उत्तराणि' उत्तरशब्दवाच्यानि, 'खलुः' वाक्यालङ्कारेऽवधारणे वा, तत उत्तराण्येव 'अध्ययनानि' विनयश्रुतादीनि भवन्ति 'ज्ञातव्यानि' अवबोद्धव्यानि, प्राकृतत्वाच्च लिङ्गव्यत्यय इति गाथार्थः ॥३॥ आह—यद्याचारस्योपरि पठ्यमानत्वेनोत्तरा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ ५ ॥

ण्यमूनि, तत्किं? यत एवाचारस्य प्रसूतिरेषामपि तत एव अभिधेयमपि यदेव तस्य तदेवोतान्यथेति संशयापनोदायाह—

अंगप्पभवा जिणभासिया य पत्तेयबुद्धसंवाया । बंधे मुक्खे य कया छत्तीसं उत्तरज्झयणा ॥ ४ ॥

व्याख्या—अङ्गाद्-दृष्टिवादादेः प्रभव-उत्पत्तिरेषामिति अङ्गप्रभवानि, यथा परीषहाध्ययनं, वक्ष्यति हि—"कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे पाहुडंमि जं सुत्तं । सनयं सोदाहरणं तं चेव इहंपि णायव्वं ॥ १ ॥" जिनभाषितानि यथा द्रुमपुष्पिकाऽध्ययनं, तद्धि समुत्पन्नकेवलेन भगवता महावीरेण प्रणीतं, यद्वक्ष्यति—"तंणिस्साए भगवं सीसाणं देइ अणुसट्ठिं"ति, 'चः' समुच्चये, प्रत्येकबुद्धाश्च संवादश्च प्रत्येकबुद्धसंवादं तस्मादुत्पन्नानीति शेषः, तत्र प्रत्येकबुद्धाः-कपिलादयः तेभ्य उत्पन्नानि यथा कापिलीयाध्ययनं, वक्ष्यति हि—'धम्मट्ठिया गीयं' तत्र हि कपिलेनेति प्रक्रमः, संवादः—सङ्गतप्रश्नोत्तरवचनरूपस्तत उत्पन्नानि, यथा-केशिगौतमीयं, वक्ष्यति च—"गोतमकेसीओ य संवायसमुट्ठियं तु जम्हेय"मित्यादि । ननु स्थविरविरचितान्येवैतानि, यत आह चूर्णिकृत्—"सुत्ते थेराण अत्तागमो"त्ति

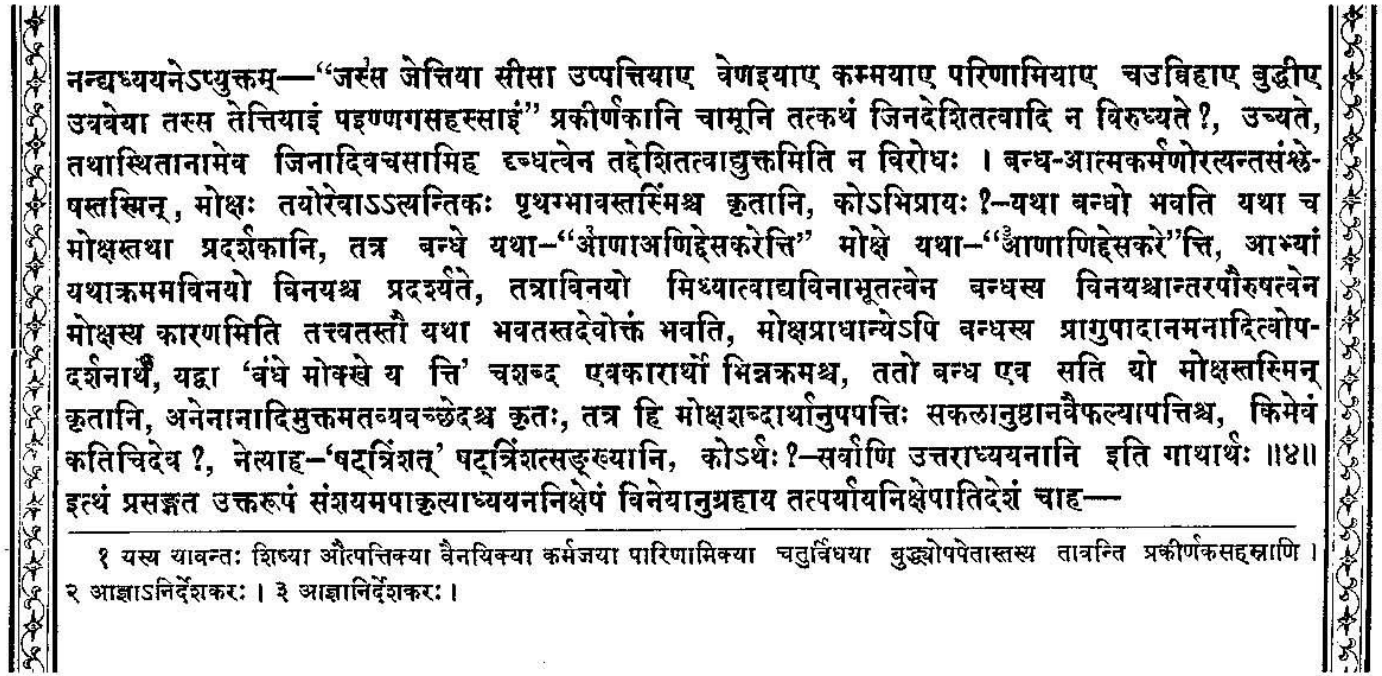
१ कर्मप्रवादपूर्वे सप्तदशे प्राभृते यत्सूत्रम् । सनयं सोदाहरणं तदेवेहापि ज्ञातव्यम् ॥ १ ॥ २ तन्निश्रया भगवान् शिष्येभ्यो ददात्यनुशास्तिम् । ३ धर्मार्थाय गीतम् । ४ गौतमकेशीसंवादतश्च समुत्थितं तु यस्मादिदम् । ५ सूत्रे स्थविराणामात्मागम इति ।

अध्ययनम् १ ॥ ५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



नन्वध्ययनेऽप्युक्तम्—"जस्स जेत्तिया सीसा उप्पत्तियाए वेणइयाए कम्मयाए परिणामियाए चउव्विहाए बुद्धीए उववेया तस्स तेत्तियाइं पइण्णगसहस्साइं" प्रकीर्णकानि चामूनि तत्कथं जिनदेशितत्वादि न विरुध्यते?, उच्यते, तथास्थितानामेव जिनादिवचसामिह दृब्धत्वेन तदेशितत्वाद्युक्तमिति न विरोधः । बन्ध-आत्मकर्मणोरत्यन्तसंश्लेषस्तस्मिन्, मोक्षः तयोरेवाऽऽत्यन्तिकः पृथग्भावस्तस्मिंश्च कृतानि, कोऽभिप्रायः?–यथा बन्धो भवति यथा च मोक्षस्तथा प्रदर्शकानि, तत्र बन्धे यथा–"[1]आणाअणिद्देसकरेत्ति" मोक्षे यथा–"[2]आणाणिद्देसकरे"त्ति, आभ्यां यथाक्रममविनयो विनयश्च प्रदर्श्यते, तत्राविनयो मिथ्यात्वाद्यविनाभूतत्वेन बन्धस्य विनयश्चान्तरपौरुषत्वेन मोक्षस्य कारणमिति तत्त्वतस्तौ यथा भवतस्तदेवोक्तं भवति, मोक्षप्राधान्येऽपि बन्धस्य प्रागुपादानमनादित्वोपदर्शनार्थं, यद्वा 'बंधे मोक्खे य त्ति' चशब्द एवकारार्थो भिन्नक्रमश्च, ततो बन्ध एव सति यो मोक्षस्तस्मिन् कृतानि, अनेनानादिमुक्तमतव्यवच्छेदश्च कृतः, तत्र हि मोक्षशब्दार्थानुपपत्तिः सकलानुष्ठानवैफल्यापत्तिश्च, किमेवं कतिचिदेव?, नेत्याह–'षट्त्रिंशत्' षट्त्रिंशत्सङ्ख्यानि, कोऽर्थः?–सर्वाणि उत्तराध्ययनानि इति गाथार्थः ॥४॥ इत्थं प्रसङ्गत उक्तरूपं संशयमपाकृत्याध्ययननिक्षेपं विनेयानुग्रहाय तत्पर्यायनिक्षेपातिदेशं चाह—

१ यस्य यावन्तः शिष्या औत्पत्तिक्या वैनयिक्या कर्मजया पारिणामिक्या चतुर्विधया बुद्ध्योपपेतास्तस्य तावन्ति प्रकीर्णकसहस्राणि । २ आज्ञाऽनिर्देशकरः । ३ आज्ञानिर्देशकरः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

नामं ठवणज्झयणे दव्वज्झयणे य भावअज्झयणे । एमेव य अज्झीणे आयज्झवणेविय तहेव ॥ ५ ॥

व्याख्या—'नामं ठवणज्झयणे'त्ति प्रत्येकमध्ययनशब्दसम्बन्धान्नामाध्ययनं स्थापनाध्ययनं द्रव्याध्ययनं च-स्य भिन्नक्रमत्वाद् भावाध्ययनं च, तत्र नामस्थापने गतार्थे, द्रव्याध्ययनमागमतो ज्ञातानुपयुक्तः, नोआगमतो ज्ञशरी-रभव्यशरीरे तद्व्यतिरिक्तं च पुस्तकादिन्यस्तं, भावाध्ययनमागमतो ज्ञातोपयुक्तः, नोआगमतस्तु प्रस्तुताध्ययना-न्येव, आगमैकदेशत्वादेषाम् । एवं चाक्षीणमायः क्षपणाऽपि च तथैव, कोऽर्थः ?–अध्ययनवदेतान्यपि नामादिभेद-भिन्नान्येव ज्ञेयानीति गाथार्थः ॥ ५ ॥ साम्प्रतं नामाध्ययनादीनि त्रीणि प्रसिद्धान्येवेति मन्यमानो निर्युक्तिकारो निरुक्तिद्वारेण नोआगमतो भावाध्ययनं व्याख्यातुमाह—

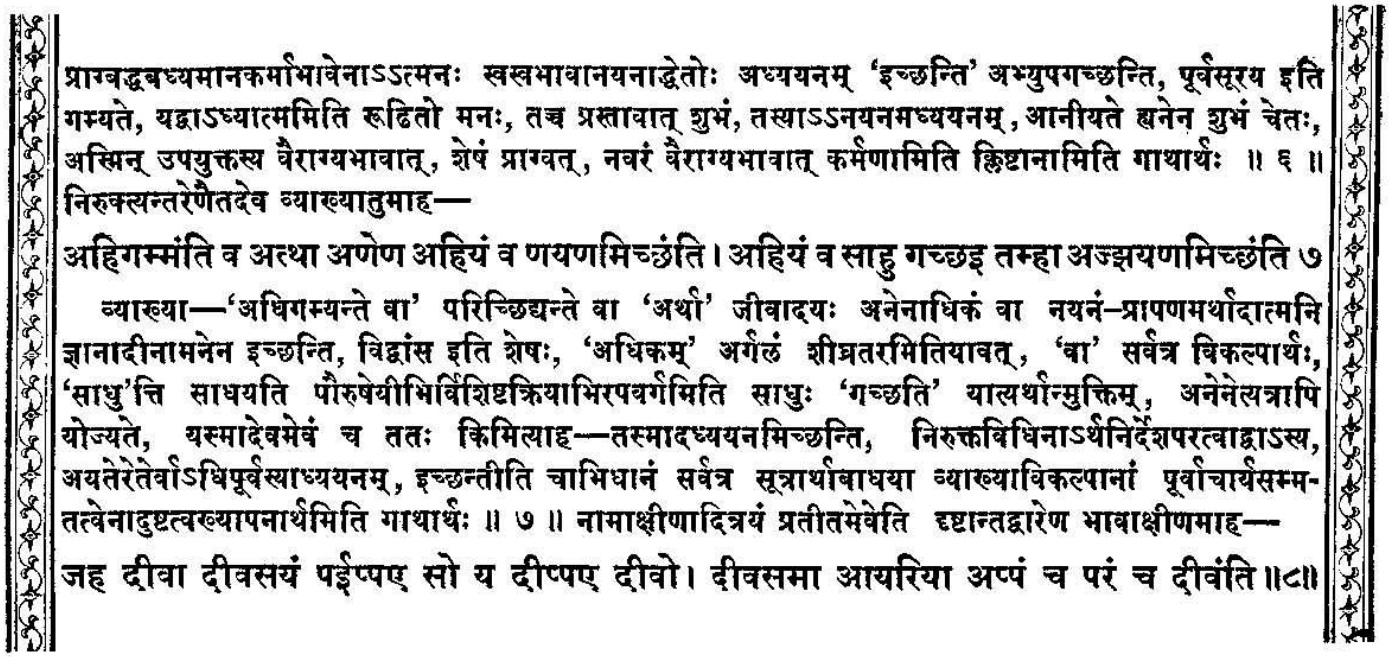
अज्झप्पस्साणयणं कम्माणं अवचओ उवचियाणं। अणुवचओ व णवाणं तम्हा अज्झयणमिच्छंति ॥६॥

व्याख्या—'अज्झप्पस्स'त्ति सूत्रत्वादध्यात्ममात्मनि, कोऽर्थः ?–स्वस्वभावे, आनीयतेऽनेनेति आनयनं प्रस्ता-वादात्मनोऽध्ययनं, निरुक्तिविधिना चात्माकारनकारलोपः, कुत एतदित्याह—यतः 'कर्मणां' ज्ञानावरणीयादी-नाम् 'अपचयः' चयापगमोऽभाव इत्यर्थः, 'उपचितानां' प्राग्बद्धानाम् 'अनुपचयश्च' अनुपचीयमानताऽनुपादान-मितियावत्, 'नवानां' प्रत्यग्राणां, कोऽर्थः ?–प्राग्बद्धानाम्, एतदुपयुक्तस्येति गम्यते, उपसंहारमाह–तस्मात्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



प्राग्बद्धबध्यमानकर्माभावेनाऽऽत्मनः स्वस्वभावानयनाद्धेतोः अध्ययनम् 'इच्छन्ति' अभ्युपगच्छन्ति, पूर्वसूरय इति गम्यते, यद्वाऽध्यात्ममिति रूढितो मनः, तच्च प्रस्तावात् शुभं, तस्याऽऽनयनमध्ययनम्, आनीयते ह्यनेन शुभं चेतः, अस्मिन् उपयुक्तस्य वैराग्यभावात्, शेषं प्राग्वत्, नवरं वैराग्यभावात् कर्मणामिति क्लिष्टानामिति गाथार्थः ॥ ६ ॥ निरुक्त्यन्तरेणैतदेव व्याख्यातुमाह—

अहिगम्मंति व अत्था अणेण अहियं व णयणमिच्छंति। अहियं व साहु गच्छइ तम्हा अज्झयणमिच्छंति ७

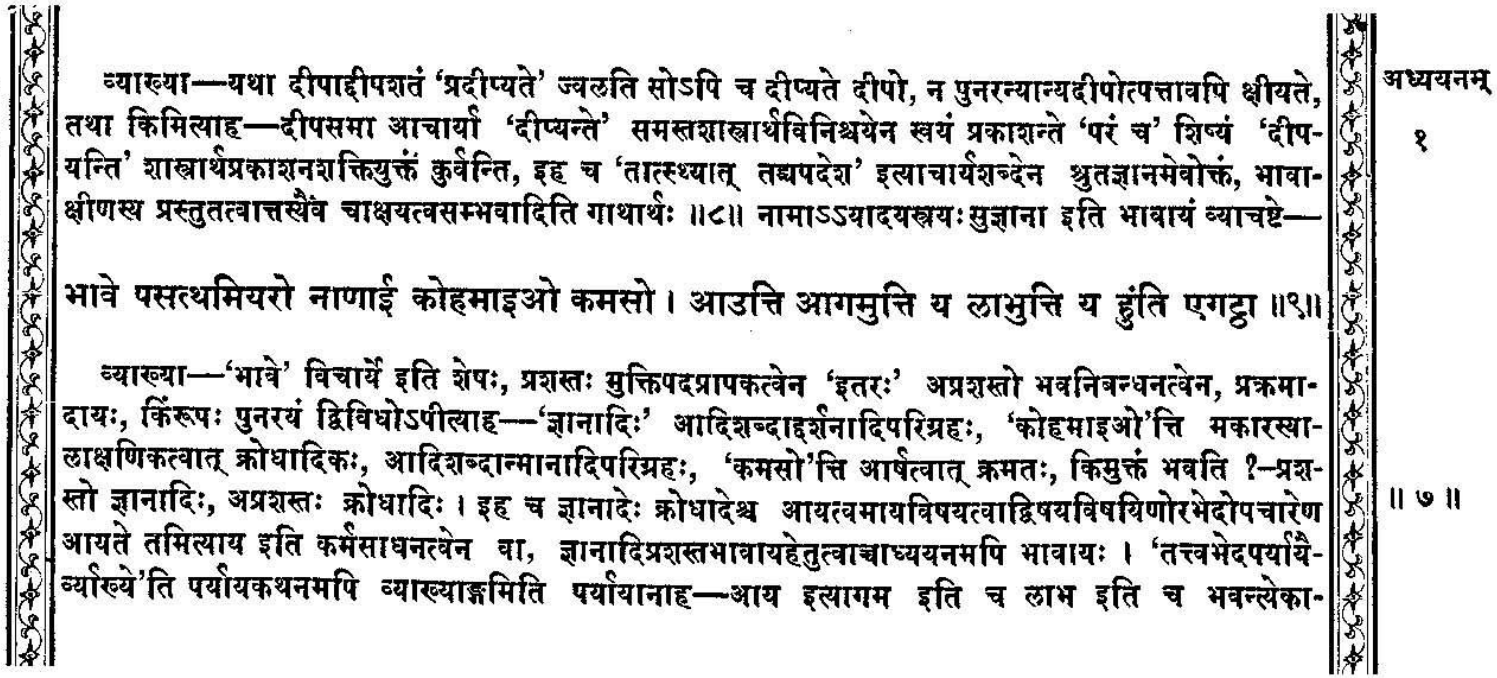
व्याख्या—'अधिगम्यन्ते वा' परिच्छिद्यन्ते वा 'अर्था' जीवादयः अनेनाधिकं वा नयनं–प्रापणमर्थादात्मनि ज्ञानादीनामनेन इच्छन्ति, विद्वांस इति शेषः, 'अधिकम्' अर्गलं शीघ्रतरमितियावत्, 'वा' सर्वत्र विकल्पार्थः, 'साधु'त्ति साधयति पौरुषेयीभिर्विशिष्टक्रियाभिरपवर्गमिति साधुः 'गच्छति' यात्यर्थान्मुक्तिम्, अनेनेत्यत्रापि योज्यते, यस्मादेवमेवं च ततः किमित्याह—तस्मादध्ययनमिच्छन्ति, निरुक्तविधिनाऽर्थनिर्देशपरत्वाद्वाऽस्य, अयतेरेतेर्वाऽधिपूर्वस्याध्ययनम्, इच्छन्तीति चाभिधानं सर्वत्र सूत्रार्थाबाधया व्याख्याविकल्पानां पूर्वाचार्यसम्मतत्वेनादुष्टत्वख्यापनार्थमिति गाथार्थः ॥ ७ ॥ नामाक्षीणादित्रयं प्रतीतमेवेति दृष्टान्तद्वारेण भावाक्षीणमाह—

जह दीवा दीवसयं पइप्पए सो य दीप्पए दीवो। दीवसमा आयरिया अप्पं च परं च दीवंति ॥८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ ७ ॥

व्याख्या—यथा दीपाद्दीपशतं 'प्रदीप्यते' ज्वलति सोऽपि च दीप्यते दीपो, न पुनरन्यान्यदीपोत्पत्तावपि क्षीयते, तथा किमित्याह—दीपसमा आचार्या 'दीप्यन्ते' समस्तशास्त्रार्थविनिश्चयेन स्वयं प्रकाशन्ते 'परं च' शिष्यं 'दीपयन्ति' शास्त्रार्थप्रकाशनशक्तियुक्तं कुर्वन्ति, इह च 'तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेश' इत्याचार्यशब्देन श्रुतज्ञानमेवोक्तं, भावाक्षीणस्य प्रस्तुतत्वात्तस्यैव चाक्षयत्वसम्भवादिति गाथार्थः ॥८॥ नामाऽऽयादयस्त्रयः सुज्ञाना इति भावायं व्याचष्टे—

भावे पसत्थमियरो नाणाई कोहमाइओ कमसो। आउत्ति आगमुत्ति य लाभुत्ति य हुंति एगट्ठा ॥९॥

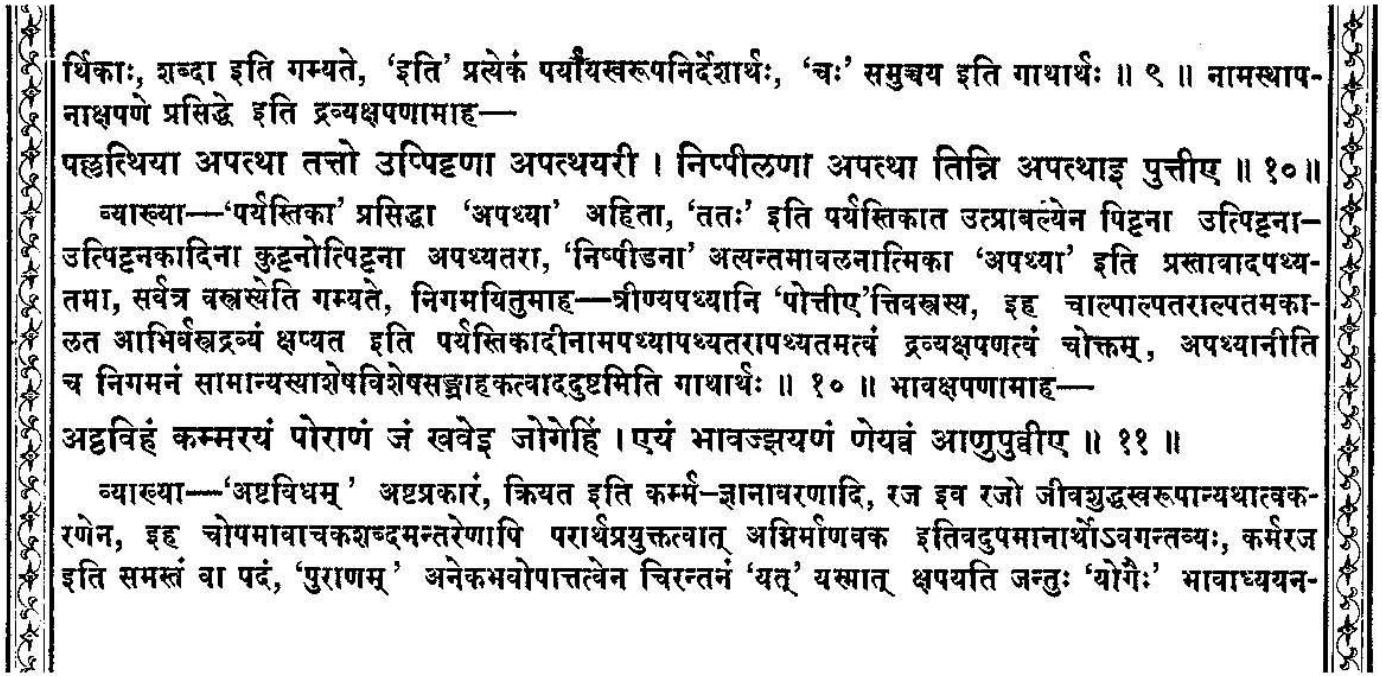
व्याख्या—'भावे' विचार्ये इति शेषः, प्रशस्तः मुक्तिपदप्रापकत्वेन 'इतरः' अप्रशस्तो भवनिबन्धनत्वेन, प्रक्रमादायः, किंरूपः पुनरयं द्विविधोऽपीत्याह—'ज्ञानादिः' आदिशब्दाद्दर्शनादिपरिग्रहः, 'कोहमाइओ'त्ति मकारस्यालाक्षणिकत्वात् क्रोधादिकः, आदिशब्दान्मानादिपरिग्रहः, 'कमसो'त्ति आर्षत्वात् क्रमतः, किमुक्तं भवति ?–प्रशस्तो ज्ञानादिः, अप्रशस्तः क्रोधादिः। इह च ज्ञानादेः क्रोधादेश्च आयत्वमायविषयत्वाद्विषयविषयिणोरभेदोपचारेण आयते तमित्याय इति कर्मसाधनत्वेन वा, ज्ञानादिप्रशस्तभावायहेतुत्वाच्चाध्ययनमपि भावायः। 'तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्ये'ति पर्यायकथनमपि व्याख्याङ्गमिति पर्यायानाह—आय इत्यागम इति च लाभ इति च भवन्त्येका-

अध्ययनम् १ ॥ ७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



र्थिकाः, शब्दा इति गम्यते, 'इति' प्रत्येकं पर्यायस्वरूपनिर्देशार्थः, 'चः' समुच्चय इति गाथार्थः ॥ ९ ॥ नामस्थापनाक्षपणे प्रसिद्धे इति द्रव्यक्षपणामाह—

पल्लत्थिया अपत्था तत्तो उप्पिट्टणा अपत्थयरी । निप्पीलणा अपत्था तिन्नि अपत्थाइ पुत्तीए ॥ १० ॥

व्याख्या—'पर्यस्तिका' प्रसिद्धा 'अपथ्या' अहिता, 'ततः' इति पर्यस्तिकात उत्प्राबल्येन पिट्टना उत्पिट्टना–उत्पिट्टनकादिना कुट्टनोत्पिट्टना अपथ्यतरा, 'निष्पीडना' अत्यन्तमावलनात्मिका 'अपथ्या' इति प्रस्तावादपथ्यतमा, सर्वत्र वस्त्रस्येति गम्यते, निगमयितुमाह—त्रीण्यपथ्यानि 'पोत्तीए'त्तिवस्त्रस्य, इह चाल्पाल्पतरालपतमकालत आभिर्वस्त्रद्रव्यं क्षप्यत इति पर्यस्तिकादीनामपथ्यापथ्यतरापथ्यतमत्वं द्रव्यक्षपणत्वं चोक्तम्, अपथ्यानीति च निगमनं सामान्यस्याशेषविशेषसङ्ग्राहकत्वाददुष्टमिति गाथार्थः ॥ १० ॥ भावक्षपणामाह—

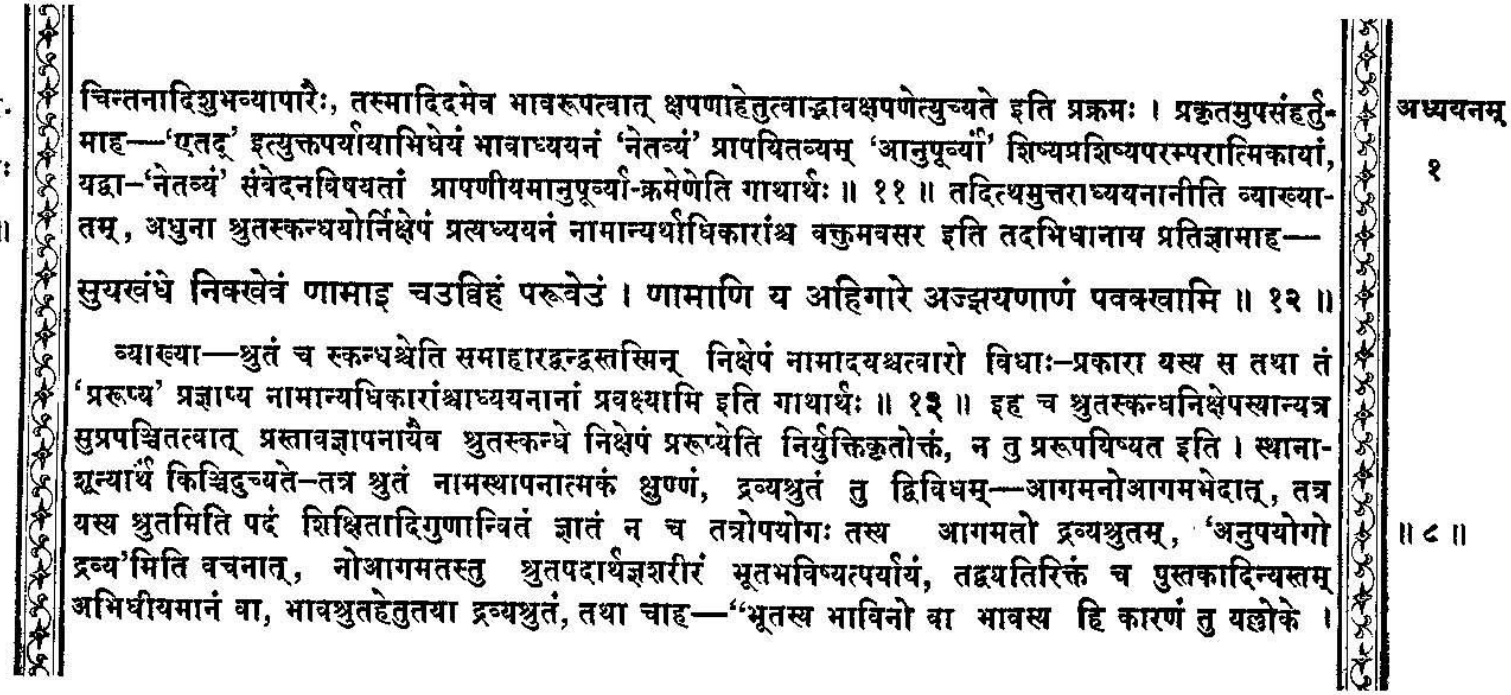
अट्ठविहं कम्मरयं पोराणं जं खवेइ जोगेहिं । एयं भावज्झयणं णेयव्वं आणुपुव्वीए ॥ ११ ॥

व्याख्या—'अष्टविधम्' अष्टप्रकारं, क्रियत इति कर्म्म–ज्ञानावरणादि, रज इव रजो जीवशुद्धस्वरूपान्यथात्वकरणेन, इह चोपमावाचकशब्दमन्तरेणापि परार्थप्रयुक्तत्वात् अग्निर्माणवक इतिवदुपमानार्थोऽवगन्तव्यः, कर्मरज इति समस्तं वा पदं, 'पुराणम्' अनेकभवोपात्तत्वेन चिरन्तनं 'यत्' यस्मात् क्षपयति जन्तुः 'योगैः' भावाध्ययन-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ ८ ॥

चिन्तनादिशुभव्यापारैः, तस्मादिदमेव भावरूपत्वात् क्षपणाहेतुत्वाद्भावक्षपणेत्युच्यते इति प्रक्रमः । प्रकृतमुपसंहर्तुमाह—'एतद्' इत्युक्तपर्यायाभिधेयं भावाध्ययनं 'नेतव्यं' प्रापयितव्यम् 'आनुपूर्व्या' शिष्यप्रशिष्यपरम्परात्मिकायां, यद्वा–'नेतव्यं' संवेदनविषयतां प्रापणीयमानुपूर्व्या-क्रमेणेति गाथार्थः ॥ ११ ॥ तदित्थमुत्तराध्ययनानीति व्याख्यातम्, अधुना श्रुतस्कन्धयोर्निक्षेपं प्रत्यध्ययनं नामान्यर्थाधिकारांश्च वक्तुमवसर इति तदभिधानाय प्रतिज्ञामाह—

सुयखंधे निक्खेवं णामाइ चउव्विहं परूवेउं । णामाणि य अहिगारे अज्झयणाणं पवक्खामि ॥ १२ ॥

व्याख्या—श्रुतं च स्कन्धश्चेति समाहारद्वन्द्वस्तस्मिन् निक्षेपं नामादयश्चत्वारो विधाः–प्रकारा यस्य स तथा तं 'प्ररूप्य' प्रज्ञाप्य नामान्यधिकारांश्चाध्ययनानां प्रवक्ष्यामि इति गाथार्थः ॥ १२ ॥ इह च श्रुतस्कन्धनिक्षेपस्यान्यत्र सुप्रपञ्चितत्वात् प्रस्तावज्ञापनायैव श्रुतस्कन्धे निक्षेपं प्ररूप्येति निर्युक्तिकृतोक्तं, न तु प्ररूपयिष्यत इति । स्थानाशून्यार्थं किञ्चिदुच्यते–तत्र श्रुतं नामस्थापनात्मकं क्षुण्णं, द्रव्यश्रुतं तु द्विविधम्—आगमनोआगमभेदात्, तत्र यस्य श्रुतमिति पदं शिक्षितादिगुणान्वितं ज्ञातं न च तत्रोपयोगः तस्य आगमतो द्रव्यश्रुतम्, 'अनुपयोगो द्रव्य'मिति वचनात्, नोआगमतस्तु श्रुतपदार्थज्ञशरीरं भूतभविष्यत्पर्यायं, तद्व्यतिरिक्तं च पुस्तकादिन्यस्तम् अभिधीयमानं वा, भावश्रुतहेतुतया द्रव्यश्रुतं, तथा चाह—"भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके ।

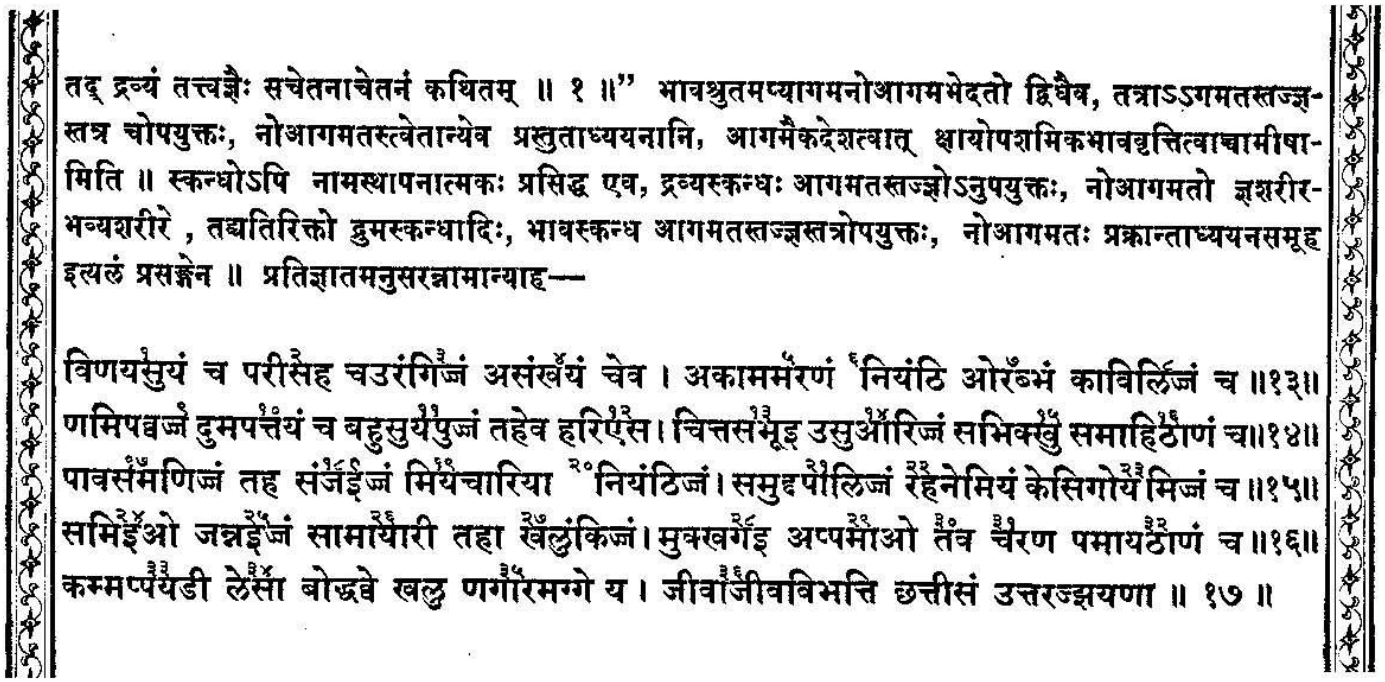
अध्ययनम् १

॥ ८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



तद् द्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतनाचेतनं कथितम् ॥ १ ॥" भावश्रुतमप्यागमनोआगमभेदतो द्विधैव, तत्राऽऽगमतस्तज्ज्ञ-स्तत्र चोपयुक्तः, नोआगमतस्त्वेतान्येव प्रस्तुताध्ययनानि, आगमैकदेशत्वात् क्षायोपशमिकभाववृत्तित्वाच्चामीषा-मिति ॥ स्कन्धोऽपि नामस्थापनात्मकः प्रसिद्ध एव, द्रव्यस्कन्धः आगमतस्तज्ज्ञोऽनुपयुक्तः, नोआगमतो ज्ञशरीर-भव्यशरीरे , तद्व्यतिरिक्तो द्रुमस्कन्धादिः, भावस्कन्ध आगमतस्तज्ज्ञस्तत्रोपयुक्तः, नोआगमतः प्रक्रान्ताध्ययनसमूह इत्यलं प्रसङ्गेन ॥ प्रतिज्ञातमनुसरन्नामान्याह—

विणयसुयं च परीसह चउरंगिज्जं असंखयं चेव । अकाममरणं नियंठि ओरब्भं काविलिज्जं च ॥१३॥
णमिपव्वज्जं दुमपत्तयं च बहुसुयपुज्जं तहेव हरिएसं। चित्तसंभूइ उसुआरिज्जं सभिक्खु समाहिठाणं च॥१४॥
पावसमणिज्जं तह संजईज्जं मियचारिया नियंठिज्जं। समुद्दपालिज्जं रहनेमियं केसिगोयमिज्जं च ॥१५॥
समिईओ जन्नइज्जं सामायारी तहा खलुंकिज्जं। मुक्खगई अप्पमाओ तव चरण पमायठाणं च ॥१६॥
कम्मप्पयडी लेसा बोद्धव्वे खलु णगारमग्गे य । जीवाजीवविभत्ति छत्तीसं उत्तरज्झयणा ॥ १७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

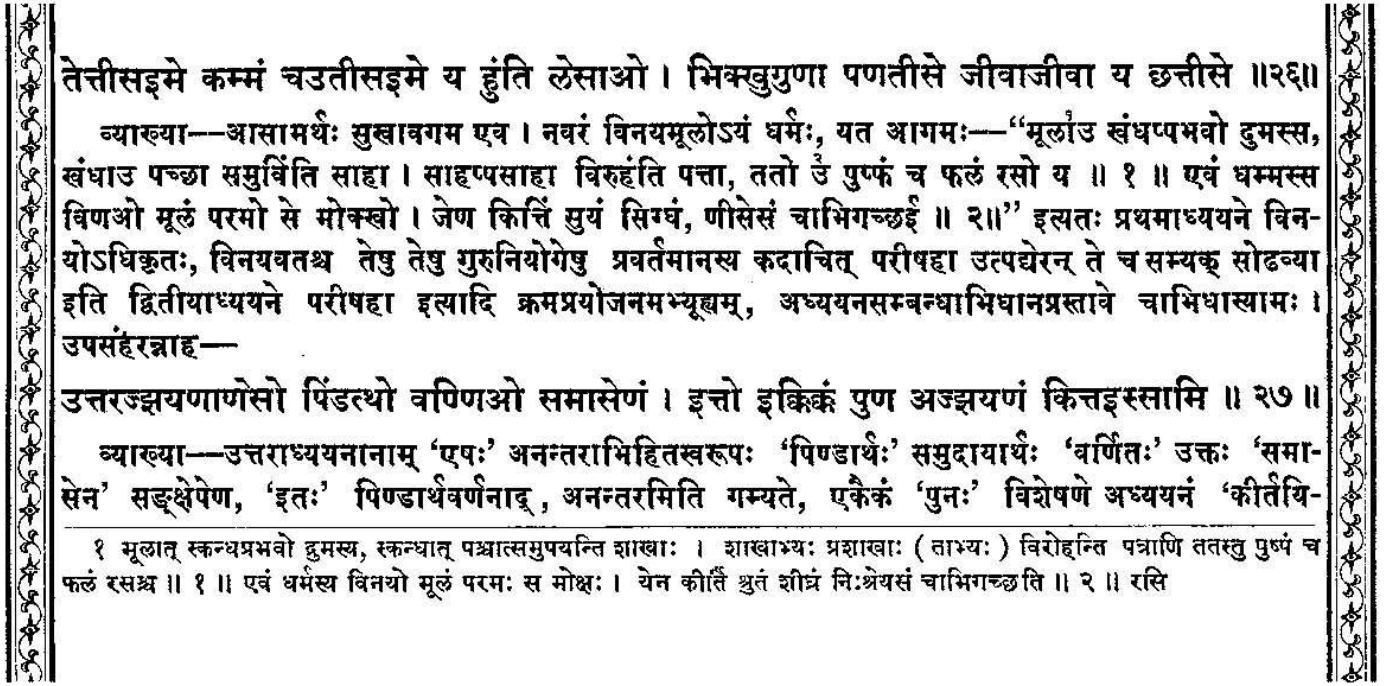
व्याख्या—निगदसिद्धाः । नवरमाभिरध्ययनविशेषनामान्युक्तानि, एतन्निरुक्त्यादि च नामनिष्पन्ननिक्षेपप्रस्ताव एवाभिधास्यते ॥ अधिकारानाह—

पढमे विणओ बीए परिसहा दुल्लहंगया तइए । अहिगारो य चउत्थे होइ पमायप्पमाएत्ति ॥ १८ ॥
मरणविभत्ती पुण पंचमम्मि विज्जा चरणं च छट्ठअज्झयणे । रसगेहिपरिच्चाओ सत्तमे अट्ठमि अलोभे॥१९॥
निक्कंपया य नवमे दसमे अणुसासणोवमा भणिया । इक्कारसमे पूया तवरिद्धी चेव बारसमे ॥ २० ॥
तेरसमे अ नियाणं अनियाणं चेव होइ चउदसमे । भिक्खुगुणा पन्नरसे सोलसमे बंभगुत्तीओ ॥२१॥
पावाण वज्जणा खलु सत्तरसे भोगिड्ढिविजहणट्ठारे । एगुणि अप्परिकम्मे अणाहया चेव वीसइमे ॥२२॥
चरिया य विचित्ता इक्कवीसि बावीसिमे थिरं चरणं । तेवीसइमे धम्मो चउवीसइमे य समिइओ ॥२३॥
बंभगुण पन्नवीसे सामायारी य होइ छव्वीसे । सत्तावीसे असढया अट्ठावीसे य मुक्खगई ॥ २४ ॥
एगुणतीस आवस्सगप्पमाओ तवो अ होइ तीसइमे । चरणं च इक्कतीसे बत्तीसि पमायठाणाइं ॥२५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



तेत्तीसइमे कम्मं चउतीसइमे य हुंति लेसाओ । भिक्खुगुणा पणतीसे जीवाजीवा य छत्तीसे ॥२६॥

व्याख्या—आसामर्थः सुखावगम एव । नवरं विनयमूलोऽयं धर्मः, यत आगमः—"मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स, खंधाउ पच्छा समुविंति साहा । साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता, ततो उ[1] पुप्फं च फलं रसो य ॥ १ ॥ एवं धम्मस्स विणओ मूलं परमो से मोक्खो । जेण किर्त्तिं सुयं सिग्घं, णीसेसं चाभिगच्छई ॥ २॥" इत्यतः प्रथमाध्ययने विनयोऽधिकृतः, विनयवतश्च तेषु तेषु गुरुनियोगेषु प्रवर्तमानस्य कदाचित् परीषहा उत्पद्येरन् ते च सम्यक् सोढव्या इति द्वितीयाध्ययने परीषहा इत्यादि क्रमप्रयोजनमभ्यूह्यम्, अध्ययनसम्बन्धाभिधानप्रस्तावे चाभिधास्यामः । उपसंहरन्नाह—

उत्तरज्झयणाणेसो पिंडत्थो वण्णिओ समासेणं । इत्तो इक्किक्कं पुण अज्झयणं कित्तइस्सामि ॥ २७ ॥

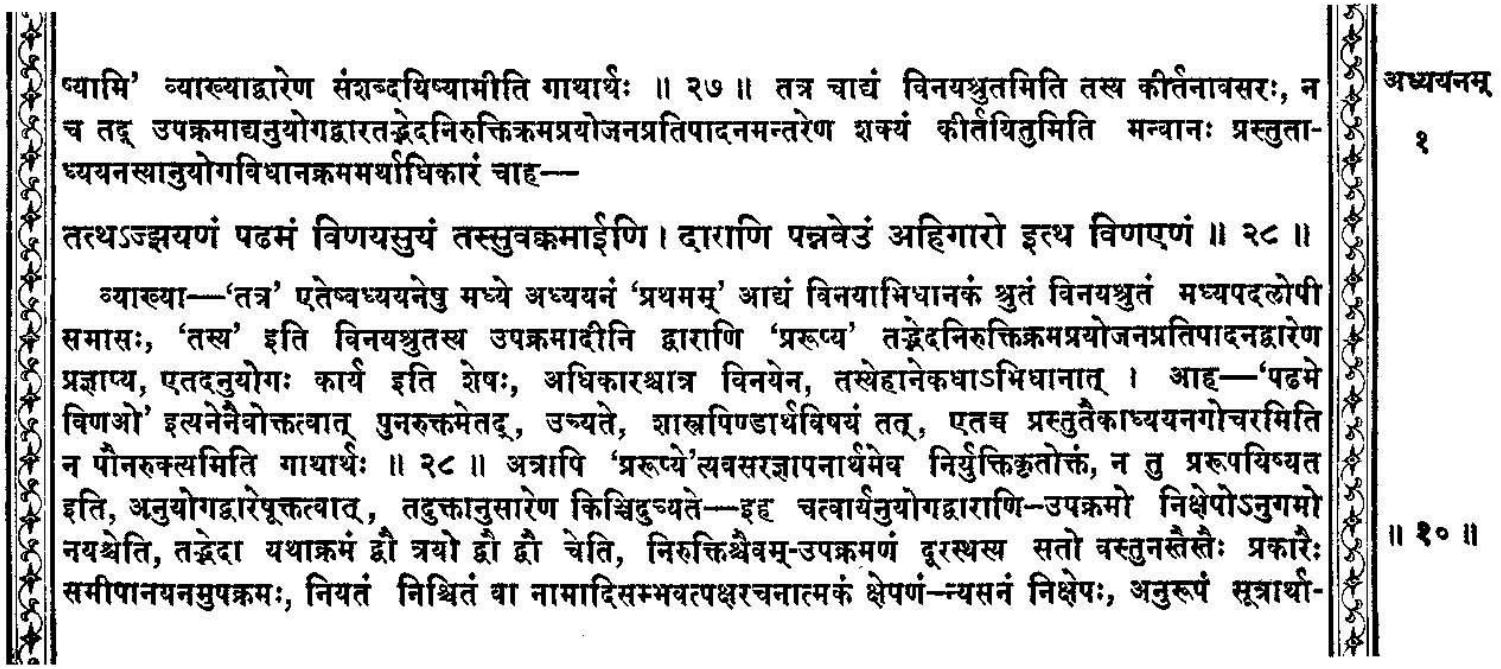
व्याख्या—उत्तराध्ययनानाम् 'एषः' अनन्तराभिहितस्वरूपः 'पिण्डार्थः' समुदायार्थः 'वर्णितः' उक्तः 'समासेन' सङ्क्षेपेण, 'इतः' पिण्डार्थवर्णनाद्, अनन्तरमिति गम्यते, एकैकं 'पुनः' विशेषणे अध्ययनं 'कीर्तयि-

१ मूलात् स्कन्धप्रभवो द्रुमस्य, स्कन्धात् पश्चात्समुपयन्ति शाखाः । शाखाभ्यः प्रशाखाः (ताभ्यः) विरोहन्ति पत्राणि ततस्तु पुष्पं च फलं रसश्च ॥ १ ॥ एवं धर्मस्य विनयो मूलं परमः स मोक्षः । येन कीर्तिं श्रुतं शीघ्रं निःश्रेयसं चाभिगच्छति ॥ २ ॥ रसि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ १० ॥

ष्यामि' व्याख्याद्वारेण संशब्दयिष्यामीति गाथार्थः ॥ २७ ॥ तत्र चाद्यं विनयश्रुतमिति तस्य कीर्तनावसरः, न च तद् उपक्रमाद्यनुयोगद्वारतद्भेदनिरुक्तिक्रमप्रयोजनप्रतिपादनमन्तरेण शक्यं कीर्तयितुमिति मन्वानः प्रस्तुताध्ययनस्यानुयोगविधानक्रममर्थाधिकारं चाह—

तत्थऽज्झयणं पढमं विणयसुयं तस्सुवक्कमाईणि। दाराणि पन्नवेउं अहिगारो इत्थ विणएणं ॥ २८ ॥

व्याख्या—'तत्र' एतेष्वध्ययनेषु मध्ये अध्ययनं 'प्रथमम्' आद्यं विनयाभिधानकं श्रुतं विनयश्रुतं मध्यपदलोपी समासः, 'तस्य' इति विनयश्रुतस्य उपक्रमादीनि द्वाराणि 'प्ररूप्य' तद्भेदनिरुक्तिक्रमप्रयोजनप्रतिपादनद्वारेण प्रज्ञाप्य, एतदनुयोगः कार्य इति शेषः, अधिकारश्चात्र विनयेन, तस्येहानेकधाऽभिधानात् । आह—'पढमे विणओ' इत्यनेनैवोक्तत्वात् पुनरुक्तमेतद्, उच्यते, शास्त्रपिण्डार्थविषयं तत्, एतच्च प्रस्तुतैकाध्ययनगोचरमिति न पौनरुक्त्यमिति गाथार्थः ॥ २८ ॥ अत्रापि 'प्ररूप्ये'त्यवसरज्ञापनार्थमेव निर्युक्तिकृतोक्तं, न तु प्ररूपयिष्यत इति, अनुयोगद्वारेषूक्तत्वात्, तदुक्तानुसारेण किञ्चिदुच्यते—इह चत्वार्यनुयोगद्वाराणि–उपक्रमो निक्षेपोऽनुगमो नयश्चेति, तद्भेदा यथाक्रमं द्वौ त्रयो द्वौ द्वौ चेति, निरुक्तिश्चैवम्-उपक्रमणं दूरस्थस्य सतो वस्तुनस्तैस्तैः प्रकारैः समीपानयनमुपक्रमः, नियतं निश्चितं वा नामादिसम्भवत्पक्षरचनात्मकं क्षेपणं–न्यसनं निक्षेपः, अनुरूपं सूत्रार्थो-

अध्ययनम् १

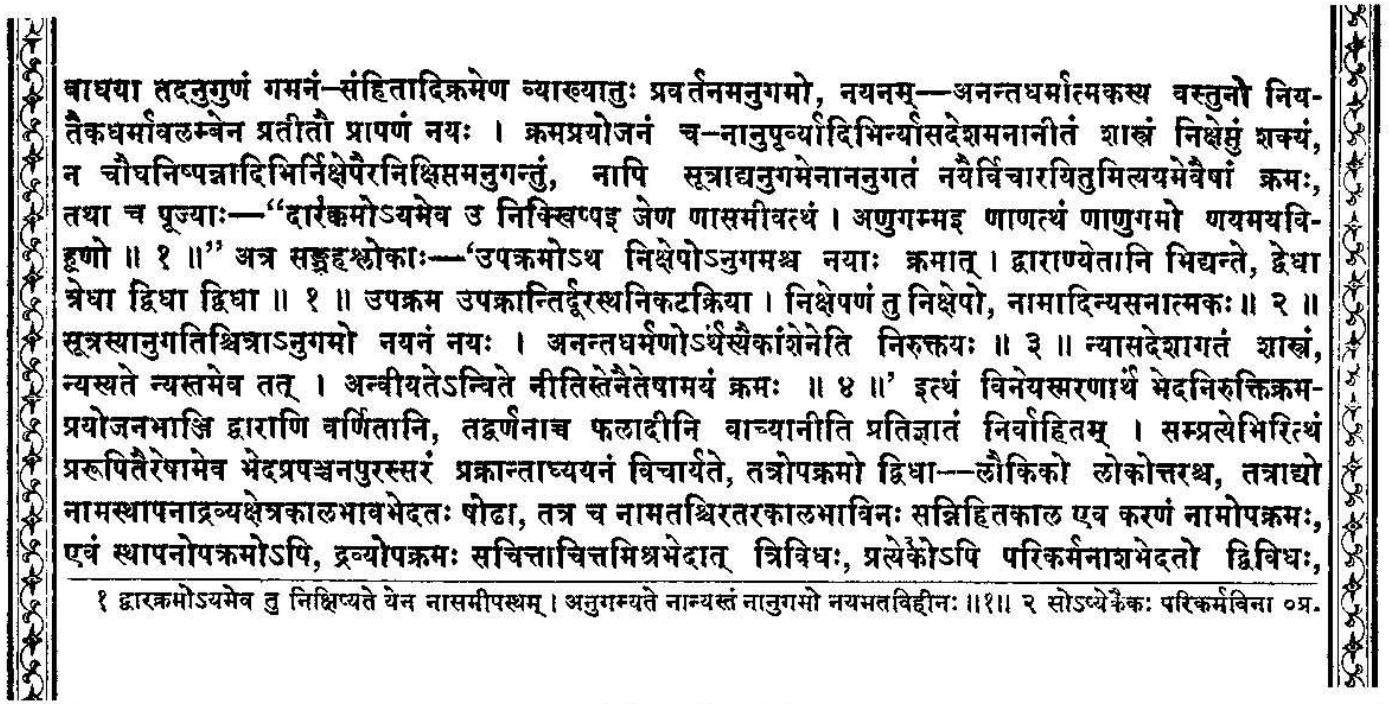
॥ १० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – १ "विनयश्रुत" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



बाधया तदनुगुणं गमनं–संहितादिक्रमेण व्याख्यातुः प्रवर्तनमनुगमो, नयनम्—अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनो नियतैकधर्मावलम्बेन प्रतीतौ प्रापणं नयः । क्रमप्रयोजनं च–नानुपूर्व्यादिभिर्न्यासदेशमनानीतं शास्त्रं निक्षेतुं शक्यं, न चौघनिष्पन्नादिभिर्निक्षेपैरनिक्षिप्तमनुगन्तुं, नापि सूत्राद्यनुगमेनाननुगतं नयैर्विचारयितुमित्ययमेवैषां क्रमः, तथा च पूज्याः—"दारक्कमोऽयमेव उ निक्खिप्पइ जेण णासमीवत्थं । अणुगम्मइ णाणत्थं णाणुगमो णयमयविहूणो ॥ १ ॥" अत्र सङ्ग्रहश्लोकाः—'उपक्रमोऽथ निक्षेपोऽनुगमश्च नयाः क्रमात् । द्वाराण्येतानि भिद्यन्ते, द्वेधा त्रेधा द्विधा द्विधा ॥ १ ॥ उपक्रम उपक्रान्तिर्दूरस्थनिकटक्रिया । निक्षेपणं तु निक्षेपो, नामादिन्यसनात्मकः ॥ २ ॥ सूत्रस्यानुगतिश्चित्राऽनुगमो नयनं नयः । अनन्तधर्मणोऽर्थस्यैकांशेनेति निरुक्तयः ॥ ३ ॥ न्यासदेशागतं शास्त्रं, न्यस्यते न्यस्तमेव तत् । अन्वीयतेऽन्विते नीतिस्तेनैतेषामयं क्रमः ॥ ४ ॥' इत्थं विनेयस्मरणार्थं भेदनिरुक्तिक्रमप्रयोजनभाञ्जि द्वाराणि वर्णितानि, तद्वर्णनाच्च फलादीनि वाच्यानीति प्रतिज्ञातं निर्वाहितम् । सम्प्रत्येभिरित्थं प्ररूपितैरेषामेव भेदप्रपञ्चनपुरस्सरं प्रक्रान्ताध्ययनं विचार्यते, तत्रोपक्रमो द्विधा—लौकिको लोकोत्तरश्च, तत्राद्यो नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदतः षोढा, तत्र च नामतश्चिरतरकालभाविनः सन्निहितकाल एव करणं नामोपक्रमः, एवं स्थापनोपक्रमोऽपि, द्रव्योपक्रमः सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् त्रिविधः, प्रत्येकोऽपि परिकर्मनाशभेदतो द्विविधः,

१ द्वारक्रमोऽयमेव तु निक्षिप्यते येन नासमीपस्थम् । अनुगम्यते नान्यस्तं नानुगमो नयमतविहीनः ॥१॥ २ सोऽप्येकैकः परिकर्मविना ०प्र.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

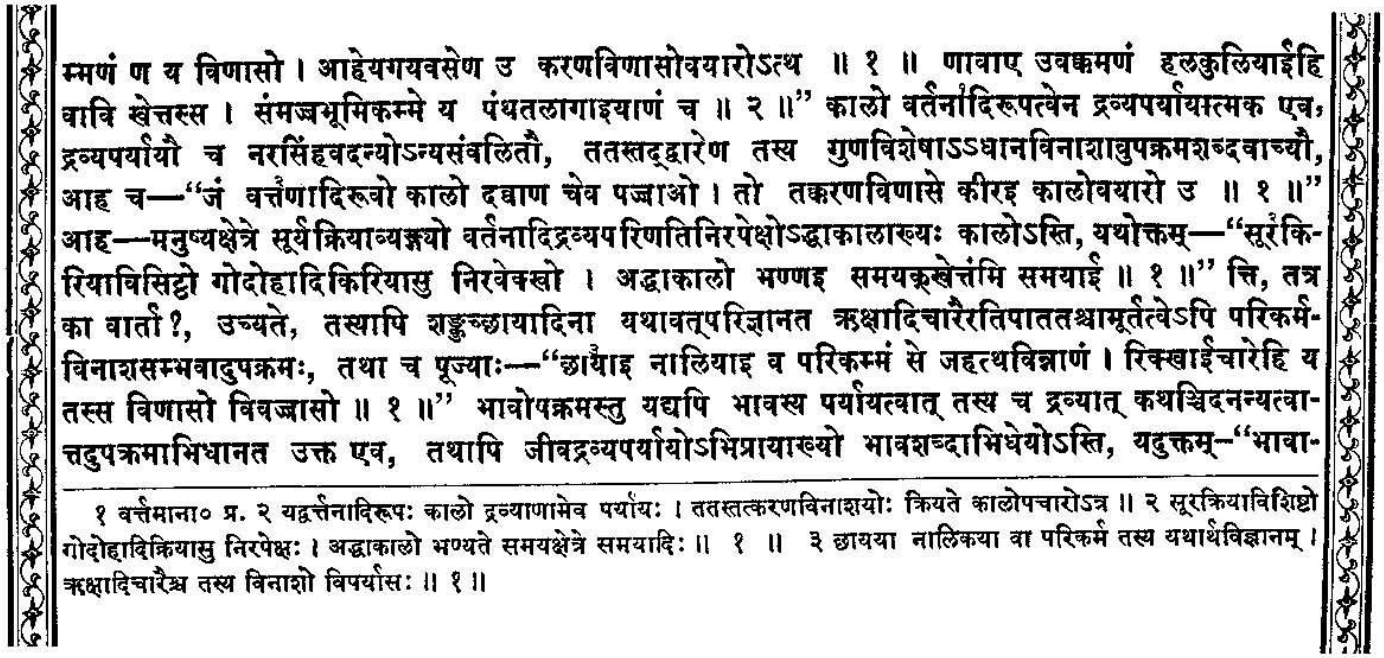
उक्तं च भाष्यकारेण—"णामाई छब्भेओ उवक्कमो दव्वओ सचित्ताई। तिविहो दुविहो य पुणो परिक्कमे वत्थुनासे य ॥ १ ॥" तत्र परिकर्मणि सचित्तद्रव्योपक्रमोऽवस्थितस्यैव द्विपदचतुष्पदापदरूपस्य नरतुरगतरुप्रभृतिसचित्तवस्तुनोऽविवक्षिताचित्तकेशाद्यवयवस्य यथाक्रमं रसायनशिक्षायुर्वेदादिवशतः तथाविधकर्मोदयादेः कालान्तरभाविनो वयःस्थैर्यविनयनप्रसूनोद्गमादिपरिणतिविशेषस्यापादनम्, अचित्तद्रव्योपक्रमः कनकादेः कटककुण्डलादिक्रिया, मिश्रद्रव्योपक्रमः सचित्तस्यैव द्विपदादेः अचित्तकेशादिसहितस्य स्नानादिसंस्कारकरणम्, एवं विनाशेऽपि द्रव्योपक्रमस्त्रिधा–तत्र सचित्तद्रव्योपक्रमोऽवस्थितस्यैव सचित्तद्रव्यस्याविवक्षितपर्यायान्तरोत्पत्ति प्रत्यभिज्ञानिवर्तकमसिपरश्वादितः प्राक्तनपर्यायापनयनम्, अचित्तद्रव्योपक्रम एवमेवाचित्तस्य रजतादेः पारदादिसम्पर्कतः स्वरूपादिभ्रंशनं, मिश्रद्रव्योपक्रमोऽपि तथैव शङ्खशृङ्खलाद्यलङ्कृतद्विरदादेः सचेतनस्य मुद्गरादिभिरभिघातः। एवं क्षेत्राद्युपक्रमा अपि परिकर्मविनाशभेदतो द्विभेदाः, तत्र यद्यपि क्षेत्रं नित्यममूर्तं च, ततो न तस्य परिकर्मविनाशौ स्तस्तथापि तदाधेयस्य जलादेर्नावादिहेतुतस्तौ सम्भवत इत्युपचारतस्तदुपक्रमः, उक्तं च—"खित्तमरूवं णिचं ण तस्स परिक-

१ नामादिः षड्भेद उपक्रमो द्रव्यतः सचित्तादिः। त्रिविधो द्विविधश्च पुनः परिकर्मणि वस्तुनाशे च ॥ १ ॥ २ क्षेत्रमरूपं नित्यं न तस्य परिकर्म न च विनाशः। आधेयगतवशेनैव करणविनाशोपचारोऽत्र ॥ १ ॥ नावोपक्रमणं हलकुलिकादिभिर्वाऽपि क्षेत्रस्य। संमार्जनभूमिकर्म च पथितटाकादीनां च ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



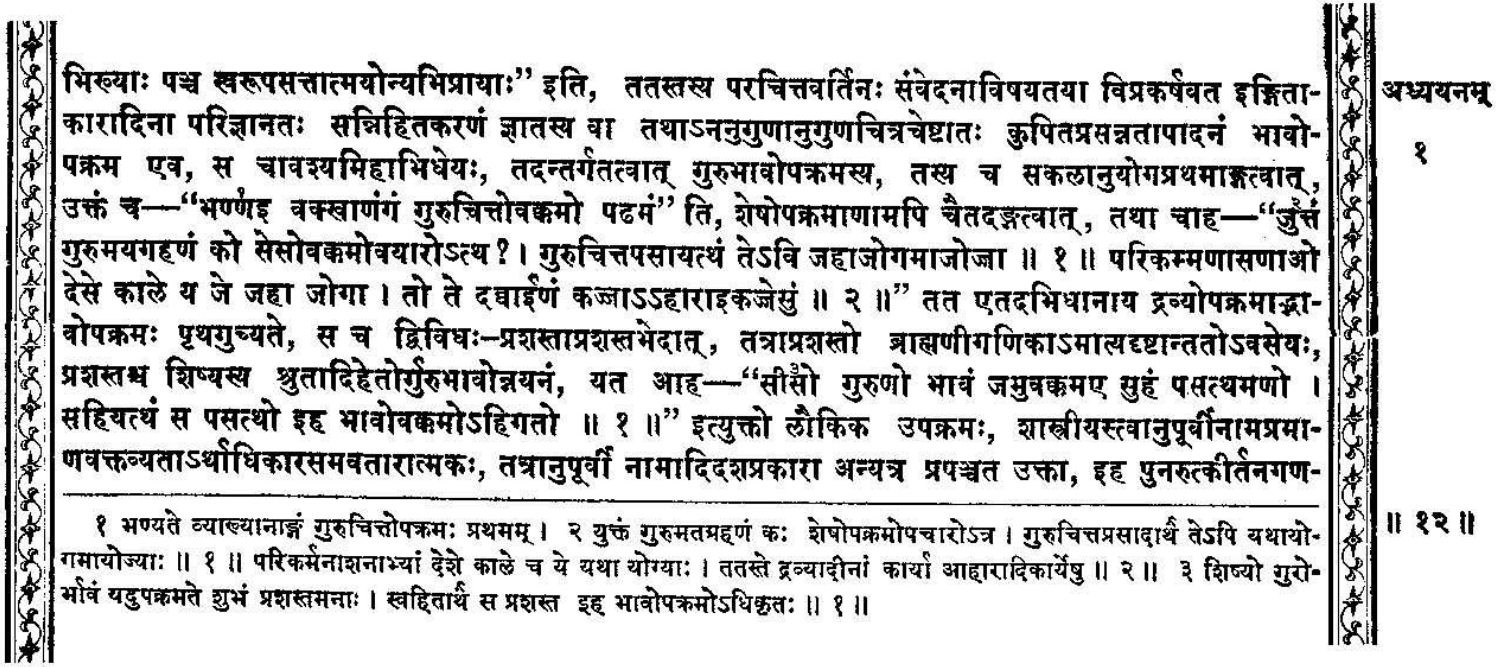
म्मणं ण य विणासो । आहेयगयवसेण उ करणविणासोवयारोऽत्थ ॥ १ ॥ णावाए उवक्कमणं हलकुलियाईहि वावि खेत्तस्स । संमज्जभूमिकम्मे य पंथतलागाइयाणं च ॥ २ ॥" कालो वर्तनादिरूपत्वेन द्रव्यपर्यायात्मक एव, द्रव्यपर्यायौ च नरसिंहवदन्योऽन्यसंवलितौ, ततस्तद्द्वारेण तस्य गुणविशेषाऽऽधानविनाशावुपक्रमशब्दवाच्यौ, आह च—"जं वत्तणादिरूवो कालो दव्वाण चेव पज्जाओ । तो तक्करणविणासे कीरइ कालोवयारो उ ॥ १ ॥" आह—मनुष्यक्षेत्रे सूर्यक्रियाव्यङ्ग्यो वर्तनादिद्रव्यपरिणतिनिरपेक्षोऽद्धाकालाख्यः कालोऽस्ति, यथोक्तम्—"सूरकिरियाविसिट्ठो गोदोहादिकिरियासु निरवेक्खो । अद्धाकालो भण्णइ समयक्खेत्तंमि समयाई ॥ १ ॥" त्ति, तत्र का वार्ता?, उच्यते, तस्यापि शङ्कुच्छायादिना यथावत्परिज्ञानत ऋक्षादिचारैरतिपाततश्चामूर्तत्वेऽपि परिकर्मविनाशसम्भवादुपक्रमः, तथा च पूज्याः—"छायाइ नालियाइ व परिकम्मं से जहत्थविन्नाणं । रिक्खाईचारेहि य तस्स विणासो विवज्जासो ॥ १ ॥" भावोपक्रमस्तु यद्यपि भावस्य पर्यायत्वात् तस्य च द्रव्यात् कथञ्चिदनन्यत्वात्तदुपक्रमाभिधानत उक्त एव, तथापि जीवद्रव्यपर्यायोऽभिप्रायाख्यो भावशब्दाभिधेयोऽस्ति, यदुक्तम्—"भावा-

१ वर्त्तमाना० प्र. २ यद्वर्त्तनादिरूपः कालो द्रव्याणामेव पर्यायः । ततस्तत्करणविनाशयोः क्रियते कालोपचारोऽत्र ॥ २ सूरक्रियाविशिष्टो गोदोहादिक्रियासु निरपेक्षः । अद्धाकालो भण्यते समयक्षेत्रे समयादिः ॥ १ ॥ ३ छायया नालिकया वा परिकर्म तस्य यथार्थविज्ञानम् । ऋक्षादिचारैश्च तस्य विनाशो विपर्यासः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ १२ ॥

भिरुयाः पञ्च स्वरूपसत्तात्मयोन्यभिप्रायाः" इति, ततस्तस्य परचित्तवर्तिनः संवेदनाविषयतया विप्रकर्षवत इङ्गिताकारादिना परिज्ञानतः सन्निहितकरणं ज्ञातस्य वा तथाऽननुगुणानुगुणचित्रचेष्टातः कुपितप्रसन्नतापादनं भावोपक्रम एव, स चावश्यमिहाभिधेयः, तदन्तर्गतत्वात् गुरुभावोपक्रमस्य, तस्य च सकलानुयोगप्रथमाङ्गत्वात्, उक्तं च—"भण्णइ वक्खाणंगं गुरुचित्तोवक्कमो पढमं" ति, शेषोपक्रमाणामपि चैतदङ्गत्वात्, तथा चाह—"जुत्तं गुरुमयगहणं को सेसोवक्कमोवयारोऽत्थ ? । गुरुचित्तपसायत्थं तेऽवि जहाजोगमाजोज्जा ॥ १ ॥ परिकम्मणासणाओ देसे काले य जे जहा जोगा । तो ते दव्वाईणं कज्जाऽऽहाराइकज्जेसुं ॥ २ ॥" तत एतदभिधानाय द्रव्योपक्रमाद्भावोपक्रमः पृथगुच्यते, स च द्विविधः–प्रशस्ताप्रशस्तभेदात्, तत्राप्रशस्तो ब्राह्मणीगणिकाऽमात्यदृष्टान्ततोऽवसेयः, प्रशस्तश्च शिष्यस्य श्रुतादिहेतोर्गुरुभावोन्नयनं, यत आह—"सीसो गुरुणो भावं जमुवक्कमए सुहं पसत्थमणो । सहियत्थं स पसत्थो इह भावोवक्कमोऽहिगतो ॥ १ ॥" इत्युक्तो लौकिक उपक्रमः, शास्त्रीयस्त्वानुपूर्वीनामप्रमाणवक्तव्यताऽर्थाधिकारसमवतारात्मकः, तत्रानुपूर्वी नामादिदशप्रकारा अन्यत्र प्रपञ्चत उक्ता, इह पुनरुत्कीर्तनगण-

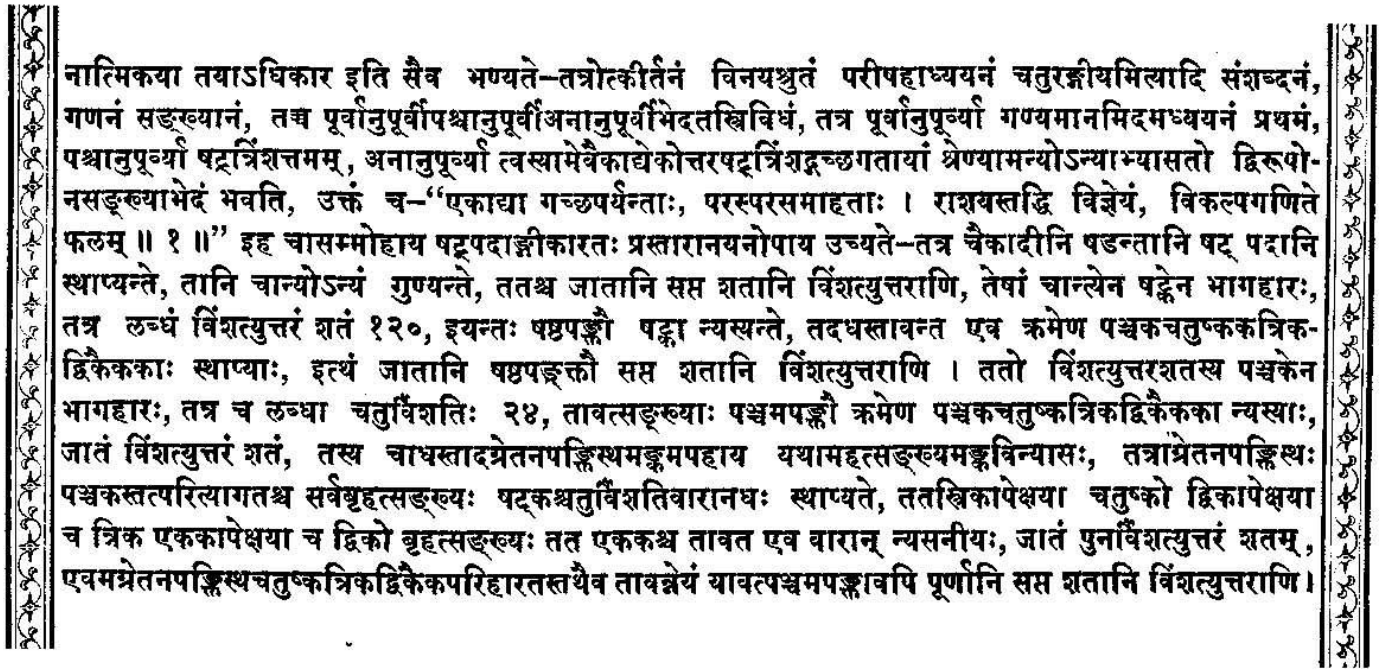
१ भण्यते व्याख्यानाङ्गं गुरुचित्तोपक्रमः प्रथमम् । २ युक्तं गुरुमतग्रहणं कः शेषोपक्रमोपचारोऽत्र । गुरुचित्तप्रसादार्थं तेऽपि यथायोगमायोज्याः ॥ १ ॥ परिकर्मनाशनाभ्यां देशे काले च ये यथा योग्याः । ततस्ते द्रव्यादीनां कार्या आहारादिकार्येषु ॥ २ ॥ ३ शिष्यो गुरोर्भावं यदुपक्रमते शुभं प्रशस्तमनाः । स्वहितार्थं स प्रशस्त इह भावोपक्रमोऽधिकृतः ॥ १ ॥

अध्ययनम् १ ॥ १२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



नात्मिकया तयाऽधिकार इति सैव भण्यते–तत्रोत्कीर्तनं विनयश्रुतं परीषहाध्ययनं चतुरङ्गीयमित्यादि संशब्दनं, गणनं सङ्ख्यानं, तच्च पूर्वानुपूर्वीपश्चानुपूर्वीअनानुपूर्वीभेदतस्त्रिविधं, तत्र पूर्वानुपूर्व्या गण्यमानमिदमध्ययनं प्रथमं, पश्चानुपूर्व्या षट्त्रिंशत्तमम्, अनानुपूर्व्या त्वस्यामेवैकाद्येकोत्तरषट्त्रिंशद्गच्छगतायां श्रेण्यामन्योऽन्याभ्यासतो द्विरूपोनसङ्ख्याभेदं भवति, उक्तं च–"एकाद्या गच्छपर्यन्ताः, परस्परसमाहताः । राशयस्तद्धि विज्ञेयं, विकल्पगणिते फलम् ॥ १ ॥" इह चासम्मोहाय षट्पदाङ्कीकारतः प्रस्तारानयनोपाय उच्यते–तत्र चैकादीनि षडन्तानि षट् पदानि स्थाप्यन्ते, तानि चान्योऽन्यं गुण्यन्ते, ततश्च जातानि सप्त शतानि विंशत्युत्तराणि, तेषां चान्त्येन षट्केन भागहारः, तत्र लब्धं विंशत्युत्तरं शतं १२०, इयन्तः षष्ठपङ्क्तौ षट्का न्यस्यन्ते, तदधस्तावन्त एव क्रमेण पञ्चकचतुष्ककत्रिकद्विकैककाः स्थाप्याः, इत्थं जातानि षष्ठपङ्क्तौ सप्त शतानि विंशत्युत्तराणि । ततो विंशत्युत्तरशतस्य पञ्चकेन भागहारः, तत्र च लब्धा चतुर्विंशतिः २४, तावत्सङ्ख्याः पञ्चमपङ्क्तौ क्रमेण पञ्चकचतुष्कत्रिकद्विकैकका न्यस्याः, जातं विंशत्युत्तरं शतं, तस्य चाधस्तादग्रेतनपङ्क्तिस्थमङ्कमपहाय यथामहत्सङ्ख्यमङ्कविन्यासः, तत्राग्रेतनपङ्क्तिस्थः पञ्चकस्तत्परित्यागतश्च सर्वबृहत्सङ्ख्यः षट्कश्चतुर्विंशतिवारानधः स्थाप्यते, ततस्त्रिकापेक्षया चतुष्को द्विकापेक्षया च त्रिक एककापेक्षया च द्विको बृहत्सङ्ख्यः तत एककश्च तावत एव वारान् न्यसनीयः, जातं पुनर्विंशत्युत्तरं शतम्, एवमग्रेतनपङ्क्तिस्थचतुष्कत्रिकद्विकैककपरिहारतस्तथैव तावन्नेयं यावत्पञ्चमपङ्क्तावपि पूर्णानि सप्त शतानि विंशत्युत्तराणि।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

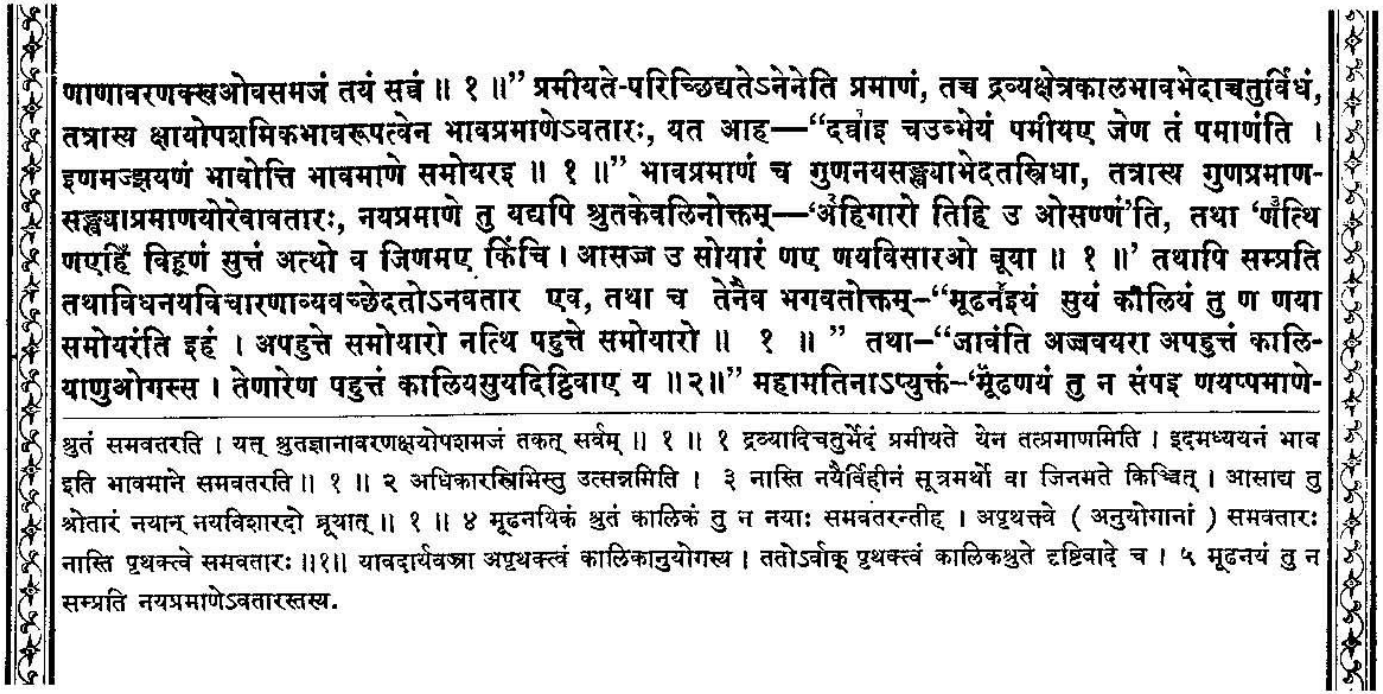
ततश्चतुर्विंशतेश्चतुष्केण भागहारः, तत्र लब्धाः षट् ६, ततश्चतुर्थपङ्क्तौ तावन्त एवाधोऽधश्चतुष्कत्रिकद्विकैककाः स्थाप्याः, यावज्जाता चतुर्विंशतिः, ततश्चाग्रेतनपङ्क्तिस्थाङ्कपरिहारादिप्रागुक्तयुक्तित एव पङ्क्तिः पूरणीया । भूयः षड्कस्य त्रिकेण भागहारः, ततश्च लब्धो द्विकः, ततस्तृतीयपङ्क्तौ द्वौ त्रिकौ पुनर्द्वावेव द्विकौ भूय एककौ च द्वावधः स्थापनीयौ, अधस्ताच्च पुरःस्थिताङ्कत्यागतो बृहत्सङ्ख्याङ्कन्यासतश्च विंशत्युत्तरसप्तशतप्रमाणैव पङ्क्तिः पूरणीया । षड्भागहारलब्धस्य द्विकस्य विभजने लब्ध एकः, ततो द्वितीयपङ्क्तौ द्विक एककश्चैको विरचनीयः, तदधश्च पुरोदितपुरस्थाङ्कपरिहारादिन्यायतस्तावत्सङ्ख्यैव द्वितीयपङ्क्तिः कार्या । प्रथमपङ्क्तिस्तु पुरस्थाङ्कपरिहारतः पूरणीया । उक्तं च—"गणितेऽन्त्यविभक्ते तु, लब्धं शेषैर्विभाजयेत् । आदावन्ते च तत्स्थाप्यं, विकल्पगणिते क्रमात् ॥१॥" इह च परस्परगुणनागतराशिर्गणितमुच्यते, शेषास्तु षट्कापेक्षया पञ्चकादयः, 'आदा'विति च षष्ठपङ्क्तौ, 'अन्त' इति च पञ्चमादिपङ्क्ताविति । उक्ताऽऽनुपूर्वी, सम्प्रति नाम, तत्र नमति–ज्ञानरूपादिपर्यायभेदानुसारतो जीवपरमाण्वादिवस्तुप्रतिपादकतया प्रह्वीभवतीति नाम, तथा चाह—"जं वत्थुणोऽभिहाणं पज्जवभेयाणुसारि तं नाम । पइभेयं जं णमए पइभेयं जाइ जं भणियं ॥१॥" तच्चैकनामादि दशनामान्तम्, इह तु षड्विधनाम्नौदयिकादिषड्भावरूपेणाधिकारः, तदन्तर्भूतक्षायोपशमिकभावे श्रुतज्ञानात्मकत्वेन प्रस्तुताध्ययनस्यावतारात्, आह च—"छव्विहणामे भावे खओवसमिए सुयं समोयरइ । जं सुय-

१ यद्वस्तुनोऽभिधानं पर्यायभेदानुसारि तन्नाम । प्रतिभेदं यन्नमति प्रतिभेदं याति यद्गणितम् ॥ १ ॥ २ षड्विधनाम्नि भावे क्षायोपशमिके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



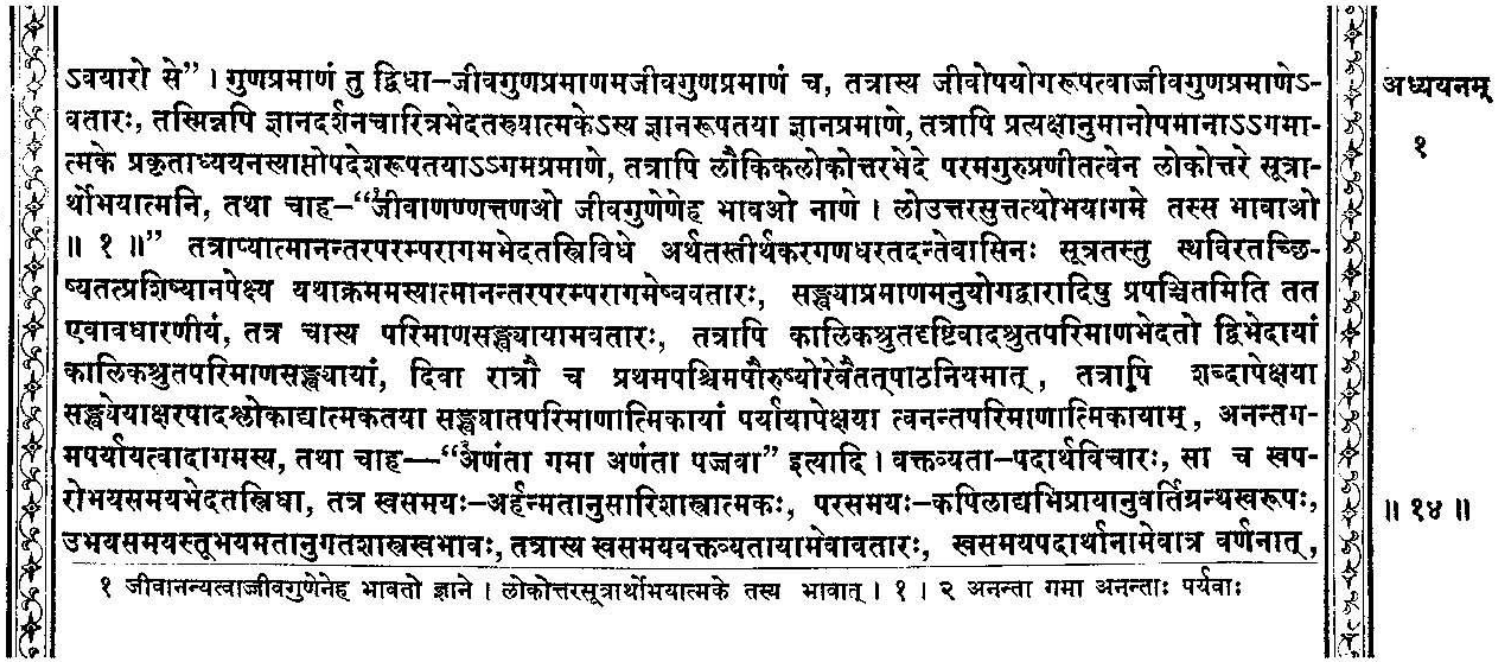
णाणावरणक्खओवसमजं तयं सव्वं ॥ १ ॥" प्रमीयते-परिच्छिद्यतेऽनेनेति प्रमाणं, तच्च द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चतुर्विधं, तत्रास्य क्षायोपशमिकभावरूपत्वेन भावप्रमाणेऽवतारः, यत आह—"दव्वाइ चउब्भेयं पमीयए जेण तं पमाणंति । इणमज्झयणं भावोत्ति भावमाणे समोयरइ ॥ १ ॥" भावप्रमाणं च गुणनयसङ्ख्याभेदतस्त्रिधा, तत्रास्य गुणप्रमाण-सङ्ख्याप्रमाणयोरेवावतारः, नयप्रमाणे तु यद्यपि श्रुतकेवलिनोक्तम्—'अहिगारो तिहि उ ओसण्णं'ति, तथा 'णत्थि णएहिं विहूणं सुत्तं अत्थो व जिणमए किंचि । आसज्ज उ सोयारं णए णयविसारओ बूया ॥ १ ॥' तथापि सम्प्रति तथाविधनयविचारणाव्यवच्छेदतोऽनवतार एव, तथा च तेनैव भगवतोक्तम्–"मूढनइयं सुयं कालियं तु ण णया समोयरंति इहं । अपहुत्ते समोयारो नत्थि पहुत्ते समोयारो ॥ १ ॥ " तथा–"जावंति अज्जवयरा अपहुत्तं कालि-याणुओगस्स । तेणारेण पहुत्तं कालियसुयदिट्ठिवाए य ॥२॥" महामतिनाऽप्युक्तं–'मूढणयं तु न संपइ णयप्पमाणे-

श्रुतं समवतरति । यत् श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमजं तकत् सर्वम् ॥ १ ॥ १ द्रव्यादिचतुर्भेदं प्रमीयते येन तत्प्रमाणमिति । इदमध्ययनं भाव इति भावमाने समवतरति ॥ १ ॥ २ अधिकारस्त्रिभिस्तु उत्सन्नमिति । ३ नास्ति नयैर्विहीनं सूत्रमर्थो वा जिनमते किञ्चित् । आसाद्य तु श्रोतारं नयान् नयविशारदो ब्रूयात् ॥ १ ॥ ४ मूढनयिकं श्रुतं कालिकं तु न नयाः समवतरन्तीह । अपृथक्त्वे (अनुयोगानां) समवतारः नास्ति पृथक्त्वे समवतारः ॥१॥ यावदार्यवज्रा अपृथक्त्वं कालिकानुयोगस्य । ततोऽर्वाक् पृथक्त्वं कालिकश्रुते दृष्टिवादे च । ५ मूढनयं तु न सम्प्रति नयप्रमाणेऽवतारस्तस्य.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ १४ ॥

ऽवयारो से" । गुणप्रमाणं तु द्विधा–जीवगुणप्रमाणमजीवगुणप्रमाणं च, तत्रास्य जीवोपयोगरूपत्वाज्जीवगुणप्रमाणेऽवतारः, तस्मिन्नपि ज्ञानदर्शनचारित्रभेदतस्त्रिधात्मकेऽस्य ज्ञानरूपतया ज्ञानप्रमाणे, तत्रापि प्रत्यक्षानुमानोपमानाऽऽगमात्मके प्रकृताध्ययनस्याप्तोपदेशरूपतयाऽऽगमप्रमाणे, तत्रापि लौकिकलोकोत्तरभेदे परमगुरुप्रणीतत्वेन लोकोत्तरे सूत्रार्थोभयात्मनि, तथा चाह–"जीवाणण्णत्तणओ जीवगुणेणेह भावओ नाणे । लोउत्तरसुत्तत्थोभयागमे तस्स भावाओ ॥ १ ॥" तत्राप्यात्मानन्तरपरम्परागमभेदतस्त्रिविधे अर्थतस्तीर्थकरगणधरतदन्तेवासिनः सूत्रतस्तु स्थविरतच्छिष्यतत्प्रशिष्यानपेक्ष्य यथाक्रममस्यात्मानन्तरपरम्परागमेष्ववतारः, सङ्ख्याप्रमाणमनुयोगद्वारादिषु प्रपञ्चितमिति तत एवावधारणीयं, तत्र चास्य परिमाणसङ्ख्यायामवतारः, तत्रापि कालिकश्रुतदृष्टिवादश्रुतपरिमाणभेदतो द्विभेदायां कालिकश्रुतपरिमाणसङ्ख्यायां, दिवा रात्रौ च प्रथमपश्चिमपौरुष्योरेवैतत्पाठनियमात्, तत्रापि शब्दापेक्षया सङ्ख्येयाक्षरपादश्लोकाद्यात्मकतया सङ्ख्यातपरिमाणात्मिकायां पर्यायापेक्षया त्वनन्तपरिमाणात्मिकायाम्, अनन्तगमपर्यायत्वादागमस्य, तथा चाह—"अणंता गमा अणंता पज्जवा" इत्यादि । वक्तव्यता–पदार्थविचारः, सा च स्वपरोभयसमयभेदतस्त्रिधा, तत्र स्वसमयः–अर्हन्मतानुसारिशास्त्रात्मकः, परसमयः–कपिलाद्यभिप्रायानुवर्तिग्रन्थस्वरूपः, उभयसमयस्तूभयमतानुगतशास्त्रस्वभावः, तत्रास्य स्वसमयवक्तव्यतायामेवावतारः, स्वसमयपदार्थानामेवात्र वर्णनात्,

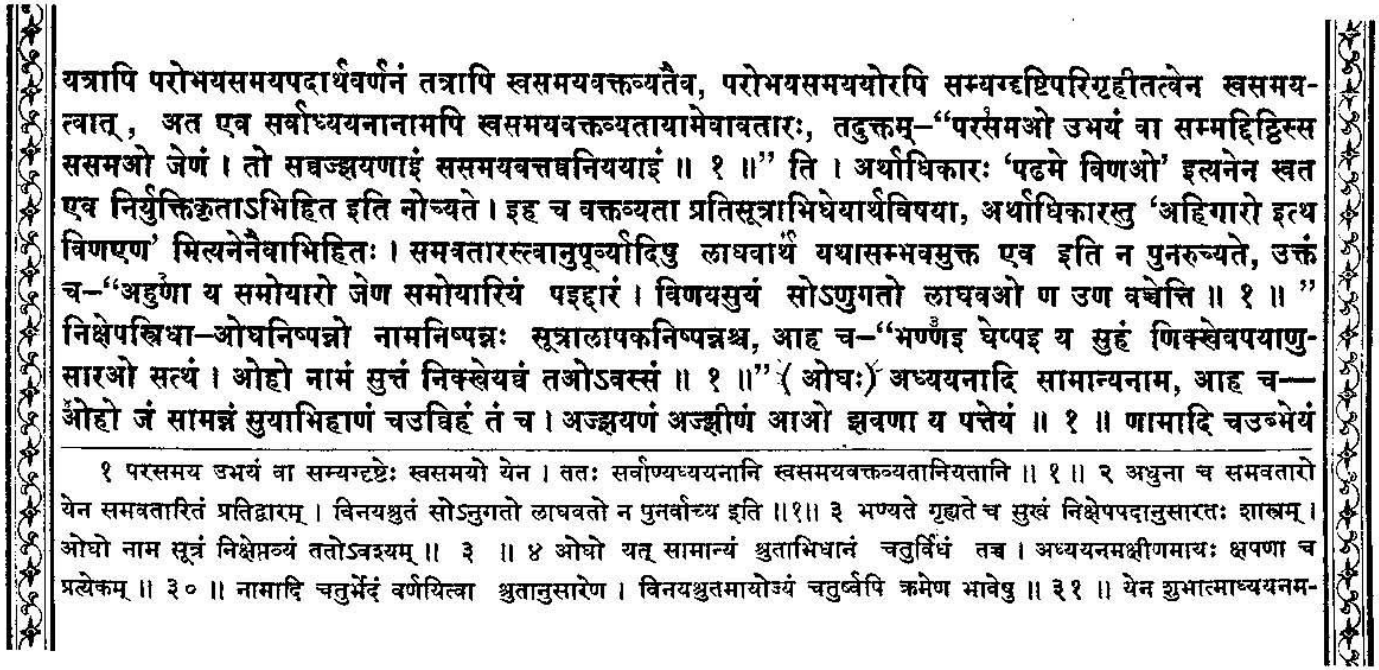
१ जीवानन्यत्वाज्जीवगुणेनेह भावतो ज्ञाने । लोकोत्तरसूत्रार्थोभयात्मके तस्य भावात् । १ । २ अनन्ता गमा अनन्ताः पर्यवाः

अध्ययनम् १ ॥ १४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



यत्रापि परोभयसमयपदार्थवर्णनं तत्रापि स्वसमयवक्तव्यतैव, परोभयसमययोरपि सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतत्वेन स्वसमयत्वात्, अत एव सर्वाध्ययनानामपि स्वसमयवक्तव्यतायामेवावतारः, तदुक्तम्–"परसमओ उभयं वा सम्मद्दिट्ठिस्स ससमओ जेणं। तो सव्वज्झयणाइं ससमयवत्तव्वनिययाइं ॥ १ ॥" ति। अर्थाधिकारः 'पढमे विणओ' इत्यनेन स्वत एव निर्युक्तिकृताऽभिहित इति नोच्यते। इह च वक्तव्यता प्रतिसूत्राभिधेयार्थविषया, अर्थाधिकारस्तु 'अहिगारो इत्थ विणएण' मित्यनेनैवाभिहितः। समवतारस्त्वानुपूर्व्यादिषु लाघवार्थं यथासम्भवमुक्त एव इति न पुनरुच्यते, उक्तं च–"अहुणा य समोयारो जेण समोयारियं पइद्दारं। विणयसुयं सोऽणुगतो लाघवओ ण उण वच्चेत्ति ॥ १ ॥" निक्षेपस्त्रिधा–ओघनिष्पन्नो नामनिष्पन्नः सूत्रालापकनिष्पन्नश्च, आह च–"भण्णइ घेप्पइ य सुहं णिक्खेवपयाणुसारओ सत्थं। ओहो नामं सुत्तं निक्खेयव्वं तओऽवस्सं ॥ १ ॥" (ओघः) अध्ययनादि सामान्यनाम, आह च— ओहो जं सामन्नं सुयाभिहाणं चउव्विहं तं च। अज्झयणं अज्झीणं आओ झवणा य पत्तेयं ॥ १ ॥ णामादि चउब्भेयं

१ परसमय उभयं वा सम्यग्दृष्टेः स्वसमयो येन। ततः सर्वाण्यध्ययनानि स्वसमयवक्तव्यतानियतानि ॥ १ ॥ २ अधुना च समवतारो येन समवतारितं प्रतिद्वारम्। विनयश्रुतं सोऽनुगतो लाघवतो न पुनर्वाच्य इति ॥१॥ ३ भण्यते गृह्यते च सुखं निक्षेपपदानुसारतः शास्त्रम्। ओघो नाम सूत्रं निक्षेप्तव्यं ततोऽवश्यम् ॥ ३ ॥ ४ ओघो यत् सामान्यं श्रुताभिधानं चतुर्विधं तच्च। अध्ययनमक्षीणमायः क्षपणा च प्रत्येकम् ॥ ३० ॥ नामादि चतुर्भेदं वर्णयित्वा श्रुतानुसारेण। विनयश्रुतमायोज्यं चतुर्ष्वपि क्रमेण भावेषु ॥ ३१ ॥ येन शुभात्माध्ययनम-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

वण्णेऊणं सुयाणुसारेणं । विणयसुयं आउज्जं चउसुंपि कमेण भावेसुं ॥२॥ जेण सुहप्पज्झयणं अज्झप्पाणयणमहियणयणं वा । बोहस्स संजमस्स य मोक्खस्स व तो तमज्झयणं ॥३॥ अक्खीणं दिज्जंतं अवोच्छित्तिणयतो अलोगो व । आओ णाणाईणं झवणा पावाण कम्माणं ॥ ४ ॥ प्रकटार्था एव, नवरं येन हेतुना शुभात्माध्ययनं शुभस्य–पुण्यस्यात्मन्याधिक्येनायनं–गमनं ततो भवति, पठ्यते वा–'सुहज्झप्पयणं'ति, तत्र शुभं–सङ्क्लेशविरहितमध्यात्मं–मनः तत्रायनमर्थादात्मनः ततः, (अध्यात्मस्यानयनं प्रापणमात्मनि ततो भवति) तथाऽधिकं नयनं–प्रकर्षवत्प्रापणं, कस्य ?–बोधस्य–तत्त्वावगमस्य संयमस्य वा–पृथिव्यादिसंरक्षणात्मकस्य मोक्षस्य वा–कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणस्य ततो भवति, आत्मनीति गम्यते, 'ततः' तस्माद्धेतोः, प्राग्वदध्ययनमुच्यत इति शेषः, तथा 'अव्यवच्छित्तिनयतः' अव्यवच्छित्तिनयमाश्रित्य द्रव्यास्तिकनयाभिप्रायेणेत्यर्थः, 'अलोकवत्' इत्युपलक्षणत्वादलोकाकाशवदिति । नामनिष्पन्ननिक्षेपेऽस्य विनयश्रुतमिति द्विपदं नाम, ततो विनयस्य श्रुतस्य च निक्षेपः शास्त्रान्तर उक्तोऽप्यवश्यमिह वक्तव्यः । तत्र च विनयनिक्षेपो बहुवक्तव्य इति तमतिदेष्टुं श्रुतनिक्षेपस्तु न तथेति तमभिधातुमाह–

विणओ पुवुद्दिट्ठो सुयस्स चउक्कओ उ निक्खेवो । दव्वसुय निण्हगाइ भावसुय सुए उ उवउत्तो ॥२९॥

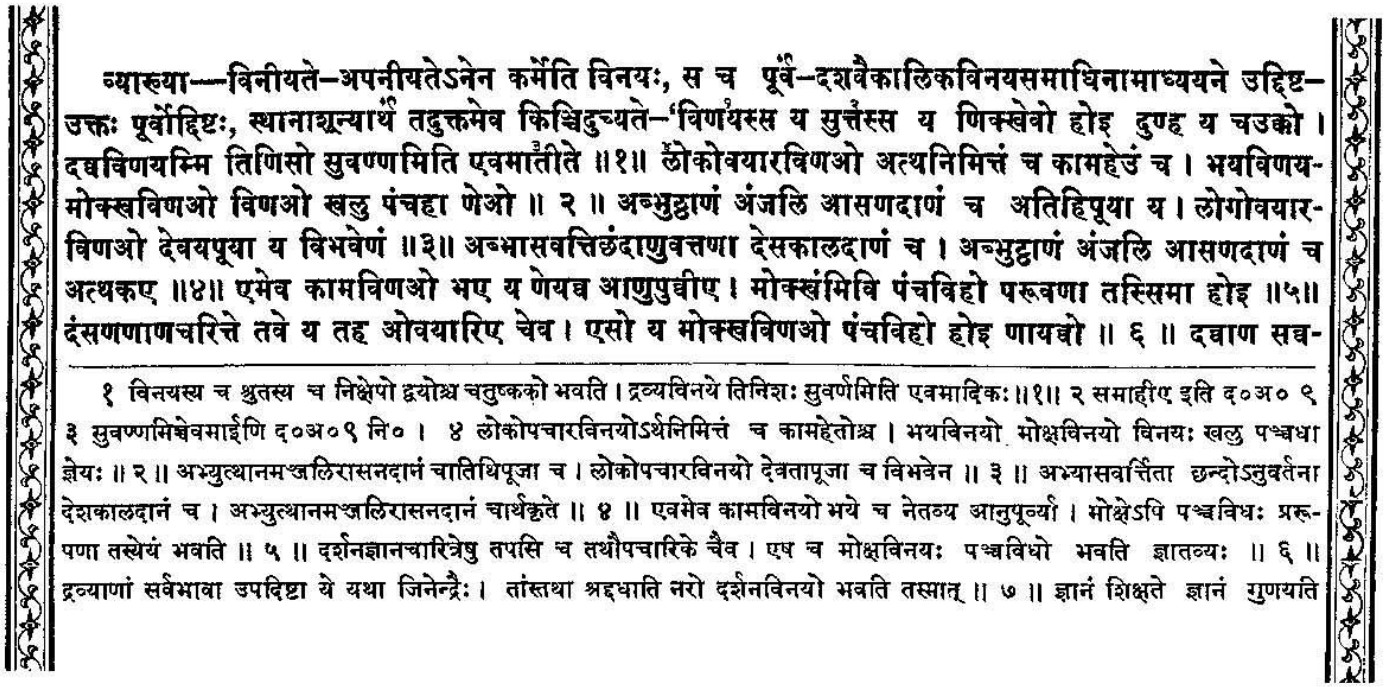
ध्यात्मानयनमधिकनयनं वा । बोधस्य संयमस्य च मोक्षस्य वा ततस्तदध्ययनम् ॥ ३२ ॥ अक्षीणं दीयमानमव्यवच्छित्तिनयतोऽलोक इव । आयो ज्ञानादीनां क्षपणा पापानां कर्मणाम् ॥ ३३ ॥ एताश्चतस्रोऽपि आवश्यकनिर्युक्तिगाथाः सोपयोगतरा इति च संस्कृता ज्ञेयाः

॥ १५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



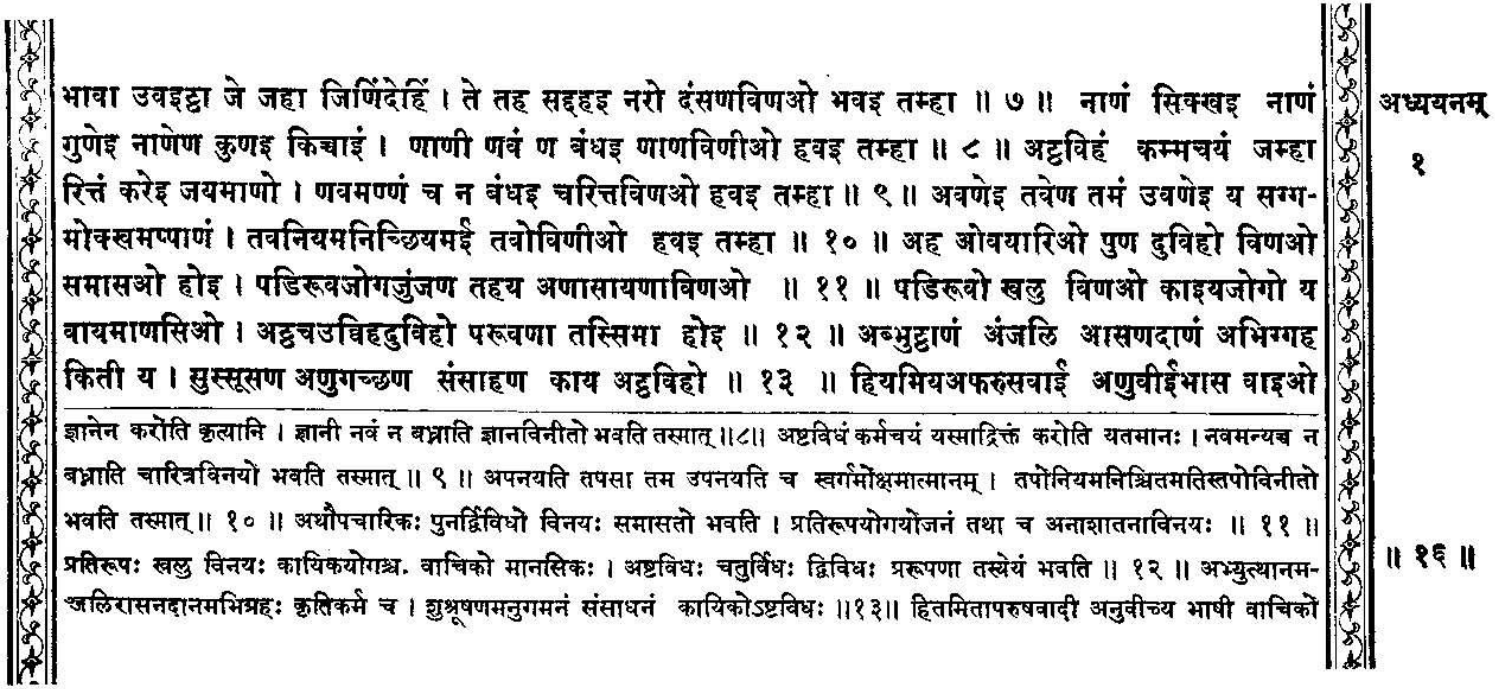
व्याख्या—विनीयते–अपनीयतेऽनेन कर्मेति विनयः, स च पूर्वं–दशवैकालिकविनयसमाधिनामाध्ययने उद्दिष्ट–उक्तः पूर्वोद्दिष्टः, स्थानाशून्यार्थं तदुक्तमेव किञ्चिदुच्यते–'विणयस्स य सुत्तस्स य णिक्खेवो होइ दुण्ह य चउक्को। दव्वविणयम्मि तिणिसो सुवण्णमिति एवमातीते ॥१॥ लोकोवयारविणओ अत्थनिमित्तं च कामहेउं च। भयविणय-मोक्खविणओ विणओ खलु पंचहा णेओ ॥ २ ॥ अब्भुट्ठाणं अंजलि आसणदाणं च अतिहिपूया य। लोगोवयार-विणओ देवयपूया य विभवेणं ॥३॥ अब्भासवत्तिछंदाणुवत्तणा देसकालदाणं च। अब्भुट्ठाणं अंजलि आसणदाणं च अत्थकए ॥४॥ एमेव कामविणओ भए य णेयव्व आणुपुवीए। मोक्खंमिवि पंचविहो परूवणा तस्सिमा होइ ॥५॥ दंसणणाणचरित्ते तवे य तह ओवयारिए चेव। एसो य मोक्खविणओ पंचविहो होइ णायव्वो ॥ ६ ॥ दव्वाण सव्व-

१ विनयस्य च श्रुतस्य च निक्षेपो द्वयोश्च चतुष्को भवति। द्रव्यविनये तिनिशः सुवर्णमिति एवमादिकः॥१॥ २ समाहीए इति द०अ० ९ ३ सुवण्णमिच्चेवमाईणि द०अ०९ नि०। ४ लोकोपचारविनयोऽर्थनिमित्तं च कामहेतोश्च। भयविनयो मोक्षविनयो विनयः खलु पञ्चधा ज्ञेयः ॥ २ ॥ अभ्युत्थानमञ्जलिरासनदानं चातिथिपूजा च। लोकोपचारविनयो देवतापूजा च विभवेन ॥ ३ ॥ अभ्यासवर्त्तिता छन्दोऽनुवर्तना देशकालदानं च। अभ्युत्थानमञ्जलिरासनदानं चार्थकृते ॥ ४ ॥ एवमेव कामविनयो भये च नेतव्य आनुपूर्व्या। मोक्षेऽपि पञ्चविधः प्ररू-पणा तस्येयं भवति ॥ ५ ॥ दर्शनज्ञानचारित्रेषु तपसि च तथौपचारिके चैव। एष च मोक्षविनयः पञ्चविधो भवति ज्ञातव्यः ॥ ६ ॥ द्रव्याणां सर्वभावा उपदिष्टा ये यथा जिनेन्द्रैः। तांस्तथा श्रद्दधाति नरो दर्शनविनयो भवति तस्मात् ॥ ७ ॥ ज्ञानं शिक्षते ज्ञानं गुणयति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ १६ ॥

भावा उवइट्ठा जे जहा जिणिंदेहिं । ते तह सद्दहइ नरो दंसणविणओ भवइ तम्हा ॥ ७ ॥ नाणं सिक्खइ नाणं गुणेइ नाणेण कुणइ किच्चाइं । णाणी णवं ण बंधइ णाणविणीओ हवइ तम्हा ॥ ८ ॥ अट्ठविहं कम्मचयं जम्हा रित्तं करेइ जयमाणो । णवमण्णं च न बंधइ चरित्तविणओ हवइ तम्हा ॥ ९ ॥ अवणेइ तवेण तमं उवणेइ य सग्ग-मोक्खमप्पाणं । तवनियमनिच्छियमई तवोविणीओ हवइ तम्हा ॥ १० ॥ अह ओवयारिओ पुण दुविहो विणओ समासओ होइ । पडिरूवजोगजुंजण तहय अणासायणाविणओ ॥ ११ ॥ पडिरूवो खलु विणओ काइयजोगो य वायमाणसिओ । अट्ठचउविहदुविहो परूवणा तस्सिमा होइ ॥ १२ ॥ अब्भुट्ठाणं अंजलि आसणदाणं अभिग्गह किती य । सुस्सूसण अणुगच्छण संसाहण काय अट्ठविहो ॥ १३ ॥ हियमियअफरुसवाई अणुवीईभास वाइओ

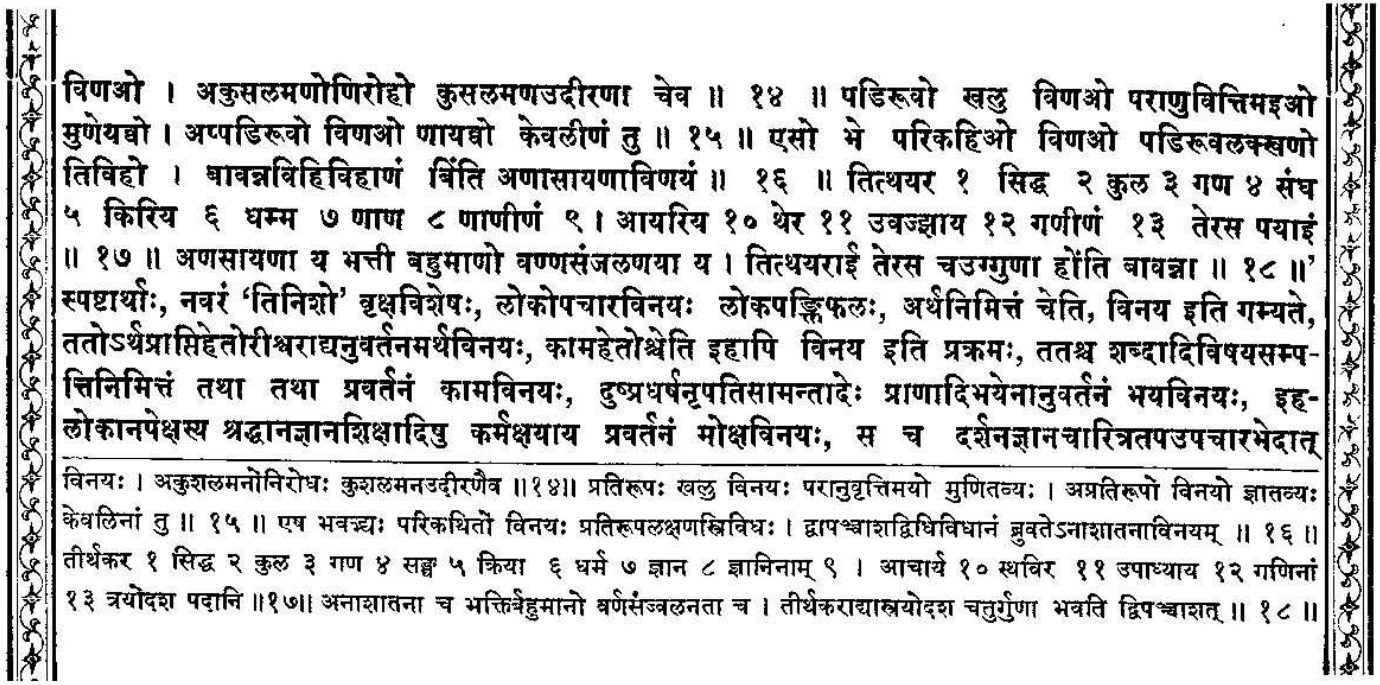
ज्ञानेन करोति कृत्यानि । ज्ञानी नवं न बध्नाति ज्ञानविनीतो भवति तस्मात् ॥८॥ अष्टविधं कर्मचयं यस्माद्रिक्तं करोति यतमानः । नवमन्यच्च न बध्नाति चारित्रविनयो भवति तस्मात् ॥ ९ ॥ अपनयति तपसा तम उपनयति च स्वर्गमोक्षमात्मानम् । तपोनियमनिश्चितमतिस्तपोविनीतो भवति तस्मात् ॥ १० ॥ अथौपचारिकः पुनर्द्विविधो विनयः समासतो भवति । प्रतिरूपयोगयोजनं तथा च अनाशातनाविनयः ॥ ११ ॥ प्रतिरूपः खलु विनयः कायिकयोगश्च. वाचिको मानसिकः । अष्टविधः चतुर्विधः द्विविधः प्ररूपणा तस्येयं भवति ॥ १२ ॥ अभ्युत्थानम-ञ्जलिरासनदानमभिग्रहः कृतिकर्म च । शुश्रूषणमनुगमनं संसाधनं कायिकोऽष्टविधः ॥१३॥ हितमितापरुषवादी अनुवीच्य भाषी वाचिको

अध्ययनम् १ ॥ १६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



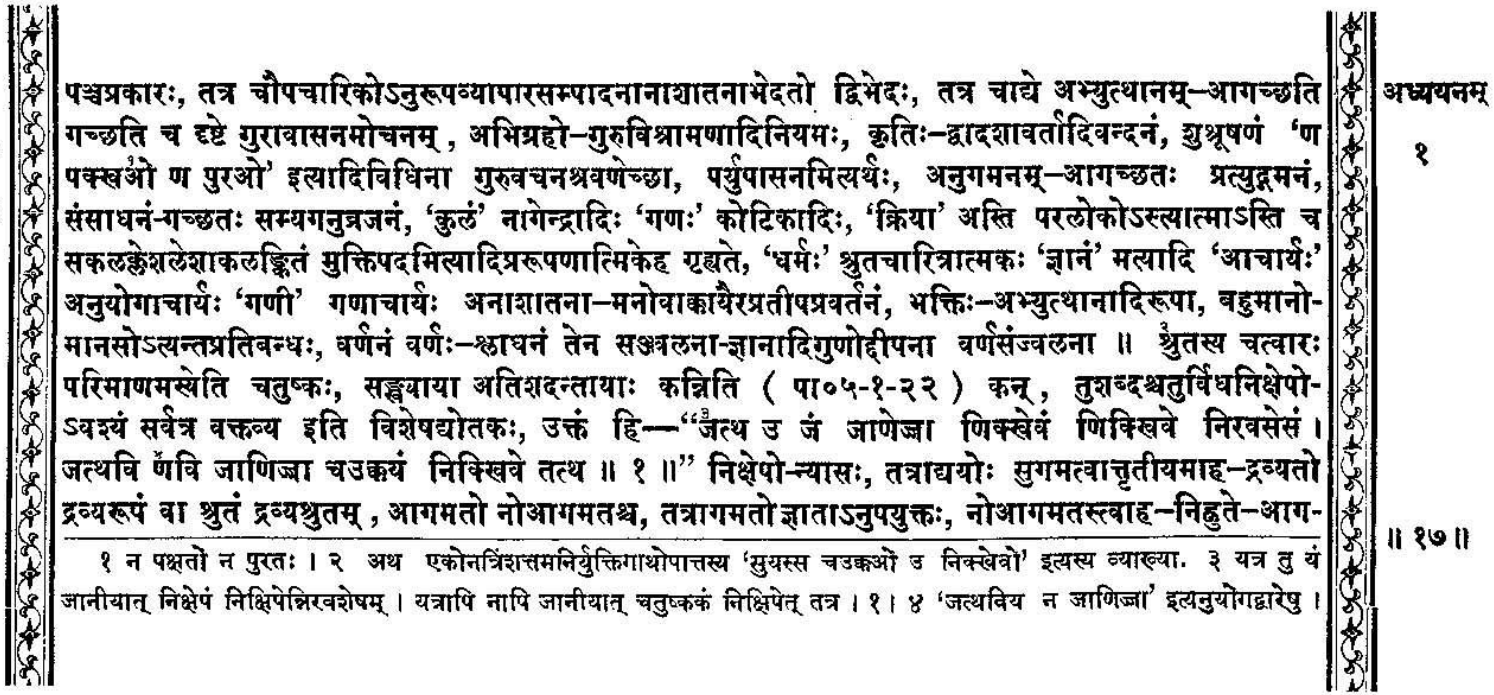
विणओ । अकुसलमणोणिरोहो कुसलमणउदीरणा चेव ॥ १४ ॥ पडिरूवो खलु विणओ पराणुवित्तिमइओ मुणेयव्वो । अप्पडिरूवो विणओ णायव्वो केवलीणं तु ॥ १५ ॥ एसो भे परिकहिओ विणओ पडिरूवलक्खणो तिविहो । बावन्नविहिविहाणं बिंति अणासायणाविणयं ॥ १६ ॥ तित्थयर १ सिद्ध २ कुल ३ गण ४ संघ ५ किरिय ६ धम्म ७ णाण ८ णाणीणं ९ । आयरिय १० थेर ११ उवज्झाय १२ गणीणं १३ तेरस पयाइं ॥ १७ ॥ अणसायणा य भत्ती बहुमाणो वण्णसंजलणया य । तित्थयराई तेरस चउग्गुणा होंति बावन्ना ॥ १८ ॥' स्पष्टार्थाः, नवरं 'तिनिशो' वृक्षविशेषः, लोकोपचारविनयः लोकपङ्क्तिफलः, अर्थनिमित्तं चेति, विनय इति गम्यते, ततोऽर्थप्राप्तिहेतोरीश्वराद्यनुवर्तनमर्थविनयः, कामहेतोश्चेति इहापि विनय इति प्रक्रमः, ततश्च शब्दादिविषयसम्पत्तिनिमित्तं तथा तथा प्रवर्तनं कामविनयः, दुष्प्रधर्षनृपतिसामन्तादेः प्राणादिभयेनानुवर्तनं भयविनयः, इहलोकानपेक्षस्य श्रद्धानज्ञानशिक्षादिषु कर्मक्षयाय प्रवर्तनं मोक्षविनयः, स च दर्शनज्ञानचारित्रतपउपचारभेदात्

विनयः । अकुशलमनोनिरोधः कुशलमनउदीरणैव ॥१४॥ प्रतिरूपः खलु विनयः परानुवृत्तिमयो मुणितव्यः । अप्रतिरूपो विनयो ज्ञातव्यः केवलिनां तु ॥ १५ ॥ एष भवद्भ्यः परिकथितो विनयः प्रतिरूपलक्षणस्त्रिविधः । द्वापञ्चाशद्विधिविधानं ब्रुवतेऽनाशातनाविनयम् ॥ १६ ॥ तीर्थकर १ सिद्ध २ कुल ३ गण ४ सङ्घ ५ क्रिया ६ धर्म ७ ज्ञान ८ ज्ञानिनाम् ९ । आचार्य १० स्थविर ११ उपाध्याय १२ गणिनां १३ त्रयोदश पदानि ॥१७॥ अनाशातना च भक्तिर्बहुमानो वर्णसंज्वलनता च । तीर्थकराद्यास्त्रयोदश चतुर्गुणा भवति द्विपञ्चाशत् ॥ १८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ १७ ॥

पञ्चप्रकारः, तत्र चौपचारिकोऽनुरूपव्यापारसम्पादनानाशातनाभेदतो द्विभेदः, तत्र चाद्ये अभ्युत्थानम्–आगच्छति गच्छति च दृष्टे गुरावासनमोचनम्, अभिग्रहो–गुरुविश्रामणादिनियमः, कृतिः–द्वादशावर्तादिवन्दनं, शुश्रूषणं 'ण पक्खओ ण पुरओ' इत्यादिविधिना गुरुवचनश्रवणेच्छा, पर्युपासनमित्यर्थः, अनुगमनम्–आगच्छतः प्रत्युद्गमनं, संसाधनं-गच्छतः सम्यगनुव्रजनं, 'कुलं' नागेन्द्रादिः 'गणः' कोटिकादिः, 'क्रिया' अस्ति परलोकोऽस्त्यात्माऽस्ति च सकलक्लेशलेशाकलङ्कितं मुक्तिपदमित्यादिप्ररूपणात्मिकेह गृह्यते, 'धर्मः' श्रुतचारित्रात्मकः 'ज्ञानं' मत्यादि 'आचार्यः' अनुयोगाचार्यः 'गणी' गणाचार्यः अनाशातना–मनोवाक्कायैरप्रतीपप्रवर्तनं, भक्तिः–अभ्युत्थानादिरूपा, बहुमानो-मानसोऽत्यन्तप्रतिबन्धः, वर्णनं वर्णः–श्लाघनं तेन सञ्ज्वलना-ज्ञानादिगुणोद्दीपना वर्णसंज्वलना ॥ श्रुतस्य चत्वारः परिमाणमस्येति चतुष्कः, सङ्ख्याया अतिशदन्तायाः कन्निति (पा०५-१-२२) कन्, तुशब्दश्चतुर्विधनिक्षेपो-ऽवश्यं सर्वत्र वक्तव्य इति विशेषद्योतकः, उक्तं हि—"[3]जत्थ उ जं जाणेज्जा णिक्खेवं णिक्खिवे निरवसेसं। जत्थवि णँवि जाणिज्जा चउक्कयं निक्खिवे तत्थ ॥ १ ॥" निक्षेपो-न्यासः, तत्राद्ययोः सुगमत्वात्तृतीयमाह–द्रव्यतो द्रव्यरूपं वा श्रुतं द्रव्यश्रुतम्, आगमतो नोआगमतश्च, तत्रागमतो ज्ञाताऽनुपयुक्तः, नोआगमतस्त्वाह–निह्नुते–आग-

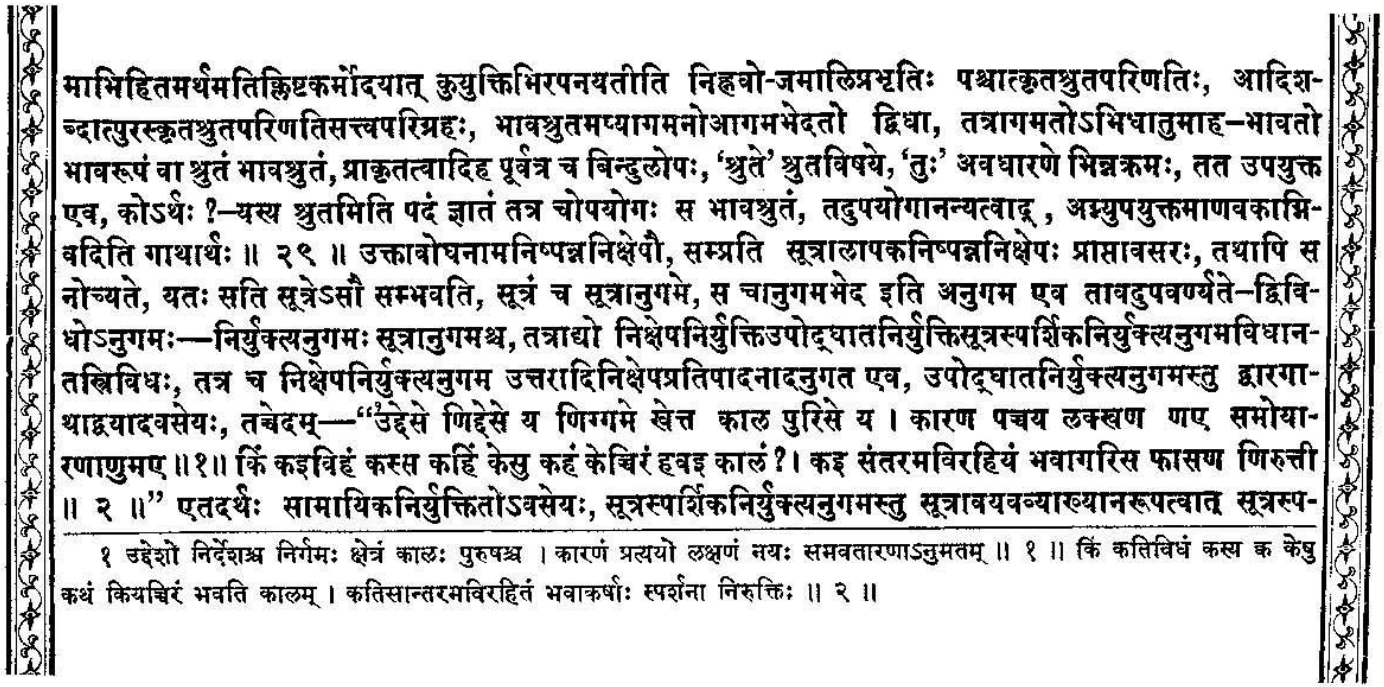
१ न पश्चतो न पुरतः । २ अथ एकोनत्रिंशत्तमनिर्युक्तिगाथोपात्तस्य 'सुयस्स चउक्कओ उ निक्खेवो' इत्यस्य व्याख्या. ३ यत्र तु यं जानीयात् निक्षेपं निक्षिपेन्निरवशेषम् । यत्रापि नापि जानीयात् चतुष्कं निक्षिपेत् तत्र । १ । ४ 'जत्थविय न जाणिज्जा' इत्यनुयोगद्वारेषु ।

अध्ययनम् १ ॥ १७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



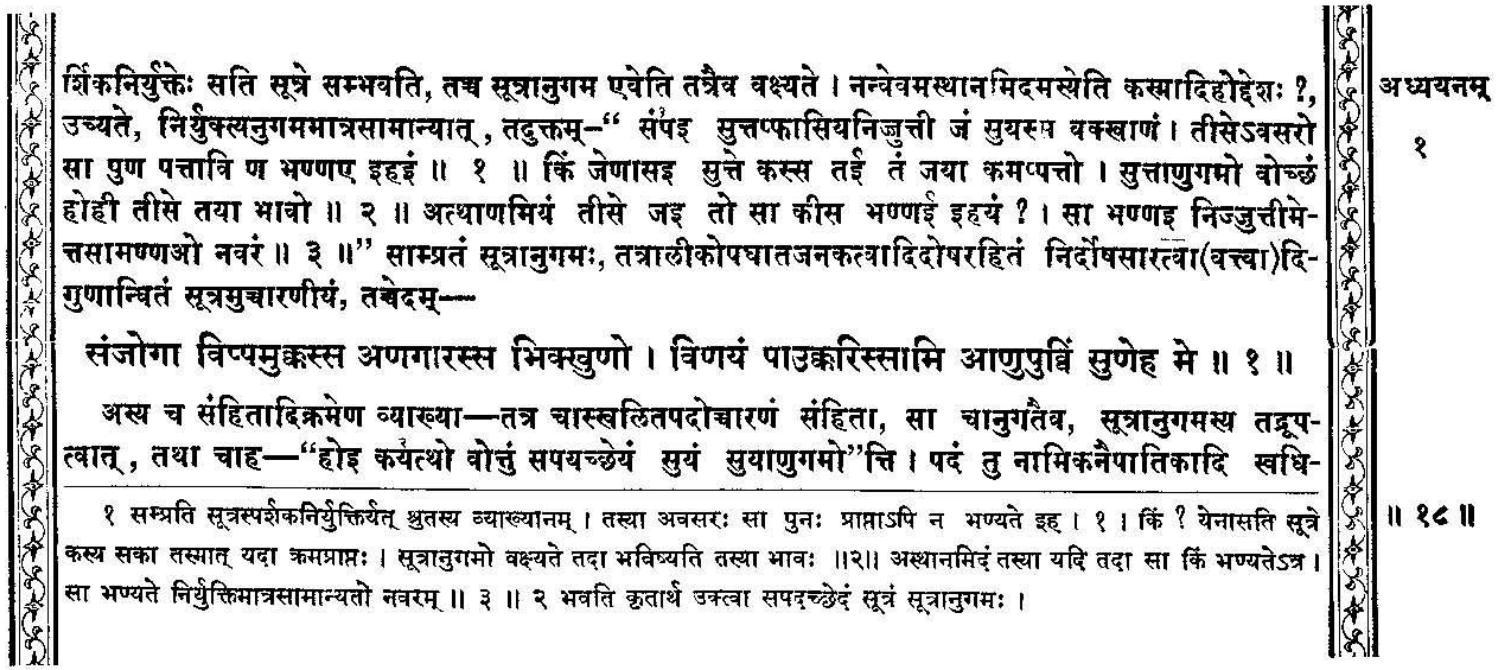
माभिहितमर्थमतिक्लिष्टकर्मोदयात् कुयुक्तिभिरपनयतीति निह्नवो-जमालिप्रभृतिः पश्चात्कृतश्रुतपरिणतिः, आदिशब्दात्पुरस्कृतश्रुतपरिणतिसत्त्वपरिग्रहः, भावश्रुतमप्यागमनोआगमभेदतो द्विधा, तत्रागमतोऽभिधातुमाह–भावतो भावरूपं वा श्रुतं भावश्रुतं, प्राकृतत्वादिह पूर्वत्र च बिन्दुलोपः, 'श्रुते' श्रुतविषये, 'तुः' अवधारणे भिन्नक्रमः, तत उपयुक्त एव, कोऽर्थः ?–यस्य श्रुतमिति पदं ज्ञातं तत्र चोपयोगः स भावश्रुतं, तदुपयोगानन्यत्वाद् , अग्न्युपयुक्तमाणवकाग्निवदिति गाथार्थः ॥ २९ ॥ उक्तावोघनामनिष्पन्ननिक्षेपौ, सम्प्रति सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपः प्राप्तावसरः, तथापि स नोच्यते, यतः सति सूत्रेऽसौ सम्भवति, सूत्रं च सूत्रानुगमे, स चानुगमभेद इति अनुगम एव तावदुपवर्ण्यते–द्विविधोऽनुगमः—निर्युक्त्यनुगमः सूत्रानुगमश्च, तत्राद्यो निक्षेपनिर्युक्तिउपोद्घातनिर्युक्तिसूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमविधानतस्त्रिविधः, तत्र च निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम उत्तरादिनिक्षेपप्रतिपादनादनुगत एव, उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमस्तु द्वारगाथाद्वयादवसेयः, तच्चेदम्—"उद्देसे णिद्देसे य णिग्गमे खेत्त काल पुरिसे य । कारण पच्चय लक्खण णए समोयारणाणुमए ॥१॥ किं कइविहं कस्स कहिं केसु कहं केचिरं हवइ कालं ?। कइ संतरमविरहियं भवागरिस फासण णिरुत्ती ॥ २ ॥" एतदर्थः सामायिकनिर्युक्तितोऽवसेयः, सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमस्तु सूत्रावयवव्याख्यानरूपत्वात् सूत्रस्प-

१ उद्देशो निर्देशश्च निर्गमः क्षेत्रं कालः पुरुषश्च । कारणं प्रत्ययो लक्षणं नयः समवतारणाऽनुमतम् ॥ १ ॥ किं कतिविधं कस्य क्व केषु कथं कियच्चिरं भवति कालम् । कतिसान्तरमविरहितं भवाकर्षाः स्पर्शना निरुक्तिः ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ १८ ॥

शिकनिर्युक्तेः सति सूत्रे सम्भवति, तच्च सूत्रानुगम एवेति तत्रैव वक्ष्यते । नन्वेवमस्थानमिदमस्येति कस्मादिहोद्देशः ?, उच्यते, निर्युक्त्यनुगममात्रसामान्यात्, तदुक्तम्–" संपइ सुत्तप्फासियनिज्जुत्ती जं सुयस्स वक्खाणं । तीसेऽवसरो सा पुण पत्तावि ण भण्णए इहइं ॥ १ ॥ किं जेणासइ सुत्ते कस्स तई तं जया कमप्पत्तो । सुत्ताणुगमो वोच्छं होही तीसे तया भावो ॥ २ ॥ अत्थाणमियं तीसे जइ तो सा कीस भण्णई इहयं ? । सा भण्णइ निज्जुत्तीमेत्तसामण्णओ नवरं ॥ ३ ॥" साम्प्रतं सूत्रानुगमः, तत्रालीकोपघातजनकत्वादिदोषरहितं निर्दोषसारत्वा(वत्त्वा)दिगुणान्वितं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

संजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो । विणयं पाउक्करिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे ॥ १ ॥

अस्य च संहितादिक्रमेण व्याख्या—तत्र चास्खलितपदोच्चारणं संहिता, सा चानुगतैव, सूत्रानुगमस्य तद्रूपत्वात्, तथा चाह—"होइ कयत्थो वोत्तुं सपयच्छेयं सुयं सुयाणुगमो"त्ति । पदं तु नामिकनैपातिकादि स्वधि-

१ सम्प्रति सूत्रस्पर्शकनिर्युक्तिर्यत् श्रुतस्य व्याख्यानम् । तस्या अवसरः सा पुनः प्राप्ताऽपि न भण्यते इह । १ । किं ? येनासति सूत्रे कस्य सका तस्मात् यदा क्रमप्राप्तः । सूत्रानुगमो वक्ष्यते तदा भविष्यति तस्या भावः ॥२॥ अस्थानमिदं तस्या यदि तदा सा किं भण्यतेऽत्र । सा भण्यते निर्युक्तिमात्रसामान्यतो नवरम् ॥ ३ ॥ २ भवति कृतार्थ उक्त्वा सपदच्छेदं सूत्रं सूत्रानुगमः ।

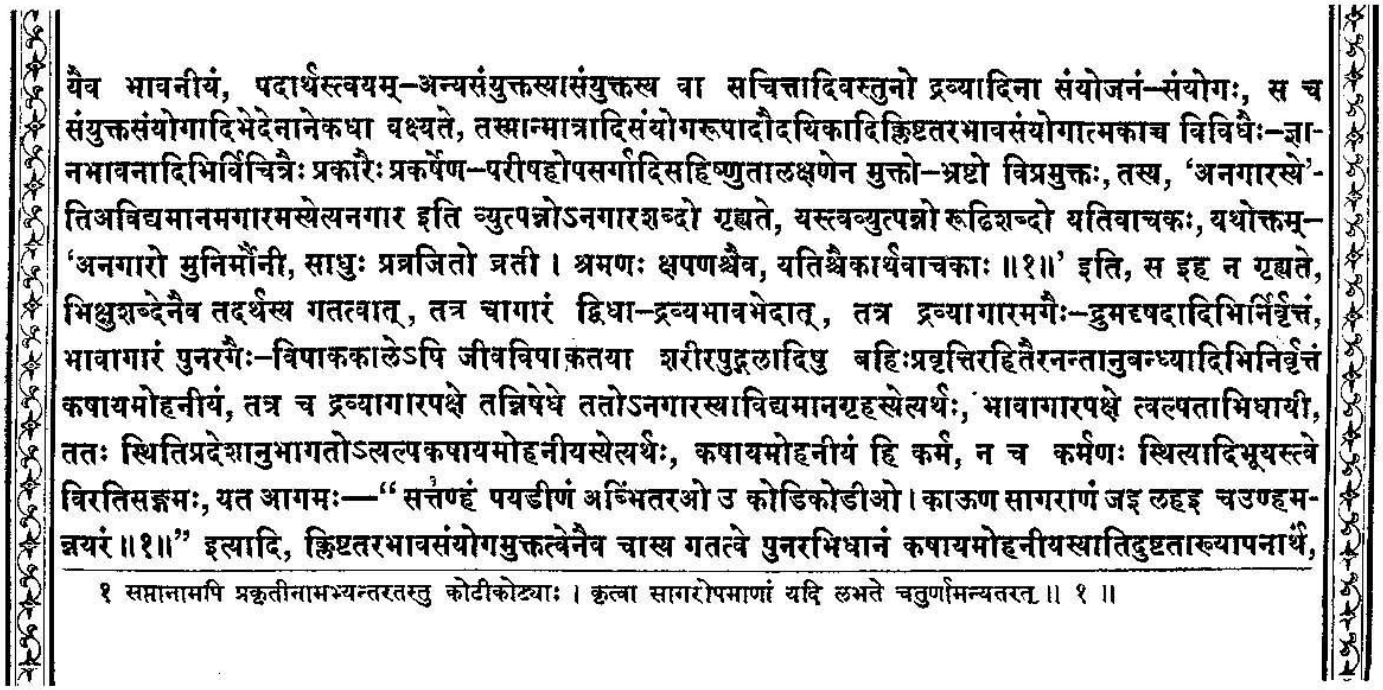
अध्ययनम् १

॥ १८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



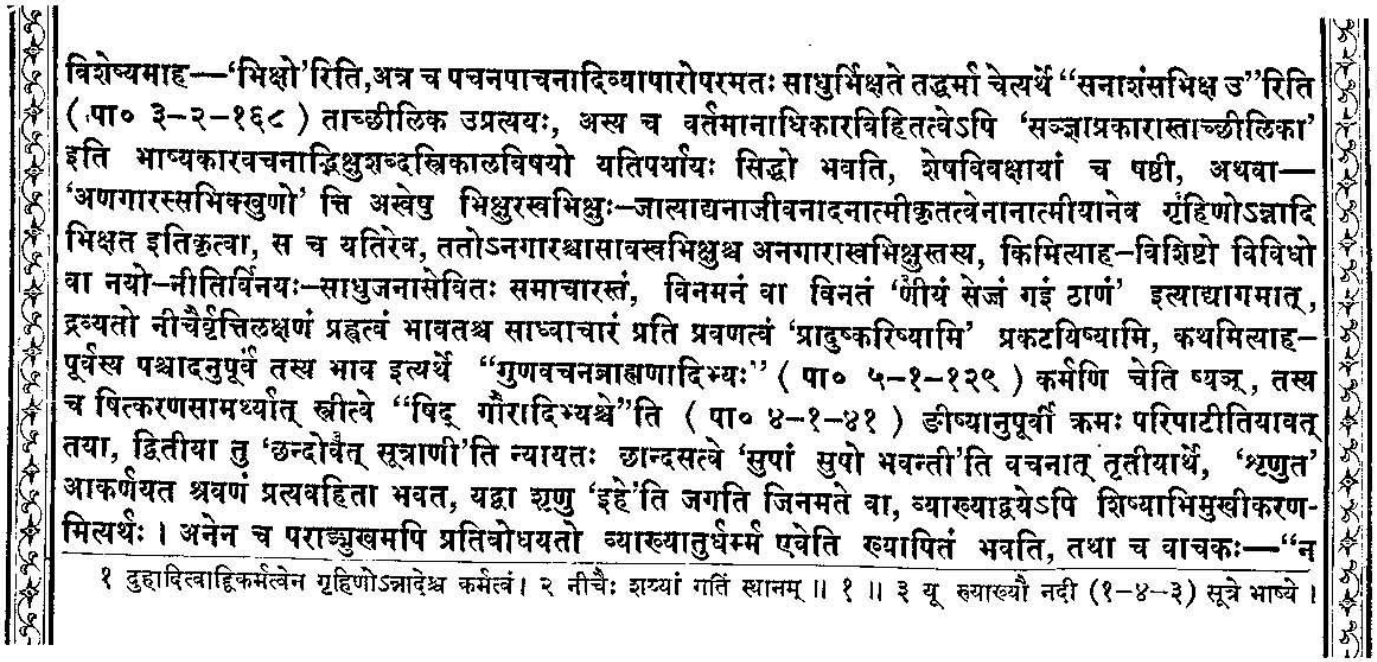
यैव भावनीयं, पदार्थस्त्वयम्–अन्यसंयुक्तस्यासंयुक्तस्य वा सचित्तादिवस्तुनो द्रव्यादिना संयोजनं–संयोगः, स च संयुक्तसंयोगादिभेदेनानेकधा वक्ष्यते, तस्मान्मात्रादिसंयोगरूपादौदयिकादिक्लिष्टतरभावसंयोगात्मकाच्च विविधैः–ज्ञानभावनादिभिर्विचित्रैः प्रकारैः प्रकर्षेण–परीषहोपसर्गादिसहिष्णुतालक्षणेन मुक्तो–भ्रष्टो विप्रमुक्तः, तस्य, 'अनगारस्ये'तिअविद्यमानमगारमस्येत्यनगार इति व्युत्पन्नोऽनगारशब्दो गृह्यते, यस्त्वव्युत्पन्नो रूढिशब्दो यतिवाचकः, यथोक्तम्–'अनगारो मुनिर्मौनी, साधुः प्रव्रजितो व्रती । श्रमणः क्षपणश्चैव, यतिश्चैकार्थवाचकाः ॥१॥' इति, स इह न गृह्यते, भिक्षुशब्देनैव तदर्थस्य गतत्वात्, तत्र चागारं द्विधा–द्रव्यभावभेदात्, तत्र द्रव्यागारमगैः–द्रुमदृषदादिभिर्निर्वृत्तं, भावागारं पुनरगैः–विपाककालेऽपि जीवविपाकतया शरीरपुद्गलादिषु बहिःप्रवृत्तिरहितैरनन्तानुबन्ध्यादिभिर्निर्वृत्तं कषायमोहनीयं, तत्र च द्रव्यागारपक्षे तन्निषेधे ततोऽनगारस्याविद्यमानगृहस्येत्यर्थः, भावागारपक्षे त्वल्पताभिधायी, ततः स्थितिप्रदेशानुभागतोऽल्पकषायमोहनीयस्येत्यर्थः, कषायमोहनीयं हि कर्म, न च कर्मणः स्थित्यादिभूयस्त्वे विरतिसङ्गमः, यत आगमः—"सत्तण्हं[1] पयडीणं अब्भितरओ उ कोडिकोडीओ । काऊण सागराणं जइ लहइ चउण्हमन्नयरं ॥१॥" इत्यादि, क्लिष्टतरभावसंयोगमुक्तत्वेनैव चास्य गतत्वे पुनरभिधानं कषायमोहनीयस्यातिदुष्टताख्यापनार्थं,

१ सप्तानामपि प्रकृतीनामभ्यन्तरतस्तु कोटीकोट्याः । कृत्वा सागरोपमाणां यदि लभते चतुर्णामन्यतरत् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ १९ ॥

विशेष्यमाह—'भिक्षो'रिति,अत्र च पचनपाचनादिव्यापारोपरमतः साधुर्भिक्षते तद्धर्मा चेत्यर्थे "सनाशंसभिक्ष उ"रिति (पा० ३–२–१६८) ताच्छीलिक उप्रत्ययः, अस्य च वर्तमानाधिकारविहितत्वेऽपि 'सञ्ज्ञाप्रकारास्ताच्छीलिका' इति भाष्यकारवचनाद्भिक्षुशब्दस्त्रिकालविषयो यतिपर्यायः सिद्धो भवति, शेषविवक्षायां च षष्ठी, अथवा—'अणगारस्सभिक्खुणो' त्ति अस्येषु भिक्षुरस्यभिक्षुः–जात्याद्यनाजीवनादनात्मीकृतत्वेनानात्मीयानेव गृहिणोऽन्नादि भिक्षत इतिकृत्वा, स च यतिरेव, ततोऽनगारश्चासावस्यभिक्षुश्च अनगारास्यभिक्षुस्तस्य, किमित्याह–विशिष्टो विविधो वा नयो–नीतिर्विनयः–साधुजनासेवितः समाचारस्तं, विनमनं वा विनतं 'णीयं सेज्जं गइं ठाणं' इत्याद्यागमात्, द्रव्यतो नीचैर्वृत्तिलक्षणं प्रह्वत्वं भावतश्च साध्वाचारं प्रति प्रवणत्वं 'प्रादुष्करिष्यामि' प्रकटयिष्यामि, कथमित्याह–पूर्वस्य पश्चादनुपूर्वं तस्य भाव इत्यर्थे "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः" (पा० ५–१–१२९) कर्मणि चेति ष्यञ्, तस्य च षित्करणसामर्थ्यात् स्त्रीत्वे "षिद् गौरादिभ्यश्चे"ति (पा० ४–१–४१) ङीष्यानुपूर्वी क्रमः परिपाटीतियावत् तया, द्वितीया तु 'छन्दोवत् सूत्राणी'ति न्यायतः छान्दसत्वे 'सुपां सुपो भवन्ती'ति वचनात् तृतीयार्थे, 'शृणुत' आकर्णयत श्रवणं प्रत्यवहिता भवत, यद्वा शृणु 'इहे'ति जगति जिनमते वा, व्याख्याद्वयेऽपि शिष्याभिमुखीकरणमित्यर्थः। अनेन च पराङ्मुखमपि प्रतिबोधयतो व्याख्यातुर्धर्म्म एवेति ख्यापितं भवति, तथा च वाचकः—"न

१ दुहादित्वाद्दुहिकर्मत्वेन गृहिणोऽन्नादेश्च कर्मत्वं। २ नीचैः शय्यां गतिं स्थानम् ॥ १ ॥ ३ यू ख्याख्यौ नदी (१–४–३) सूत्रे भाष्ये।

अध्ययनम् १ ॥ १९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात्। ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति ॥ १ ॥" 'मे' मम विनयं विनतं वा प्रादुष्करिष्यत इति प्रक्रमः। उक्तः पदार्थस्तदभिधानात् सामासिकपदान्तर्गतः पदविग्रहश्च (उक्त इति), ततश्चालनावसरः, सा च सूत्रार्थगतदूषणात्मिका, "सुत्तगयमत्थविसयं व दूसणं चालणं मयं तस्स" इति वचनात्, तत्र सूत्रचालना–संयोगस्य विप्रमुक्तक्रियां प्रति कर्तृत्वात् संयोगादिति कथं पञ्चमी ?, अर्थचालना च 'विनयं प्रादुष्करिष्यामी'ति प्रतिज्ञातम्, उत्तरत्र च 'आणाऽणिद्देसकरे' इत्यादिना 'खड्डयाहिं चवेडाहिं' इत्यादिना च विपर्ययप्रतिपादनमपि दृश्यते, इति कथं न प्रतिज्ञाक्षितिः ?, प्रत्यवस्थानं–शब्दार्थन्यायतः परोपन्यस्तदोषपरिहाररूपं, यत आह– "सद्दत्थन्नायाओ परिहारो पच्चवत्थाणं" तत्र च यद्यपि संयोगेन विमुच्यमानो भिक्षुः कर्म तथापि कर्तृत्वेनात्र विवक्ष्यते, ततश्च तस्य तं विप्रमुञ्चतो विश्लेषोऽस्तीति विश्लेषक्रियायां संयोगस्य ध्रुवत्वेनापादानत्वाच्यायैव पञ्चमी, अत एव विप्रमुक्त इत्यत्र कर्मकर्तुः कर्मवद्भावात् कर्मणि क्तोऽपि सिद्धो भवति इति न सूत्रदोषो, नाप्यर्थदोषः, यतो यद् यल्लक्षणं तत्तद्विपर्ययाभिधान एव तल्लक्षणमक्लेशेन ज्ञातुं शक्यमिति अत्र विनयाभिधानप्रतिज्ञानेऽप्यविनयाभिधानं, तथा च शय्यम्भवप्रणीताचारकथायामपि "वयछक्कायछक्क'मित्यादिनाऽऽचार-

१ सूत्रगतमर्थविषयं वा दूषणं चालनं मतं तस्य। २ संबन्धनसंयोगरूपं गुणमपेक्ष्येयं शङ्का, तस्य गुणत्वेन नाशात् स जहाति भिक्षुमिति निर्धारणात्। ३ शब्दार्थन्यायतः परिहारः प्रत्यवस्थानम्। ४ भिक्षोः। ५ गुणं संबन्धनसंयोगरूपं। ६ मातापित्रादेः संयोगिनः।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

प्रक्रमेऽप्यनाचारवचनम् । अथवा एकमपीदं सूत्रमावृत्त्या ' श्वेतो धावती'तिवदर्थद्वयाभिधायकं, ततश्चायमन्योऽर्थः –संयोगेन–कषायादिसम्पर्कात्मकेनाप्यविप्रमुक्तः–अपरित्यक्तः, संयोगाविप्रमुक्तस्तस्य, ऋणमिव कालान्तरक्लेशानुभवहेतुतया ऋणम्–अष्टप्रकारं कर्म तत् करोतीति, कोऽर्थः ?–तथा तथा गुरुवचनविपरीतप्रवृत्तिभिरुपचिनोतीति ऋणकारस्तस्य, 'भिक्षोः' कषायादिवशतो जीववीर्यविकलस्य पौरुषघ्नीमेव भिक्षां तथाविधफलनिरपेक्षतया भ्रमणशीलस्य 'विनयं प्रादुष्करिष्यामी'ति "प्राकाश्यसम्भवे प्रादु"रिति वचनात् प्रादुःशब्दस्य सम्भवार्थस्यापि दर्शनादुत्पादयिष्यामि, सम्भवति हीदमध्ययनमधीयानानां गुरुकर्मणामपि प्रायो विनीताविनीतगुणदोषविभावनातो ज्ञानादिविनयपरिणतिः, अथवा विरुद्धो नयो विनयोऽसदाचार इत्यर्थः, तं प्रादुष्करिष्यामि–प्रकटयिष्यामि, कस्य ? –'भिक्षोः' उक्तन्यायेन भिक्षणशीलस्य, सम्यग्–अविपरीतो योगः–समाधिः संयोगः, ततो विविधैः परीषहासहनगुरुनियोगासहिष्णुत्वालस्यादिभिः प्रकारैः प्रकर्षेण मुक्तो विप्रमुक्तः तस्य, शेषं प्राग्वत् । एवं चाविनयप्रतिपादनस्यापि प्रतिज्ञातत्वात् सर्वं सुस्थम् । अपरस्त्वाह–प्रतिज्ञातमपि विनयमभिधित्सोरप्रस्तुतम्, इदमपि बालप्रजल्पितं, यतः शास्त्रारम्भेऽभिधेयाद्यवश्यमभिधेयम्, अन्यथा प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यसम्भवात्, तत्प्रदर्शनात्मकं चैतत् प्रतिज्ञानं, तथाहि–विनयं प्रादुष्करिष्यामीत्युक्ते विनयोऽस्याध्ययनस्याभिधेयः, तत्प्रादुष्करणं फलं, तथा चेदमुपेयम्, उपायश्चास्य

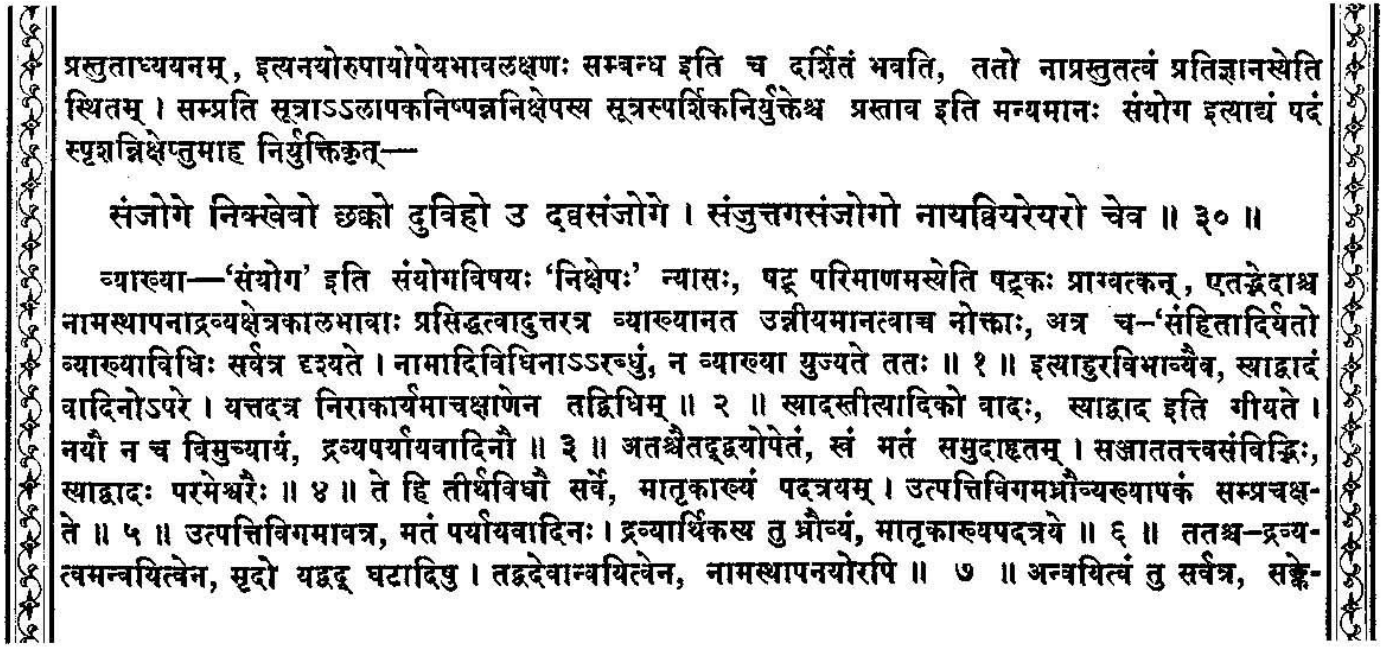
१ वैकत्र द्वयोः (२–२ ८५) इति भ्रमेर्द्विकर्मकत्वादत्र द्वितीया.

॥ २० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



प्रस्तुताध्ययनम्, इत्यनयोरुपायोपेयभावलक्षणः सम्बन्ध इति च दर्शितं भवति, ततो नाप्रस्तुतत्वं प्रतिज्ञानस्येति स्थितम् । सम्प्रति सूत्राऽऽलापकनिष्पन्ननिक्षेपस्य सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तेश्च प्रस्ताव इति मन्यमानः संयोग इत्याद्यं पदं स्पृशन्निक्षेप्तुमाह निर्युक्तिकृत्—

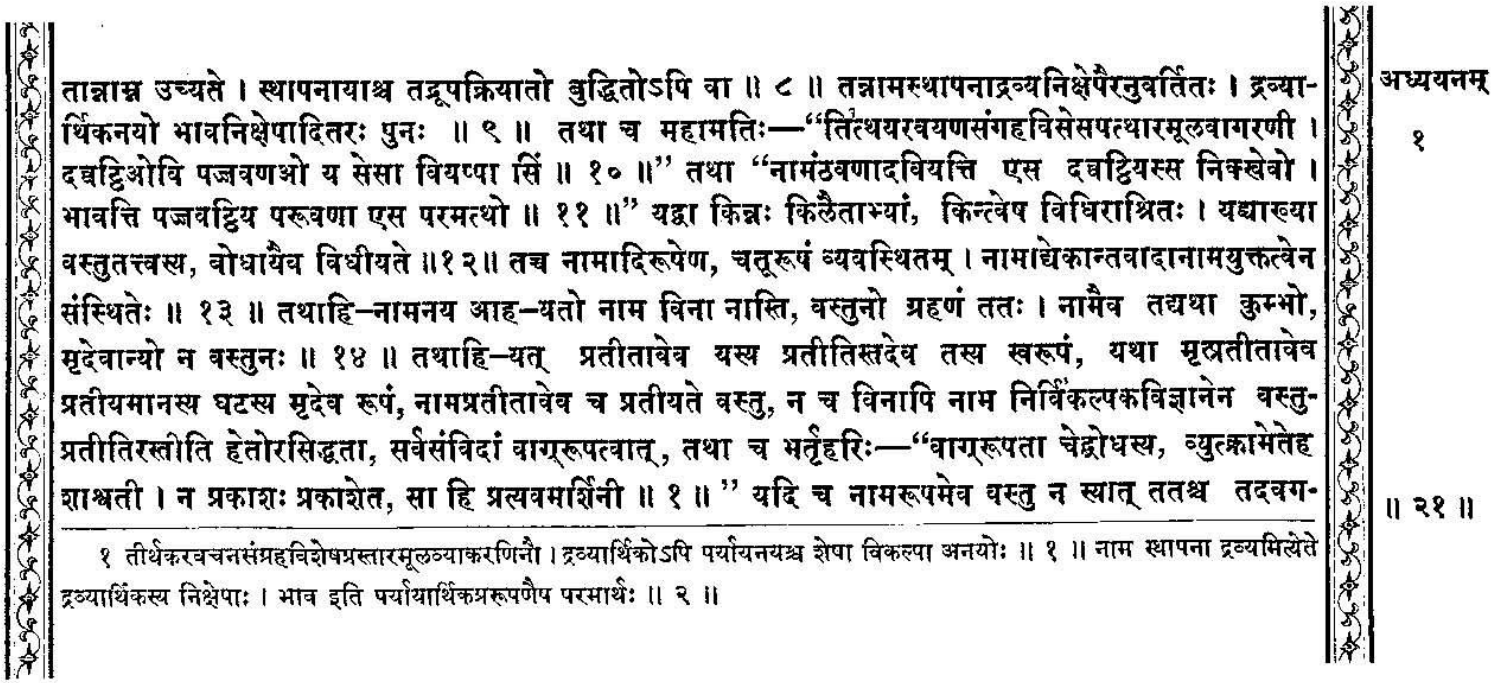
संजोगे निक्खेवो छक्को दुविहो उ दव्वसंजोगे । संजुत्तगसंजोगो नायव्वियरेयरो चेव ॥ ३० ॥

व्याख्या—'संयोग' इति संयोगविषयः 'निक्षेपः' न्यासः, षट्कं परिमाणमस्येति षट्कः प्राग्वत्कन्, एतद्भेदाश्च नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावाः प्रसिद्धत्वादुत्तरत्र व्याख्यानत उन्नीयमानत्वाच्च नोक्ताः, अत्र च–'संहितादिर्यतो व्याख्याविधिः सर्वत्र दृश्यते । नामादिविधिनाऽऽरब्धुं, न व्याख्या युज्यते ततः ॥ १ ॥ इत्याहुरविभाव्यैव, स्याद्वादं वादिनोऽपरे । यत्तदत्र निराकार्यमाचक्षाणेन तद्विधिम् ॥ २ ॥ स्यादस्तीत्यादिको वादः, स्याद्वाद इति गीयते । नयौ न च विमुच्यायं, द्रव्यपर्यायवादिनौ ॥ ३ ॥ अतश्चैतद्द्वयोपेतं, स्वं मतं समुदाहृतम् । सञ्जाततत्त्वसंविद्भिः, स्याद्वादः परमेश्वरैः ॥ ४ ॥ ते हि तीर्थविधौ सर्वे, मातृकाख्यं पदत्रयम् । उत्पत्तिविगमध्रौव्यरूपापकं सम्प्रचक्षते ॥ ५ ॥ उत्पत्तिविगमावत्र, मतं पर्यायवादिनः । द्रव्यार्थिकस्य तु ध्रौव्यं, मातृकारूपपदत्रये ॥ ६ ॥ ततश्च–द्रव्यत्वमन्वयित्वेन, मृदो यद्वद् घटादिषु । तद्वदेवान्वयित्वेन, नामस्थापनयोरपि ॥ ७ ॥ अन्वयित्वं तु सर्वत्र, सङ्के-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ २१ ॥

ताज्ञान्न उच्यते । स्थापनायाश्च तद्रूपक्रियातो बुद्धितोऽपि वा ॥ ८ ॥ तन्नामस्थापनाद्रव्यनिक्षेपैरनुवर्तितः । द्रव्यार्थिकनयो भावनिक्षेपादितरः पुनः ॥ ९ ॥ तथा च महामतिः—"तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी । दव्वट्ठिओवि पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सिं ॥ १० ॥" तथा "नामंठवणादवियत्ति एस दव्वट्ठियस्स निक्खेवो । भावत्ति पज्जवट्ठिय परूवणा एस परमत्थो ॥ ११ ॥" यद्वा किन्नः किलैताभ्यां, किन्त्वेष विधिराश्रितः । यद्याख्या वस्तुतत्त्वस्य, बोधायैव विधीयते ॥१२॥ तच्च नामादिरूपेण, चतुरूपं व्यवस्थितम् । नामाद्येकान्तवादानामयुक्तत्वेन संस्थितेः ॥ १३ ॥ तथाहि–नामनय आह–यतो नाम विना नास्ति, वस्तुनो ग्रहणं ततः । नामैव तद्यथा कुम्भो, मृदेवान्यो न वस्तुनः ॥ १४ ॥ तथाहि–यत् प्रतीतावेव यस्य प्रतीतिस्तदेव तस्य स्वरूपं, यथा मृत्प्रतीतावेव प्रतीयमानस्य घटस्य मृदेव रूपं, नामप्रतीतावेव च प्रतीयते वस्तु, न च विनापि नाम निर्विकल्पकविज्ञानेन वस्तुप्रतीतिरस्तीति हेतोरसिद्धता, सर्वसंविदां वाग्रूपत्वात्, तथा च भर्तृहरिः—"वाग्रूपता चेद्धोधस्य, व्युत्क्रामेतेह शाश्वती । न प्रकाशः प्रकाशेत, सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥ १ ॥" यदि च नामरूपमेव वस्तु न स्यात् ततश्च तदवग-

१ तीर्थकरवचनसंग्रहविशेषप्रस्तारमूलव्याकरणिनौ । द्रव्यार्थिकोऽपि पर्यायनयश्च शेषा विकल्पा अनयोः ॥ १ ॥ नाम स्थापना द्रव्यमित्येते द्रव्यार्थिकस्य निक्षेपाः । भाव इति पर्यायार्थिकप्ररूपणैष परमार्थः ॥ २ ॥

अध्ययनम् १ ॥ २१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

तावपि वस्तुनि संशयादीनामन्यतमदेव स्यात्, तथा च पूज्याः—"संसय विवज्जओ वाऽणज्झवसाओऽवि वा जहिच्छाए। होज्जऽत्थे पडिवत्ती न वत्थुधम्मो जया णामं ॥ १ ॥" स्थापनानय आह—स्थापनेत्याकारः, ततश्च—प्रमाणमिदमेवार्थस्याऽऽकारमयतां प्रति। नामादि न विनाऽऽकारं, यतः केनापि वेद्यते ॥ १ ॥ तथाहि—नाम्नोऽर्थान्तरेऽपि वर्तयितुं शक्यत्वान्न तदुल्लेखेऽप्याकारावभासमन्तरेण नियतनीलाद्यर्थग्रहणमित्याकारग्रहण एव ग्रहात् सर्वस्य सिद्धमाकारमयत्वं, ततो ज्ञानज्ञेयाभिधानाभिधेयादिसकलमाकाराराूपितमेव संव्यवहारावतारि, तद्विकलस्य खपुष्पस्येवासत्त्वात्, उक्तं च पूज्यैः—"आगारो चिय मइसद्दवत्थुकिरियाफलाभिहाणाइं। आगारमयं सव्वं जमणागारं तयं नत्थि ॥ १ ॥ ण परानुमयं वत्थुं आगाराभावओ खपुप्फं व। उवलंभववहाराभावाओ णाणगारं च ॥२॥" द्रव्यनय आह—यथा नामादि नाकारं, विना संवेद्यते तथा। नाऽऽकारोऽपि विना द्रव्यं, सर्वं द्रव्यात्मकं ततः ॥ १ ॥ तथाहि—द्रव्यमेव मृदादिनिखिलस्थासकोशकुशूलकुटकपालाद्याकारानुयायि वस्तु सत्, तस्यैव तत्तदाकारानुयायिनः सद्बोधविषयत्वात्, स्थासकोशाद्याकाराणां तु मृद्द्रव्यातिरेकिणां कदाचिदनुपलम्भात्, तच्चोत्पादादिसकल-

१ संशयो विपर्ययो वाऽनध्यवसायोऽपि वा यदृच्छया। भवेदर्थे प्रतिपत्तिर्न वस्तुधर्मो यदा नाम ॥ १ ॥ २ आकार एव मतिशब्दवस्तुक्रियाफलाभिधानानि। आकारमयं सर्वं यदनाकारं तकत् नास्ति ॥ १ ॥ न परानुमतं वस्तु आकाराभावतः खपुष्पवत्। उपलम्भव्यवहाराभावतो नानाकारं च ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

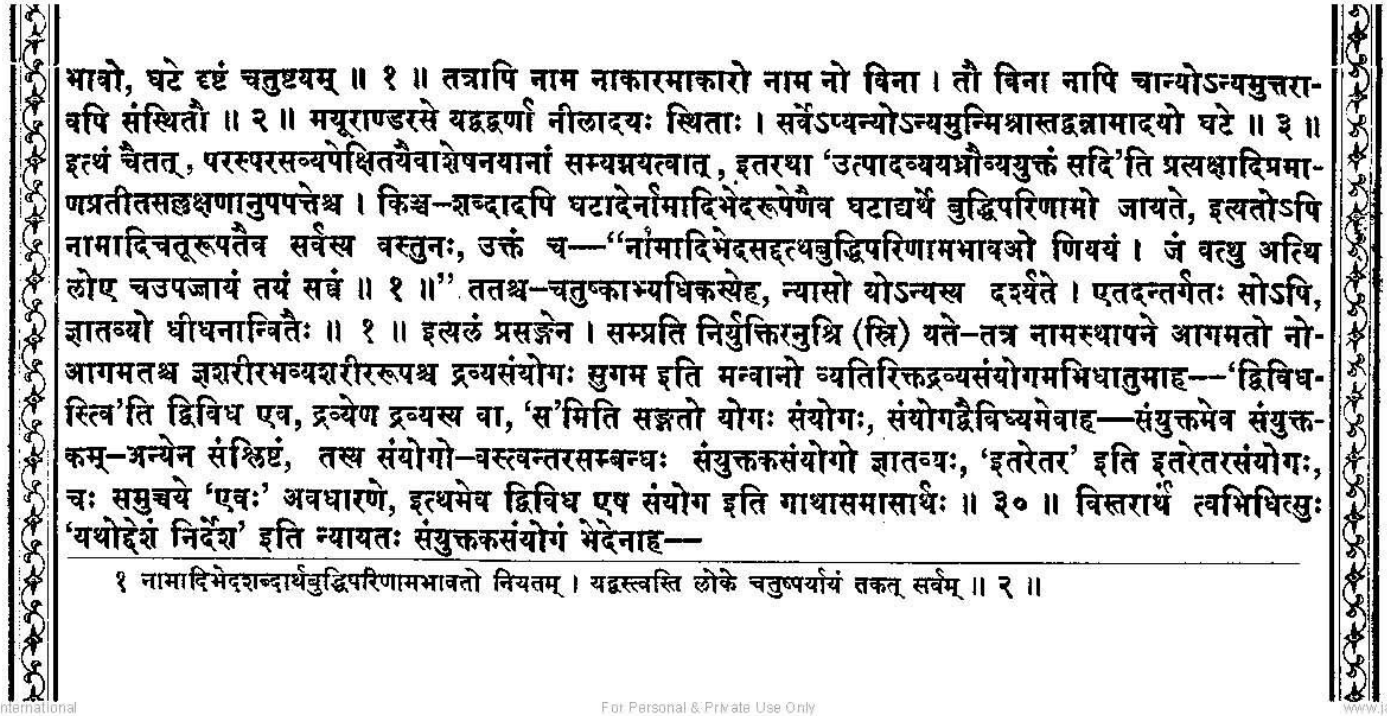
विकारविरहितं तथा तथाऽऽविर्भावतिरोभावमात्रान्वितं सम्मूर्च्छितसर्वप्रभेदनिर्भेदबीजं द्रव्यमगृहीततरङ्गादि-प्रभेदस्तिमितसरःसलिलवत्, आह च—"दव्वंपरिणाममेत्तं मोत्तूणागारदरिसणं किं तं ?। उप्पायव्वयरहियं दव्वं चिय निव्वियारंति ॥ १ ॥ आविब्भावतिरोभावमेत्तपरिणामकारणमचिन्तं। णिच्चं बहुरूवंपिय नडोव्व वेसंतरावण्णो ॥ २ ॥" भावनय आह—सम्यग् विवेच्यमानोऽत्र, भाव एवावशिष्यते। पूर्वापरविविक्तस्य, यत्तत्स्यैव दर्शनम् ॥१॥ तथाहि—भावः पर्यायः, तदात्मकमेव च द्रव्यं, तदतिरिक्तमूर्तिकं हि तद् दृश्यमदृश्यं वा ?, यदि दृश्यं, नास्ति तद्व्यतिरेकेण अनुपलभ्यमानत्वात्, खरविषाणवत्, न हि वलितमीलितपटीकृतत्रुटितसङ्घटितादिविचित्रभवनबहि-र्भूतमिह सूत्रादि द्रव्यमुपलभ्यमस्ति, अदृश्यमपि नास्ति, तत्साधकप्रमाणाभावात्, षष्ठभूतवत्, ततः प्रतिसमय-मुदयव्ययात्मकं स्वयंभवनमेव भावाख्यमस्ति, उक्तं च–"भावत्थंतरभूयं किं दव्वं णाम? भाव एवायं। भवणं पइक्खणं चिय भावावत्ती विवत्ती य ॥ १ ॥" परमार्थतस्त्वयम्–संविन्निष्ठैव सर्वापि, विषयाणां व्यवस्थितिः। संवेदनं च नामादिविकलं नानुभूयते ॥ तथाहि—घटोऽयमिति नामैतत्, पृथुबुध्नादिनाऽऽकृतिः। मृद्द्रव्यं भवनं

१ द्रव्यपरिणाममात्रं मुक्त्वाऽऽकारदर्शनं किं तत्?। उत्पादव्ययरहितं द्रव्यमेव निर्विकारमिति ॥ १ ॥ आविर्भावतिरोभावमात्रपरिणाम-कारणमचिन्त्यम्। नित्यं बहुरूपमपिच नट इव वेषान्तरापन्नः ॥ २ ॥ २ भावार्थान्तरभूतं किं द्रव्यं नाम? भाव एवायं (. वेदम्) भवनं प्रतिक्षणमेव भाव उत्पत्तिर्विपत्तिश्च ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



भावो, घटे दृष्टं चतुष्टयम् ॥ १ ॥ तत्रापि नाम नाकारमाकारो नाम नो विना । तौ विना नापि चान्योऽन्यमुत्तरावपि संस्थितौ ॥ २ ॥ मयूराण्डरसे यद्वद्वर्णा नीलादयः स्थिताः । सर्वेऽप्यन्योऽन्यमुन्मिश्रास्तद्वन्नामादयो घटे ॥ ३ ॥ इत्थं चैतत्, परस्परसव्यपेक्षितयैवाशेषनयानां सम्यग्नयत्वात्, इतरथा 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदि'ति प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रतीतसल्लक्षणानुपपत्तेश्च । किञ्च–शब्दादपि घटादेर्नामादिभेदरूपेणैव घटाद्यर्थे बुद्धिपरिणामो जायते, इत्यतोऽपि नामादिचतूरूपतैव सर्वस्य वस्तुनः, उक्तं च—"नामादिभेदसद्दत्थबुद्धिपरिणामभावओ णिययं । जं वत्थु अत्थि लोए चउपज्जायं तयं सव्वं ॥ १ ॥" ततश्च–चतुष्काभ्यधिकस्येह, न्यासो योऽन्यस्य दर्श्यते । एतदन्तर्गतः सोऽपि, ज्ञातव्यो धीधनान्वितैः ॥ १ ॥ इत्यलं प्रसङ्गेन । सम्प्रति निर्युक्तिरनुश्रि (स्रि) यते–तत्र नामस्थापने आगमतो नोआगमतश्च ज्ञशरीरभव्यशरीररूपश्च द्रव्यसंयोगः सुगम इति मन्वानो व्यतिरिक्तद्रव्यसंयोगमभिधातुमाह—'द्विविधस्त्वि'ति द्विविध एव, द्रव्येण द्रव्यस्य वा, 'स'मिति सङ्गतो योगः संयोगः, संयोगद्वैविध्यमेवाह—संयुक्तमेव संयुक्तकम्–अन्येन संश्लिष्टं, तस्य संयोगो–वस्त्वन्तरसम्बन्धः संयुक्तकसंयोगो ज्ञातव्यः, 'इतरेतर' इति इतरेतरसंयोगः, चः समुच्चये 'एवः' अवधारणे, इत्थमेव द्विविध एष संयोग इति गाथासमासार्थः ॥ ३० ॥ विस्तरार्थं त्वभिधित्सुः 'यथोद्देशं निर्देश' इति न्यायतः संयुक्तकसंयोगं भेदेनाह—

१ नामादिभेदशब्दार्थबुद्धिपरिणामभावतो नियतम् । यद्वस्त्वस्ति लोके चतुष्पर्यायं तकत् सर्वम् ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

संजुत्तगसंजोगो सचित्तादीण होइ दव्वाणं । दुममणुसुवण्णमाई संतइकम्मेण जीवस्स ॥ ३१ ॥

व्याख्या—'संयुक्तकसंयोगः' अनन्तराभिहितस्वरूपः, 'सचित्तादीनां' सचित्ताचित्तमिश्राणां भवति द्रव्याणाम्, अमीषामुदाहरणान्याह—'दुममणुसुवण्णमाइ'त्ति अत्र मकारस्यालाक्षणिकत्वात् सुव्व्यत्ययाच्च 'द्रुमाणुसुवर्णादीनां' प्रत्येकं चादिशब्दसम्बन्धात्सचित्तद्रव्याणां द्रुमादीनाम् अचित्तद्रव्याणामण्वादीनां सुवर्णादीनां च मिश्रद्रव्यस्य तु सन्ततिकर्मणोपलक्षितस्य जीवस्य, अत्र चाण्वादीनां सुवर्णादीनामित्युदाहरणद्वयमचित्तद्रव्याणां सचित्तमिश्रद्रव्यापेक्षया भूयस्त्वख्यापनार्थम्, एतद्भूयस्त्वं च जीवेभ्यः पुद्गलानामनन्तगुणत्वात्, उक्तं च–"जीवा पोग्गल समया दव्व पएसा य पज्जवा चेव । थोवाऽणंताणंता विसेसमहिया दुवेऽणंता ॥ १ ॥" इति, अनेन च सचित्तादेः संयोगद्रव्यस्य त्रैविध्यात् संयुक्तकसंयोगस्य त्रैविध्यमुक्तमिति गाथार्थः ॥ ३ ॥ तत्र द्रुमादीनां सचित्तसंयुक्तद्रव्यसंयोगं विवरीतुमाह—

मूले कंदे खंधे तया य सालेपवालपत्तेहिं। पुप्फफलेबीएहि अ संजुत्तो होइ दुममाई ॥ ३२ ॥

व्याख्या—'मूले कन्दे स्कन्धे' इति सर्वत्र सूत्रत्वात् तृतीयार्थे सप्तमी, ततश्च 'मूलेन' अधःप्रसर्पिणा स्वावयवेन

१ जीवाः पुद्गलाः समया द्रव्याणि प्रदेशाश्च पर्यायाश्चैव । स्तोका अनन्ता अनन्ता विशेषाधिकानि द्वावनन्तौ ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

'कन्देन' तेनैव मूलस्कन्धान्तरालवर्तिना 'स्कन्धेन' स्थुडेन 'त्वचा' छविरूपया 'साले'त्ति एकारोऽलाक्षणिकः, ततः 'शालाप्रवालपत्रैः' शाखापल्लवपलाशैः, फले इत्यत्राप्येकारस्तथैव, ततः 'पुष्पफलबीजैश्च' प्रसिद्धैरेव 'संयुक्तः' सम्बद्धो भवति 'दुममाइत्ति' मकारोऽलाक्षणिकः ततो द्रुमादिः, आदिशब्दाद्गुच्छगुल्मादिश्च संयुक्तकसंयोग इति प्रक्रमः । स हि प्रथममुद्गच्छन्नङ्कुरात्मकः पृथिव्याः संयुक्त एव मूलेन संयुज्यते, ततो मूलसंयुक्तक एव कन्देन, कन्दसंयुक्त एव स्कन्धेन एवं त्वक्शाखाप्रवालपत्रपुष्पफलबीजैरपि पूर्वसंयुक्त एवोत्तरोत्तरैः संयुज्यते इति भावनीयम्, नन्वेवं द्रुमादेर्द्रव्यत्वात् संयुक्तकसंयोगस्य च गुणत्वात्कथं द्रुमादिरेव स इति, अत्रोच्यते, धर्मधर्मिणोः कथञ्चिदनन्यत्वादेवमुक्तमित्यदोषः, एवमुत्तरभेदयोरपीति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ अण्वादीनामचित्तसंयुक्तकद्रव्यसंयोगं स्पष्टयितुमाह—

एगरस एगवण्णे एगेगंधे तहा दुफासे अ । परमाणू खंधेहि अ दुपएसाईहि णायव्वो ॥ ३३ ॥

व्याख्या—एकः–अद्वितीयस्तिक्तादिरसान्यतमो रसोऽस्येति एकरसः, तथैकः कृष्णादिवर्णान्यतमो वर्णोऽस्येति एकवर्णः, एवम् 'एकगन्धः' सुगन्धीतरान्यतरगन्धान्वितः, 'एगे' इत्येकारस्यालाक्षणिकत्वात्, तथा द्वौ चाविरुद्धौ स्निग्धशीताद्यात्मकौ स्पर्शावस्येति द्विस्पर्शः, चशब्दः स्वगतानन्तभेदोपलक्षकः, क एवंविधः ? इत्याह— परमः–तदन्यसूक्ष्मतरासम्भवात् प्रकर्षवान् स चासावणुश्च परमाणुः, उपलक्षणत्वाद् द्व्यणुकादिश्च, 'स्कन्धैश्च' स्कन्धश-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

ब्दाभिधेयैः, कैरित्याह–द्वौ प्रदेशावारम्भकावस्येति द्विप्रदेशो–द्व्यणुकः, स आदिर्येषां त्रिप्रदेशादीनामचित्तमहास्कन्धपर्यन्तानां ते तथा तैः, चशब्दात्परमाण्वन्तरैर्वर्णान्तरादिभिश्च, संयुज्यमान इति गम्यते, 'विज्ञेयः' विशेषेण–सङ्ख्यातासङ्ख्यातानन्तभङ्गविभावनात्मकेनावबोद्धव्यः, पाठान्तरतो ज्ञातव्यः, अचित्तसंयुक्तकसंयोग इति प्रक्रमः, अयमर्थः—कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः । एकरसवर्णगन्धो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥ १ ॥ इत्येवंलक्षणपरमाणुर्यदा त्र्यणुकादिस्कन्धपरिणतिमनुभवति तदा रसादिसंयुक्त एव द्व्यणुकादिभिः स्कन्धैः संयुज्यते, यदा वा तिक्ततादिपरिणतिमपहाय कटुकत्वादिपरिणतिं प्रतिपद्यते तदाऽपि वर्णादिभिः संयुक्त एव कटुकत्वादिना संयुज्यते इति संयुक्तसंयोग उच्यते । अत्र च कृष्णपरमाणुः कृष्णत्वमपहाय नीलत्वं प्रतिपद्यत इत्येको भङ्गः, एवं रक्तत्वं पीतत्वं शुक्लत्वं चेति चत्वारः, तथाऽयमेव रसपञ्चकगन्धद्वयाविरुद्धस्पर्शैस्तारतम्यजनितैश्च स्वस्थान एव द्विगुणकृष्णत्वादिभिः परमाण्वन्तरद्विप्रदेशादिभिश्च योजनाद्विवक्षावशतः सङ्ख्यातासङ्ख्यातानन्तात्मिकां भङ्गरचनामवाप्नोति, एवं वर्णान्तररसस्पर्शगन्धस्वगततारतम्ययुक्तोऽपि, तथा द्विप्रदेशादिश्च । यच्च–'वण्णरसगंधफासा पोग्गलाणं च लक्खणं' इत्यादिसूत्रेषु वर्णस्यादित्वेन दर्शनेऽपि 'एगरएगवण्णे'त्ति रसस्य प्रथमत उपादानं तदनानुपूर्व्या अपि व्याख्याङ्गत्वेन गाथाबन्धानुलोम्येन वेति भावनीयम् । सुषर्णादीनां च प्राच्यवर्णकासंयु-

१ वर्णगन्धरसस्पर्शाः पुद्गलानां च लक्षणम् ।

॥ २४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

क्तानामेव विशिष्टवर्णिकादिभिः संयोगोऽचित्तसंयुक्तकसंयोग उक्तानुसारेण सुज्ञान एवेति निर्युक्तिकृता न व्याख्यात इति गाथार्थः ॥ ३३ ॥ दृष्टान्तपूर्वकं सन्ततिकर्मणा जीवस्य मिश्रसंयुक्तकद्रव्यसंयोगं व्यक्तीकर्तुमाह—

जह धाऊ कणगाई सभावसंजोगसंजुया हुंति । इअ संतइकम्मेणं अणाइसंजुत्तओ जीवो ॥ ३४ ॥

व्याख्या—'यथा' इत्युदाहरणोपन्यासार्थः, यथा 'धातवः' कनकादियोनिभूता मृदादयः 'कणगाइ'त्ति सूत्रत्वात्कनकादिभिः, आदिशब्दात्ताम्रादिभिश्च, किमित्याह—स्वभावेन संयोगः–प्रकृतीश्वराद्यर्थान्तरव्यापारानपेक्षयोपलक्ष्यानुपलक्ष्यरूपो यः सम्बन्धस्तेन संयुता–मिश्रिताः स्वभावसंयोगसंयुताः 'भवन्ति' विद्यन्ते 'इती'त्यमुनैवार्थान्तरनिरपेक्षत्वलक्षणेन प्रकारेण सन्ततिः–उत्तरोत्तरनिरन्तरोत्पत्तिरूपः प्रवाहस्तयोपलक्षितं कर्म–ज्ञानावरणादि सन्ततिकर्म तेन, न विद्यते आदिः–प्राथम्यमस्येत्यनादिः स चेह प्रक्रमात्संयोगस्तेन 'स' मिति 'अण्णोण्णाणुगयाणं इमं च तं चत्ति विभयणमंजुत्तं' इत्यागमाद्विभागाभावतो युक्तः–श्लिष्टोऽनादिसंयुक्तः स एव अनादिसंयुक्तकः, यद्वा–संयोगः–संयुक्तं ततोऽनादिसंयुक्तमस्येति अनादिसंयुक्तकः, क इत्याह–जीवति जीविष्यति जीवितवांश्चेति जीवः, मिश्रसंयुक्तकद्रव्यसंयोग इति प्रक्रमः; इदमुक्तं भवति–जीवो ह्यनन्तकर्माणुवर्गणाभिरावेष्टितप्रवेष्टितोऽपि न स्वरूपं चैतन्यमतिवर्तते, न चाचैतन्यं कर्माणव इति तद्युक्ततया विवक्ष्यमाणोऽसौ संयुक्तकमिश्रद्रव्यं,

१ अन्योऽन्यानुगतयोरिदं च तच्चेति विभजनमयुक्तम् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

ततोऽस्य कर्मप्रदेशान्तरैः संयोगो मिश्रसंयुक्तकद्रव्यसंयोग उच्यते, इह च जीवकर्मणोरनादिसंयोगस्य धातुकनकादि-संयोगदृष्टान्तद्वारेणाभिधानं तद्भवेवानादित्वेऽप्युपायतो जीवकर्मसंयोगस्याभावख्यापनार्थम्, अन्यथा मुक्त्यनुष्ठानवै-फल्यापत्तेरिति भावनीयमिति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ उक्तः संयुक्तकसंयोगः, इतरेतरसंयोगमाह—

इयरेयरसंजोगो परमाणूणं तहा पएसाणं। अभिपेयमणभिपेओ अभिलावो चेव संबंधो ॥ ३५ ॥

व्याख्या—इतरेतरस्य–परस्परस्य संयोगो–घटना इतरेतरसंयोगः 'परमाणूनाम्' उक्तरूपाणां, तथा प्रकर्षेण–सूक्ष्मातिशयलक्षणेन दिश्यन्ते–कथ्यन्त इति प्रदेशाः–धर्मास्तिकायादिसम्बन्धिनो निर्विभागा भागास्तेषाम्, 'अभिपेयं' ति प्राकृतत्वादभिप्रेतः, इतरेतरसंयोग इति योज्यते, एवमुत्तरत्रापि, अभिप्रेतत्वं चास्याभिप्रेतविषयत्वाद्, एतद्विपरीतोऽनभिप्रेतः, अभिलप्यते–आभिमुख्येन व्यक्तमुच्यतेऽनेनार्थ इत्यभिलापो–वाचकः शब्दस्तद्विषयत्वात् अभिलापः, चः समुच्चये, 'एवः' अवधारणे, सम्बन्धशब्दानन्तरं चैतौ योज्यौ, ततः सम्बन्धनं–सम्बन्धः, स चैवं स्वस्वामित्वादिरनेकधा वक्ष्यमाणः, एतावद्भेद एवायमितरेतरसंयोग इति चावधारणस्यार्थ इति गाथासमासार्थः ॥ ३५ ॥

परमाणूनां संयोगमाह—

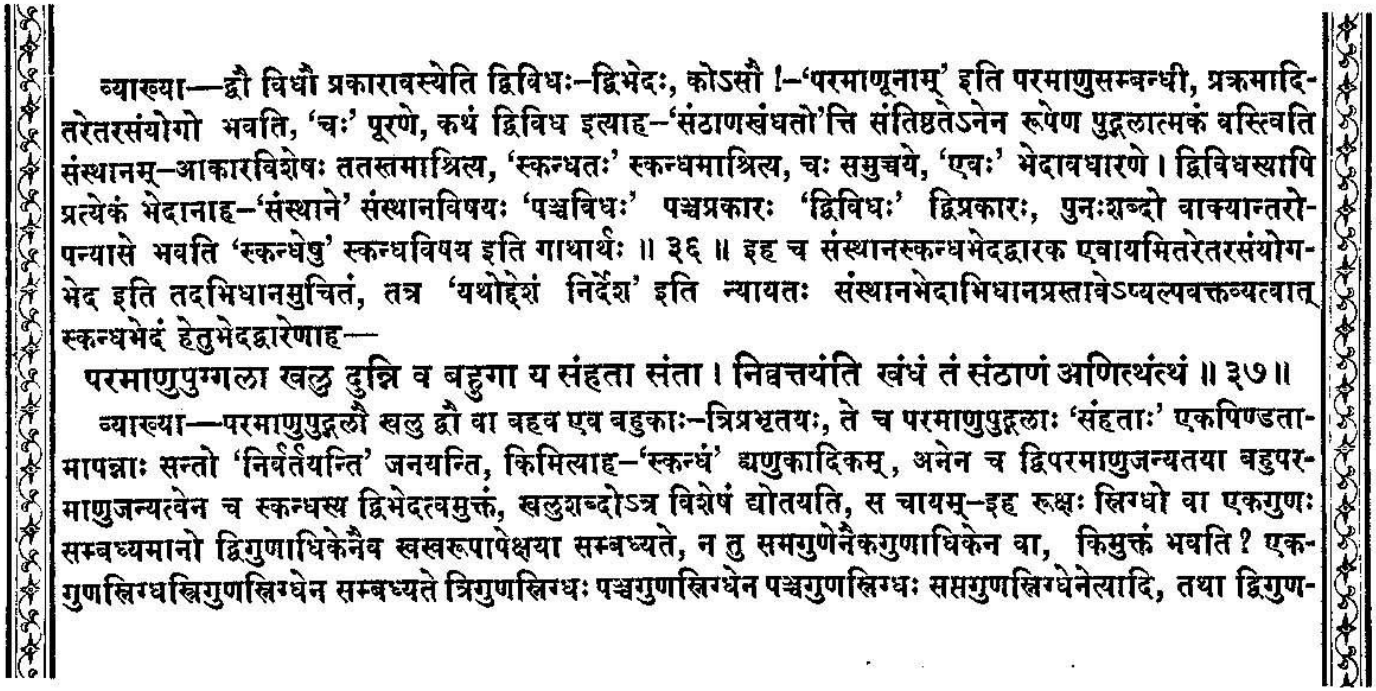
दुविहो परमाणूणं हवइ य संठाणखंधओ चेव। संठाणे पंचविहो दुविहो पुण होइ खंधेसुं ॥ ३६ ॥

॥ २५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



व्याख्या—द्वौ विधौ प्रकारावस्येति द्विविधः–द्विभेदः, कोऽसौ !–'परमाणूनाम्' इति परमाणुसम्बन्धी, प्रक्रमादितरेतरसंयोगो भवति, 'चः' पूरणे, कथं द्विविध इत्याह–'संठाणसंधतो'त्ति संतिष्ठतेऽनेन रूपेण पुद्गलात्मकं वस्त्विति संस्थानम्–आकारविशेषः ततस्तमाश्रित्य, 'स्कन्धतः' स्कन्धमाश्रित्य, चः समुच्चये, 'एवः' भेदावधारणे। द्विविधस्यापि प्रत्येकं भेदानाह–'संस्थाने' संस्थानविषयः 'पञ्चविधः' पञ्चप्रकारः 'द्विविधः' द्विप्रकारः, पुनःशब्दो वाक्यान्तरोपन्यासे भवति 'स्कन्धेषु' स्कन्धविषय इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥ इह च संस्थानस्कन्धभेदद्वारक एवायमितरेतरसंयोगभेद इति तदभिधानमुचितं, तत्र 'यथोद्देशं निर्देश' इति न्यायतः संस्थानभेदाभिधानप्रस्तावेऽप्यल्पवक्तव्यत्वात् स्कन्धभेदं हेतुभेदद्वारेणाह—

परमाणुपुग्गला खलु दुन्नि व बहुगा य संहता संता। निव्वत्तयंति खंधं तं संठाणं अणित्थंत्थं ॥ ३७॥

व्याख्या—परमाणुपुद्गलौ खलु द्वौ वा बहव एव बहुकाः–त्रिप्रभृतयः, ते च परमाणुपुद्गलाः 'संहताः' एकपिण्डतामापन्नाः सन्तो 'निर्वर्तयन्ति' जनयन्ति, किमित्याह–'स्कन्धं' द्व्यणुकादिकम्, अनेन च द्विपरमाणुजन्यतया बहुपरमाणुजन्यत्वेन च स्कन्धस्य द्विभेदत्वमुक्तं, खलुशब्दोऽत्र विशेषं द्योतयति, स चायम्–इह रूक्षः स्निग्धो वा एकगुणः सम्बध्यमानो द्विगुणाधिकेनैव स्वस्वरूपापेक्षया सम्बध्यते, न तु समगुणेनैकगुणाधिकेन वा, किमुक्तं भवति? एकगुणस्निग्धस्त्रिगुणस्निग्धेन सम्बध्यते त्रिगुणस्निग्धः पञ्चगुणस्निग्धेन पञ्चगुणस्निग्धः सप्तगुणस्निग्धेनेत्यादि, तथा द्विगुण-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

स्निग्धश्चतुर्गुणस्निग्धेन चतुर्गुणस्निग्धः षड्गुणस्निग्धेनेत्यादि, एवमेकगुणरूक्षस्त्रिगुणरूक्षेण त्रिगुणरूक्षः पञ्चगुणरूक्षेणेत्यादि, तथा द्विगुणरूक्षश्चतुर्गुणरूक्षेण चतुर्गुणरूक्षः षड्गुणरूक्षेणेत्यादि, एवं द्विगुणाधिकसम्बन्धो भावनीयः, न त्वेकगुणस्निग्ध एकगुणस्निग्धेन द्विगुणस्निग्धेन वा सम्बध्यते द्विगुणस्निग्धो द्विगुणस्निग्धेन त्रिगुणस्निग्धेन वा यावदनन्तगुणस्निग्धोऽप्यनन्तगुणस्निग्धेन समगुणेनैकगुणाधिकेन वा, एवमेकगुणरूक्ष एकगुणरूक्षेण द्विगुणरूक्षेण वा द्विगुणरूक्षो द्विगुणरूक्षेण त्रिगुणरूक्षेण वा यावदनन्तगुणरूक्षोऽप्यनन्तगुणरूक्षेण समगुणेनैकगुणाधिकेन वेति, अन्ये त्वाहुः—एकगुणादि स्वस्थानापेक्षया द्विगुणेन रूपाधिकेन सम्बध्यत इति, अयमत्र विशेषः खलुशब्देन सूच्यते, तथा चैककस्य स्वस्थानापेक्षया द्विगुणो द्विक एव स च रूपाधिकस्त्रिक एव इति त्रिगुणेनैवैकगुणस्य सम्बन्धः, तथा द्विगुणस्य पञ्चगुणेन त्रिगुणस्य सप्तगुणेन चतुर्गुणस्य नवगुणेन पञ्चगुणस्यैकादशगुणेनेत्यादि, उक्तं च–"समनिद्धयाइ बंधो न होइ समलुक्खयावि य न होइ। वेमाइनिद्धलुक्खत्तणेण बंधो उ खंधाणं ॥१॥" तथा "दोण्हं जहण्णगुणाणं निद्धाणं तह य लुक्खदव्वाणं। एगाहिएवि य गुणे ण होति बंधस्स परिणामो ॥ २ ॥ णिद्धबिउणाहिएणं बंधो

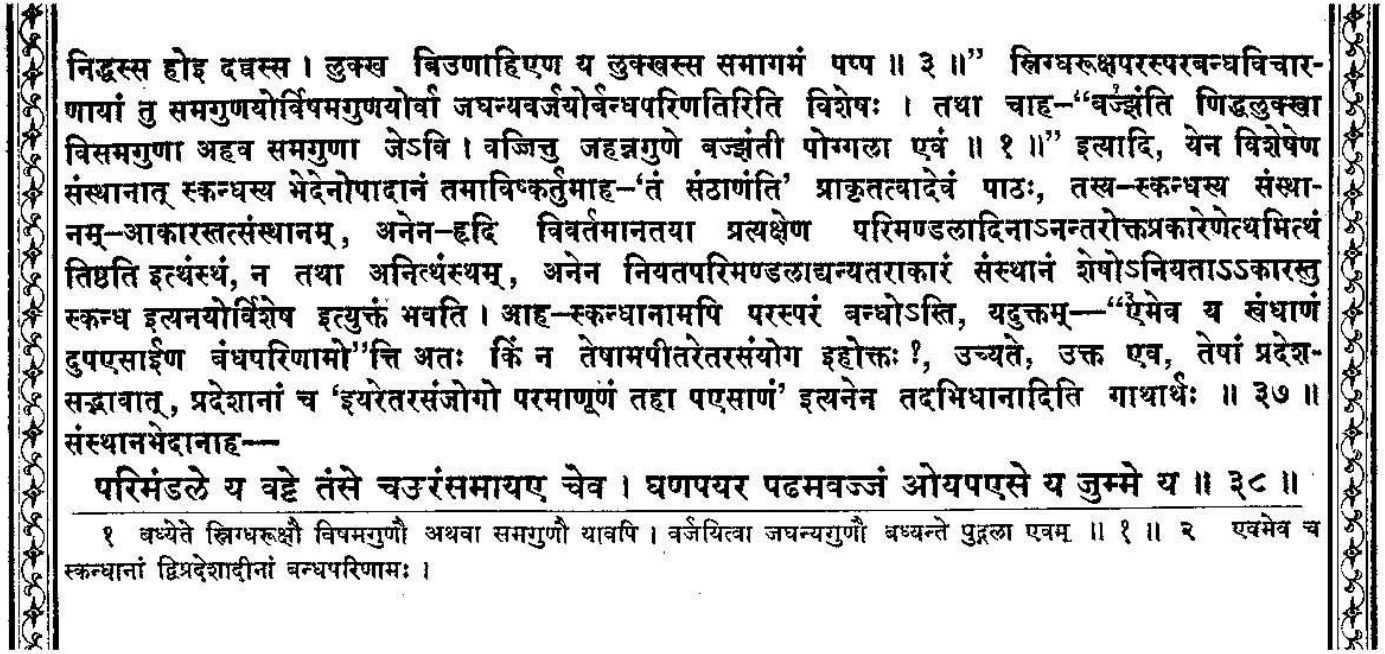
१ समस्निग्धतया बन्धो न भवति समरूक्षतयाऽपि च न भवति। विमात्रस्निग्धरूक्षत्वेन बन्धस्तु स्कन्धयोः ॥ १ ॥ २ द्वयोर्जघन्यगुणयोः स्निग्धयोस्तथैव रूक्षद्रव्ययोः। एकाधिकेऽपि च गुणे न भवति बन्धस्य परिणामः ॥ १ ॥ स्निग्धेन द्विगुणाधिकेन बन्धः स्निग्धस्य भवति द्रव्यस्य। रूक्षेण द्विगुणाधिकेन च रूक्षस्य समागमं प्राप्य ॥ २ ॥

॥ २६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



निद्धस्स होइ दव्वस्स । लुक्ख बिउणाहिएण य लुक्खस्स समागमं पप्प ॥ ३ ॥" स्निग्धरूक्षपरस्परबन्धविचारणायां तु समगुणयोर्विषमगुणयोर्वा जघन्यवर्जयोर्बन्धपरिणतिरिति विशेषः । तथा चाह–"बज्झंति णिद्धलुक्खा विसमगुणा अहव समगुणा जेऽवि । वज्जित्तु जहन्नगुणे बज्झंती पोग्गला एवं ॥ १ ॥" इत्यादि, येन विशेषेण संस्थानात् स्कन्धस्य भेदेनोपादानं तमाविष्कर्तुमाह–'तं संठाणंति' प्राकृतत्वादेवं पाठः, तस्य–स्कन्धस्य संस्थानम्–आकारस्तत्संस्थानम्, अनेन–हृदि विवर्तमानतया प्रत्यक्षेण परिमण्डलादिनाऽनन्तरोक्तप्रकारेणेत्थमित्थं तिष्ठति इत्थंस्थं, न तथा अनित्थंस्थम्, अनेन नियतपरिमण्डलाद्यन्यतराकारं संस्थानं शेषोऽनियताऽऽकारस्तु स्कन्ध इत्यनयोर्विशेष इत्युक्तं भवति । आह–स्कन्धानामपि परस्परं बन्धोऽस्ति, यदुक्तम्–"एमेव य खंधाणं दुपएसाईण बंधपरिणामो"त्ति अतः किं न तेषामपीतरेतरसंयोग इहोक्तः ?, उच्यते, उक्त एव, तेषां प्रदेशसद्भावात्, प्रदेशानां च 'इयरेतरसंजोगो परमाणूणं तहा पएसाणं' इत्यनेन तदभिधानादिति गाथार्थः ॥ ३७ ॥ संस्थानभेदानाह–

परिमंडले य वट्टे तंसे चउरंसमायए चेव । घणपयर पढमवज्जं ओयपएसे य जुम्मे य ॥ ३८ ॥

१ बध्येते स्निग्धरूक्षौ विषमगुणौ अथवा समगुणौ यावपि । वर्जयित्वा जघन्यगुणौ बध्यन्ते पुद्गला एवम् ॥ १ ॥ २ एवमेव च स्कन्धानां द्विप्रदेशादीनां बन्धपरिणामः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

व्याख्या—'लिङ्गं व्यभिचार्यपी' ति प्राकृतलक्षणात् सर्वत्र लिङ्गव्यत्ययः, ततः परिमण्डलं, प्रक्रमात् संस्थानमेवमुत्तरत्रापि, तच्च बहिर्वृत्तावस्थितप्रदेशजनितमन्तःशुषिरं, यथा वलकस्य, चशब्द उत्तरभेदापेक्षया समुच्चये, वृत्तं तदेवान्तःशुषिरविरहितं यथा कुलालचक्रस्य, त्र्यस्रं–त्रिकोणं, यथा शृङ्गाटकस्य, चतुरस्रं–चतुष्कोणं, यथा कुम्भिकायाः, आयतं–दीर्घं, यथा दण्डस्य, चः पूर्वभेदापेक्षया समुच्चये 'एव' अवधारणे, तत इयंत एव संस्थानभेदाः, 'घणपयर'त्ति घनं च प्रतरं च घनप्रतरं, प्राकृतत्वाद्विन्दुलोपः, सर्वत्र च प्रतरपूर्वक एव घनः प्ररूप्यते, इहापि तथैवोपदर्शयिष्यते, ततः प्रतरघन इति निर्देशः प्राप्तः, अल्पाक्ष(च्रत)रत्वात्तु घनशब्दस्य पूर्वनिपातः, ततश्चैकैकं परिमण्डलादि प्रतरं घनं च, भवतीति गम्यते, तथा प्रथमम्–आद्यं वर्जयति–त्यजतीति प्रथमवर्जं–परिमण्डलरहितं वृत्तादिसंस्थानचतुष्कमित्यर्थः 'ओयपएसे य'त्ति ओजःप्रदेशं च–विषमसङ्ख्यपरमाणुकं 'जुम्मे य' त्ति प्रक्रमाद् युग्मप्रदेशं च, उभयत्र चः समुच्चये । इह च घनप्रतरभेदमेव वृत्तादीत्थं भिद्यते, ततः प्रतरवृत्तमोजःप्रदेशं युग्मप्रदेशं च, तथा घनवृत्तमोजःप्रदेशं युग्मप्रदेशं च, एवं त्र्यस्रादिष्वपि चतुर्विधं भावनीयं, परिमण्डलं वर्जनीयं च, समसङ्ख्याणुष्वेव तस्य सम्भवेनैवंविधभेदासम्भवात्, तथा च द्विविधमेव परिमण्डलमिति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ इह च परिमण्डलादि प्रत्येकं जघन्यमुत्कृष्टं च, तत्रोत्कृष्टं सर्वमनन्ताणुनिष्पन्नमसङ्ख्यप्रदेशावगाढं चेत्येकरूपतयाऽनुक्तमपि सम्प्रदायाज्ज्ञातुं शक्यमिति तदुपेक्ष्य जघन्यं तु प्रतिभेदमन्यान्यरूपतया न तथेति तदुपदर्शनार्थमाह—

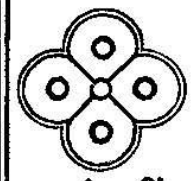
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

पंचग बारसगं खलु सत्तग बत्तीसगं तु वट्टंमि। तिय छक्कग पणतीसा चत्तारि य हुंति तंसंमि ॥३९॥
नव चेव तहा चउरो सत्तावीसा य अट्ठ चउरंसे। तिगदुगपन्नरसेऽवि य छच्चेव य आयए हुंति ॥४०॥
पणयालीसा बारस छब्भेया आययंमि संठाणे । वीसा चत्तालीसा परिमंडलि हुंति संठाणे ॥ ४१ ॥

व्याख्या—आसामर्थः स्पष्ट एव, नवरमायते षड्भेदाभिधानमव्यापित्वेन प्रागनुद्दिष्टस्यापि श्रेणिगतभेदद्वयस्याधिकस्य तत्र सम्भवात्, तथा परिमण्डलादित्वेऽपि संस्थानानां वृत्तादिभेदानामोजःप्रदेशप्रतरादीनामनन्तरोद्दिष्टत्वात् प्रत्यासत्तिन्यायेन यथाक्रमं पञ्चकादिभिः प्रथममुपदर्शनं, पश्चात् परिमण्डलभेदद्वयस्य । तत्रौजःप्रदेशप्रतरवृत्तं पञ्चाणुनिष्पन्नं पञ्चाकाशप्रदेशावगाढं च, तत्रैकोऽणुरन्तरेव स्थाप्यते, चतसृषु पूर्वादिदिक्षु चैकैकः, स्थापना १



युग्मप्रदेशप्रतरवृत्तं द्वादशप्रदेशं द्वादशप्रदेशावगाढं च, तत्र हि चतुर्षु प्रदेशेषु निरन्तरमन्तश्चतुरोऽणून्निधाय तत्परिक्षेपेणाष्टौ स्थाप्यन्ते, स्थापना २, ० ०
ससप्रदेशावगाढं च, तच्चैवम्–तत्रैव पञ्चप्रदेशे ० ० ० ०
ष्टादधस्ताच्चैकैकोऽणुरवस्थाप्यते,ततो द्वयसहिताः ० ० ० ०
घनवृत्तं द्वात्रिंशत्प्रदेशं द्वात्रिंशत्प्रदेशावगाढं च, तत्र प्रतरवृत्तो- ० ०

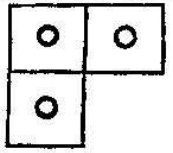
ओजःप्रदेशं घनवृत्तं सप्तप्रदेशं प्रतरवृत्ते मध्यस्थितस्याणोरुपरिपञ्च सप्त भवन्ति ३, युग्मप्रदेशं पदर्शितद्वादशप्रदेशोपरि द्वादशा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

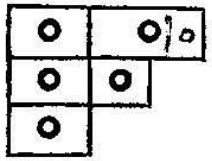
प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

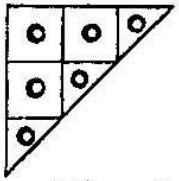
न्ये, तदुपरि चत्वारोऽधस्ताच्च तान्त एवाणवः स्थाप्याः, एते मीलिता द्वात्रिंशद्भवन्ति ४ । ओजःप्रदेशं प्रतरत्र्यस्रं त्रिप्रदेशं त्रिप्रदेशावगाढं च, तत्र च तिर्यग्निरन्तरमणुद्वयं विन्यस्याऽऽद्यस्याध एकोऽणुः स्थाप्यः, स्थापना १

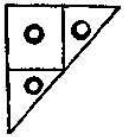


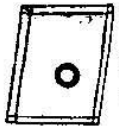
युग्मप्रदेशं प्रतरत्र्यस्रं षट्प्रदेशं षट्प्रदेशावगाढं च, तत्र च तिर्यग्निरन्तरं त्रयोऽणवः स्थाप्यन्ते तत आद्यस्याधस्तादधऊर्ध्वभावेन द्वयं द्वितीयस्य त्वध एकोऽणुः स्थाप्यः, स्थापना २

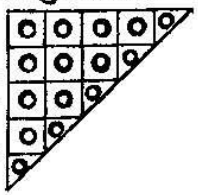


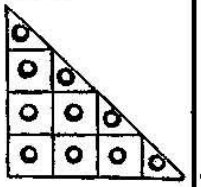
ओजःप्रदेशं घनत्र्यस्रं पञ्चत्रिंशत्प्रदेशं पञ्चत्रिंशत्प्रदेशावगाढं च, तत्र च तिर्यग्निरन्तराः पञ्चाणवो न्यस्यन्ते, तेषां चाधोऽधः क्रमेण तिर्यगेव चत्वारस्त्रयो द्वावेकश्चाणुः स्थाप्यन्ते, स्थापना, अस्य च प्रतरस्योपरि सर्वपङ्क्तिष्वन्त्यान्त्यपरमाणुपरिहारेण दश, तथैव तेषामुपर्युपरि षट् त्रय एकश्चेति क्रमेणाणवः स्थाप्याः, तेषां स्थापनाः,











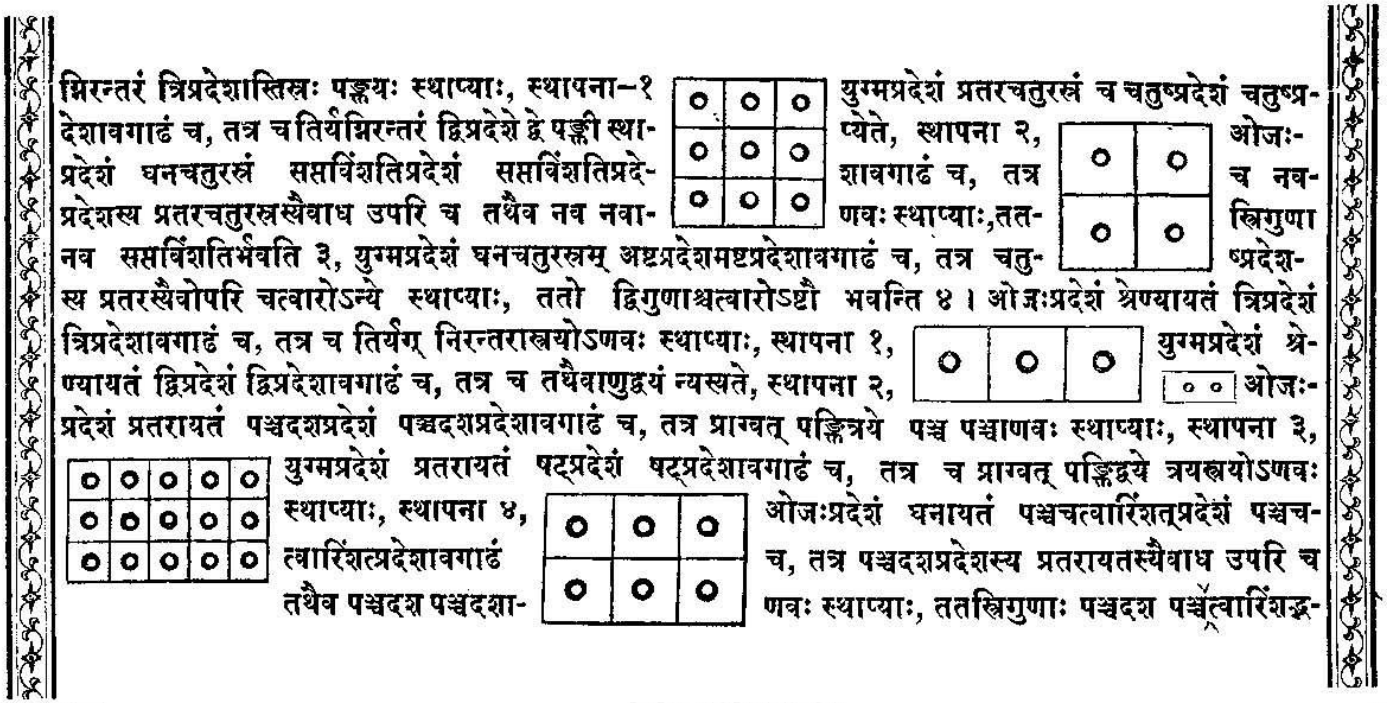
एते मीलिताः पञ्चत्रिंशद्भवन्ति ३, युग्मप्रदेशं घनत्र्यस्रं चतुष्प्रदेशं चतुष्प्रदेशावगाढं च, तत्र च प्रतरत्र्यस्र एव त्रिप्रदेशे एकतरस्योपर्येकोऽणुर्दीयते, ततो मीलिताश्चत्वारो भवन्ति ४ । ओजःप्रदेशं प्रतरचतुरस्रं नवप्रदेशं नवप्रदेशावगाढं च, तत्र च तिर्य-

॥ २८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



अग्निरन्तरं त्रिप्रदेशास्तिस्रः पङ्क्तयः स्थाप्याः, स्थापना–१ देशावगाढं च, तत्र च तिर्यगग्निरन्तरं द्विप्रदेशे द्वे पङ्क्ती स्था- प्रदेशं घनचतुरस्रं सप्तविंशतिप्रदेशं सप्तविंशतिप्रदे- प्रदेशस्य प्रतरचतुरस्रस्यैवाध उपरि च तथैव नव नवा- नव सप्तविंशतिर्भवति ३, युग्मप्रदेशं घनचतुरस्रम् अष्टप्रदेशमष्टप्रदेशावगाढं च, तत्र चतु- स्य प्रतरस्यैवोपरि चत्वारोऽन्ये स्थाप्याः, ततो द्विगुणाश्चत्वारोऽष्टौ भवन्ति ४। ओजःप्रदेशं श्रेण्यायतं त्रिप्रदेशं त्रिप्रदेशावगाढं च, तत्र च तिर्यग् निरन्तरास्त्रयोऽणवः स्थाप्याः, स्थापना १, ण्यायतं द्विप्रदेशं द्विप्रदेशावगाढं च, तत्र च तथैवाणुद्वयं न्यस्यते, स्थापना २, प्रदेशं प्रतरायतं पञ्चदशप्रदेशं पञ्चदशप्रदेशावगाढं च, तत्र प्राग्वत् पङ्क्तित्रये पञ्च पञ्चाणवः स्थाप्याः, स्थापना ३, युग्मप्रदेशं प्रतरायतं षट्प्रदेशं षट्प्रदेशावगाढं च, तत्र च प्राग्वत् पङ्क्तिद्वये त्रयस्त्रयोऽणवः स्थाप्याः, स्थापना ४, त्वारिंशत्प्रदेशावगाढं तथैव पञ्चदश पञ्चदशा- ओजःप्रदेशं घनायतं पञ्चचत्वारिंशत्प्रदेशं पञ्चच- च, तत्र पञ्चदशप्रदेशस्य प्रतरायतस्यैवाध उपरि च णवः स्थाप्याः, ततस्त्रिगुणाः पञ्चदश पञ्चैत्वारिंशद्ध-

युग्मप्रदेशं प्रतरचतुरस्रं च चतुष्प्रदेशं चतुष्प्र- प्येते, स्थापना २, शावगाढं च, तत्र णवः स्थाप्याः,तत- ओजः- च नव- स्त्रिगुणा ष्प्रदेश-

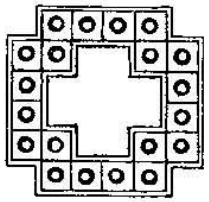
युग्मप्रदेशं श्रे- ओजः-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

वन्ति ५, युग्मप्रदेशं घनायतं द्वादशप्रदेशं द्वादशप्रदेशावगाढं च, तत्र च षट्प्रदेशस्य प्रतरायतस्यैवोपरि तथैव तावन्तोऽणवः स्थाप्याः, ततो द्विगुणाः षट् द्वादश भवन्ति ६ । परिमण्डलमुक्तन्यायतो द्विभेदमेव, तत्र प्रतरपरिमण्डलं विंशतिप्रदेशं विंशतिप्रदेशावगाढं च, तत्र च प्राच्यादिषु चतसृषु दिक्षु चत्वारश्चत्वारो विदिक्षु चैकैकः स्थाप्यः, मीलिताश्चैते विंशतिर्भवन्ति,स्थापना–१,



गाढं च, तत्र च तस्या एव विंशतेरुचत्वारिंशद्भवन्ति २ । इत्थं चैषां प्ररूपन चैतान्यतीन्द्रियत्वेनातिशायिगम्यद्वारेण च कथञ्चिच्छक्यानीति तथैव घनपरिमण्डलं चत्वारिंशत्प्रदेशं चत्वारिंशत्प्रदेशावपरि तथैव विंशतिरन्या स्थाप्यते, विंशतिश्च द्विगुणा पणमितोऽपि न्यूनदेशतायां यथोक्तसंस्थानासम्भवात्, त्वात् सर्वथाऽनुभवमारोपयितुं शक्यन्ते, स्थापनादिदर्शितानीति गाथात्रयभावार्थः ॥ ३९–४०–४१ ॥

उक्तः परमाणूनामितरेतरसंयोगः, सम्प्रति तमेव प्रदेशानामाह—

धम्माइपएसाणं पंचण्ह उ जो पएससंजोगो । तिण्ह पुण अणाईओ साईओ होति दुण्हं तु ॥४२॥

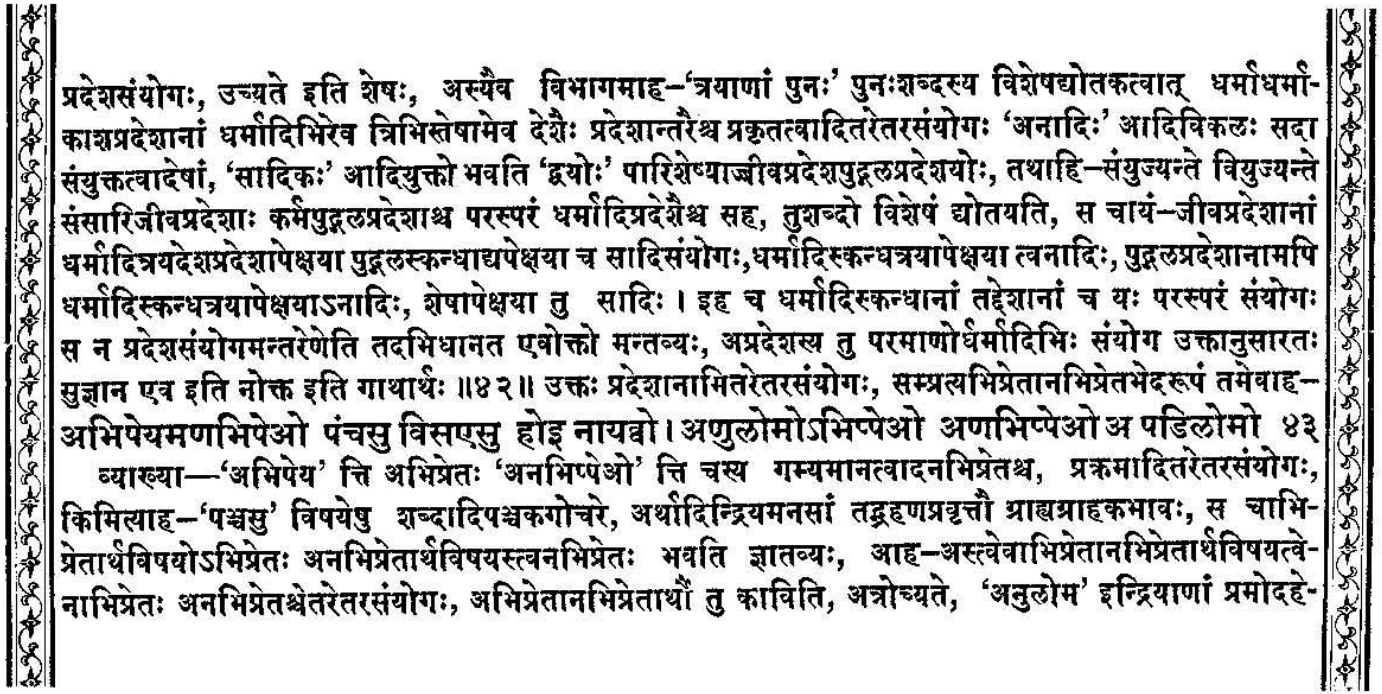
व्याख्या—धर्मादीनां–धर्माधर्माकाशजीवपुद्गलानां प्रदेशाः–उक्तरूपा धर्मादिप्रदेशास्तेषां, 'पञ्चानाम्' इति सम्बन्धिनां धर्मादीनां पञ्चसङ्ख्यत्वेन पञ्चसङ्ख्यानां 'तुः' पुनरर्थः, संयोग इति गम्यते, स च श्रुतत्वाद्धर्मादिभिः स्कन्धैस्तथा तदन्तर्गतैर्देशैः प्रदेशान्तरैश्च सजातीयेतरैः,असौ किमित्याह–प्रदेशानां संयोगः प्रकृतत्वादितरेतरसंयोगाख्यः

॥ २९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



प्रदेशसंयोगः, उच्यते इति शेषः, अस्यैव विभागमाह–'त्रयाणां पुनः' पुनःशब्दस्य विशेषद्योतकत्वात् धर्माधर्माकाशप्रदेशानां धर्मादिभिरेव त्रिभिस्तेषामेव देशैः प्रदेशान्तरैश्च प्रकृतत्वादितरेतरसंयोगः 'अनादिः' आदिविकलः सदा संयुक्तत्वादेषां, 'सादिकः' आदियुक्तो भवति 'द्वयोः' पारिशेष्याज्जीवप्रदेशपुद्गलप्रदेशयोः, तथाहि–संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते संसारिजीवप्रदेशाः कर्मपुद्गलप्रदेशाश्च परस्परं धर्मादिप्रदेशैश्च सह, तुशब्दो विशेषं द्योतयति, स चायं–जीवप्रदेशानां धर्मादित्रयदेशप्रदेशापेक्षया पुद्गलस्कन्धाद्यपेक्षया च सादिसंयोगः,धर्मादिस्कन्धत्रयापेक्षया त्वनादिः, पुद्गलप्रदेशानामपि धर्मादिस्कन्धत्रयापेक्षयाऽनादिः, शेषापेक्षया तु सादिः । इह च धर्मादिस्कन्धानां तद्देशानां च यः परस्परं संयोगः स न प्रदेशसंयोगमन्तरेणेति तदभिधानत एवोक्तो मन्तव्यः, अप्रदेशस्य तु परमाणोर्धर्मादिभिः संयोग उक्तानुसारतः सुज्ञान एव इति नोक्त इति गाथार्थः ॥४२॥ उक्तः प्रदेशानामितरेतरसंयोगः, सम्प्रत्यभिप्रेतानभिप्रेतभेदरूपं तमेवाह–

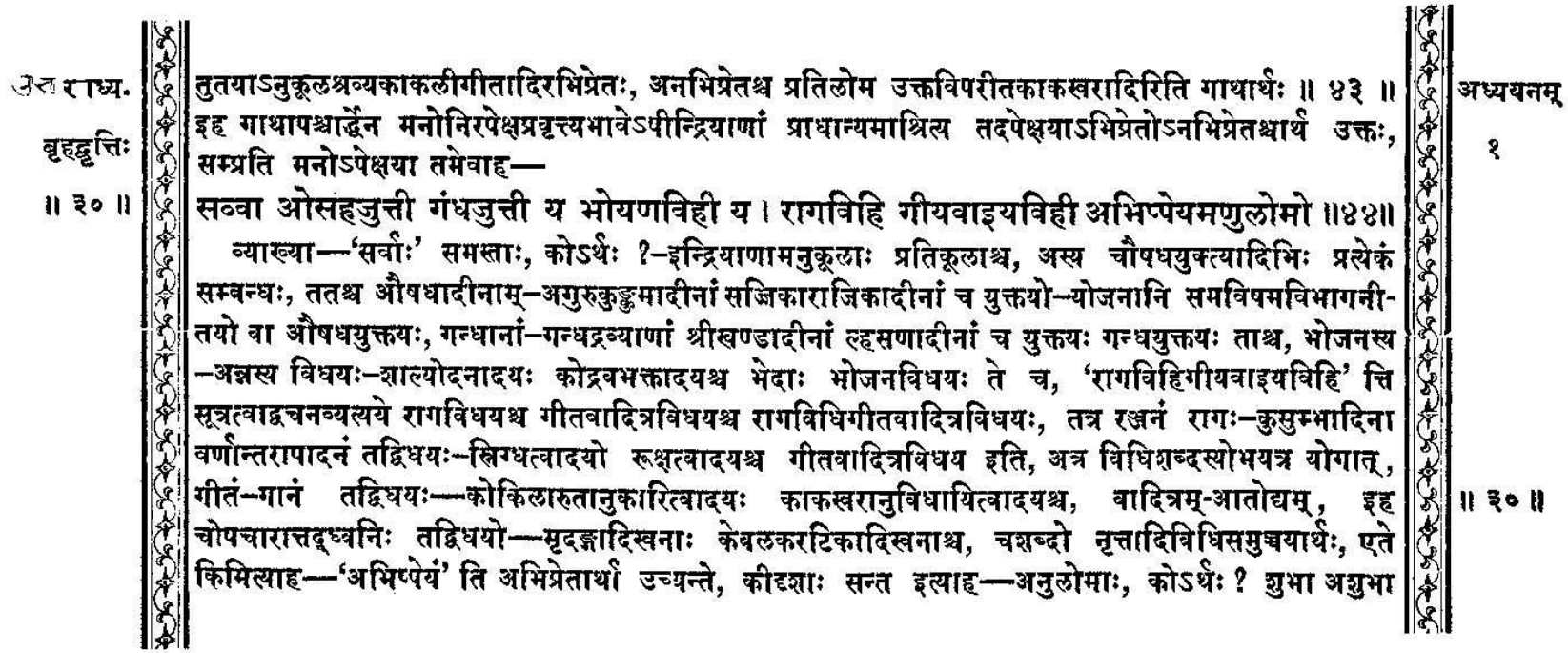
अभिपेयमणभिपेओ पंचसु विसएसु होइ नायव्वो। अणुलोमोऽभिप्पेओ अणभिप्पेओ अ पडिलोमो ४३

व्याख्या—'अभिपेय' त्ति अभिप्रेतः 'अनभिप्पेओ' त्ति चास्य गम्यमानत्वादनभिप्रेतश्च, प्रक्रमादितरेतरसंयोगः, किमित्याह–'पञ्चसु' विषयेषु शब्दादिपञ्चकगोचरे, अर्थादिन्द्रियमनसां तद्ग्रहणप्रवृत्तौ ग्राह्यग्राहकभावः, स चाभिप्रेतार्थविषयोऽभिप्रेतः अनभिप्रेतार्थविषयस्त्वनभिप्रेतः भवति ज्ञातव्यः, आह–अस्त्वेवाभिप्रेतानभिप्रेतार्थविषयत्वेनाभिप्रेतः अनभिप्रेतश्चेतरेतरसंयोगः, अभिप्रेतानभिप्रेतार्थौ तु काविति, अत्रोच्यते, 'अनुलोम' इन्द्रियाणां प्रमोदहे-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



उत्त.राध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ ३० ॥

तुतयाऽनुकूलश्रव्यकाकलीगीतादिरभिप्रेतः, अनभिप्रेतश्च प्रतिलोम उक्तविपरीतकाकस्वरादिरिति गाथार्थः ॥ ४३ ॥
इह गाथापश्चार्द्धेन मनोनिरपेक्षप्रवृत्त्यभावेऽपीन्द्रियाणां प्राधान्यमाश्रित्य तदपेक्षयाऽभिप्रेतोऽनभिप्रेतश्चार्थ उक्तः, सम्प्रति मनोऽपेक्षया तमेवाह—

सव्वा ओसहजुत्ती गंधजुत्ती य भोयणविही य। रागविहि गीयवाइयविही अभिप्पेयमणुलोमो ॥४४॥

व्याख्या—'सर्वाः' समस्ताः, कोऽर्थः ?–इन्द्रियाणामनुकूलाः प्रतिकूलाश्च, अस्य चौषधयुक्त्यादिभिः प्रत्येकं सम्बन्धः, ततश्च औषधादीनाम्–अगुरुकुङ्कुमादीनां सज्जिकाराजिकादीनां च युक्तयो–योजनानि समविषमविभागनीतयो वा औषधयुक्तयः, गन्धानां–गन्धद्रव्याणां श्रीखण्डादीनां लेहसणादीनां च युक्तयः गन्धयुक्तयः ताश्च, भोजनस्य –अन्नस्य विधयः–शाल्योदनादयः कोद्रवभक्तादयश्च भेदाः भोजनविधयः ते च, 'रागविहिगीयवाइयविहि' त्ति सूत्रत्वाद्वचनव्यत्यये रागविधयश्च गीतवादित्रविधयश्च रागविधिगीतवादित्रविधयः, तत्र रञ्जनं रागः–कुसुम्भादिना वर्णान्तरापादनं तद्विधयः–स्निग्धत्वादयो रूक्षत्वादयश्च गीतवादित्रविधय इति, अत्र विधिशब्दस्योभयत्र योगात्, गीतं–गानं तद्विधयः—कोकिलारुतानुकारित्वादयः काकस्वरानुविधायित्वादयश्च, वादित्रम्-आतोद्यम्, इह चोपचारात्तद्ध्वनिः तद्विधयो—मृदङ्गादिस्वनाः केवलकरटिकादिस्वनाश्च, चशब्दो नृत्तादिविधिसमुच्चयार्थः, एते किमित्याह—'अभिप्पेयं' ति अभिप्रेतार्था उच्यन्ते, कीदृशाः सन्त इत्याह—अनुलोमाः, कोऽर्थः ? शुभा अशुभा

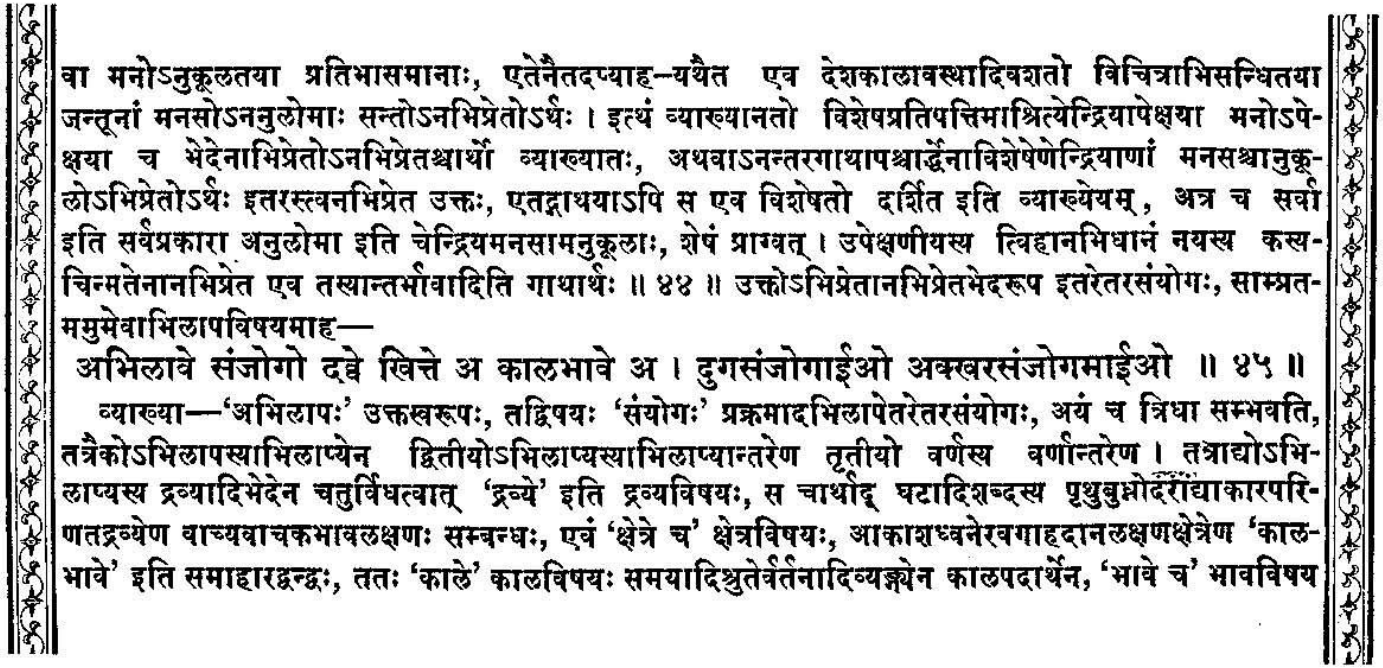
अध्ययनम् १

॥ ३० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



वा मनोऽनुकूलतया प्रतिभासमानाः, एतेनैतदप्याह–यथैत एव देशकालावस्थादिवशतो विचित्राभिसन्धितया जन्तूनां मनसोऽननुलोमाः सन्तोऽनभिप्रेतोऽर्थः । इत्थं व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिमाश्रित्येन्द्रियापेक्षया मनोऽपेक्षया च भेदेनाभिप्रेतोऽनभिप्रेतश्चार्थो व्याख्यातः, अथवाऽनन्तरगाथापश्चार्द्धेनाविशेषेणेन्द्रियाणां मनसश्चानुकूलोऽभिप्रेतोऽर्थः इतरस्त्वनभिप्रेत उक्तः, एतद्गाथयाऽपि स एव विशेषतो दर्शित इति व्याख्येयम्, अत्र च सर्वा इति सर्वप्रकारा अनुलोमा इति चेन्द्रियमनसामनुकूलाः, शेषं प्राग्वत् । उपेक्षणीयस्य त्विहानभिधानं नयस्य कस्यचिन्मतेनानभिप्रेत एव तस्यान्तर्भावादिति गाथार्थः ॥ ४४ ॥ उक्तोऽभिप्रेतानभिप्रेतभेदरूप इतरेतरसंयोगः, साम्प्रतममुमेवाभिलापविषयमाह—

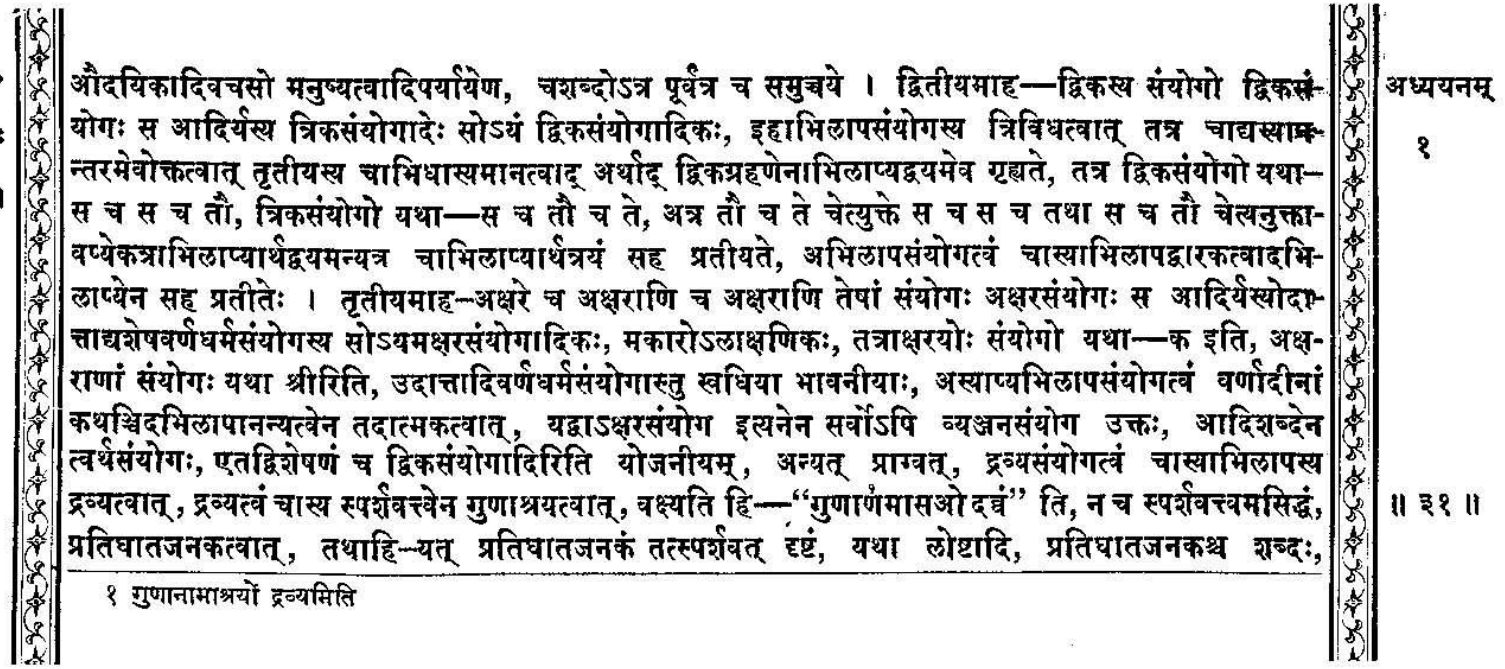
अभिलावे संजोगो दव्वे खित्ते अ कालभावे अ । दुगसंजोगाईओ अक्खरसंजोगमाईओ ॥ ४५ ॥

व्याख्या—'अभिलापः' उक्तस्वरूपः, तद्विषयः 'संयोगः' प्रक्रमादभिलापेतरेतरसंयोगः, अयं च त्रिधा सम्भवति, तत्रैकोऽभिलाप्यस्याभिलाप्येन द्वितीयोऽभिलाप्यस्याभिलाप्यान्तरेण तृतीयो वर्णस्य वर्णान्तरेण । तत्राद्योऽभिलाप्यस्य द्रव्यादिभेदेन चतुर्विधत्वात् 'द्रव्ये' इति द्रव्यविषयः, स चार्थाद् घटादिशब्दस्य पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतद्रव्येण वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धः, एवं 'क्षेत्रे च' क्षेत्रविषयः, आकाशध्वनेरवगाहदानलक्षणक्षेत्रेण 'कालभावे' इति समाहारद्वन्द्वः, ततः 'काले' कालविषयः समयादिश्रुतेर्वर्तनादिव्यङ्ग्येन कालपदार्थेन, 'भावे च' भावविषय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ ३१ ॥

औदयिकादिवचसो मनुष्यत्वादिपर्यायेण, चशब्दोऽत्र पूर्वत्र च समुच्चये । द्वितीयमाह—द्विकस्य संयोगो द्विकसंयोगः स आदिर्यस्य त्रिकसंयोगादेः सोऽयं द्विकसंयोगादिकः, इहाभिलापसंयोगस्य त्रिविधत्वात् तत्र चाद्यस्यानन्तरमेवोक्तत्वात् तृतीयस्य चाभिधास्यमानत्वाद् अर्थाद् द्विकग्रहणेनाभिलाप्यद्वयमेव गृह्यते, तत्र द्विकसंयोगो यथा—स च स च तौ, त्रिकसंयोगो यथा—स च तौ च ते, अत्र तौ च ते चेत्युक्ते स च स च तथा स च तौ चेत्यनुक्तावप्येकत्राभिलाप्यार्थद्वयमन्यत्र चाभिलाप्यार्थत्रयं सह प्रतीयते, अभिलापसंयोगत्वं चास्याभिलापद्वारकत्वादभिलाप्येन सह प्रतीतेः । तृतीयमाह—अक्षरे च अक्षराणि च अक्षराणि तेषां संयोगः अक्षरसंयोगः स आदिर्यस्योदात्ताद्यशेषवर्णधर्मसंयोगस्य सोऽयमक्षरसंयोगादिकः, मकारोऽलाक्षणिकः, तत्राक्षरयोः संयोगो यथा—क इति, अक्षराणां संयोगः यथा श्रीरिति, उदात्तादिवर्णधर्मसंयोगास्तु स्वधिया भावनीयाः, अस्याप्यभिलापसंयोगत्वं वर्णादीनां कथञ्चिदभिलापानन्यत्वेन तदात्मकत्वात्, यद्वाऽक्षरसंयोग इत्यनेन सर्वोऽपि व्यञ्जनसंयोग उक्तः, आदिशब्देन त्वर्थसंयोगः, एतद्विशेषणं च द्विकसंयोगादिरिति योजनीयम्, अन्यत् प्राग्वत्, द्रव्यसंयोगत्वं चास्याभिलापस्य द्रव्यत्वात्, द्रव्यत्वं चास्य स्पर्शवत्त्वेन गुणाश्रयत्वात्, वक्ष्यति हि—"गुणाणमासओ दव्वं" [१] ति, न च स्पर्शवत्त्वमसिद्धं, प्रतिघातजनकत्वात्, तथाहि—यत् प्रतिघातजनकं तत्स्पर्शवत् दृष्टं, यथा लोष्टादि, प्रतिघातजनकश्च शब्दः,

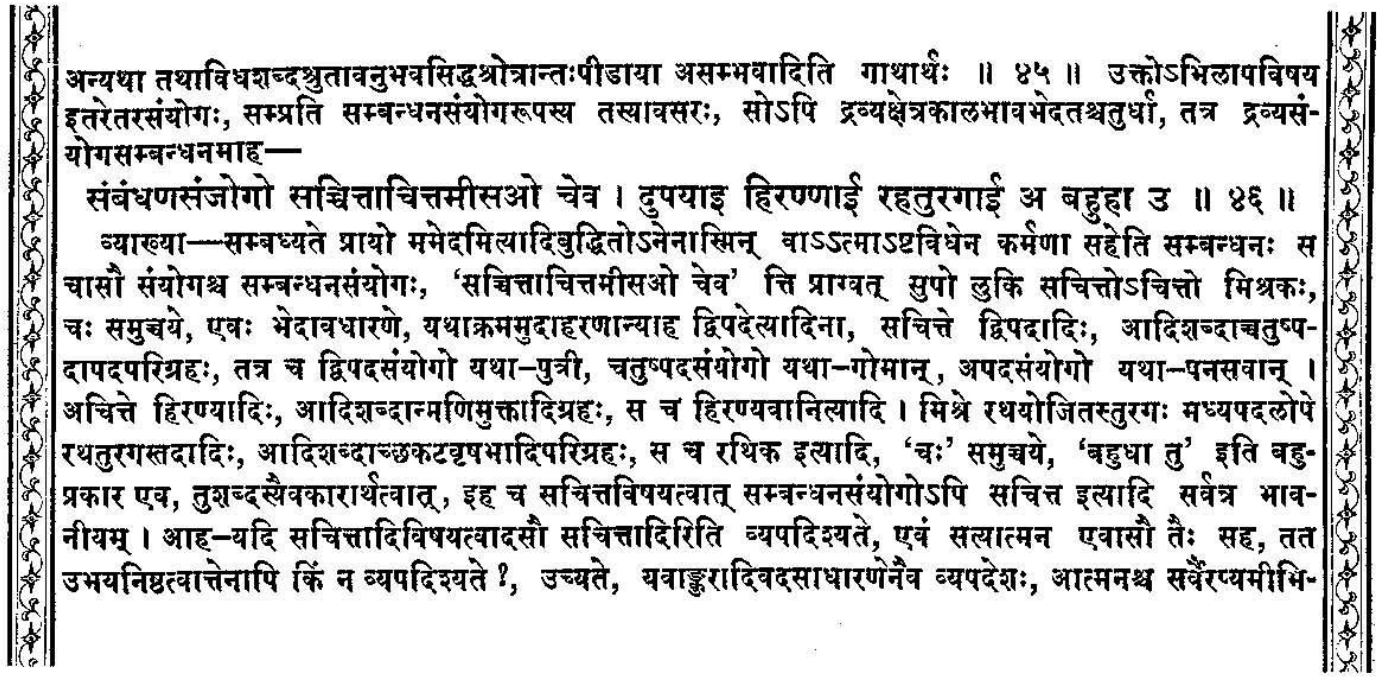
१ गुणानामाश्रयो द्रव्यमिति

अध्ययनम् १ ॥ ३१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



अन्यथा तथाविधशब्दश्रुतावनुभवसिद्धश्रोत्रान्तःपीडाया असम्भवादिति गाथार्थः ॥ ४५ ॥ उक्तोऽभिलापविषय इतरेतरसंयोगः, सम्प्रति सम्बन्धनसंयोगरूपस्य तस्यावसरः, सोऽपि द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदतश्चतुर्धा, तत्र द्रव्यसंयोगसम्बन्धनमाह—

संबंधणसंजोगो सचित्ताचित्तमीसओ चेव । दुपयाइ हिरण्णाई रहतुरगाई अ बहुहा उ ॥ ४६ ॥

व्याख्या—सम्बध्यते प्रायो ममेदमित्यादिबुद्धितोऽनेनास्मिन् वाऽऽत्माऽष्टविधेन कर्मणा सहेति सम्बन्धनः स चासौ संयोगश्च सम्बन्धनसंयोगः, 'सचित्ताचित्तमीसओ चेव' त्ति प्राग्वत् सुपो लुकि सचित्तोऽचित्तो मिश्रकः, चः समुच्चये, एवः भेदावधारणे, यथाक्रममुदाहरणान्याह द्विपदेत्यादिना, सचित्ते द्विपदादिः, आदिशब्दाच्चतुष्पदापदपरिग्रहः, तत्र च द्विपदसंयोगो यथा–पुत्री, चतुष्पदसंयोगो यथा–गोमान्, अपदसंयोगो यथा–पनसवान् । अचित्ते हिरण्यादिः, आदिशब्दान्मणिमुक्तादिग्रहः, स च हिरण्यवानित्यादि । मिश्रे रथयोजितस्तुरगः मध्यपदलोपे रथतुरगस्तदादिः, आदिशब्दाच्छकटवृषभादिपरिग्रहः, स च रथिक इत्यादि, 'चः' समुच्चये, 'बहुधा तु' इति बहुप्रकार एव, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात्, इह च सचित्तविषयत्वात् सम्बन्धनसंयोगोऽपि सचित्त इत्यादि सर्वत्र भावनीयम् । आह–यदि सचित्तादिविषयत्वादसौ सचित्तादिरिति व्यपदिश्यते, एवं सत्यात्मन एवासौ तैः सह, तत उभयनिष्ठत्वात्तेनापि किं न व्यपदिश्यते ?, उच्यते, यवाङ्कुरादिवदसाधारणेनैव व्यपदेशः, आत्मनश्च सर्वैरप्यमीभि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

रसाविति तस्य साधारणत्वान्न तेनेह व्यपदेशः पृथिव्यादिभिरिवाङ्कुरस्येति न दोषः, एवमुत्तरत्रापि, इति गाथार्थः ॥ ४६ ॥ अमुमेव क्षेत्रकालभावविषयमभिधित्सुराह—

खेत्ते काले य तहा दुण्हवि दुविहो उ होइ संजोगो। भावंमि होइ दुविहो आएसे चेवऽणाएसे ॥ ४७ ॥

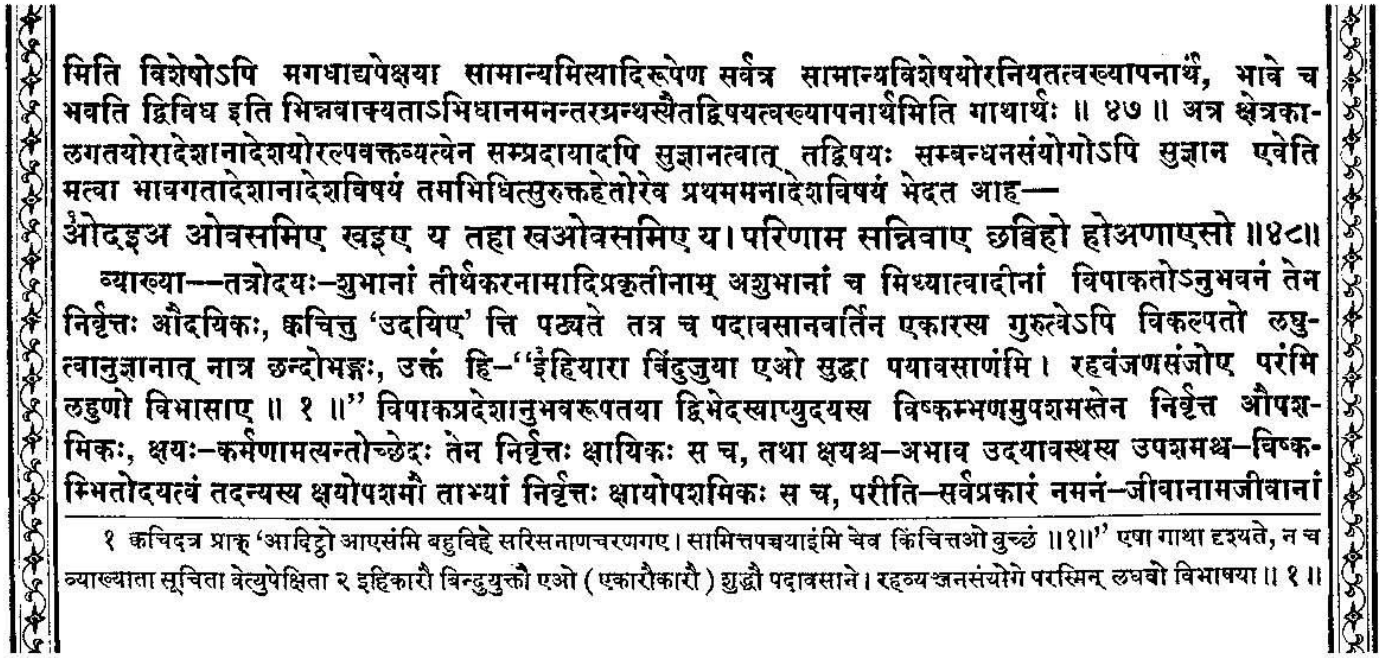
व्याख्या—'क्षेत्रे' क्षेत्रविषयः, 'काले च' कालविषयश्च 'तथा' इति तेनागमप्रसिद्धप्रकारेण 'द्वयोरपि' इत्यनयोरेव क्षेत्रकालयोः 'द्विविधः' द्विभेदः, चशब्दो भावम्मि इत्यत्र योक्ष्यते, भवति संयोगः प्रक्रमात् सम्बन्धनसंयोगः, न च क्षेत्रे काले इत्युक्ते द्वयोरपीति पौनरुक्त्याद् दुष्टं, लोकेऽपि हस्तिन्यश्वे च द्वयोरपि राज्ञो दृष्टिरित्येवंविधप्रयोगदर्शनाद्, 'भावे च' भावविषयश्च, संयोग इति संटङ्कः, भवति द्विविधः, कथं क्षेत्रादिद्वैविध्यमित्याह—'आएसे चेवऽणाएसे' त्ति आङिति मर्यादया–विशेषरूपानतिक्रमात्मिकया दिश्यते–कथ्यत इति आदेशो–विशेषस्तस्मिन्, तदन्यस्त्वनादेशः–सामान्यं, पूर्वत्र चैवशब्दयोः समुच्चयावधारणार्थयोर्भिन्नक्रमत्वात्तस्मिंश्चैव, तत्र क्षेत्रविषयोऽनादेशे यथा–जम्बूद्वीपजोऽयम्, आदेशे तु यथा–भारतोऽयं, कालविषयोऽनादेशे यथा–दौष्पमिकोऽयम्, आदेशे तु–वासन्तिकोऽयं, भावविषयोऽनादेशे भाववानयम्, आदेशे त्वौदयिकादिभाववानिति । सामान्यावगमपूर्वकत्वाद्विशेषावगमस्यैवमुदाहियते, निर्युक्तौ तु विपर्ययाभिधानं जम्बूद्वीप इति सामान्यमपि लोकापेक्षया विशेषो भरत-

१ अस्मदुक्तानादेशादेशक्रमाद्विपर्ययेण आदेशानादेशेतिक्रमेण.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



मिति विशेषोऽपि मगधाद्यपेक्षया सामान्यमित्यादिरूपेण सर्वत्र सामान्यविशेषयोरनियतत्वख्यापनार्थं, भावे च भवति द्विविध इति भिन्नवाक्यताऽभिधानमनन्तरग्रन्थस्यैतद्विषयत्वख्यापनार्थमिति गाथार्थः ॥ ४७ ॥ अत्र क्षेत्रकालगतयोरादेशानादेशयोरल्पवक्तव्यत्वेन सम्प्रदायादपि सुज्ञानत्वात् तद्विषयः सम्बन्धनसंयोगोऽपि सुज्ञान एवेति मत्वा भावगतादेशानादेशविषयं तमभिधित्सुरुक्तहेतोरेव प्रथममनादेशविषयं भेदत आह—

ओदइअ ओवसमिए खइए य तहा खओवसमिए य। परिणाम सन्निवाए छव्विहो होअणाएसो ॥४८॥

व्याख्या—तत्रोदयः–शुभानां तीर्थकरनामादिप्रकृतीनाम् अशुभानां च मिथ्यात्वादीनां विपाकतोऽनुभवनं तेन निर्वृत्तः औदयिकः, क्वचित्तु 'उदयिए' त्ति पठ्यते तत्र च पदावसानवर्तिन एकारस्य गुरुत्वेऽपि विकल्पतो लघुत्वानुज्ञानात् नात्र छन्दोभङ्गः, उक्तं हि–"इहियारा बिंदुजुया एओ सुद्धा पयावसाणंमि। रहवंजणसंजोए परंमि लहुणो विभासाए ॥ १ ॥" विपाकप्रदेशानुभवरूपतया द्विभेदस्याप्युदयस्य विष्कम्भणमुपशमस्तेन निर्वृत्त औपशमिकः, क्षयः–कर्मणामत्यन्तोच्छेदः तेन निर्वृत्तः क्षायिकः स च, तथा क्षयश्च–अभाव उदयावस्थस्य उपशमश्च–विष्कम्भितोदयत्वं तदन्यस्य क्षयोपशमौ ताभ्यां निर्वृत्तः क्षायोपशमिकः स च, परीति–सर्वप्रकारं नमनं–जीवानामजीवानां

१ क्वचिदत्र प्राक् 'आदिट्ठो आएसंमि बहुविहे सरिसनाणचरणगए। सामित्तपच्चयाइंमि चेव किंचित्तओ वुच्छं ॥१॥" एषा गाथा दृश्यते, न च व्याख्याता सूचिता वेत्युपेक्षिता २ इहिकारौ बिन्दुयुक्तौ एओ (एकारौकारौ) शुद्धौ पदावसाने। रहव्यञ्जनसंयोगे परस्मिन् लघवो विभाषया ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

च जीवत्वादिस्वरूपानुभवनं प्रति प्रह्वीभवनं परिणामः, 'एदोद्रलोपा विसर्जनीयस्ये' ति विसर्गलोपः, 'स' मिति संहतरूपतया नीति–नियतं पतनं–गमनं, कोऽर्थः ?–एकत्र वर्तनं, सन्निपातः–औदयिकादिभावानामेव द्व्यादिसंयोगः, 'चः' सर्वत्र समुच्चये, इत्थं षड् विधाः–प्रकारा अस्येति षड्विधो भवति 'अनादेशः' सामान्यं, सामान्यत्वं चौदयिकादीनां गतिकषायादिविशेषेष्वनुवृत्तिधर्मकत्वाद्, अनादेशस्य षड्विधत्वे तद्विषयः संयोगोऽपि षड्विध इत्युक्तं भवति इति गाथार्थः ॥ ४८ ॥ इदानीमादेशविषयं तमेव भेदत आह—

आएसो पुण दुविहो अप्पिअवववहारऽणप्पिओ चेव । इक्किक्को पुण तिविहो अत्ताण परे तदुभए य ॥४९॥

व्याख्या—'आदेशः' अभिहितरूपः, पुनःशब्दो विशेषणे, 'द्विविधः' द्विभेदः, कथमित्याह—'अप्पिअववहारऽणप्पिओ चेव' त्ति व्यवहारशब्दोऽत्र डमरुकमणिन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते, ततश्चार्पित इति व्यवहारो यस्मिन् सोऽयमर्पितव्यवहारः, मयूरव्यंसकादित्वात् समासः, अनर्पितव्यवहारस्तु तद्विपरीतः, तत्रार्पितो नाम क्षायिकादिर्भावः स्वाधारे भाववति ज्ञाताऽयमित्यादिरूपेण ज्ञानमस्येत्यादिरूपेण वा वचनव्यापारेण वक्त्रा स्थापितः, अनर्पितस्तु वस्तुनः साधारणत्वेऽपि निराधार एव प्ररूपणार्थं विवक्षितो यथा–सर्वभावप्रधानः क्षायिको भावः। अनयोरपि भेदानाह–'एकैकः' इत्यर्पितव्यवहारः अनर्पितव्यवहारश्च पुनस्त्रिविधः, कथमित्याह—'अत्ताण' त्ति आर्षत्वादात्मनि परस्मिन् तयोरात्मपरयोरुभयं तस्मिंश्च, विषयसप्तम्यश्चैताः, ततो विषयत्रैविध्येनानयोस्त्रैविध्यम्,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

इहाप्यादेशभेदाभिधानद्वारेण सम्बन्धनसंयोगस्य भेद उक्तो भवति, तत्र चानर्पितस्य प्ररूपणामात्रसत्त्वेऽप्यर्पित-प्रतिपक्षत्वेनैवात्रोपादानम्, अतो वस्तुतस्तस्यासत्त्वान्न तेन कस्यचित्संयोगसम्भव इति न तद्भेदेन संयोगभेदः, अर्पितस्य त्वात्मपरोभयार्पितभेदतस्त्रैविध्यात् तद्भेदेन त्रिविधः सम्बन्धनसंयोग इति गाथार्थः ॥ ४९ ॥ तत्राऽऽत्मा-ऽर्पितसम्बन्धनसंयोगमाह—

ओवसमिए य खइए खओवसमिए य पारिणामे अ। एसो चउव्विहो खलु नायव्वो अत्तसंजोगो ॥५०॥

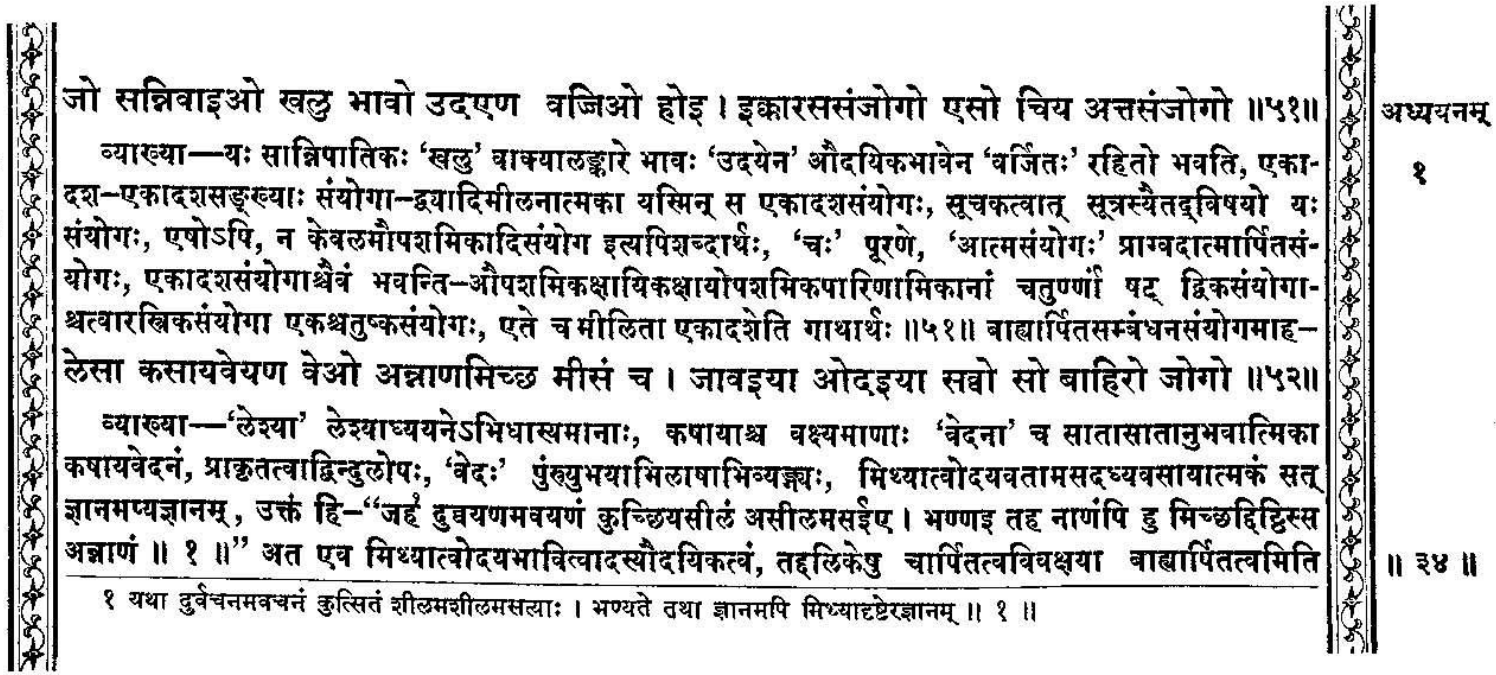
व्याख्या—औपशमिके चास्य भिन्नक्रमत्वात् क्षायिके च क्षायोपशमिके च सर्वत्र सम्यक्त्वादिरूपे जीवस्य(स्व)-भावे 'तथा' तेनागमोक्तप्रकारेण चास्यास्यापि भिन्नक्रमत्वात् परिणामे च जीवत्वाद्यात्मके च, सर्वत्र संयोग इति प्रक्रमः, पठ्यते च–'खओवसमिए य पारिणामे य' त्ति स्पष्टमेव, 'एषः' अनन्तरोक्त औपशमिकादिसंयोगः 'चतुर्विधः' चतुष्प्रकारः, 'खलु' निश्चितं 'ज्ञातव्यः' अवबोद्धव्यः, 'आत्मसंयोगः' इत्यात्मार्पितसम्बन्धनसंयोगः, अत्र ह्यात्मशब्देनार्पितभाव एव धर्मधर्मिणोः कथञ्चिदनन्यत्वादुक्तः, तथा च वृद्धाः–'[२]एए हि जीवमया भवंति, ए-एसु भावेसु जीवो नन्नो हवइ' तदात्मक इत्यर्थः, औपशमिकादिभावानां च प्रागनादेशतोक्तावप्यत्रादेशत्वेनाभि-धानं सम्यक्त्वादिविशेषनिष्ठत्वेन विवक्षितत्वाद् भावसामान्यापेक्षया वेति गाथार्थः ॥ ५० ॥ किञ्च—

१ तह य परिणामे इति पाठमपेक्ष्येयं व्याख्या. २ एते हि जीवमया भवन्ति, एतेभ्यो भावेभ्यो जीवो नान्यो भवतीति.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ ३४ ॥

जो सन्निवाइओ खलु भावो उदएण वज्जिओ होइ । इक्कारससंजोगो एसो चिय अत्तसंजोगो ॥५१॥

व्याख्या—यः सान्निपातिकः 'खलु' वाक्यालङ्कारे भावः 'उदयेन' औदयिकभावेन 'वर्जितः' रहितो भवति, एकादश–एकादशसङ्ख्याः संयोगा–द्व्यादिमीलनात्मका यस्मिन् स एकादशसंयोगः, सूचकत्वात् सूत्रस्यैतद्विषयो यः संयोगः, एषोऽपि, न केवलमौपशमिकादिसंयोग इत्यपिशब्दार्थः, 'चः' पूरणे, 'आत्मसंयोगः' प्राग्वदात्मार्पितसंयोगः, एकादशसंयोगाश्चैवं भवन्ति–औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकानां चतुर्णां षट् द्विकसंयोगाश्चत्वारस्त्रिकसंयोगा एकश्चतुष्कसंयोगः, एते च मीलिता एकादशेति गाथार्थः ॥५१॥ बाह्यार्पितसम्बंधनसंयोगमाह–

लेसा कसायवेयण वेओ अन्नाणमिच्छ मीसं च । जावइया ओदइया सव्वो सो बाहिरो जोगो ॥५२॥

व्याख्या—'लेश्या' लेश्याध्ययनेऽभिधास्यमानाः, कषायाश्च वक्ष्यमाणाः 'वेदना' च सातासातानुभवात्मिका कषायवेदनं, प्राकृतत्वाद्विन्दुलोपः, 'वेदः' पुंस्युभयाभिलाषाभिव्यङ्ग्यः, मिथ्यात्वोदयवतामसदध्यवसायात्मकं सत् ज्ञानमप्यज्ञानम्, उक्तं हि–"जह दुवयणमवयणं कुच्छियसीलं असीलमसईए । भण्णइ तह नाणंपि हु मिच्छद्दिट्ठिस्स अन्नाणं ॥ १ ॥" अत एव मिथ्यात्वोदयभावित्वादस्यौदयिकत्वं, तद्दलिकेषु चार्पितत्वविवक्षया बाह्यार्पितत्वमिति

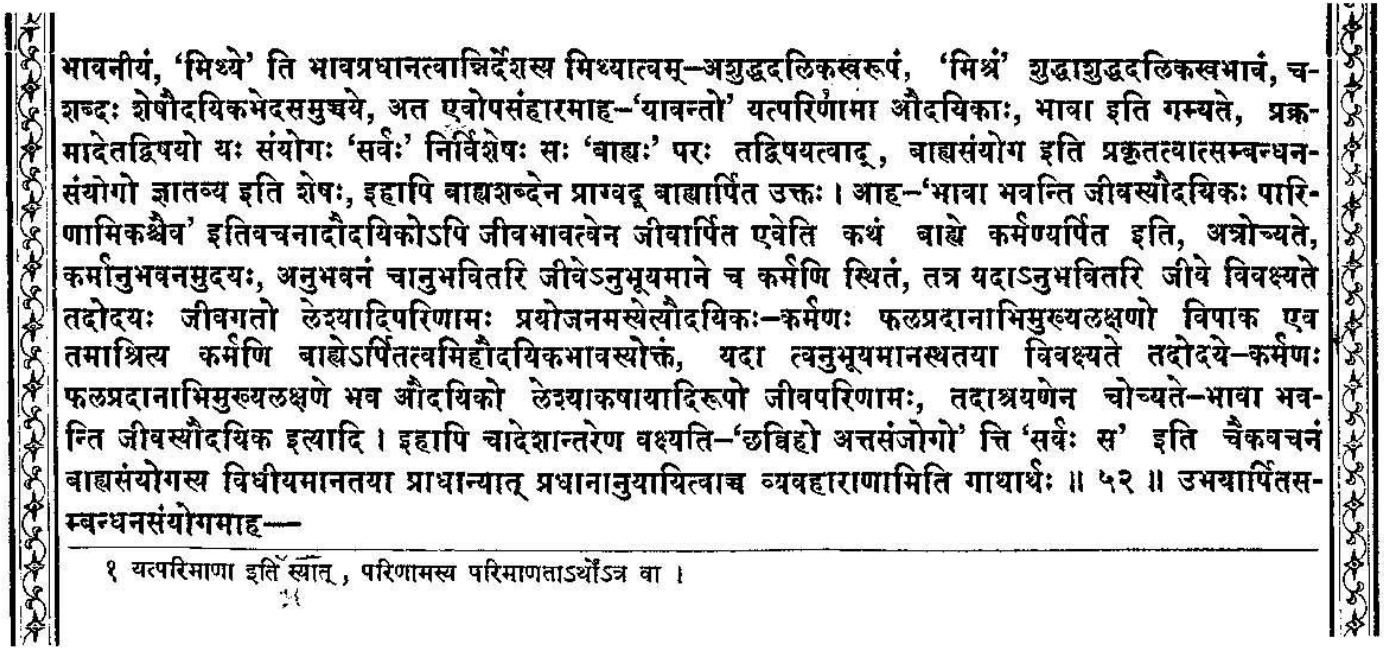
१ यथा दुर्वचनमवचनं कुत्सितं शीलमशीलमसत्याः । भण्यते तथा ज्ञानमपि मिथ्यादृष्टेरज्ञानम् ॥ १ ॥

अध्ययनम् १ ॥ ३४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



भावनीयं, 'मिथ्ये' ति भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य मिथ्यात्वम्–अशुद्धदलिकस्वरूपं, 'मिश्रं' शुद्धाशुद्धदलिकस्वभावं, च-शब्दः शेषौदयिकभेदसमुच्चये, अत एवोपसंहारमाह–'यावन्तो' यत्परिणामा औदयिकाः, भावा इति गम्यते, प्रक्र-मादेतद्विषयो यः संयोगः 'सर्वैः' निर्विशेषः सः 'बाह्यः' परः तद्विषयत्वाद्, बाह्यसंयोग इति प्रकृतत्वात्सम्बन्धन-संयोगो ज्ञातव्य इति शेषः, इहापि बाह्यशब्देन प्राग्वद् बाह्यार्पित उक्तः। आह–'भावा भवन्ति जीवस्यौदयिकः पारि-णामिकश्चैव' इतिवचनादौदयिकोऽपि जीवभावत्वेन जीवार्पित एवेति कथं बाह्ये कर्मण्यर्पित इति, अत्रोच्यते, कर्मानुभवनमुदयः, अनुभवनं चानुभवितरि जीवेऽनुभूयमाने च कर्मणि स्थितं, तत्र यदाऽनुभवितरि जीवे विवक्ष्यते तदोदयः जीवगतो लेश्यादिपरिणामः प्रयोजनमस्येत्यौदयिकः–कर्मणः फलप्रदानाभिमुख्यलक्षणो विपाक एव तमाश्रित्य कर्मणि बाह्येऽर्पितत्वमिहौदयिकभावस्योक्तं, यदा त्वनुभूयमानस्थतया विवक्ष्यते तदोदये–कर्मणः फलप्रदानाभिमुख्यलक्षणे भव औदयिको लेश्याकषायादिरूपो जीवपरिणामः, तदाश्रयणेन चोच्यते–भावा भव-न्ति जीवस्यौदयिक इत्यादि। इहापि चादेशान्तरेण वक्ष्यति–'छव्विहो अत्तसंजोगो' त्ति 'सर्वैः स' इति चैकवचनं बाह्यसंयोगस्य विधीयमानतया प्राधान्यात् प्रधानानुयायित्वाच्च व्यवहाराणामिति गाथार्थः ॥ ५२ ॥ उभयार्पितस-म्बन्धनसंयोगमाह—

१ यत्परिमाणा इति स्यात्, परिणामस्य परिमाणताऽर्थोऽत्र वा ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

जो सन्निवाइओ खलु भावो उदएण मीसिओ होइ । पन्नारससंजोगो सव्वो सो मीसिओ जोगो ॥५३॥

व्याख्या—यः सान्निपातिकः खलु भावः 'उदयेन' औदयिकभावेन 'मिश्रितः' संयुतो भवति, कियत्सङ्ख्य इत्याह–पञ्चदश संयोगा अस्मिन्निति पञ्चदशसंयोगः सर्वः सः, किमित्याह–आत्मकर्मणोर्मिश्रत्वात्तदर्पितभावा अप्यौदयिकसहितौपशमिकादयो मिश्राः, ततस्तद्विषयत्वात्संयोगोऽपि मिश्रः, स एव मिश्रको योगः, प्रक्रमात् सम्बन्धनसंयोगो ज्ञेय इति शेषः, ते च पञ्चदश संयोगा औदयिकममुञ्चता औपशमिकादिपञ्चकस्य द्विकत्रिकचतुष्कपञ्चकसंयोगतः कार्याः, तत्र चत्वारो द्विकसंयोगाः षट् त्रिकसंयोगाश्चत्वारश्चतुष्कसंयोगा एकः पञ्चकसंयोग एते च मीलिताः पञ्चदश, भावना तु वक्ष्यमाणेति गाथार्थः ॥ ५३ ॥ पुनरात्मसंयोगादीनेव प्रकारान्तरेणाभिधित्सुः प्रस्तावनामाह—

बीओऽवि य आएसो अत्ताणे बाहिरे तदुभए य । संजोगो खलु भणिओ तं कित्तेऽहं समासेणं ॥५४॥

व्याख्या—द्वितीयोऽपि च न केवलमेक एव इत्यपि शब्दार्थः, चः पूरणे, 'आदेशः' प्रकारः, प्रस्तावात् प्ररूपणीयः, कीदृश इत्याह–आत्मनि बाह्ये तदुभयस्मिंश्च, संयोग इति सम्बन्धनसंयोगः, 'खलु' निश्चितं 'भणित' उक्तो, गणधरादिभिरिति गम्यते, अनेन च गुरुपारतन्त्र्यमाविष्करोति, 'तम्' इति द्वितीयमादेशं 'कीर्तये' संशब्दये' 'वर्त-

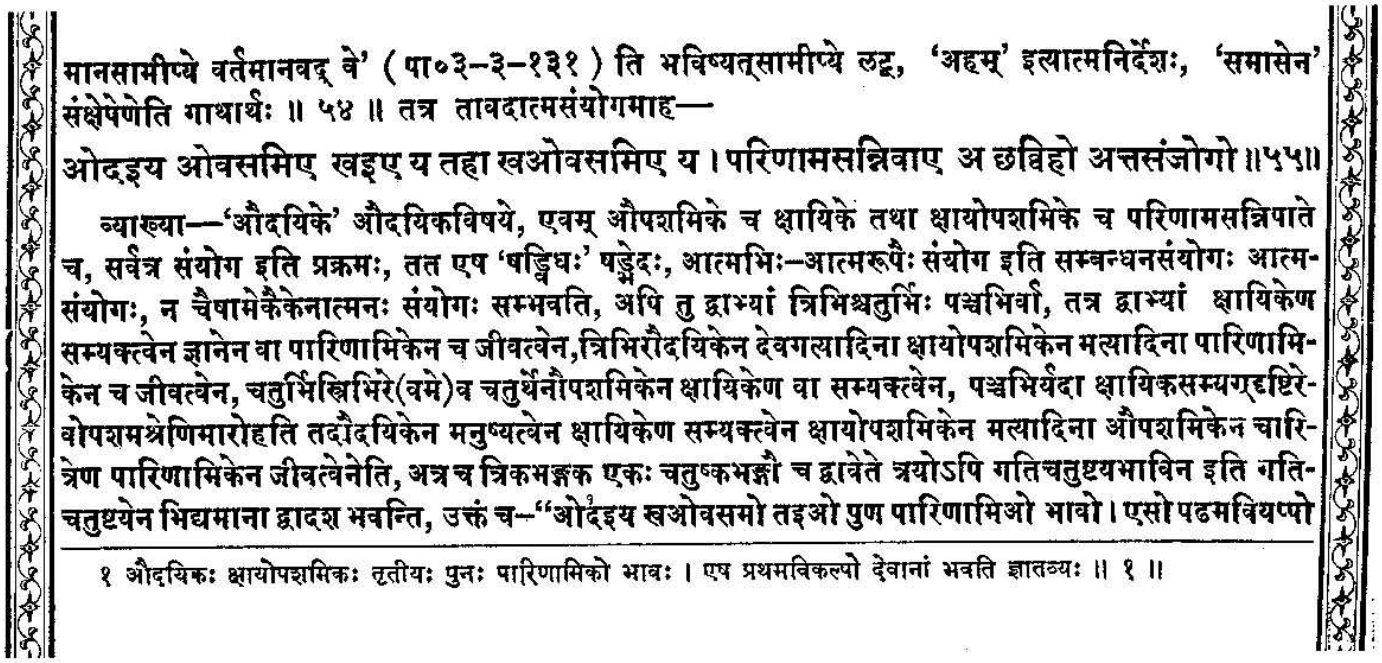
१ चान्द्रमतेन णिज उभयपदभावात् आत्मनेपदम् ।

॥ ३५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



मानसामीप्ये वर्तमानवद् वे' (पा०३–३–१३१) ति भविष्यत्सामीप्ये लट्, 'अहम्' इत्यात्मनिर्देशः, 'समासेन' संक्षेपेणेति गाथार्थः ॥ ५४ ॥ तत्र तावदात्मसंयोगमाह—

ओदइय ओवसमिए खइए य तहा खओवसमिए य। परिणामसन्निवाए अ छविहो अत्तसंजोगो ॥५५॥

व्याख्या—'औदयिके' औदयिकविषये, एवम् औपशमिके च क्षायिके तथा क्षायोपशमिके च परिणामसन्निपाते च, सर्वत्र संयोग इति प्रक्रमः, तत एष 'षड्विधः' षड्भेदः, आत्मभिः–आत्मरूपैः संयोग इति सम्बन्धनसंयोगः आत्मसंयोगः, न चैषामेकैकेनात्मनः संयोगः सम्भवति, अपि तु द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिः पञ्चभिर्वा, तत्र द्वाभ्यां क्षायिकेण सम्यक्त्वेन ज्ञानेन वा पारिणामिकेन च जीवत्वेन, त्रिभिरौदयिकेन देवगत्यादिना क्षायोपशमिकेन मत्यादिना पारिणामिकेन च जीवत्वेन, चतुर्भिस्त्रिभिरे(वमे)व चतुर्थेनौपशमिकेन क्षायिकेण वा सम्यक्त्वेन, पञ्चभिर्यदा क्षायिकसम्यग्दृष्टिरेवोपशमश्रेणिमारोहति तदौदयिकेन मनुष्यत्वेन क्षायिकेण सम्यक्त्वेन क्षायोपशमिकेन मत्यादिना औपशमिकेन चारित्रेण पारिणामिकेन जीवत्वेनेति, अत्र च त्रिकभङ्गक एकः चतुष्कभङ्गौ च द्वावेते त्रयोऽपि गतिचतुष्टयभाविन इति गतिचतुष्टयेन भिद्यमाना द्वादश भवन्ति, उक्तं च–"ओदइय खओवसमो तइओ पुण पारिणामिओ भावो। एसो पढमविअप्पो

१ औदयिकः क्षायोपशमिकः तृतीयः पुनः पारिणामिको भावः। एष प्रथमविकल्पो देवानां भवति ज्ञातव्यः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

देवाणं होइ नायव्वो ॥ १ ॥ ओदइय खओवसमो ओवसमियपारिणामिओ बीओ । उदइयखइयपारिणामियखओवसमो भवे तइओ ॥२॥ एए चेव वियप्पा णरतिरिणरएसु हुंति बोद्धव्वा । एए सव्वे मिलिया बारस होंती भवे भेया ॥३॥" पञ्चभिर्मनुष्यस्यैव, तस्यैव तथोपशमश्रेण्यारम्भकत्वात्, तस्यामेव च तत्सम्भवात्, तथा चाह–"ओदइए ओवसमिए खओवसमिए खए य परिणामे । उवसमसेढिगयस्सा एस वियप्पो मुणेयव्वो ॥" अन्यथाऽपि च त्रिभिः सम्भवति, तद्यथा–औदयिकेन मनुष्यत्वेन क्षायिकेण ज्ञानेन पारिणामिकेन जीवत्वेन, अयं च केवलिनाम्, उक्तं हि–"उदइय-खइयप्परिणामिय भावा होंति केवलीणं तु" प्रागुक्तभावोभयेन च सिद्धानामेव, उक्तं हि–"खाइय तह परिणामा सिद्धाणं होंति नायव्वा" एवं चैते पञ्चकत्रिकद्विकसंयोगभङ्गास्त्रयः पूर्वे च द्वादशेति मीलिताः पञ्चदश सम्भवन्ति, एत एव चाविरुद्धसान्निपातिकभेदाः पञ्चदश तत्र तत्रोच्यन्ते, तथा चाहुः–"एएँ संजोएणं भावा पन्नरस होंति नायव्वा ।

१ औदयिकः क्षायोपशमिक औपशमिकः पारिणामिको द्वितीयः । औदयिकः क्षायिकः पारिणामिकः क्षायोपशमिको भवेत्तृतीयः ॥ २ ॥ एत एव विकल्पा नरतिर्यग्नरकेषु भवन्ति बोद्धव्याः । एते सर्वे मिलिता द्वादश भवन्ति भवे भेदाः ॥ ३ ॥ २ औदयिक औपशमिकः क्षायोपशमिकः क्षायिकश्च पारिणामिकः । उपशमश्रेणिगतस्यैष विकल्पो मुणितव्यः ॥ १ ॥ ३ औदयिकः क्षायिकः पारिणामिको भावा भवन्ति केवलिनामेव । ४ क्षायिकस्तथा पारिणामः सिद्धानां भवतो ज्ञातव्यौ । ५ एते संयोगेन भावाः पञ्चदश भवन्ति ज्ञातव्याः । केवलिसिद्धोपशमश्रेणिषु सर्वासु च गतिषु ॥ १ ॥

॥ ३६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

केवलिसिद्धुवसमसेढिएसु सवासु य गईसु ॥ १ ॥" आह–एवं सान्निपातिकेनैवात्मनः सदा संयोगसम्भवात् कथं षड्विधत्वमात्मसंयोगस्य ?, उच्यते, सहभावित्वेऽपि भावानां यदैकस्य प्राधान्यं विवक्ष्यते तदैकेनाप्यात्मसंयोगसम्भव इत्यदोष इति गाथार्थः ॥ ५५ ॥ बाह्यसम्बन्धनसंयोगमाह—

नामंमि अ खित्तंमि अ नायव्वो बाहिरो य(उ)संजोगो। कालेण बाहिरो खलु मीसोऽवि य तदुभए होइ॥५६॥

व्याख्या—'नाम्ना' वस्त्वभिधायिध्वनिस्वभावेन, चकारात् द्रव्येण क्षेत्रेण चाकाशदेशात्मकेन, प्राकृतत्वात् तृतीयार्थे सप्तमी, प्रकृतत्वात् संयोगः, किमित्याह–ज्ञातव्यः बाह्यविषयत्वाद् 'बाह्यः,' तुः पुनरर्थः 'संयोग' इति सम्बन्धनसंयोगः, 'कालेन' इति चास्य गम्यमानत्वात् कालेन च समयाऽऽवलिकादिना, तत एव संयोगो–बाह्य-सम्बन्धनसंयोगः 'खलु' निश्चितं, ज्ञातव्य इति योज्यम्, इदमिहैदम्पर्यम्–यः पुरुषादेर्देवदत्तादिनाम्ना सम्बन्धोऽयं देवदत्त इत्यादिः द्रव्येण च दण्डीत्यादिः क्षेत्रेणारण्यजो नगरज इत्यादि कालेन दिनजो रजनिज इत्यादि, स सर्वो नामादिभिर्बाह्यैरेवेति बाह्यः सम्बन्धनसंयोगः, भावेन तु संयोग आत्मसंयोगत्वेनोक्त एव, भवितुरनन्यत्वात् भावस्य, अन्यथा तस्याभावत्वप्रसङ्ग इतीह तस्यानभिधानं, तथा कालेन बाह्य इति च भिन्नवाक्यताकरणं केषाञ्चिन्मतेन कालस्यासत्त्वख्यापनार्थं, यद्वा नास्मिन् क्षेत्र इति च विषयसप्तम्येव, यो हि येन सह भवति स तद्विषय एवेतिकृत्वा । आह–नाम्नोऽप्यभिलापत्वात् तद्विषयोऽपि संयोगोऽभिलापसंयोगः, स चोक्त एवेति कथं न पौनरुक्त्यम् ?, उच्यते,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

अभिलापसामान्यविषयोऽभिलापसंयोगः, अयं तु सम्बन्धनसंयोगस्य प्रकृतत्वात् तस्य च सकषायजीवसम्बन्धित्वात्, वक्ष्यति हि–"संबंधणसंजोगो कसायबहुलस्स होइ जीवस्स" त्ति, कस्यचिन्नाम्न्यप्यभिष्वङ्गसम्भवादभिष्वङ्गहेत्वभिलापविषय एवेति न पौनरुक्त्यं, 'मीसोऽवि य' त्ति 'अपिः' पुनरर्थे, 'चः' पूरणे, ततो मिश्रविषयत्वान्मिश्रः संम्बन्धनसंयोगः पुनर्ज्ञातव्यः, यः कीदृगित्याह–'तदुभए' त्ति प्राग्वत्तदुभयेन–आत्मबाह्यलक्षणेन तदुभयस्मिन् वोक्तरूप एव भवति, यः संयोग इति शेषः, यथा–क्रोधी देवदत्तः क्रोधी कौन्तिको मानी सौराष्ट्रः क्रोधी वासन्तिकः, अत्र क्रोधादिभिरौदयिकभावान्तर्गतत्वेनात्मरूपैर्नामादिभिस्त्वात्मनोऽन्यत्वेन बाह्यरूपैः संयोग इत्युभयसम्बन्धनसंयोग उच्यते। नन्वेवं न कदाचिन्नामादिविकलैरौदयिकादिभिरौदयिकादिरहितैर्वा नामादिभिरात्मनः संयोग इति सर्वदोभयसम्बन्धनसंयोग एव प्राप्तः, सत्यमेतत्, किन्तु वक्तुरभिप्रायवैचित्र्यात्कदाचिदौदयिकादिभिः कदाचिन्नामादिभिः कदाचित्तदुभयेन संयोगविवक्षेति नात्मपरोभयसम्बन्धनसंयोगत्रयविरोध इति गाथार्थः ॥ ५६ ॥

प्रकारान्तरेण बाह्यसम्बन्धनसंयोगमाह—

आयरिय सीस पुत्तो पिया य जणणी य होइ धूया य। भज्जा पइ सीउण्हं तमुज्जछायाऽऽयवे चेव ॥ ५७ ॥

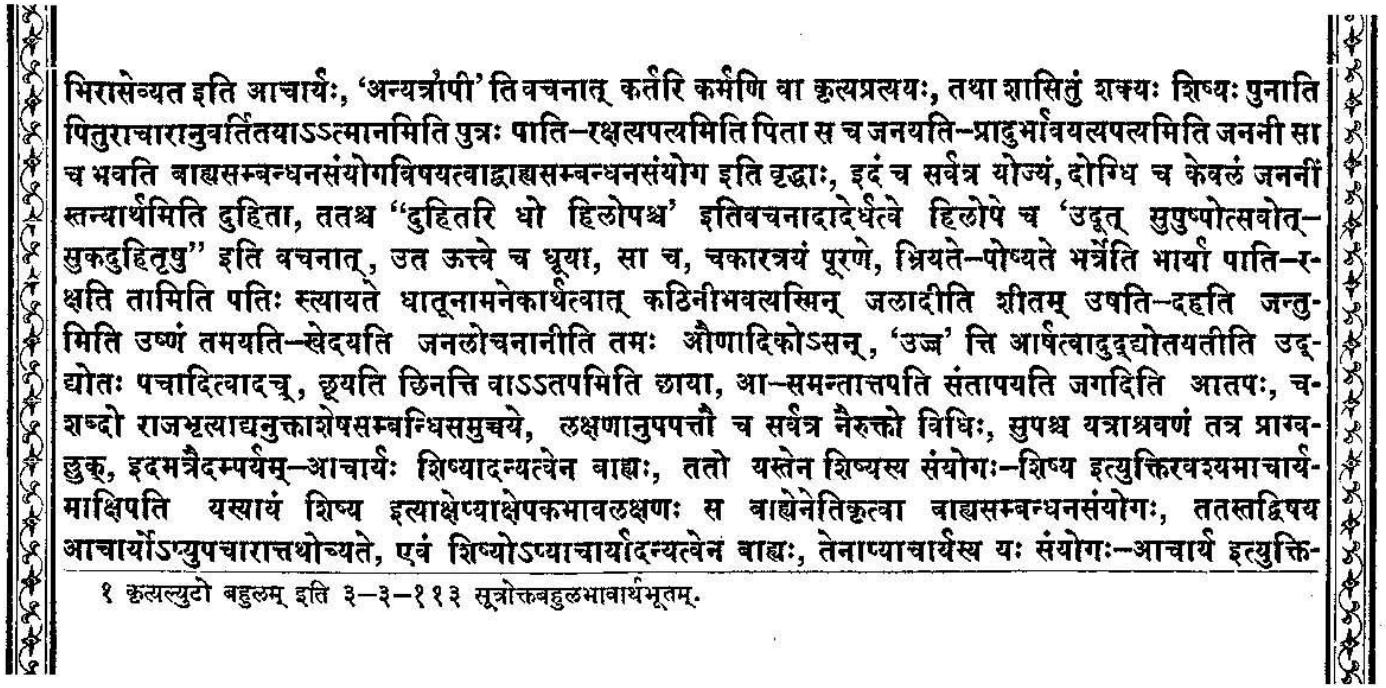
व्याख्या—आङित्यभिव्याप्त्या मर्यादया वा स्वयं पञ्चविधाचारं चरत्याचारयति वा परान् आचर्यते वा मुक्त्यर्थि-

॥ ३७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



भिरासेव्यत इति आचार्यः, 'अन्यत्रापी' ति वचनात् कर्तरि कर्मणि वा कृत्यप्रत्ययः, तथा शासितुं शक्यः शिष्यः पुनाति पितुराचारानुवर्तितयाऽऽत्मानमिति पुत्रः पाति–रक्षत्यपत्यमिति पिता स च जनयति–प्रादुर्भावयत्यपत्यमिति जननी सा च भवति बाह्यसम्बन्धनसंयोगविषयत्वाद्बाह्यसम्बन्धनसंयोग इति वृद्धाः, इदं च सर्वत्र योज्यं, दोग्धि च केवलं जननीं स्तन्यार्थमिति दुहिता, ततश्च "दुहितरि धो हिलोपश्च' इतिवचनादादेर्धत्वे हिलोपे च 'उदूत् सुपुष्पोत्सवोत्–सुकदुहितृषु" इति वचनात्, उत ऊत्त्वे च धूया, सा च, चकारत्रयं पूरणे, भ्रियते–पोष्यते भर्त्रेति भार्या पाति–रक्षति तामिति पतिः स्त्यायते धातूनामनेकार्थत्वात् कठिनीभवत्यस्मिन् जलादीति शीतम् उषति–दहति जन्तुमिति उष्णं तमयति–खेदयति जनलोचनानीति तमः औणादिकोऽसन्, 'उज्ज' त्ति आर्षत्वादुद्द्योतयतीति उद्द्योतः पचादित्वादच्, छृयति छिनत्ति वाऽऽतपमिति छाया, आ–समन्तात्तपति संतापयति जगदिति आतपः, चशब्दो राजभृत्याद्यनुक्ताशेषसम्बन्धिसमुच्चये, लक्षणानुपपत्तौ च सर्वत्र नैरुक्तो विधिः, सुपश्च यत्राश्रवणं तत्र प्राग्वद्भुक्, इदमत्रैदम्पर्यम्–आचार्यः शिष्यादन्यत्वेन बाह्यः, ततो यस्तेन शिष्यस्य संयोगः–शिष्य इत्युक्तिरवश्यमाचार्यमाक्षिपति यस्यायं शिष्य इत्याक्षेप्याक्षेपकभावलक्षणः स बाह्येनेतिकृत्वा बाह्यसम्बन्धनसंयोगः, ततस्तद्विषय आचार्योऽप्युपचारात्तथोच्यते, एवं शिष्योऽप्याचार्यादन्यत्वेन बाह्यः, तेनाप्याचार्यस्य यः संयोगः–आचार्य इत्युक्ति-

१ कृत्यल्युटो बहुलम् इति ३–३–११३ सूत्रोक्तबहुलभावार्थभूतम्.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

रवश्यं शिष्यमाक्षिपति यस्यायमाचार्य इत्याक्षेप्याक्षेपकभावरूपः सोऽपि बाह्येनेतिकृत्वा बाह्यसम्बन्धनसंयोगः, ततस्तद्विषयः शिष्योऽप्युपचारात् तथोच्यते, एवं पुत्रपित्रादिद्वयेष्वपि भावनीयं, सर्वत्र सामान्येन परस्पराक्षेप्याक्षेपकभावः सम्बन्धः, विशेषनिरूपणायां त्वाचार्यशिष्यभार्यापतीनामुपकार्योपकारकभावः पितृपुत्रजननीदुहितॄणां जन्यजनकभावः (ग्रं० १०००) शीतोष्णादीनां च विरोधः सम्बन्धः, अत एव च विशेषाद् द्रव्यसंयोगत्वेऽप्यस्य भेदेनोपादानमिति गाथार्थः ॥ ५७ ॥ सम्प्रति संयोगप्रक्रमेऽप्याचार्यशिष्यमूलत्वादनुयोगस्य तयोः स्वरूपमाह—

आयरिओ तारिसओ जारिसओ नवरि हुज्ज सो चेव। आयरियस्सवि सीसो सरिसो सव्वेहिवि गुणेहिं ५८

व्याख्या—आचार्यः 'तादृशः' तथाविधः, यादृशः क इत्याह–यादृशो 'नवर' मिति यदि परं भवेत् 'स चेव' त्ति चः पूरणे, स एव–आचार्य एव, किमुक्तं भवति ?–आचार्यस्याचार्य एवान्यः सदृशो भवति, न पुनरनाचार्यः, आचार्यगुणानामन्यत्राविद्यमानत्वात्, न ह्याचार्यादन्यः षट्त्रिंशत्सङ्ख्यगुणिगुणसमन्वित इहास्ति, तत्समन्वितत्वे त्वन्योऽपि तत्त्वत आचार्य एवेति। अथ क एते षट्त्रिंशद्गुणाः ?, उच्यन्ते, प्रत्येकं चतुष्प्रकारा अष्टौ गणिसम्पदो द्वात्रिंशत्, तत्र चाचारादिचतुर्विधविनयमीलनात् षट्त्रिंशद्भवन्ति, उक्तं च–"अट्ठविहा गणिसंपइ चउग्गुणा नवरि होंति बत्तीसा। विणओ य चउब्भेओ छत्तीस गुणा हवंतेए ॥ १ ॥" तत्राष्टौ गणिसम्पद इमाः—

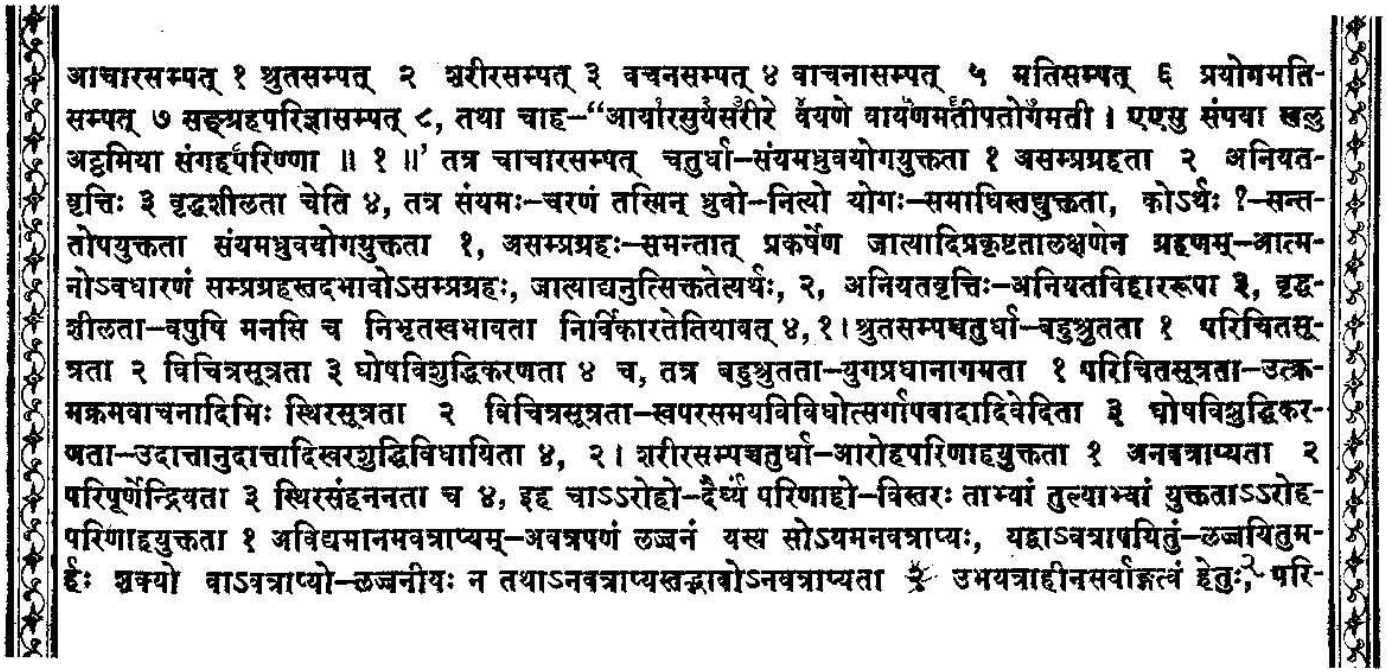
१ अष्टविधा गणिसंपत् चतुर्गुणा नवरं भवन्ति द्वात्रिंशत्। विनयश्च चतुर्भेदः षट्त्रिंशद्गुणा भवन्त्येते ॥ १ ॥

॥ ३८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



आचारसम्पत् १ श्रुतसम्पत् २ शरीरसम्पत् ३ वचनसम्पत् ४ वाचनासम्पत् ५ मतिसम्पत् ६ प्रयोगमति-
सम्पत् ७ सङ्ग्रहपरिज्ञासम्पत् ८, तथा चाह–"आयारसुयसरीरे वयणे वायणमतीपतोगमती । एएसु संपया खलु
अट्ठविया संगहपरिण्णा ॥ १ ॥' तत्र चाचारसम्पत् चतुर्धा–संयमध्रुवयोगयुक्तता १ असम्प्रग्रहता २ अनियत-
वृत्तिः ३ वृद्धशीलता चेति ४, तत्र संयमः–चरणं तस्मिन् ध्रुवो–नित्यो योगः–समाधिस्तद्युक्तता, कोऽर्थः ?–सन्त-
तोपयुक्तता संयमध्रुवयोगयुक्तता १, असम्प्रग्रहः–समन्तात् प्रकर्षेण जात्यादिप्रकृष्टतालक्षणेन ग्रहणम्–आत्म-
नोऽवधारणं सम्प्रग्रहस्तदभावोऽसम्प्रग्रहः, जात्याद्यनुत्सिक्ततेत्यर्थः, २, अनियतवृत्तिः–अनियतविहाररूपा ३, वृद्ध-
शीलता–वपुषि मनसि च निभृतस्वभावता निर्विकारतेतियावत् ४, १। श्रुतसम्पच्चतुर्धा–बहुश्रुतता १ परिचितसू-
त्रता २ विचित्रसूत्रता ३ घोषविशुद्धिकरणता ४ च, तत्र बहुश्रुतता–युगप्रधानागमता १ परिचितसूत्रता–उत्क-
मक्रमवाचनादिभिः स्थिरसूत्रता २ विचित्रसूत्रता–स्वपरसमयविविधोत्सर्गापवादादिवेदिता ३ घोषविशुद्धिकर-
णता–उदात्तानुदात्तादिस्वरशुद्धिविधायिता ४, २। शरीरसम्पच्चतुर्धा–आरोहपरिणाहयुक्तता १ अनवत्राप्यता २
परिपूर्णेन्द्रियता ३ स्थिरसंहननता च ४, इह चाऽऽरोहो–दैर्घ्यं परिणाहो–विस्तरः ताभ्यां तुल्याभ्यां युक्ताऽऽरोह-
परिणाहयुक्तता १ अविद्यमानमवत्राप्यम्–अवत्रपणं लज्जनं यस्य सोऽयमनवत्राप्यः, यद्वाऽवत्रापयितुं–लज्जयितुम-
र्हैः शक्यो वाऽवत्राप्यो–लज्जनीयः न तथाऽनवत्राप्यस्तद्भावोऽनवत्राप्यता २ उभयत्राहीनसर्वाङ्गत्वं हेतुः, परि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

पूर्णेन्द्रियता–अनुपहतचक्षुरादिकरणता ३ स्थिरसंहननता–तपःप्रभृतिषु शक्तियुक्तता ४, ३। वचनसम्पच्चतुर्भेदा–आदेयवचनता १ मधुरवचनता २ अनिश्रितवचनता ३ असन्दिग्धवचनता ४, तत्राऽऽदेयवचनता–सकलजनग्राह्यवाक्यता १, मधुरं रसवद् यदर्थतो विशिष्टार्थवत्तयाऽर्थावगाढत्वेन शब्दतश्चापरुषत्वसौख्यैर्यगाम्भीर्यादिगुणोपेतत्वेन श्रोतुराह्लादमुपजनयति तदेवंविधं वचनं यस्य स तथा तद्भावो मधुरवचनता २ अनिश्रितवचनता–रागाद्यकलुषितवचनता ३ असन्दिग्धवचनता–परिस्फुटवचनता ४, ४। वाचनासम्पच्चतुर्धा–विदित्वोद्देशनं १ विदित्वा समुद्देशनं २ परिनिर्वाप्य वाचना ३ अर्थनिर्यापणेति ४, तत्र विदित्वोद्देशने विदित्वा समुद्देशने ज्ञात्वा परिणामिकत्वादिगुणोपेतं शिष्यं यद् यस्य योग्यं तस्य तदेवोद्दिशति समुद्दिशति वा, अपरिणामिकादावपक्वघटनिहितजलोदाहरणतो दोषसम्भवात् २, परीति–सर्वप्रकारं निर्वापयतो निरो निर्दग्धादिषु भृशार्थस्यापि दर्शनात् भृशं गमयतः–पूर्वदत्तालापकादि सर्वात्मना स्वात्मनि परिणमयतः शिष्यस्य सूत्रगताशेषविशेषग्रहणकालं प्रतीक्ष्य शक्त्यनुरूपप्रदानेन प्रयोजकत्वमनुभूय परिनिर्वाप्य वाचना–सूत्रप्रदानं परिनिर्वाप्यवाचना ३, अर्थः–सूत्राभिधेयं वस्तु तस्य निरिति भृशं यापना–निर्वाहणा पूर्वापरसाङ्गत्येन स्वयं ज्ञानतोऽन्येषां च कथनतो निर्गमना निर्यापणा ४, ५। मतिसम्पत् अवग्रहेहापायधारणारूपा चतुर्धा, अवग्रहादयश्च तत्र तत्र प्रपञ्चिता एवेति न विव्रियन्ते ६। प्रयोगमतिसम्पच्चतुर्धा–आत्मपुरुषक्षेत्रवस्तुविज्ञानात्मिका, तत्राऽऽत्मज्ञानं–वादादिव्यापारकाले किमसुं प्रतिवादिनं जेतुं मम

॥ ३९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

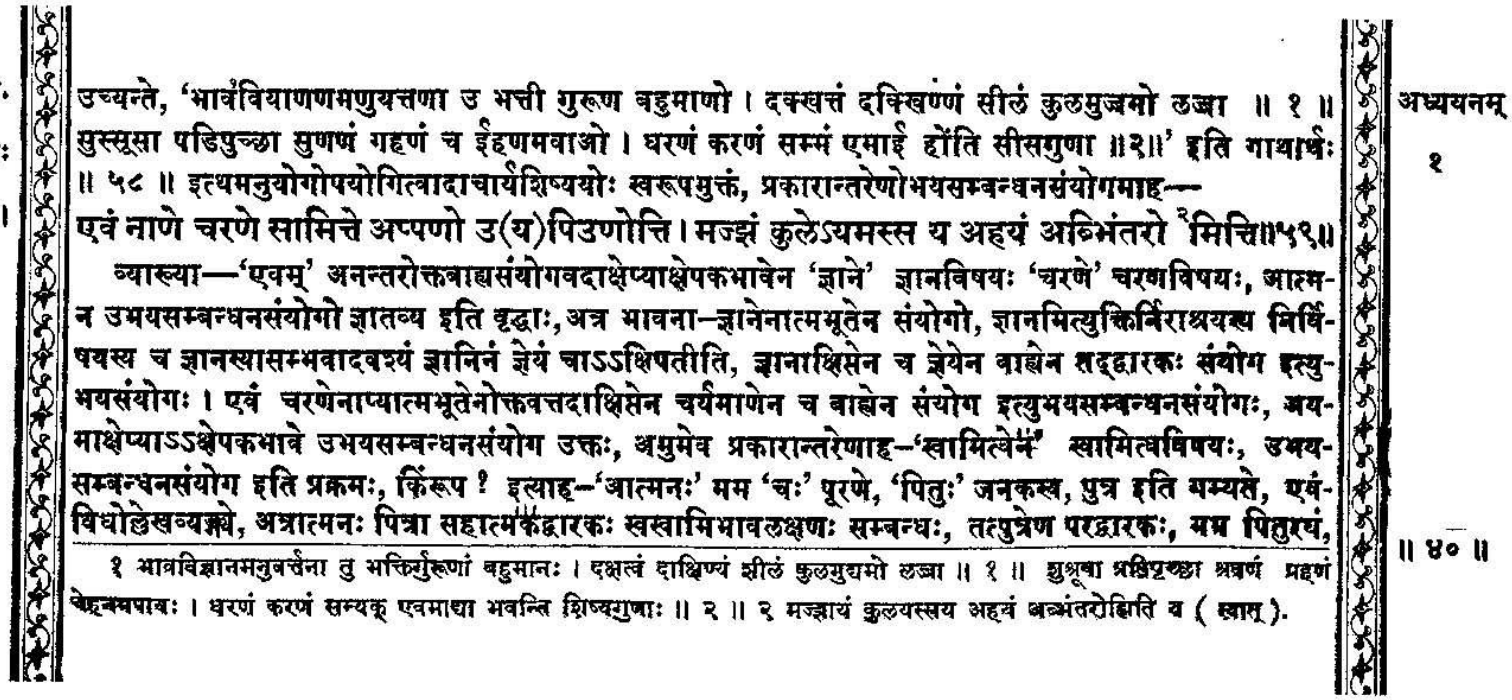
दीप अनुक्रम [१]

शक्तिरस्ति नवा ? इत्यालोचनं १, पुरुषज्ञानं–किमयं प्रतिवादी पुरुषः साङ्ख्यः सौगतोऽन्यो वा ?, तथा प्रतिभादिमानितरो वेति परिभावनं २, क्षेत्रज्ञानं–किमिदं मायाबहुलमन्यथा वा ? तथा साधुभिरभावितं भावितं वा नगरादीति विमर्शनं ३, वस्तुज्ञानं–किमिदं राजाऽमात्यादि सभासदादि वा वस्तु दारुणमदारुणं भद्रकमभद्रकं वेति निरूपणं ४,७। सङ्ग्रहपरिज्ञा तु बालदुर्बलग्लाननिर्वाहबहुजनयोग्यक्षेत्रग्रहणलक्षणैका १ निषद्यादिमालिन्यपरिहाराय फलकपीठोपादानाऽऽत्मिका द्वितीया २ यथासमयमेव स्वाध्यायोपधिसमुत्पादनप्रत्युपेक्षणभिक्षादिकरणात्मिका तृतीया ३ प्रव्राजकाध्यापकरत्नाधिकादिगुरूणामुपधिवहनविश्रामणसंपूजनाभ्युत्थानदण्डकोपादानादिरूपा चतुर्थीति ४ ,८। इत्युक्ता अष्टौ चतुर्गुणा आचारादिगणिसम्पदः, विनयस्तूत्तरत्राचार्यविनयप्रस्तावेऽभिधास्यते, इति गतं प्रासङ्गिकं, प्रकृतमुच्यते–तत्राऽऽचार्यस्य स्वरूपमभिहितं, शिष्यस्याह–आचार्यस्य, अपिर्भिन्नक्रमः, ततः शिष्योऽपि, न केवलमाचार्यस्यादृशो यादृशो नवरं स एवेति वचनादाचार्य इत्यपिशब्दार्थः, 'सदृशः' तुल्यः, सर्वैरपि न कतिपयैरेव, कैः ?–'गुणैः' साधारणैः क्षान्त्यादिभिरिति गम्यते, यद्वा लक्षणे तृतीया, ततः सर्वैरपि स्वगुणैर्लक्षितः शिष्य आचार्यस्य सदृश इति योज्यं, सादृश्यं च स्वगुणमाहात्म्यविभूतित उभयोरपि यथोक्तान्वर्थयुक्त(त्व)मेव, अथवाऽऽचार्यस्यापीति अपेरेवकारार्थत्वात् स्वगुणोपलक्षितः शिष्यः सदृश एव–अनुरूप एव, अनुरूपार्थस्यापि सदृशशब्दस्य दर्शनात्, यथाऽऽत्मसदृशं कुर्याः, कुलानुरूपमित्यर्थः, अननुरूपस्तु तत्त्वतोऽशिष्य एवेति भावः, अथ के अमी शिष्यगुणाः, ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ ४० ॥

उच्यन्ते, 'भावंवियाणणमणुयत्तणा उ भत्ती गुरूण बहुमाणो । दक्खत्तं दक्खिण्णं सीलं कुलमुज्जमो लज्जा ॥ १ ॥ सुस्सूसा पडिपुच्छा सुणणं गहणं च ईहणमवाओ । धरणं करणं सम्मं एमाई होंति सीसगुणा ॥२॥' इति गाथार्थः ॥ ५८ ॥ इत्थमनुयोगोपयोगित्वादाचार्यशिष्ययोः स्वरूपमुक्तं, प्रकारान्तरेणोभयसम्बन्धनसंयोगमाह—

एवं नाणे चरणे सामित्ते अप्पणो उ(य)पिउणोत्ति। मज्झं कुलेऽयमस्स य अहयं अब्भिंतरो [२]मित्ति॥५९॥

व्याख्या—'एवम्' अनन्तरोक्तबाह्यसंयोगवदाक्षेप्याक्षेपकभावेन 'ज्ञाने' ज्ञानविषयः 'चरणे' चरणविषयः, आत्मन उभयसम्बन्धनसंयोगो ज्ञातव्य इति वृद्धाः, अत्र भावना—ज्ञानेनात्मभूतेन संयोगो, ज्ञानमित्युक्तिर्निराश्रयस्य निर्विषयस्य च ज्ञानस्यासम्भवादवश्यं ज्ञानिनं ज्ञेयं चाऽऽक्षिपतीति, ज्ञानाक्षिप्तेन च ज्ञेयेन बाह्येन तद्द्वारकः संयोग इत्युभयसंयोगः। एवं चरणेनाप्यात्मभूतेनोक्तवत्तदाक्षिप्तेन चर्यमाणेन च बाह्येन संयोग इत्युभयसम्बन्धनसंयोगः, अयमाक्षेप्याऽऽक्षेपकभावे उभयसम्बन्धनसंयोग उक्तः, अमुमेव प्रकारान्तरेणाह—'स्वामित्वेन' स्वामित्वविषयः, उभयसम्बन्धनसंयोग इति प्रक्रमः, किंरूप ? इत्याह—'आत्मनः' मम 'चः' पूरणे, 'पितुः' जनकस्य, पुत्र इति गम्यते, एवंविधोल्लेखव्यक्षये, अत्रात्मनः पित्रा सहात्मकद्वारकः स्वस्वामिभावलक्षणः सम्बन्धः, तत्पुत्रेण परद्वारकः, मम पितुरयं,

१ भावविज्ञानमनुवर्त्तना तु भक्तिर्गुरूणां बहुमानः । दक्षत्वं दाक्षिण्यं शीलं कुलमुद्यमो लज्जा ॥ १ ॥ शुश्रूषा प्रतिपृच्छा श्रवणं ग्रहणं चेहनमपावः । धरणं करणं सम्यक् एवमाद्या भवन्ति शिष्यगुणाः ॥ २ ॥ २ मज्झायं कुलयस्सय अहयं अब्भंतरोऽहिति य (स्यात्).

अध्ययनम् १

॥ ४० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

पुत्र इति पितृद्वारेणासाविति कृत्वा तत उभयद्वारकत्वादुभयविषयसंयोग उभयसम्बन्धनसंयोगः, इतिशब्दो मम पितुः पिता मम भ्रातुः पुत्रः मम दासस्य कम्बल इत्येवंप्रकारसम्बन्धान्तरव्यञ्जकान्योल्लेखसूचकः, अनेन लौकिके स्वामित्व उभयसम्बन्धनसंयोग उक्तः, लोकोत्तरमेवाह–मम 'कुले' नागेन्द्रादावयं साध्वादिरिति गम्यते, यद्वा कुलमेव कुलकं तस्य, 'चः' समुच्चये योक्ष्यते, ततोऽहमेव अहकम् अभ्यन्तरः 'अस्मि' भवामि, चशब्दादयं च साध्वादिरित्येवंविधोल्लेखद्वयव्यङ्ग्य एषोऽप्युभयसम्बन्धनसंयोग इति वृद्धाः, अत्र हि मच्छब्दवाच्यस्य कुलेन सहात्मद्वारकः स्वस्वामिभावसम्बन्धः, कुलान्तर्वर्तिना च साध्वादिना परद्वारको, मम कुलेऽयमिति कुलद्वारकत्वादस्य, ततोऽयमपि प्राग्वदुभयसम्बन्धनसंयोगः, इहापि इतिशब्दोऽयं मम गुरोः साध्वादिरित्याद्येवंप्रकारसम्बन्धान्तरव्यञ्जकान्योल्लेखसूचकार्थः, इह चोल्लेखद्वयाभिधानमेकत्राप्यनेकोल्लेखसम्भवख्यापनार्थमिति गाथार्थः ॥ ५९ ॥

पुनरन्यथा तमेवाह—

पच्चयओ य बहुविहो निवित्ती पच्चओ जिणस्सेव । देहा य बद्धमुक्का माइपिइसुआइ अ हवंति ॥ ६० ॥

व्याख्या—प्रतीयतेऽनेनार्थ इति प्रत्ययः–ज्ञानकारणं घटादिः, सर्वथा निरालम्बनज्ञानाभावेन तदविनाभावित्वात् ज्ञानस्य, ततस्तमाश्रित्य, चकारात् ज्ञानतश्च–ज्ञानं चाश्रित्य 'बहुविधः' बहुप्रकारः, प्रक्रमादात्मनो यः संयोगः स उभयसम्बन्धनसंयोगः, तद्बहुत्वं च प्रत्ययानां तद्विशिष्टज्ञानानां च बहुविधत्वात्, तथा च वृद्धाः–घटं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

प्रतीत्य घटज्ञानं पटं प्रतीत्य पटज्ञानम् एवमादीनि प्रत्ययात् ज्ञानानि भवन्ति, तथा च सति ज्ञानेनात्मद्वारको, ममेदं ज्ञानमिति,प्रत्ययेन परद्वारको, मम ज्ञानस्यायं विषय इति ज्ञानद्वारकत्वात्तस्य, तत उभयविषयत्वादुभयसम्बन्धनसंयोगः। आह–एवं केवलिनोऽप्युभयसंयोग एवेति, अत्रोच्यते, 'निर्वृत्तिः' इत्युत्तरत्रैवकारस्य भिन्नक्रमत्वान्निर्वृत्तिरेव —सकलावरणक्षयादुत्पत्तिरेव प्रत्ययो जिनस्य, जिनसम्बन्धिज्ञानस्येति गम्यते, इदमाकूतम्–छद्मस्थज्ञानं हि मत्यादिकं लब्धिरूपतयोत्पन्नमप्युपयोगरूपतायां बाह्यमपि घटादिकमपेक्षते, तथाहि–घटं प्रतीत्य घटज्ञानं पटं प्रतीत्य पटज्ञानं, केवलिनस्तु ज्ञानं लब्धिरूपतयोत्पन्नं पुनरुपयोगरूपतां प्रति न बाह्यं घटादिकमपेक्षते, तज्ज्ञानस्योत्पत्तिसमकालमेव सकलातीतानागतदूरान्तरितस्थूलसूक्ष्मार्थयाथात्म्यवेदितयैवोपयोगभावात्, यदुक्तम्–"उभयावरणातीतो केवलवरणाणदंसणसहावो। जाणइ पासइ य जिणो सव्वं णेयं सयाकालं ॥ १ ॥" ततः केवलज्ञानस्य सर्वत्र सततोपयोगेन नोपयोगं प्रति बाह्यापेक्षेति निर्वृत्तिरेव प्रत्ययः, ततो न छद्मस्थज्ञानस्येव प्रत्ययत उभयसंयोगः। आह–उक्त एव ज्ञानस्योभयसंयोगः, तत् किं पुनरुच्यते ?, सत्यम्, उक्तः स तत्राक्षेप्याक्षेपकभावेन, इह त्वेकस्यापि वस्तुन उपाधिभेदेनानेकसम्बन्धसम्भवख्यापनाय जन्यजनकभावेनोच्यते इति न दोषः। उभयसम्बन्धनसंयोगमेव पुनः स्वस्वामिभावेनाह—दिह्यन्ते–उपचीयन्ते पुद्गलैरिति देहाः–कायाः ते च बद्धा—इह जन्मनि जीवेन सम्बद्धा मुक्ता–

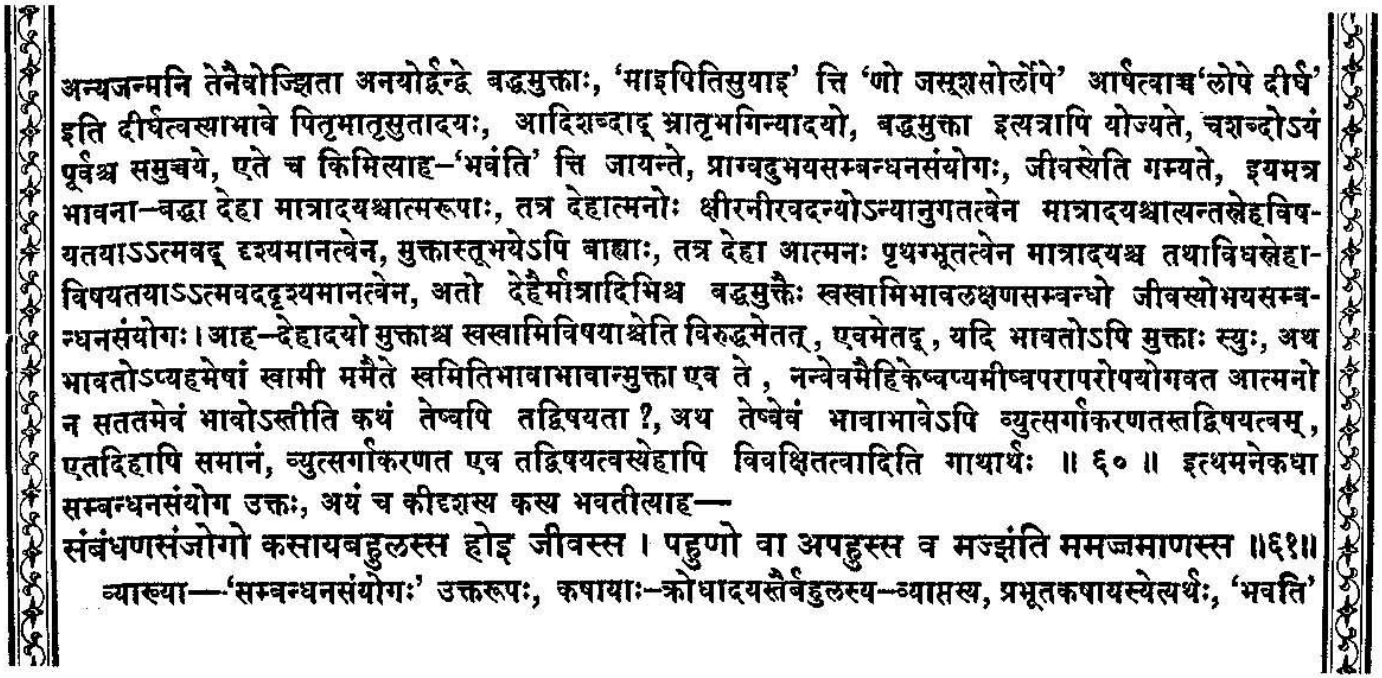
१ उभयावरणातीतः केवलवरज्ञानदर्शनस्वभावः। जानाति पश्यति च जिनः सर्वं ज्ञेयं सदाकालम् ॥ १ ॥

॥ ४१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



अन्यजन्मनि तेनैवोज्झिता अनयोर्द्वन्द्वे बद्धमुक्ताः, 'माइपितिसुयाइ' त्ति 'णो जसूशसोर्लोपे' आर्षत्वाच्च 'लोपे दीर्घ' इति दीर्घत्वस्याभावे पितृभातृसुतादयः, आदिशब्दाद् भ्रातृभगिन्यादयो, बद्धमुक्ता इत्यत्रापि योज्यते, चशब्दोऽयं पूर्वश्च समुच्चये, एते च किमित्याह–'भवंति' त्ति जायन्ते, प्राग्वदुभयसम्बन्धनसंयोगः, जीवस्येति गम्यते, इयमत्र भावना–बद्धा देहा मात्रादयश्चात्मरूपाः, तत्र देहात्मनोः क्षीरनीरवदन्योऽन्यानुगतत्वेन मात्रादयश्चात्यन्तस्नेहविषयतयाऽऽत्मवद् दृश्यमानत्वेन, मुक्तास्तूभयेऽपि बाह्याः, तत्र देहा आत्मनः पृथग्भूतत्वेन मात्रादयश्च तथाविधस्नेहाविषयतयाऽऽत्मवददृश्यमानत्वेन, अतो देहैर्मात्रादिभिश्च बद्धमुक्तैः स्वस्वामिभावलक्षणसम्बन्धो जीवस्योभयसम्बन्धनसंयोगः। आह–देहादयो मुक्ताश्च स्वस्वामिविषयाश्चेति विरुद्धमेतत्, एवमेतद्, यदि भावतोऽपि मुक्ताः स्युः, अथ भावतोऽप्यहमेषां स्वामी ममैते स्वमितिभावाभावान्मुक्ता एव ते, नन्वेवमैहिकेष्वप्यमीष्वपरापरोपयोगवत आत्मनो न सततमेवं भावोऽस्तीति कथं तेष्वपि तद्विषयता ?, अथ तेष्वेवं भावाभावेऽपि व्युत्सर्गाकरणतस्तद्विषयत्वम्, एतदिहापि समानं, व्युत्सर्गाकरणत एव तद्विषयत्वस्येहापि विवक्षितत्वादिति गाथार्थः ॥ ६० ॥ इत्थमनेकधा सम्बन्धनसंयोग उक्तः, अयं च कीदृशस्य कस्य भवतीत्याह—

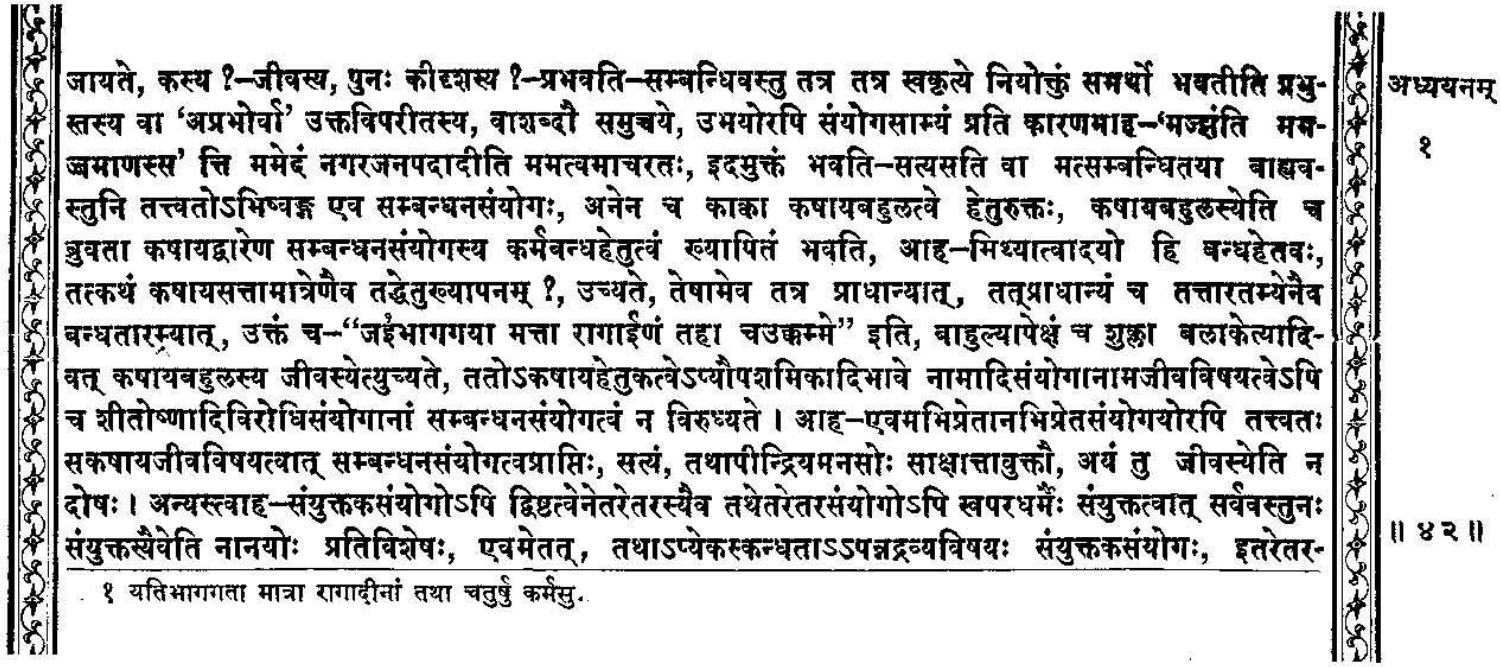
संबंधणसंजोगो कसायबहुलस्स होइ जीवस्स । पहुणो वा अपहुस्स व मज्झंति ममज्जमाणस्स ॥६१॥

व्याख्या—'सम्बन्धनसंयोगः' उक्तरूपः, कषायाः–क्रोधादयस्तैर्बहुलस्य–व्याप्तस्य, प्रभूतकषायस्येत्यर्थः, 'भवति'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ ४२ ॥

जायते, कस्य ?–जीवस्य, पुनः कीदृशस्य ?–प्रभवति–सम्बन्धिवस्तु तत्र तत्र स्वकृत्ये नियोक्तुं समर्थो भवतीति प्रभुस्तस्य वा 'अप्रभोर्वा' उक्तविपरीतस्य, वाशब्दौ समुच्चये, उभयोरपि संयोगसाम्यं प्रति कारणमाह–'मज्झंति मम ज्जमाणस्स' त्ति ममेदं नगरजनपदादीति ममत्वमाचरतः, इदमुक्तं भवति–सत्यसति वा मत्सम्बन्धितया बाह्यवस्तुनि तत्त्वतोऽभिष्वङ्ग एव सम्बन्धनसंयोगः, अनेन च काक्वा कषायबहुलत्वे हेतुरुक्तः, कषायबहुलस्येति च ब्रुवता कषायद्वारेण सम्बन्धनसंयोगस्य कर्मबन्धहेतुत्वं ख्यापितं भवति, आह–मिथ्यात्वादयो हि बन्धहेतवः, तत्कथं कषायसत्तामात्रेणैव तद्धेतुख्यापनम् ?, उच्यते, तेषामेव तत्र प्राधान्यात्, तत्प्राधान्यं च तत्तारतम्येनैव बन्धतारम्यात्, उक्तं च–"जईभागगया मत्ता रागाईणं तहा चउक्कम्मे" इति, बाहुल्यापेक्षं च शुक्ला बलाकेत्यादिवत् कषायबहुलस्य जीवस्येत्युच्यते, ततोऽकषायहेतुकत्वेऽप्यौपशमिकादिभावे नामादिसंयोगानामजीवविषयत्वेऽपि च शीतोष्णादिविरोधिसंयोगानां सम्बन्धनसंयोगत्वं न विरुध्यते । आह–एवमभिप्रेतानभिप्रेतसंयोगयोरपि तत्त्वतः सकषायजीवविषयत्वात् सम्बन्धनसंयोगत्वप्राप्तिः, सत्यं, तथापीन्द्रियमनसोः साक्षात्तावुक्तौ, अयं तु जीवस्येति न दोषः । अन्यस्त्वाह–संयुक्तकसंयोगोऽपि द्विष्टत्वेनेतरेतरस्यैव तथेतरेतरसंयोगोऽपि स्वपरधर्मैः संयुक्तत्वात् सर्ववस्तुनः संयुक्तस्यैवेति नानयोः प्रतिविशेषः, एवमेतत्, तथाऽप्येकस्कन्धताऽऽपन्नद्रव्यविषयः संयुक्तकसंयोगः, इतरेतर-

१ यतिभागगता मात्रा रागादीनां तथा चतुर्षु कर्मसु.

अध्ययनम् १ ॥ ४२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

संयोगस्तु तथाऽन्यथा च, तत्र परमाणुसंयोगस्तथा प्रदेशादिसंयोगस्तु प्रायोऽन्यथेति युक्त एव तयोर्भेदः, एवं तर्हि परमाणुसंयोगस्य संयुक्तकसंयोगादभेदोऽस्तूभयोरपि एकस्कन्धताऽऽपन्नद्रव्यविषयत्वात्, अयमपि न दोषः, यतो निष्पाद्यमानविषय इतरेतरसंयोगः, परिमण्डलादिसंस्थितद्रव्यस्य तेनैव (वि)निष्पाद्यमानत्वात्, संयुक्तसंयोगस्तु प्रायो निष्पन्नद्रव्यविषयः, निष्पन्नं हि मूलादिरूपेण वृक्षादिद्रव्यं कन्दादिना युज्यते, इत्यस्त्यनयोर्विशेष इति गाथार्थः ॥ ६१ ॥ इत्थं सम्बन्धनसंयोगः स्वरूपत उक्तः, सम्प्रति तस्यैव फलतः प्ररूपणापूर्वकं विप्रमुक्तस्येति प्रकृतसूत्रपदं व्याख्यानयन् यथा ततो विप्रमुक्ता भवन्ति यच्च तेषां फलं तदाह—

संबंधणसंजोगो संसाराओ अणुत्तरणवासो । तं छित्तु विप्पमुक्का साइपिइसुआइ यं हवंति ॥ ६२ ॥

व्याख्या—'सम्बन्धनसंयोगः' उक्तरूपः, संसरन्त्यस्मिन् कर्मवशवर्तिजन्तव इति संसारस्तस्मात्, न विद्यते उत्तरणं –पारगमनमस्मिन् सतीत्यनुत्तरणः, स चासौ वासश्च–अवस्थानमनुत्तरणवासः, अनुत्तरणवासहेतुत्वादायुर्घृतमित्यादिवदनुत्तरणवासः, अथवा 'अनुत्तरणवासो'त्ति आत्मनः पारतन्त्र्यहेतुतया पाशवत् पाशः, ततोऽनुत्तरणश्चासौ पाशश्च अनुत्तरणपाशः, उभयत्र च सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः, अनेन संसारावस्थितिः पारवश्यं वा सम्बन्धनसंयोगस्यार्थतः फलमुक्तं, 'तम्' एवंविधं सम्बन्धनसंयोगम्, अर्थादौदयिकभावविषयं मात्रादिविषयं च 'छित्त्वा' द्विधा

१ टीका–साहू मुक्का तओ तेणं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

विधाय निर्णाश्येतियावत्, किमित्याह–विप्रमुक्ताः, श्रुतत्वादनन्तरोक्तसम्बन्धनसंयोगादेव, के ते ?–'साधवः' अनगाराः, येनैवं तेन किमित्याह–मुक्ताः 'ततः' संसारात्, तद्धेतुकत्वात्तस्य, 'तेन' हेतुना, अनेन च गाथापश्चार्धेन सम्बन्धच्छेदनलक्षणेन प्रकारेण विप्रमुक्ता भवन्ति, तेषां च फलं मुक्तिरित्यर्थत उक्तं भवति। यच्च विप्रमुक्तस्येत्येकत्वप्रक्रमेऽपि विप्रमुक्ता इतीह बहुवचनं तदेवंविधभिक्षोः पूज्यत्वख्यापनार्थमिति गाथार्थः ॥ ६२ ॥ एवं 'संजोगे निक्खेवो' इत्यादिमूलगाथोपक्षिप्तसंयुक्तकसंयोगेतरेतरसंयोगभेदतो द्विविधं द्रव्यसंयोगं निरूप्य तत्र संयुक्तकसंयोगं सचित्तादिभेदतस्त्रिविधम् इतरेतरसंयोगं तु परमाणुप्रदेशाभिप्रेतानभिप्रेताभिलापसम्बन्धनविधानतः षड्विधमभिधाय सम्बन्धनसंयोग एव च साक्षात् कर्मसम्बन्धनिबन्धनतया संसारहेतुरिति तत्त्याज्यतां च सम्प्रति तत्प्रतिपादनत एवान्यदुक्तप्रायमिति मन्वानः क्षेत्रादिनिक्षेपमविशिष्टमतिदेष्टुमाह—

संबंधणसंजोगे खित्ताईणं विभास जा भणिया। खित्ताइसु संजोगो सो चेव विभासियवो अ(उ) ॥६३॥

व्याख्या—सम्बन्धनसंयोगे क्षेत्रादीनाम्, आदिशब्दात् कालभावपरिग्रहः, विविधा–आदेशानादेशादिभेदादनेकभेदा भाषा विभाषा, या इति प्रस्तुतपरामर्शः, 'भणिता' अभिहिता, 'क्षेत्रादिषु' क्षेत्रादिविषयः संयोगः प्रथमद्वारगाथासूचितः, स चैव विभाषितव्यः, 'तुः' पूरणे, संयोगत्वं चात्र विभाषाया वचनरूपत्वाद्वचनपर्यायाणां कथञ्चिद्वाच्यादभेदख्यापनार्थमुक्तं, ततोऽयमर्थः–सम्बन्धनसंयोगविषयक्षेत्रादिविभाषायां यत्संयोगस्वरूपमुक्तम्, इहापि

॥ ४३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२॥

दीप अनुक्रम [२]

तदेव वक्तव्यं, चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात्, संयुक्तकसंयोगः सम्भवन्त इतरेतरसंयोगशेषभेदाश्च वाच्याः, तत्र क्षेत्रस्य संयुक्तकसंयोगो यथा–जम्बूद्वीपः स्वप्रदेशसंयुक्तक एव लवणसमुद्रेण युज्यते, इतरेतरसंयोगः क्षेत्रप्रदेशानामेव परस्परं धर्मास्तिकायादिप्रदेशैर्वा संयोगः, एवं कालभावयोरपि नेयमिति गाथार्थः ॥ ६३ ॥ इह चोक्तनीत्या सम्बन्धनसंयोग एव साक्षादुपयोगी, इतरेषां तु तदुपकारितया तेषामपि कथञ्चित्याज्यतया च शिष्यमतिव्युत्पादनाय चोपन्यास इति भावनीयम्। उक्तः संयोगः, तदभिधानाच्च व्याख्यातं प्रथमसूत्रम्॥१॥सम्प्रति यदुक्तं 'विनयं प्रादुष्करिष्यामी'ति, तत्र विनयो धर्मः, स च धर्मिणः कथञ्चिदभिन्न इति धर्मिद्वारेण तत्स्वरूपमाह—

आणानिद्देसयरे, गुरुणमुववायकारए । इंगियागारसंपन्ने, से विणीएत्ति वुच्चइ ॥ २ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—आङिति स्वस्वभावावस्थानात्मिकया मर्यादयाऽभिव्याप्त्या वा ज्ञायन्तेऽर्था अनयेत्याज्ञा–भगवदभिहितागमरूपा तस्या निर्देश–उत्सर्गापवादाभ्यां प्रतिपादनमाज्ञानिर्देशः, इदमित्थं विधेयमिदमित्थं वेत्येवमात्मकः तत्करणशीलस्तदनुलोमानुष्ठानो वा आज्ञानिर्देशकरः, यद्वाऽऽज्ञा–सौम्य ! इदं कुरु इदं च मा कार्षीरिति गुरुवचनमेव, तस्या निर्देश–इदमित्थमेव करोमि इति निश्चयाभिधानं तत्करः, आज्ञानिर्देशेन वा तरति भवाम्भोधिमित्याज्ञानिर्देशतर इत्यादयोऽनन्तगमपर्यायत्वाद्भगवद्वचनस्य व्याख्याभेदाः सम्भवन्तोऽपि मन्दमतीनां व्यामोहहेतुतया बालावबलादिबोधोत्पादनार्थत्वाच्चास्य प्रयासस्य न प्रतिसूत्रं प्रदर्शयिष्यन्ते, तथा 'गुरूणां' गौरवार्हाणामा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३॥

दीप अनुक्रम [३]

चार्यादीनामुप–समीपे पतनं–स्थानमुपपातः–इगुवचनविषयदेशावस्थानं तत्कारकः–तदनुष्ठाता, न तु गुर्वादेशादिभीत्या तद्व्यवहितदेशस्थायीतियावत्, तथेङ्गितं–निपुणमतिगम्यं प्रवृत्तिनिवृत्तिसूचकमीषद्भ्रूशिरःकम्पादि आकारः–स्थूलधीसंवेद्यः प्रस्थानादिभावाभिव्यञ्जको दिगवलोकनादिः, आह च–"अवलोयणं दिसाणं वियंभणं साडयस्स संठवणं । आसणसिढिलीकरणं पट्ठियलिंगाइं एयाइं ॥ १ ॥" अनयोर्द्वन्द्वे इङ्गिताकारौ तौ अर्थाद्गुरुगतौ सम्यक् प्रकर्षेण जानाति इङ्गिताकारसम्प्रज्ञः, यद्वा-इङ्गिताकाराभ्यां गुरुगतभावपरिज्ञानमेव कारणे कार्योपचारादिङ्गिताकारशब्देनोक्तं, तेन सम्पन्नो–युक्तः, 'स' इत्युक्तविशेषणान्वितः 'विनीतः' विनयान्वितः, 'इति' सूत्रपरामर्शे, उच्यते, तीर्थकृद्गणधरादिभिरिति गम्यते, अनेन च स्वमनीषिकाऽपोहमाह इति सूत्रार्थः ॥ २ ॥ इह विनयोऽभिधित्सितः, स च विपर्ययाभिधान एव तद्विविक्ततया सुखेन ज्ञातुं शक्यत इत्यविनयं धर्मिद्वारेणाह—

आणाऽनिद्देसकरे, गुरुणमणुववायकारए । पडिणीए असंबुद्धे, अविणीएत्ति वुच्चइ ॥ ३ ॥ (सूत्रम्)

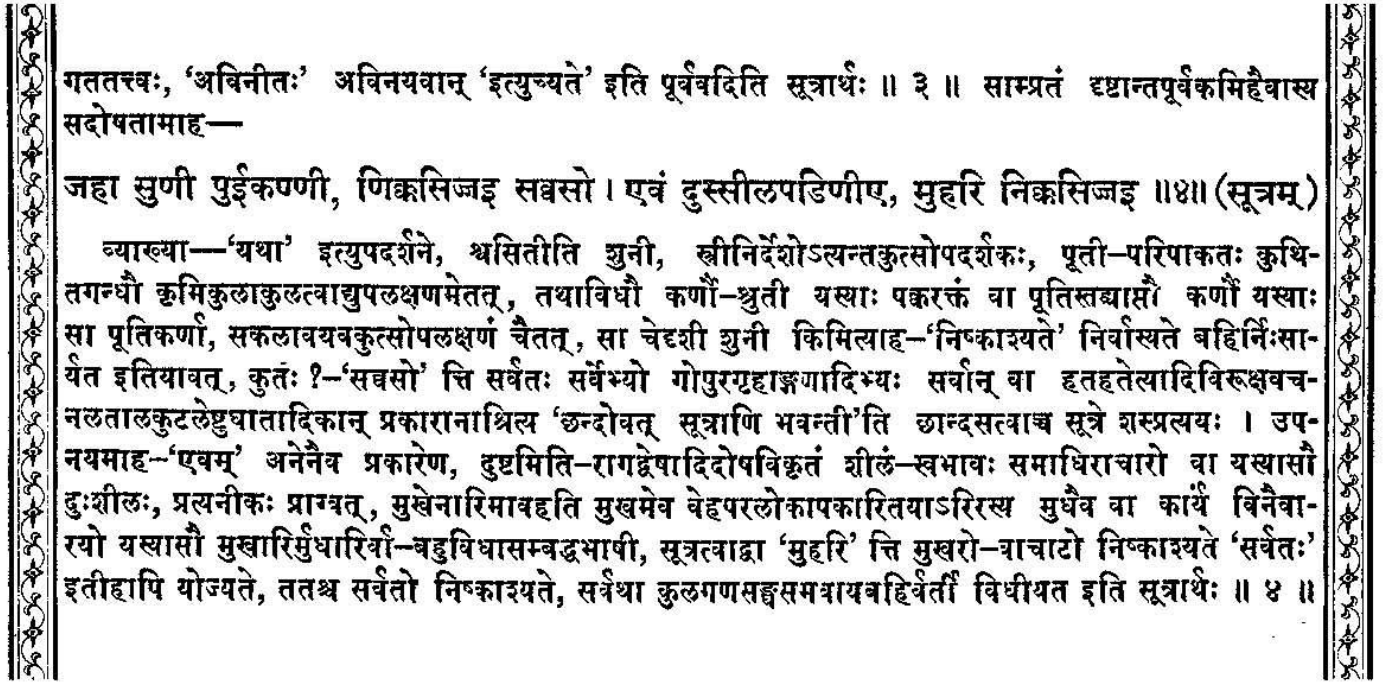
व्याख्या—पादद्वयं प्राग्वत्, नवरं नञ्योजनाद्व्यतिरेकतो व्याख्येयं, 'प्रत्यनीकः' प्रतिकूलवर्ती शिलाऽऽक्षेपककूलवालकश्रमणवत्, दोषानीकं प्रति वर्तत इति प्रत्यनीकः, किमित्येवंविधोऽसावित्याह–'असम्बुद्धः' अनव-

१ अवलोकनं दिशां विजृम्भणं शाटकस्य संस्थापनम् । आसनशिथिली (श्रथी)करणं प्रस्थितलिङ्गान्येतानि ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४॥

दीप अनुक्रम [४]



गततत्त्वः, 'अविनीतः' अविनयवान् 'इत्युच्यते' इति पूर्ववदिति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥ साम्प्रतं दृष्टान्तपूर्वकमिहैवास्य सदोषतामाह—

जहा सुणी पुईकण्णी, णिक्कसिज्जइ सव्वसो। एवं दुस्सीलपडिणीए, मुहरि निक्कसिज्जइ ॥४॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'यथा' इत्युपदर्शने, श्वसितीति शुनी, स्त्रीनिर्देशोऽत्यन्तकुत्सोपदर्शकः, पूती–परिपाकतः कुथितगन्धौ कृमिकुलाकुलत्वाद्युपलक्षणमेतत्, तथाविधौ कर्णौ–श्रुती यस्याः पक्वरक्तं वा पूतिस्रवासौ कर्णौ यस्याः सा पूतिकर्णा, सकलावयवकुत्सोपलक्षणं चैतत्, सा चेदृशी शुनी किमित्याह–'निष्काश्यते' निर्वास्यते बहिर्निःसार्यत इतियावत्, कुतः ?–'सव्वसो' त्ति सर्वतः सर्वेभ्यो गोपुरगृहाङ्गणादिभ्यः सर्वान् वा हतहतेत्यादिविरूक्षवचनलतालकुटलेष्टुघातादिकान् प्रकारानाश्रित्य 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ती'ति छान्दसत्वाच्च सूत्रे शस्प्रत्ययः । उपनयमाह–'एवम्' अनेनैव प्रकारेण, दुष्टमिति–रागद्वेषादिदोषविकृतं शीलं–स्वभावः समाधिराचारो वा यस्यासौ दुःशीलः, प्रत्यनीकः प्राग्वत्, मुखेनारिमावहति मुखमेव वेहपरलोकापकारितयाऽरिरस्य मुधैव वा कार्यं विनैवारयो यस्यासौ मुखारिर्मुधारिर्वा–बहुविधासम्बद्धभाषी, सूत्रत्वाद्वा 'मुहरि' त्ति मुखरो–वाचाटो निष्काश्यते 'सर्वतः' इतीहापि योज्यते, ततश्च सर्वतो निष्काश्यते, सर्वथा कुलगणसङ्घसमवायबहिर्वर्ती विधीयत इति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [५]

आह–दौःशील्यनिमित्त एवायमविनीतस्य दोषः, प्रत्यनीकतामुखरत्वयोरपि तत्प्रभवत्वात् तत्र चैवमनर्थहेतौ किमसौ प्रवर्तत इति, अत्रोच्यते, पापोपहतमतित्वेन तत्रैवास्याभिरतिरितिकृत्वा, तामेव दृष्टान्तपूर्विकामाह—

कणकुंडगं जहित्ता णं, विट्ठं भुंजइ सूयरो । एवं सीलं जहित्ता णं, दुस्सिले रमइ मिए ॥५॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—कणाः–तन्दुलास्तेषां तन्मिश्रो वा कुण्डकः–तत्क्षोदनोत्पन्नकुक्कुसः कणकुण्डकस्तं 'हित्वा' पाठान्तरतस्त्यक्त्वा वा 'विष्ठां' पुरीषं 'भुङ्क्ते' अभ्यवहरति 'सूकर' इति गर्तासूकरो, यथेति गम्यते, एवं 'शीलम्' उक्तरूपं प्रस्तावाच्छोभनं 'हित्वा' प्राग्वत्त्यक्त्वा वा दुष्टं शीलं दुःशीलं तस्मिन् भावप्रधानत्वाद्वा निर्देशस्य दुष्टं शीलमस्येति दुःशीलस्तद्भावो दौःशील्यं तस्मिन्, उभयत्र दुराचारादौ 'रमते' धृतिमाधत्ते मृग इव मृगः अज्ञत्वादविनीत इति प्रक्रमः, इदमत्र हृदयं–यथा मृग उद्गीर्णासिपुत्रिकगौरिगायनपुरुषहेतुकमायतौ मृत्युरूपमपायमपश्यन्नज्ञः, एवमयमपि दौःशील्यहेतुकमागामिनं भवभ्रमणलक्षणमपायमनालोकयन्नज्ञ एव सन् गर्तासूकरोपमः सदा पुष्टिदायिकणकुण्डकसदृशं शीलमपहाय विवेकिजनगर्हिततया विष्ठोपमे दुःशीले दौःशील्ये वा रमते, इह च दृष्टान्तेऽपि विड्भुक्त्यभिरतिरेवार्थत उक्ता, तदविनाभावित्वात्तस्याः, यद्वा शुभपरिहारेणाशुभाश्रयणमुभयत्रापि सादृश्यनिमित्तमस्तीति नोपमानोपमेयभावविरोध इति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥ उक्तोपसंहारपूर्वकं कृत्योपदेशमाह—

॥ ४५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६॥

दीप अनुक्रम [६]

सुणियाभावं साणस्स, सूयरस्स नरस्स य । विणए ठविज्ज अप्पाणं, इच्छंतो हियमप्पणो ॥६॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'श्रुत्वा' आकर्ण्य 'अभावं' नञः कुत्सायामपि दर्शनादशोभनं भावं–सर्वतो निष्काशनलक्षणं पर्यायं 'साणस्स' त्ति प्राकृतत्वादिवेत्यस्य गम्यमानत्वात् शून्या इव 'सूकरस्य' उक्तन्यायेन शूकरोपमस्य नरस्य, 'चः' पूरणे, यद्वा शून्याः शूकरस्य च दृष्टान्तस्य नरस्य च दार्ष्टान्तिकस्याशोभनं भावं त्रयाणामप्युक्तरूपं श्रुत्वा, किमित्याह–'विनये' वक्ष्यमाणस्वरूपे, स्थापयेदात्मानम्, आत्मनैवेति गम्यते, 'इच्छन्' वाञ्छन् 'हितम्' ऐहिकमामुष्मिकं च पथ्यम् 'आत्मनः' स्वस्य, इह च पुनर्दृष्टान्ताभिधानमुपसंहारत्वेनाविनये शिष्यस्याशुभभावस्योत्पादनार्थत्वेन वा नाप्रकृतमिति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ यतश्चैवं ततः किमित्याह—

तम्हा विणयमेसिज्जा, सीलं पडिलभे जओ । बुद्धउत्ते नियागट्ठी, न निक्कसिज्जइ कण्हुइ ॥७॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'तस्माद्' इति यस्मादविनयदोषदर्शनादात्मा विनये स्थापनीयस्तस्मात् विनयम् 'एषयेत्' अनेकार्थत्वेन धातूनां पर्यवसितवृत्त्या वा कुर्यात्, एवं ह्यात्मा विनये स्थाप्यत इति, किं पुनरस्य विनयस्य फलं ? येनैवमत्रात्मनोऽवस्थापनमुद्दिश्यत इत्याशङ्क्याह—'शीलम्' उक्तरूपं 'प्रतिलभेत' प्राप्नुयात् 'यत' इति विनयात्, अनेन विनयस्य शीलावाप्तिः फलमुक्तम्, अस्यापि किं फलमित्याह–बुद्धैः–अवगततत्त्वैस्तीर्थकरादिभिरुक्तम्–अभिहितं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७॥

दीप अनुक्रम [७]

तच्च तन्निजमेव निजकं च–ज्ञानादि तस्यैव बुद्धैरात्मीयत्वेन तत्त्वत उक्तत्वात्, बुद्धोक्तनिजकं, तदर्थयते–अभिलषतीत्येवंशीलः बुद्धोक्तनिजकार्थी सन्, पठन्ति च–'बुद्धवुत्ते णियागट्ठि त्ति' बुद्धैः–उक्तरूपैर्व्युक्तो–विशेषेणाभिहितः, स च द्वादशाङ्गरूप आगमस्तस्मिन् स्थित इति गम्यते, यद्वा बुद्धानाम्–आचार्यादीनां पुत्र इव पुत्रो बुद्धपुत्रः, 'पुत्ता य सीसा य समं विहित्ता' इति वचनात्, स्वरूपविशेषणमेतत्, नितरां यजनं यागः–पूजा यस्मिन् सोऽयं नियागो–मोक्षः, तत्रैव नितरां पूजासम्भवात्, तदर्थी सन्, किमित्याह–'न निष्काश्यते' न बहिष्क्रियते, कुतश्चिद् गच्छगणादेः, किन्तु विनीतत्वेन सर्वगुणाधारतया सर्वत्र मुख्य एव क्रियते इति भावः, इति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥

कथं पुनर्विनय एषयितव्य इत्याह—

णिसंते सिया अमुहरि, बुद्धाणमंतिए सया। अट्ठजुत्ताणि सिक्खिज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए ॥८॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—नितराम्–अतिशयेन शान्तः–उपशमवान् अन्तः क्रोधपरिहारेण बहिश्च प्रशान्ताकारतया निःशान्तः 'स्याद्' भवेत्, तथा 'अमुखारिः' प्राग्वत् अमुखरो वा सन् 'बुद्धानाम्' आचार्यादीनाम् 'अन्तिके' समीपे, न तु विनयभीत्याऽन्यथैव 'सदा' सर्वकालमर्यते–गम्यत इति अर्थः, अर्तेरौणादिकस्थन् (उषिकुषिगाऽर्तिभ्यस्थन् उ० २–४) स च हेय उपादेयश्चोभयस्याप्यर्थ्यमाणत्वात्, तेन युक्तानि–अन्वितानि अर्थयुक्तानि, तानि च हेयोपादे-

१ पुत्रांश्च शिष्यांश्च समं विभज्य (विधाय).

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८॥

दीप अनुक्रम [८]

याभिधायकानि, अर्थादागमवचांसि, यद्वा–मुमुक्षुभिरर्थ्यमानत्वादर्थो–मोक्षस्तत्र युक्तानि–उपायतया सङ्गतानि अर्थे वा–अभिधेयमाश्रित्य युक्तानि–यतिजनोचितानि 'शिक्षेत' अभ्यस्येत्, प्रपञ्चितज्ञविनेयानुग्रहाय व्यतिरेकत आह—'निरर्थकानि' उक्तविपरीतानि डित्थडवित्थादीनि, यद्वा वैश्यिकवात्स्यायनादीनि स्त्रीकथादीनि वा 'तुः' पुनरर्थे 'वर्जयेत्' परिहरेत्, इह च निशान्त इत्यनेन प्रशमादीनामुपलक्षितत्वात् तेषां च दर्शनाविनाभावित्वाद् दर्शनस्य च जिनोक्तभावश्रद्धानरूपत्वात् तस्यैव दर्शनविनयत्वात् अर्थतो दर्शनविनयो दर्शितः, उक्तं हि प्राक्–"दव्वाण सव्वभावा उवइट्ठा जे जहा जिणिंदेहिं। तं तह सद्दहइ णरो दंसणविणओ हवति तम्हा[1] ॥ १ ॥" शेषेण तु श्रुतज्ञानशिक्षाऽभिधायिना ज्ञानदर्शन(ज्ञान)विनय उक्तः, तत्स्वरूपमाह—"णाणं सिक्खइ णाणं गुणेइ णाणेणं" त्ति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥ कथं पुनरर्थयुक्तानि शिक्षेतेत्याह—

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा, खंतिं सेवेज्ज पंडिए। बालेहिं[2] सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए ॥९॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'अनुशिष्ट' इति अर्थयुक्तानि शिक्ष्यमाणः कथञ्चित् स्खलितादिषु गुरुभिः परुषोक्त्याऽपि शिक्षितः 'न कुप्येत्' न कोपं गच्छेत्, किं तर्हि कुर्यादित्याह—'क्षान्तिं' परुषभाषणादिसहनात्मिकां 'सेवेत' भजेत, पण्डा[3]बुद्धिः सा सञ्जाताऽस्येति पण्डितः, तथा 'क्षुद्रैः' बालैः शीलहीनैर्वा पार्श्वस्थादिभिः 'सह' समं 'संसग्गिं' ति प्राक्-

१ विनयव्याख्यानावसरे टीकायां निर्युक्तेः गाथे क्रमेण सप्तमी अष्टमी च. २ खुड्डेहिं इति टीका. ३ पण्डा तत्त्वानुगा बुद्धिरित्युक्तेः.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९॥

दीप अनुक्रम [९]

तत्वात्संसर्गं, हसनं हासस्तं, क्रीडां च अन्ताक्षरिकाप्रहेलिकादानादिजनितां च 'वर्जयेत्' परिहरेत् सर्वेषामप्येषां विशिष्टशिक्षाक्षितिहेतुत्वात् लोकागमविरुद्धत्वाचेति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥ पुनरन्यथा विनयमाह—

मा य चंडालियं कासी, बहुयं मा य आलवे। कालेण य अहिज्जित्ता, तत्तो झाइज्ज इक्कओ ॥१०॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'मा' निषेधे 'चः' समुच्चये, चण्डः–क्रोधस्तद्वशादलीकम्–अनृतभाषणं चण्डालीकं, भयालीकाद्युपलक्षणमेतत्, यद्वा–चण्डेनाऽऽलमस्य चण्डेन वा कलितश्चण्डालः, स चातिक्रूरत्वाच्चण्डालजातिस्तस्मिन् भवं चाण्डालिकं कर्मेति गम्यते, अथवा अचण्ड ! सौम्य ! अलीकम्–अन्यथात्वविधानादिभिरसत्यं, गुरुवचनमागमं चेति गम्यते, 'मा कार्षीः' मा विधाः, भगवदुद्दिष्टतिलोत्पाटकस्वेच्छालापिगोशालकवत्, बह्वेव बहुकम्–अपरिमितमालजालरूपं 'मा च' इति प्राग्वत्, आङिति–रुयादिकथाऽभिव्याप्त्या लपेत्–भाषेत, बह्वालापनात् ध्यानाध्ययनक्षितिवातक्षोभादिसम्भवात्, किं पुनः कुर्यादित्याह–कालः अध्ययनाद्यवसरः प्रथमपौरुष्यादिस्तेन, 'चः' पुनरर्थे, 'अधीत्य' पठित्वा, प्रच्छनाद्युपलक्षणमेतत्, 'ततः' अध्ययनात्, अनन्तरमिति गम्यते, 'ध्यायेत्' चिन्तयेत्, 'एकक' इति भावतो रागद्वेषादिसाहित्यरहितः, द्रव्यतस्तु विविक्तशय्यादिसंस्थः, इत्थं हि चाण्डालिककरणाद्यनुत्थानमधीतार्थस्थिरीकरणं च कृतं भवतीति भावः। इह च पादत्रयेण साक्षाद्वाग्गुप्तिरुक्ता, ध्यायेदित्यनेन मनोगुप्तिः,

॥ ४७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०॥

दीप अनुक्रम [१०]

आद्यपादोत्तरव्याख्यानद्वयेन तु कायगुप्तिरपि, एताश्च चारित्रान्तर्गता एव, यदुक्तम्–"पणिहाणजोगजुत्तो पंचहि समितीहि तिहिं गुत्तीहिं । एस चरित्तायारो अट्ठविहो होइ णायव्वो ॥ १ ॥" न च चारित्राचारस्तत्त्वतश्चरित्रविनयादतिरिच्यते इति देशतस्तस्याप्यनेनाभिधानमिति सूत्रार्थः ॥ १० ॥ इत्थमकृत्यनिषेधः कृत्यविधिश्चोपदिष्टः, कदाचिदेतद्विपर्ययसम्भवे च किं करणीयमित्याह—

आहच्च चंडालियं कट्टु, न निण्हविज्ज कण्हुइ । कडं कडंति भासिज्जा, अकडं नो कडंति य॥११॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'आहत्य' कदाचित् चण्डालीकं च चाण्डालिकं चोक्तरूपं यद्वा चण्डश्चालीकं च चण्डालीकं 'कृत्वा' विधाय 'न निन्हुवीत' न कृतमेवेति नापलपेत्, कदाचिदपि, यदा परैरुपलक्षितो यदा वा नोपलक्षितस्तदापीत्यर्थः, किं तर्हि कुर्यादित्याह–'कृतं' विहितं चाण्डालिकादि 'कृतमिति' इति कृतमेव, न भयलज्जादिभिरकृतमपि 'भाषेत' ब्रूयात्, 'अकृतं' तदेवाविहितं 'नो कृतमिति' अकृतमेव भाषेत, न तु मायोपरोधादिना कृतमपि, अन्यथा मृषावादादिदोषसम्भवात्, उपलक्षणत्वाचास्य बह्वनालपनकालाध्ययनादिविपर्ययसम्भवेऽप्येतदेव कृत्यम्, इदं चात्राकृतं–कथञ्चिदतिचारसम्भवे लज्जाद्यकुर्वन् स्वयं गुरुसमीपमागत्य–'जह बालो जंपंतो कज्जम-

१ प्रणिधानयोगयुक्तः पञ्चभिः समितिभिस्तिसृभिर्गुप्तिभिः । एष चारित्राचारोऽष्टविधो भवति ज्ञातव्यः ॥ १ ॥ २ यथा बालो जल्पन् कार्यमकार्यं च ऋजुकं भणति । तत् तथाऽऽलोचयेत् मायामदविप्रमुक्तस्तु ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११॥

दीप अनुक्रम [११]

कज्जं च उज्जुयं भणति । तं तह आलोएज्जा मायामयविप्पमुक्को उ ॥ १ ॥' इत्याद्यागममनुस्मरन् कथञ्चित् परैः प्रतीतमप्रतीतं वा मनःशल्यं यथावदालोचयेत्, ततश्चानेनान्तरतपोऽन्तर्गताऽऽलोचनाख्यप्रायश्चित्तभेदाभिधानम्, अनेन च शेषतपोभेदानामप्युपलक्षितत्वात् तपोविनयमाह इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥ इहैवं पुनः पुनरुपदेशश्रवणाद् यदैव गुरोरुपदेशस्तदैव प्रवर्तितव्यं निवर्तयितव्यं चेति स्यादाशङ्का, तदपनोदायाह—

मा गलियस्सेव कसं, वयणमिच्छे पुणो पुणो । कसं व दट्ठुमाइण्णे, पावगं परिवज्जए ॥१२॥ (सूत्रम्)

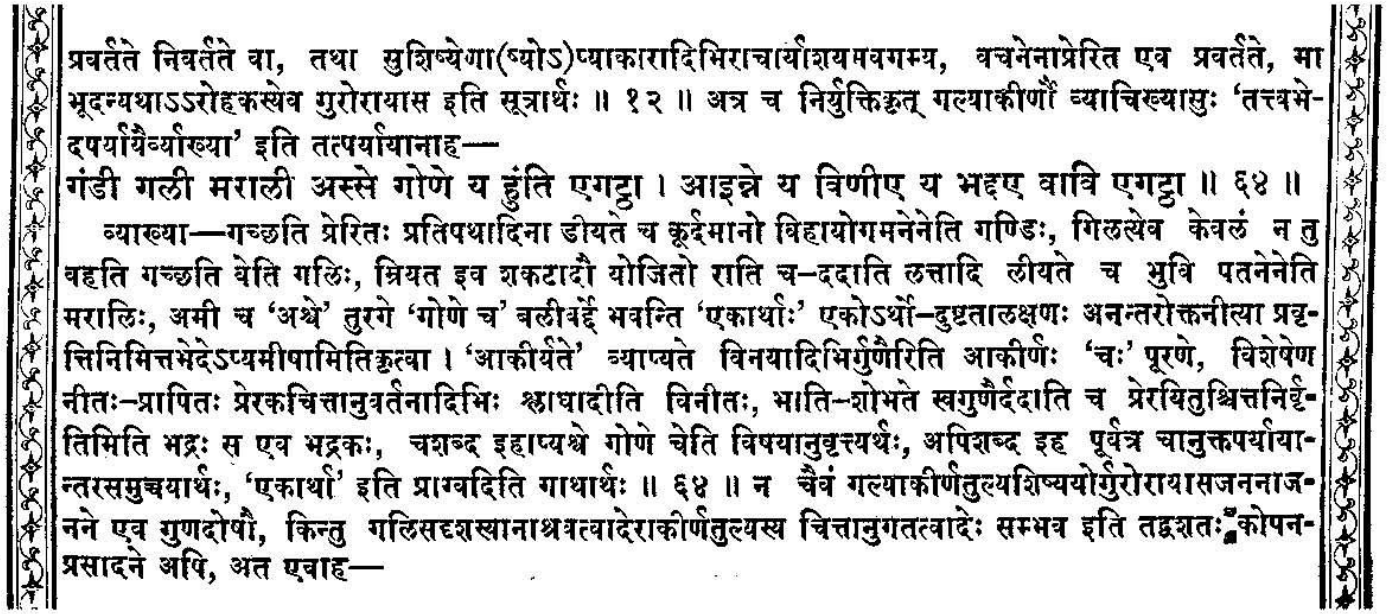
व्याख्या—'मा' निषेधे, गलिः–अविनीतः, स चासावश्वश्च गल्यश्वः स इव, कशतीति कशस्तम्, उपलक्षणत्वात् कशप्रहारं, 'वचनं' प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयमुपदेशं, प्रस्तावाद्गुरूणाम्, 'इच्छेत्' अभिलषेत्, 'पुनः पुनः' वारं वारं, कोऽभिप्रायः ?–यथा गल्यश्वो दुर्विनीततया न पुनः पुनः कशप्रहारं विना प्रवर्तते निवर्त्तते वा, नैवं भवताऽपि प्रवृत्तिनिवृत्त्योः पुनः पुनर्गुरुवचनमपेक्षणीयं, किन्तु 'कसं व दट्ठुमाइण्णे'त्ति इवशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात् कशं–चर्मयष्टिं दृष्ट्वाऽऽकीर्णो–विनीतः, स चेह प्रस्तावादश्वः स इव, सूचकत्वात् सूत्रस्य, सुशिष्यो गुरोराकारादि दृष्ट्वा, पापमेव पापकं, गम्यमानत्वादनुष्ठानं 'परिवर्जयेत्' सर्वप्रकारं परिहरेत्, उपलक्षणत्वादितरच्चानुतिष्ठेत्, पठन्ति च–'पावगं पडिवज्जइ' त्ति तत्र च पुनातीति पावकं–शुभमनुष्ठानं 'प्रतिपद्येत' अङ्गीकुर्यात्, इहापि प्राग्वदितरत् परिहरेत्, किमुक्तं भवति ?–यथाऽऽकीर्णोऽश्वः कशग्रहणादिनाऽऽरोहकाभिप्रायमुपलभ्य कशेनाताडित एव तदभिप्रायानुरूपं

॥ ४८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१२॥

दीप अनुक्रम [१२]



प्रवर्तते निवर्तते वा, तथा सुशिष्येणा(ष्योऽ)प्याकारादिभिराचार्याशयमवगम्य, वचनेनाप्रेरित एव प्रवर्तते, मा भूदन्यथाऽऽरोहकस्येव गुरोरायास इति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥ अत्र च निर्युक्तिकृत् गल्याकीर्णौ व्याचिख्यासुः 'तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्या' इति तत्पर्यायानाह—

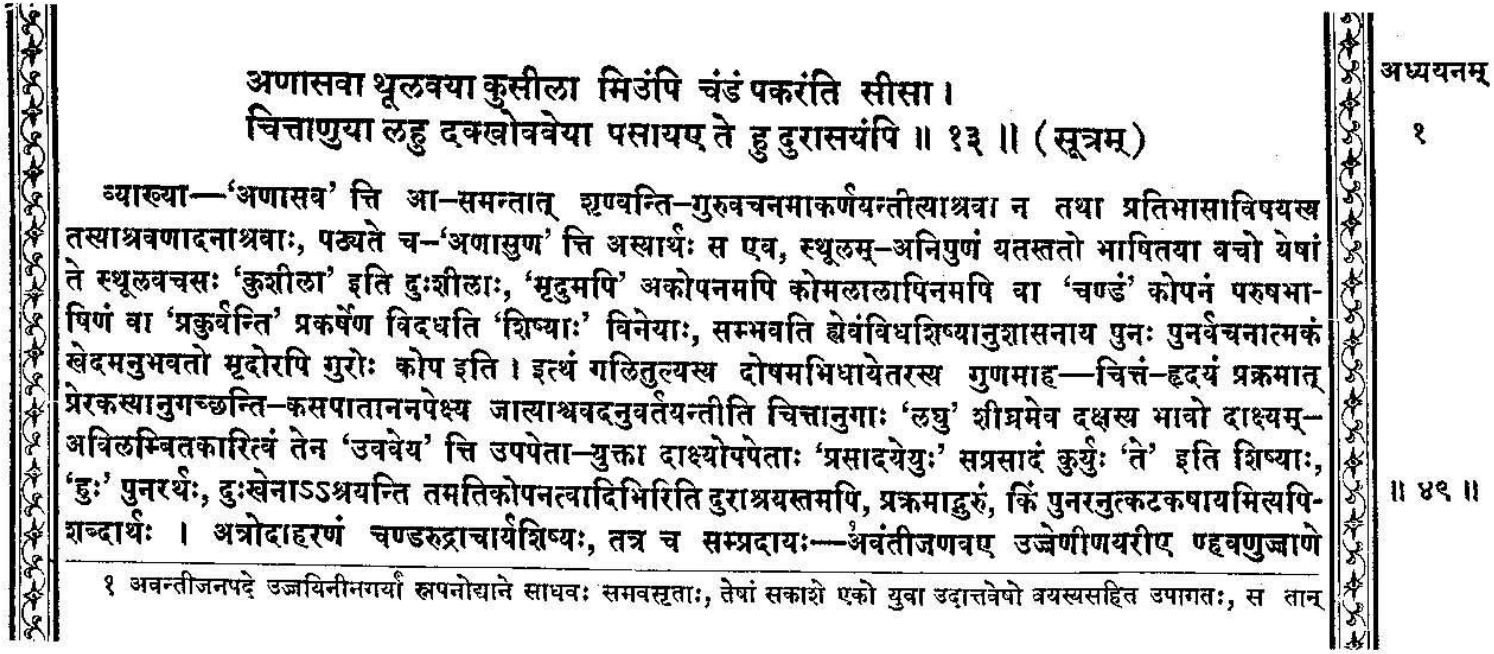
गंडी गली मराली अस्से गोणे य हुंति एगट्ठा । आइन्ने य विणीए य भद्दए वावि एगट्ठा ॥ ६४ ॥

व्याख्या—गच्छति प्रेरितः प्रतिपथादिना डीयते च कूर्दमानो विहायोगमनेनेति गण्डिः, गिलत्येव केवलं न तु वहति गच्छति वेति गलिः, म्रियत इव शकटादौ योजितो राति च–ददाति लत्तादि लीयते च भुवि पतनेनेति मरालिः, अमी च 'अश्वे' तुरगे 'गोणे च' बलीवर्दे भवन्ति 'एकार्थाः' एकोऽर्थो–दुष्टताऽलक्षणः अनन्तरोक्तनीत्या प्रवृत्तिनिमित्तभेदेऽप्यमीषामिति कृत्वा । 'आकीर्यते' व्याप्यते विनयादिभिर्गुणैरिति आकीर्णः 'चः' पूरणे, विशेषेण नीतः–प्रापितः प्रेरकचित्तानुवर्तनादिभिः श्लाघादीति विनीतः, भाति–शोभते स्वगुणैर्ददाति च प्रेरयितुश्चित्तनिर्वृतिमिति भद्रः स एव भद्रकः, चशब्द इहाप्यश्वे गोणे चेति विषयानुवृत्त्यर्थः, अपिशब्द इह पूर्वत्र चानुक्तपर्यायान्तरसमुच्चयार्थः, 'एकार्था' इति प्राग्वदिति गाथार्थः ॥ ६४ ॥ न चैवं गल्याकीर्णतुल्यशिष्ययोर्गुरोरायासजननाजननने एव गुणदोषौ, किन्तु गलिसदृशस्यानाश्रवत्वादेराकीर्णतुल्यस्य चित्तानुगतत्वादेः सम्भव इति तद्वशतः कोपनप्रसादने अपि, अत एवाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१३]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ ४९ ॥

अध्ययनम् १

अणासवा थूलवया कुसीला मिउंपि चंडं पकरंति सीसा।
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया पसायए ते हु दुरासयंपि ॥ १३ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'अणासव' त्ति आ–समन्तात् शृण्वन्ति–गुरुवचनमाकर्णयन्तीत्याश्रवा न तथा प्रतिभासाविषयस्य तस्याश्रवणादनाश्रवाः, पठ्यते च–'अणासुण' त्ति अस्यार्थः स एव, स्थूलम्–अनिपुणं यतस्ततो भाषितया वचो येषां ते स्थूलवचसः 'कुशीला' इति दुःशीलाः, 'मृदुमपि' अकोपनमपि कोमलालापिनमपि वा 'चण्डं' कोपनं परुषभाषिणं वा 'प्रकुर्वन्ति' प्रकर्षेण विदधति 'शिष्याः' विनेयाः, सम्भवति ह्येवंविधशिष्यानुशासनाय पुनः पुनर्वचनात्मकं खेदमनुभवतो मृदोरपि गुरोः कोप इति। इत्थं गलितुल्यस्य दोषमभिधायेतरस्य गुणमाह—चित्तं–हृदयं प्रक्रमात् प्रेरकस्यानुगच्छन्ति–कसपातानपेक्ष्य जात्याश्ववदनुवर्तयन्तीति चित्तानुगाः 'लघु' शीघ्रमेव दक्षस्य भावो दाक्ष्यम्–अविलम्बितकारित्वं तेन 'उववेय' त्ति उपपेता–युक्ता दाक्ष्योपपेताः 'प्रसादयेयुः' सप्रसादं कुर्युः 'ते' इति शिष्याः, 'हुः' पुनरर्थः, दुःखेनाऽऽश्रयन्ति तमतिकोपनत्वादिभिरिति दुराश्रयस्तमपि, प्रक्रमाद्गुरुं, किं पुनरनुत्कटकषायमित्यपिशब्दार्थः। अत्रोदाहरणं चण्डरुद्राचार्यशिष्यः, तत्र च सम्प्रदायः—अवंतीजणवए[1] उज्जेणीणयरीए ण्हवणुज्जाणे

१ अवन्तीजनपदे उज्जयिनीनगर्यां स्नपनोद्याने साधवः समवसृताः, तेषां सकाशे एको युवा उदात्तवेषो वयस्यसहित उपागतः, स तान्

॥ ४९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||१३||

दीप अनुक्रम [१३]

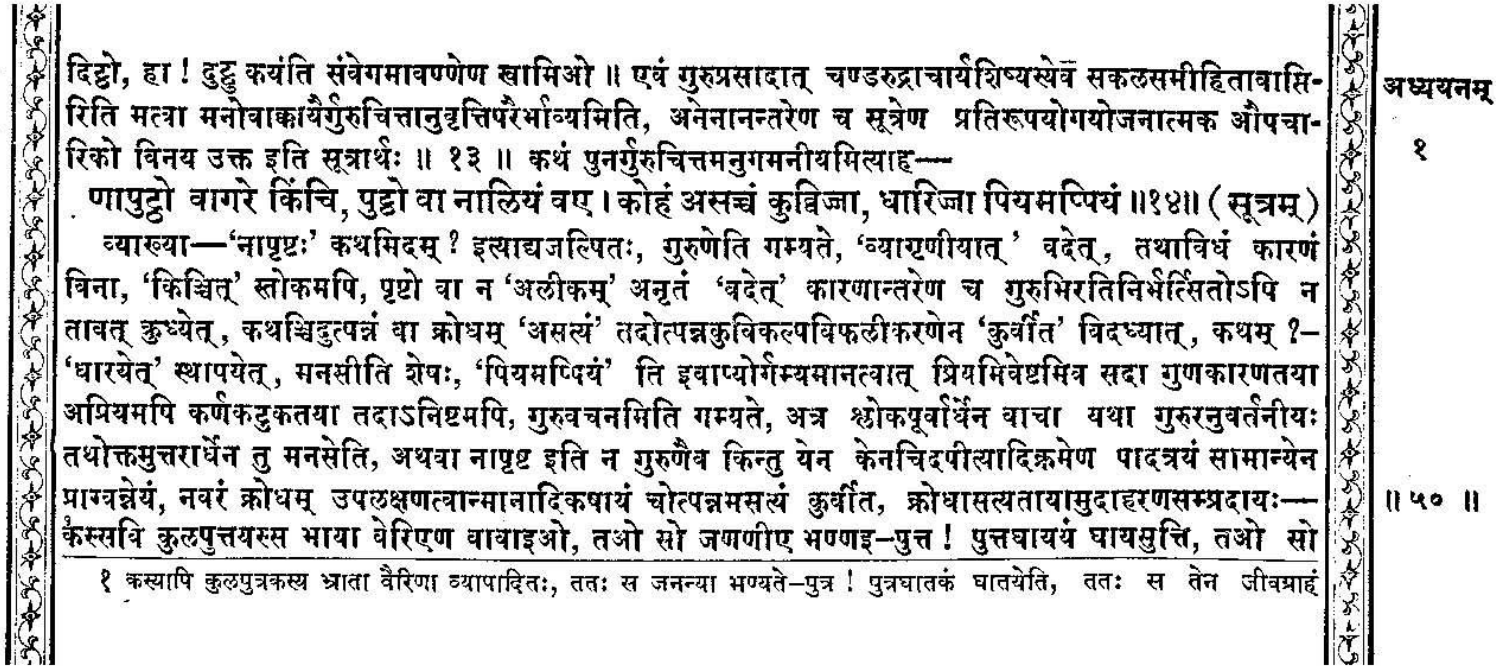
साहुणो समोसरिया, तेसिं सगासं एगो जुवा उदत्तवेसो वयंससहिओ उवागतो, सो ते वंदिऊण भणति—भयवं! अम्हे संसाराउ उत्तारेह, पव्वयामित्ति, एस एमेव पवंचेतित्ति काऊण 'घृष्यतां कलिना कलिरि'ति चंडरुद्दं आयरियं उवदिसंति, एस ते नित्थारेहित्ति, सोऽवि य सभावेणं फरुसो, तओ सो वंदिऊण भणइ–भगवं! पव्वावेह (हि)ममंति, तेण भणितो–छारं आणेहत्ति, आणिए लोयं काऊण पव्वाविओ, वयंसगा से अद्धीइं काऊण पडिगया, तेऽवि उवस्सयं नियगं गया, विलंबिए सूरे पंथं पडिलेहेइ, परं पच्चूसे वच्चामित्ति विसज्जिओ, पडिलेहिउमागओ, पच्चूसे निग्गया, पुरतो वच्चति(त्ति) भणितो, वच्चंतो पंथातो फिडितो चंडरुद्दो खाणुए पक्खलितो, रुसिएण हा दुट्ठसेहत्ति दंडएण मत्थए आहतो, सिरं फोडितं, तहावि सम्मं सहइ, विमले पहाए चंडरुद्देण रुहिरोग्गलंतमुद्धाणो

१ वन्दित्वा भणति–भगवन्तः! मां संसारादुत्तारयत, प्रव्रजामीति, एष एवमेव प्रवञ्चयते इतिकृत्वा चण्डरुद्रमाचार्यमुपदिशन्ति(उपदर्शयन्ति), एष त्वां निस्तारयिष्यति, सोऽपि च स्वभावेन परुषः, ततः स वन्दित्वा भणति–भगवन् ! प्रव्राजय मामिति, तेन भणितः–क्षारं (भस्म) आनयेति, आनीते लोचं कृत्वा प्रव्राजितः, वयस्यकास्तस्याधृतिं कृत्वा प्रतिगताः, तेऽपि उपाश्रयं निजं गताः, विलम्बिते (किञ्चिच्छेषे) सूर्ये पन्थानं प्रतिलेखय(स्वे)ति, परं प्रत्युषसि व्रजाव इति विसृष्टः, प्रतिलिख्यागतः, प्रत्युषसि निर्गतौ, पुरतो व्रजेति भणितः, व्रजन् पथः स्फिटितश्चण्डरुद्रः स्थाणौ प्रस्खलितः, रुष्टेन हा दुष्टशैक्ष ! इति दण्डेन मस्तके आहतः, शिरः स्फोटितं, तथाऽपि सम्यक् सहते, विमले प्रभाते चण्डरुद्रेण गलद्रुधिरमूर्धा दृष्टः, हा दुष्टं कृतमिति संवेगमापन्नेन क्षमितः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१४॥

दीप अनुक्रम [१४]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ ५० ॥

दिट्ठो, हा ! दुट्ठु कयंति संवेगमावण्णेण स्वामिओ ॥ एवं गुरुप्रसादात् चण्डरुद्राचार्यशिष्यस्येव सकलसमीहितावाप्तिरिति मत्वा मनोवाक्कायैर्गुरुचित्तानुवृत्तिपरैर्भाव्यमिति, अनेनानन्तरेण च सूत्रेण प्रतिरूपयोगयोजनात्मक औपचारिको विनय उक्त इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥ कथं पुनर्गुरुचित्तमनुगमनीयमित्याह—

णापुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए। कोहं असच्चं कुव्विज्जा, धारिज्जा पियमप्पियं ॥१४॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'नापृष्टः' कथमिदम् ? इत्याद्यजल्पितः, गुरुणेति गम्यते, 'व्यागृणीयात्' वदेत्, तथाविधं कारणं विना, 'किञ्चित्' स्तोकमपि, पृष्टो वा न 'अलीकम्' अनृतं 'वदेत्' कारणान्तरेण च गुरुभिरतिनिर्भर्त्सितोऽपि न तावत् क्रुध्येत्, कथञ्चिदुत्पन्नं वा क्रोधम् 'असत्यं' तदोत्पन्नकुविकल्पविफलीकरणेन 'कुर्वीत' विदध्यात्, कथम् ?– 'धारयेत्' स्थापयेत्, मनसीति शेषः, 'पियमप्पियं' ति इवाप्योर्गम्यमानत्वात् प्रियमिवेष्टमिव सदा गुणकारणतया अप्रियमपि कर्णकटुकतया तदाऽनिष्टमपि, गुरुवचनमिति गम्यते, अत्र श्लोकपूर्वार्धेन वाचा यथा गुरुरनुवर्तनीयः तथोक्तमुत्तरार्धेन तु मनसेति, अथवा नापृष्ट इति न गुरुणैव किन्तु येन केनचिदपीत्यादिक्रमेण पादत्रयं सामान्येन प्राग्वन्नेयं, नवरं क्रोधम् उपलक्षणत्वान्मानादिकषायं चोत्पन्नमसत्यं कुर्वीत, क्रोधासत्यतायामुदाहरणसम्प्रदायः—

कस्सवि कुलपुत्तयस्स भाया वेरिएण वावाइओ, तओ सो जणणीए भण्णइ–पुत्त ! पुत्तघाययं घायसुत्ति, तओ सो

१ कस्यापि कुलपुत्रकस्य भ्राता वैरिणा व्यापादितः, ततः स जनन्या भण्यते–पुत्र ! पुत्रघातकं घातयेति, ततः स तेन जीवग्राहं

अध्ययनम् १

॥ ५० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१४॥

दीप अनुक्रम [१४]

तेण जीवग्गहो गिण्हिऊण जणणीसमीवमुवणीओ, भणिओ अणेण–भायघायय ! कहिं ते आहणामित्ति, तेण भणिओ–जहिं सरणागया आहम्मंति, तेण जणणी अवलोकिया, ताए भण्णइ–ण पुत्त ! सरणागया आहम्मंति, तेण भण्णइ–कहं रोसं सफलं करेमित्ति, तेण भण्णइ–ण पुत्त ! सव्वत्थ रोसो सफलो कज्जइ, पच्छा सो तेण विसज्जिओ ॥ एवं क्रोधमसत्यं कुर्वीत, मानादिविफलीकरणे उदाहरणान्यागमादवधारणीयानि, इत्थमुदितानां क्रोधादीनां विफलीकरणमुपदिष्टं, सम्प्रति यथैषामुदय एव न स्यात् तथोपदेष्टुमाह—'धारयेत्' स्वरूपेणावधारयेत्, न तद्वशतो रागं द्वेषं वा कुर्यात्, 'प्रियं' प्रीत्युत्पादकं शेषजनापेक्षया स्तुत्यादि, 'अप्रियं' तद्विपरीतं निन्दादि, तत्रोदाहरणसम्प्रदायः—असिवोवहुए णयरे तिन्नि भूयवाईया रायाणमुवगया भणंति–अम्हे असिवं उवसमेमोत्ति, राइणा भणियं–सुणिमो केणोवाएणंति, तत्थेगो भणइ–अत्थि महेगं भूयं, तं सुरूवं विऊ-

गृहीत्वा जननीसमीपमुपनीतः, भणितोऽनेन–भ्रातृघातक ! कुत्र त्वामाहन्मीति, तेन भणितः–यत्र शरणागता आहन्यन्ते, तेन जननी अवलोकिता, तया भण्यते–पुत्र ! न शरणागता आहन्यन्ते, तेन भण्यते–कथं रोषं सफलं करोमीति, तया भण्यते–न पुत्र ! सर्वत्र रोषः सफलः क्रियते, पश्चात्स तेन विसृष्टः ।

१ अशिवोपद्रुते नगरे त्रयो भूतवादिका राजानमुपगता भणन्ति–वयमशिवमुपशमयाम इति, राज्ञा भणितं–शृणुमः केनोपायेनेति, तत्रैको भणति–अस्ति ममैको भूतः, स सुरूपं विकुर्व्य गोपुररथ्यादिषु पर्यटति, सो न निभालयितव्यः, स निभालितो रुष्यति, यः पुनस्तं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१४॥

दीप अनुक्रम [१४]

विऊणं गोपुररत्थाइसु परियडइ, तं न णिहालेयव्वं, तं णिहालियं रुसइ, जो पुण तं निहालेति सो विणस्सइ, जो पुण पिच्छिऊण अहोमुहो ठाइ सो रोगाओ मुच्चइ, राया भणति–अलाहि एएण अइरोसणेणंति । विइओ भणति–महच्चयं भूयं महतिमहालयं रूवं विउवति, लंबोयरं विवृतकुक्षिं पंचशिरं एगपादं विसिहं विस्सरुवं अट्टट्टहासं मुयंतं गायंतं पणचंतं, तं विकृतरूपं दट्ठूणं जो पहसति पवंचेति वा तस्स सत्तहा सिरं फुट्टइ, जो पुण तं सुहाहिं वायाहिं अभिणंदति धूवपुप्फाईहिं पूएइ सो सवहाऽऽमयातो मुच्चइ, राया भणइ—अलमेएणंपि । ततितो भणइ—ममवि एवंविहमेव णातिविसेसकरं भूयमत्थि, प्रियाप्रियकारिणं दरिसणादेव रोगेहिंतो मोचयति, एवं होउत्ति, तेण तहाकए असिवं उवसंतं । एवं साधूवि असारूप्यत्वे सति शब्दादिप्रतिकूलत्वे च परेहिं परिभूयमाणो पवंचिज्जमाणो

निभालयति स विनश्यति, यस्तं प्रेक्ष्याधोमुखस्तिष्ठति स रोगान्मुच्यते, राजा भणति–अलमेतेनातिरोषणेनेति । द्वितीयो भणति–मामकीनो भूतो महातिमहालयं रूपं विकुर्वति, लम्बोदरं विवृतकुक्षिं पञ्चशिरस्कमेकपादं विशिखं विस्वरूपं (विश्वरूपम्) अट्टाट्टहासं मुञ्चत् गायत् प्रणृत्यत् , तं विकृतरूपं दृष्ट्वा यः प्रहसति प्रवञ्च्यते वा तस्य सप्तधा शिरः स्फुटति, यः पुनस्तं शुभाभिर्वाग्भिरभिनन्दति धूपपुष्पादिभिः पूजयति स सर्वथाऽऽमयात् मुच्यते, राजा भणति–अलमेतेनापि । तृतीयो भणति–ममाप्येवंविध एव, नातिविशेषकरः भूतोऽस्ति, प्रियाप्रियकारिणं दर्शनादेव रोगेभ्यो मोचयति, एवं भवत्विति, तेन तथा कृते अशिवमुपशान्तम् । एवं साधुरपि असारूप्यत्वे सति शब्दादिप्रतिकूलत्वे च परैः परिभूयमानः प्रवञ्च्यमानो हस्यमानो वा स्तूयमानो वा पूज्यमानो वा तत् प्रियाप्रियं सहेत १

॥ ५१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||१५||

दीप अनुक्रम [१५]

हसिज्जमाणो वा तथा शुबमाणो वा पूइज्जमाणो वा तं प्रियाप्रियं सहेत । अनेन च मनोगुप्त्यभिधानाच्चारित्रविनय उक्तः, इति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥ आह—क्रोधासत्यताकरणादिभिरात्मदमनोपाय उक्तः, तत्र च बाह्येष्वपि दमनीयेषु सत्सु किमिति तस्यैव दमनोपाय उद्दिश्यते? किं वा तद्दमने फलमिति, अत्रोच्यते–

अप्पामेव दमेयव्वो,अप्पा हु खलु दुद्दमो। अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥१५॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—अतति–सन्ततं गच्छति शुद्धिसङ्क्लेशात्मकपरिणामान्तराणीत्यात्मा तमेव 'दमयेत्' इन्द्रियनोइन्द्रियदमेन मनोज्ञेतरविषयेषु रागद्वेषवशतो दुष्टगजमिवोन्मार्गगामिनं स्वयं विवेकाङ्कुशेनोपशमनं नयेत्, पठन्ति च—'अप्पा चेव दमेयव्वो'त्ति स्पष्टं, किमेवमुपदिश्यत इत्याह—आत्मैव, हुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् 'खलु' इति यस्मात् 'दुर्दमः' दुर्जयः, ततस्तद्दमने दमिता एव बाह्यदमनीया इति, न तद्दमनमुपदिश्यत इति भावः, उक्तं हि—"सर्वमप्पे जिए जियं", कः पुनरेवं गुण इत्याह—आत्मा 'दान्त' उपशममानीतः, सुखमस्यास्तीति सुखी, भवति, क्व?–'अस्मिन्' इत्यनुभूयमानायुषि विनेयाध्यक्षे 'लोके' भवे 'परत्र च' इत्यागामिनि भवान्तरे, दान्ताऽऽत्मानो हि परमर्षय इहैव सुरैरपि पूज्यन्ते, अदान्ताऽऽत्मानस्तु चौरपारदारिकादयो विनश्यन्ति, तथा—"सद्देण मओ रूवेण पयंगो महुयरो (य) गंधेणं। आहारेण य मच्छो बज्झइ फरिसेण य गइंदो ॥१॥" तद्विपर्ययतस्तु–इह परत्र च नन्दन्ति, तत्र

१ सर्वमात्मनि जिते जितम् । २ शब्देन मृगो रूपेण पतङ्गो मधुकरश्च गन्धेन । आहारेण च मत्स्यो बध्यते स्पर्शेन च गजेन्द्रः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१५॥

दीप अनुक्रम [१५]

चोदाहरणम्–दो भायरो चोरा, तेसिं उवस्सए साहुणो वासावासं उवागया, तेहिं वासारत्तपरिसमत्तीए गच्छंतेहिं तेसिं चोराणं अन्नं वयं किंचि अपडिवज्जमाणाणं रत्तिं न भोत्तव्वंति वयं दिण्णं। अन्नया तेहिं उद्दाइएहिं सुबहुयं गोमाहिसं आणियं, तत्थ अन्ने महिसं मारेउं पइउमारद्धा, अन्ने मज्जस्स गया, मंसइत्ता संपहारेन्ति–अद्धगे मंसे विसं पक्खिवामो तो मज्जइत्ताणं दाहामो, तओ अम्हं सुबहुं गोमाहिसं भागेण आगमिस्सइ, मज्जइत्तावि एवं चेव सामत्थेहिंति, एवं तेहिं विसं पक्खित्तं, आइचो य अत्थं गतो, ते भायरो न भुत्ता, इयरे परोप्परं विससंजुत्तेण मज्जमंसेण उवभुत्तेण मया, मरिऊण य कुगइं गया, इयरे इह परलोए य सुहभागिणो जाया, एवं ताव जिब्भिंदियदमे,

१ द्वौ भ्रातरौ चौरौ, तयोरुपाश्रये साधवो वर्षावासमुपागताः, तैर्वर्षारात्रपरिसमाप्तौ गच्छद्भिस्तयोः चोरयोरन्यत् किञ्चिद्भृतमप्रतिपद्यमानयो रात्रौ न भोक्तव्यमिति व्रतं दत्तम्। अन्यदा तैरुद्धाविते: सुबहुकं गोमाहिषमानीतं, तत्रान्ये महिषं मारयित्वा पक्तुमारब्धाः, अन्ये मद्याय गताः, मांसीयाः संप्रधारयन्ति–अर्धे मांसे विषं प्रक्षिपामः ततो मद्यीयेभ्यो दास्यामः, ततोऽस्माकं सुबहु गोमाहिषं भागेनागमिष्यति, मद्यीया अपि एवमेव संप्रधारयन्ति, एवं तैर्विषं प्रक्षिप्तम्, आदित्यश्चास्तं गतः, तौ भ्रातरौ न भुक्तौ, इतरे परस्परं विषसंयुक्तेन मद्यमांसेनोपभुक्तेन मृताः, मृत्वा च कुगतिं गताः, इतरौ इह परलोके च सुखभागिनौ जातौ, एवं तावत् जिह्वेन्द्रियदमे, एवं शेषेष्वपीन्द्रियेषु, आत्मा दान्तः सुखी भवति अस्मिन् लोके परत्र च ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६॥

दीप अनुक्रम [१६]

एवं सेसेसुवि इंदिएसु, 'अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य' इति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥ किं पुनः परिभावयन्नात्मानं दमयेदित्याह—

वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य । माऽहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहि वहेहि य ॥१६॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'वरं' प्रधानं 'मे' मया 'आत्मा' अभिहितरूपस्तदाधाररूपो वा देहः, 'दान्त' इति दमं ग्राहितः असमञ्जसचेष्टातो व्यावर्तितः, केन हेतुना ?–'संयमेन' पञ्चाश्रवविरमणादिना, 'तपसा च' अनशनादिना, चशब्दो द्वयोरप्यनपेक्षितायां मुक्तिहेतुताविरहात् परस्परसापेक्षतासूचनार्थः सम्यग्ज्ञानसमुच्चयार्थो वा, विपर्यये दोषदर्शनायाह–'मा' प्राग्वत्, 'अहम्' इत्यात्मनिर्देशः, 'परैः' आत्मव्यतिरिक्तैः 'दम्मंतो'त्ति आर्षत्वाद्दमितः, कैः ?–'बन्धनैः' वर्त्रादिविरचितैर्मयूरबन्धादिभिः 'वधैश्च' लतालकुटादिताडनैः,अत्रोदाहरणं सेयणओ गंधहत्थी–अडवीए हत्थिजूहं महल्लं परिवसइ, तत्थ जूहवती जाए जाए गयकलभए विणासेइ, तत्थेगा करिणी आवण्णसत्ता चिंतेइ–जइ कहंचि गयकलभतो जायइ, सोऽवि एतेण विणासिज्जिहित्तिकाउं लंगंती ओसरइ, जूहाहिवेण जूहे छुब्भइ, पुणो

१ सेचनको गन्धहस्ती, अटव्यां हस्तियूथं महत् परिवसति, तत्र यूथपतिर्जातान् जातान् गजकलभकान् विनाशयति, तत्रैका करिणी आपन्नसत्त्वा चिन्तयति—यदि कथञ्चिद् गजकलभको जायते (जनिष्यते) सोऽप्येतेन विनङ्क्ष्यते इतिकृत्वा शनैः शनैः(खञ्जन्ती)अवसर्पति, यूथाधिपेन यूथे क्षिप्यते, पुनरपसर्पति, ततो द्वितीयतृतीयदिवसे यूथेन मिलति, तत एकमृष्याश्रमपदं दृष्टं, सा तत्राश्रिता, परिचिताश्चानया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६॥

दीप अनुक्रम [१६]

ओसरइ, ताहे बितियततियदिवसे जूहेण मिलइ, ताहे एगं रिसिआसमपयं दिट्ठं, सा तत्थ अल्लीणा संवणिया य अणाए रिसओ, सा पसूया गयकलहं, सो तेहिं रिसिकुमारेहिं सहिओ पुप्फारामं सिंचइ, सेयणउत्ति से नामं कयं, वयत्थो जातो, जूहं दट्ठूण जूहपतिं हंतूण जूहं णेण पडिवण्णं, गंतूण य अणेण सो आसमो विणासितो, नो अन्नावि कावि एवं काहितित्ति । ताहे ते रिसितो रुसिया, पुप्फफलगहियपाणी सेणियस्स रण्णो सयासं उवगया, कहियं चऽणेहिं–एरिसो सवलक्खणसंपुण्णो गंधहत्थी सेयणतो णाम, सेणिओ हत्थिगहणाय गतो, सो य हत्थी देवयाए परिगहितो, ताहे(ए) ओहिणा आभोइयं–जहा अवस्सं एसो घेप्पति, ताहे ताए सो भण्णइ–पुत्त ! वरं ते अप्पा दंतो, ण यऽसि परेहिं दंमंतो बंधणेहिं वहेहि य, सो एवं भणिओ सयमेव रत्तीए गंतूण आलाणखंभं अस्सितो।

१ ऋषयः, सा प्रसूता गजकलभं, स तैः ऋषिकुमारैः सहितः पुष्पारामं सिञ्चति, सेचनक इति तस्य नाम कृतं, वयःस्थो जातः, यूथं दृष्ट्वा यूथपतिं हत्वा यूथमनेन प्रतिपन्नं, गत्वा चानेन स आश्रमो विनाशितः, मा अन्याऽपि काऽप्येवं कार्षीदिति । ततस्ते ऋषयो रुष्टाः, पाणिगृहीतपुष्पफलाः श्रेणिकस्य राज्ञः सकाशमुपगताः, कथितं चैभिः–ईदृशः सर्वलक्षणसंपूर्णो गन्धहस्ती सेचनको नाम, श्रेणिको हस्तिग्रहणाय गतः, स च हस्ती देवतया परिगृहीतः, ततः (तया) अवधिना आभोगितं (अवलोकितं)–यथा अवश्यमेषो ग्रहीष्यते, ततस्तया स भण्यते–पुत्र ! वरं तव (त्वया) आत्मा दान्तः, न चासि परैर्दम्यमानो बन्धनैर्वधैश्च, स एवं भणितः स्वयमेव रात्रावागत्यालानस्तम्भमाश्रितः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||१७||

दीप अनुक्रम [१७]

यथा हि अस्य स्वयंदमनान्महागुणः तथा मुक्त्यर्थिनोऽपि विशिष्टनिर्जरातः, इतरथा त्वकामनिर्जरातो न तथेति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥ गुर्वनुवृत्त्यात्मकं प्रतिरूपविनयमाह—

पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा। आवि वा जइवा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइवि ॥१७॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'प्रत्यनीकम्' इति प्रतिकूलं, चः पूरणे, चेष्टितमित्युपस्कारः, भावप्रधानत्वाद्वा निर्देशस्य प्रत्यनीकत्वं, केषाम् ?–'बुद्धानाम्' अवगतवस्तुतत्त्वानां गुरूणामितियावत्, कया ?–वाचा, किं त्वमपि किञ्चिज्जानीषे ? इत्येवंरूपया विपरीतप्ररूपणायां प्रेरितस्त्वयैवैतदित्थमस्माकं प्ररूपितमित्याद्यात्मिकया वा, अथवा 'कर्मणा' संस्तारकातिक्रमणकरचरणसंस्पर्शनादिना 'आविः' जनसमक्षं प्रकाशदेश इतियावत्, यदिवा 'रहस्ये' विविक्तोपाश्रयादौ 'न' इति निषेधे 'एवः' अवधारणे, स च 'शत्रोरपि गुणा ग्राह्याः, दोषा वाच्या गुरोरपी'ति कुमतनिराकरणार्थः, 'कुर्यात्' इति विदध्यात्, 'कदाचित्' परुषभाषणादावपि इति सूत्रार्थः ॥ १७ ॥ पुनः शुश्रूषणात्मकं तमेवाह—

ण पक्खओ ण पुरओ, णेव किच्चाण पिट्ठओ। न जुंजे उरुणा ऊरुं, सयणे ण पडिस्सुणे ॥१८॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'न पक्षतः' दक्षिणादिपक्षमाश्रित्य, उपविशेदिति सर्वत्रोपस्कारः, तथोपवेशने तत्पङ्क्तिसमावेशतः तत्साम्यापादनेनाविनयभावात्, गुरोरपि वक्रावलोकने स्कन्धकन्धरादिबाधासम्भवात्, न 'पुरतः' अग्रतः, तत्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१८॥

दीप अनुक्रम [१८]

वन्दकजनस्य गुरुवदनानवलोकनादिनाऽप्रीतिभावात्, 'नैव' इति पूर्ववत्, कृतिः–वन्दनकं तदर्हन्ति कृत्याः 'दण्डादित्वाद् यप्रत्ययः' ते चार्थादाचार्यादयस्तेषां 'पृष्ठतः' पृष्ठदेशमाश्रित्य, द्वयोरपि मुखादर्शने तथाविधरसवत्ताऽभावादिदोषसंभवात्, 'न युज्यात्' न सङ्घट्टयेद् अत्यासन्नोपवेशादिभिः, 'उरुणा' आत्मीयेन, 'उरुं' कृत्यसम्बन्धिनं, तथाकरणेऽत्यन्ताविनयसम्भवात्, उपलक्षणं चैतत् शेषाङ्गस्पर्शपरिहारस्य, 'शयने' शय्यायां शयित आसीनो वेति शेषः, किमित्याह–न प्रतिशृणुयात्, किमुक्तं भवति ?–कदाचिच्छय्यागतो गुरुणाऽऽकारित उक्तो वा कृत्यं प्रति न तथास्थित एवावज्ञया कुर्म एवमित्यादिवचनतः प्रतिजानीयात्, किन्तु गुरुवचनसमनन्तरमेव सम्भ्रान्तचेता विनयविरचितकराञ्जलिः समीपमागत्य पादपतनपुरस्सरमनुगृहीतोऽहमिति मन्यमानो भगवन्निच्छामोऽनुशिष्टिमिति वदेदिति सूत्रार्थः ॥ १८ ॥ पुनस्तमेवाह—

नेव पल्हत्थियं कुज्जा, पक्खपिंडं व संजए। पाए [१]पसारिए वावि, न चिट्ठे गुरुणंतिए ॥१९॥(सूत्रम्)

व्याख्या—नैव 'पर्यस्तिकां' जानुजङ्घोपरिवस्त्रवेष्टनाऽऽत्मिकां कुर्यात्, 'पक्षपिण्डं वा' बाहुद्वयकायपिण्डात्मकं, 'संयतः' साधुः, तथा पादौ प्रसारयेत् वाऽपि नैव, वा समुच्चयार्थः, अपिः किं पुनरित इतो विक्षिपेदिति निदर्शनार्थः, अन्यच्च–'न तिष्ठेत्' नाऽऽसीत, क्व ?–गुरूणामन्तिके इति, प्रक्रमादतिसन्निधौ, किन्तूचितदेश एव, अन्य-

१ पसारे नो वावि प्र० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१९॥

दीप अनुक्रम [१९]

थाऽविनयदोषसम्भवात्, अथवा 'पाए पसारिए वावि'त्ति पाठात् पादौ प्रसारितौ वाऽपि, कृत्वेति शेषः, एकारस्यालाक्षणिकत्वात् प्रसार्य वा न तिष्ठेद्गुरूणामन्तिके उचितप्रदेशेऽपीति, उपलक्षणं चैतद्दण्डपादिकाऽवष्टम्भादीनामिति सूत्रार्थः ॥ १९ ॥ पुनः प्रतिश्रवणविधिमेव सविशेषमाह—

आयरिएहिं वाहिंतो, तुसिणीओ ण कयाइवि। पसायट्टी नियागट्टी, उवचिट्ठे गुरुं सया॥२०॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'आचार्यैः' उपलक्षणत्वादुपाध्यायादिभिः 'वाहिंतो'त्ति व्याहृतः–शब्दितः 'तुसिणीओ'त्ति तूष्णीकः तूष्णीशीलः 'न कदाचिदपि' ग्लानाद्यवस्थायामपि, भवेदिति गम्यते, किन्तु–'धन्यस्योपरि निपतत्यहितसमाचरणघर्मनिर्वापी। गुरुवदनमलयनिसृतो वचनरसश्चन्दनस्पर्शः ॥ १ ॥' इति प्रसादोऽयं यदन्यसद्भावेऽपि मामादिशन्ति गुरव इति प्रेक्षितुम्–आलोचितुं शीलमस्येति प्रसादप्रेक्षी, पाठान्तरतः 'प्रसादार्थी' वा गुरुपरितोषाभिलाषी 'णियागट्ठी'त्ति पूर्ववत्, 'उपतिष्ठेत' मस्तकेनाभिवन्द इत्यादि वदन् सविनयमुपसर्पेत्, गुरुं 'सदा' सर्वकालमिति सूत्रार्थः ॥ २० ॥ तथा–

आलवंते लवंते वा, ण णिसीज्जा कयाइवि। चइत्ता आसणं धीरो, जओ जत्तं पडिस्सुणे॥२१॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—आडिति ईषल्लपति–वदति 'लपति वा' वारं वारमनेकधा वाऽभिदधति 'न निषीदेत्' न निषण्णो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२१॥

दीप अनुक्रम [२१]

भवेत्, 'कदाचिदपि' व्याख्यानादिना व्याकुलतायामपि, किन्तु ?–'त्यक्त्वा' अपहाय 'आसनं' पादपुञ्छनादि, धिया राजते धीरः, अक्षोभ्यो वा परीषहादिभिः, 'यत' इति यतो यत्नवान् 'जत्तं' ति प्राकृतत्वाद्विन्दुलोपे तस्य च द्वित्वे यद्गुरव आदिशन्ति तत् 'प्रतिशृणुयात्' अवश्यविधेयतया अभ्युपगच्छेदितियावत्, यद्वा यत इति यत्र गुरवः, तत्र गत्वेति गम्यते, 'यात्रां' संयमयात्रां प्रस्तावाद् गुरूपदिष्टां प्रतिशृणुयादिति सूत्रार्थः ॥ २१ ॥ पुनः प्रतिरूपविनयमेवाऽऽह–

आसणगओ ण पुच्छिज्जा,णेव सिज्जागओ कया॥ आगम्मुक्कुडुओ संतो, पुच्छिज्जा पंजलीगडे॥२२॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'आसनगतः' इति आसनासीनो न पृच्छेत्, सूत्रादिकमिति गम्यते, नैव 'शय्यागत' इति संस्तारकस्थितः, तथाविधावस्थां विनेत्युपस्कारः, 'कदाचिदपि' बहुश्रुतत्वेऽपि, किमुक्तं भवति ?–बहुश्रुतेनापि संशये सति न न प्रष्टव्यं, पृच्छताऽपि नावज्ञया, सदा गुरुविनयस्यानतिक्रमणीयत्वात्, तथा चाऽऽगमः–"जहाहिअग्गी जलणं नमंसे, णाणाहुईमंतपयाहिसित्तं। एवायरियं उवचिट्ठएज्जा, अणंतणाणोवगओऽवि संतो ॥ १ ॥" किं तर्हि कुर्यादित्याह–'आगम्य' गुर्वन्तिकमेत्य 'उत्कुटुक' इति मुक्तासनः, कारणतो वा पादपुञ्छनादिगतः सन् शान्तो वा 'पृच्छेत्' पर्युनुयुञ्जीत, सूत्रादिकमितीहापि गम्यते, प्रकर्षेण–अन्तःप्रीत्यात्मकेन कृतो–विहितोऽञ्जलिः–उभयकरमी-

१ यथाऽऽहिताग्निर्ज्वलनं नमस्यति नानाहुतिमन्त्रपदाभिषिक्तम्। एवमाचार्यमुपतिष्ठेतानन्तज्ञानोपगतोऽपि सन् ॥ १ ॥

॥ ५५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२२॥

दीप अनुक्रम [२२]

लनात्मकोऽनेनेति प्रकृताञ्जलिः, प्राकृतत्वाच्च कृतशब्दस्य परनिपातः, 'पंजलिउड'त्ति पाठे च प्रकृष्ट–भावान्वित-तयाऽञ्जलिपुटमस्येति प्राञ्जलिपुट इति सूत्रार्थः ॥ २२ ॥ ईदृशस्य शिष्यस्य गुरुणा यत् कृत्यं तदाह—

एवं विणयजुत्तस्स,सुत्तं अत्थं तदुभयं। पुच्छमाणस्स सिस्सस्स, वागरिज्ज जहासुयं॥२३॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'एवम्' इत्युक्तप्रकारेण 'विनययुक्तस्य' विनयान्वितस्य 'सूत्रं' कालिकोत्कालिकादि 'अर्थं च' तस्यै-वाभिधेयं 'तदुभयं' सूत्रार्थोभयं 'पृच्छतः' ज्ञीप्सतः 'शिष्यस्य' स्वयंदीक्षितस्योपसम्पन्नस्य वा 'व्यागृणीयात्' विवि-धमभिव्याहृयाऽभिदध्यात् व्याकुर्याद्वा प्रकटयेत्, यथा–येन प्रकारेण श्रुतम्–आकर्णितं, गुरुभ्य इति गम्यते, न तु स्वबुद्ध्यैवोत्प्रेक्षितमित्यभिप्रायः, अनेन च—'आयारे सुयविणए विक्खिवणे चेव होइ बोद्धव्वे। दोसस्स य निग्घाए विणए चउहेस पडिवत्ती ॥ १ ॥'' इत्यागमाभिहितचतुर्विधाचार्यविनयान्तर्गतस्य 'सुत्तं अत्थं च तहा हियकर णि-स्सेसयं च वाएइ। एसो चउविहो खलु सुयविणओ होइ णायव्वो ॥ १ ॥ सुत्तं गाहेति उज्जुत्तो अत्थं च सुणा-

१ आचारे श्रुतविनये विक्षेपणे चैव भवति बोद्धव्यः। दोषस्य च निर्घातते विनये चतुर्धैषा प्रतिपत्तिः ॥१॥ २ सूत्रमर्थं च तथा हितकरं निःशेषं च वाचयति। एष चतुर्विधः खलु श्रुतविनयो भवति ज्ञातव्यः ॥ १ ॥ सूत्रं ग्राहयत्युद्युक्तोऽर्थं च श्रावयति प्रयत्नेन। यद्यस्य भवति योग्यं परिणाम्यादि (आश्रित्य) तत्तु श्रुतम् ॥ २ ॥ निश्शेषमपरिशेषं यावत्समाप्तं च तावद्वाचयति। एष श्रुतविनयः खलु निर्दिष्टः पूर्वसूरिभिः ॥ ३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२३॥

दीप अनुक्रम [२३]

वए पयत्तेणं । जं जस्स होइ जोगं परिणामगमाइ तं तु सुयं ॥ २ ॥ निस्सेसमपरिसेसं जाव समत्तं च ताव वाएइ । एसो सुयविणओ खलु निद्दिट्ठो पुव्वसूरीहिं ॥ ३ ॥' इत्याद्यागमाभिहितस्य श्रुतविनयस्य साक्षादभिधानं, यच्च विनयं प्रादुष्करिष्यामीति प्रतिज्ञाय 'अब्भुट्ठाणं अंजलि' तथा 'दंसणणाणचरित्ते' इत्यादिना ग्रन्थेनैव न तस्य शुद्धस्वरूपाभिधानं,किन्तु 'णिसंते सिया अमुहरी' इत्यादि लिङन्तादिपदैरुपदेशरूपतया, तदपि प्रसङ्गत एव यथायोगमाचार्यविनयोपदर्शनपरमिति भावनीयमिति सूत्रार्थः ॥ २३ ॥ पुनः शिष्यस्य वाग्विनयमाह—

मुसं परिहरे भिक्खू, न य ओहारिणीं वए। भासादोसं परिहरे, मायं च वज्जए सया॥२४॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'मृषा' इत्यसत्यं भूतनिह्नवादि 'परिहरेत्' सर्वप्रकारमपि त्यजेत्, भिक्षुः, 'न च' नैव 'अवधारणीं' गम्यमानत्वाद् वाचं गमिष्याम एव वक्ष्याम एव इत्येवमाद्यवधारणात्मिकां 'वदेत्' भाषेत, किं बहुना ? 'भाषादोषम्' अशेषमपि वाग्दूषणं सावद्यानुमोदनादिकं परिहरेत्, न च कारणोच्छेदं विना कार्योच्छेद इत्याह—मायां, चशब्दात् क्रोधादींश्च तद्धेतून् वर्जयेत् 'सदा' सर्वकालमिति सूत्रार्थः ॥ २४ ॥ किञ्च—

ण लविज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं। अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्संतरेण वा॥२५॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'न लपेत्' न वदेत् 'पृष्टः' इति पर्यनुयुक्तः 'सावद्यं' सपापं न 'निरर्थम्' अर्थविरहितं दशदाडिमादि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२३॥

दीप अनुक्रम [२३]

एष वन्ध्यासुतो यातीत्यादि वा 'न' नैव, म्रियतेऽनेन राज्ञादिविरुद्धेनोचारितेनेति मर्म तद्वच्छति वाचकतयेति मर्मगं, वचनमिति सर्वत्र शेषः, अतिसङ्क्लेशोत्पादकत्वात् तस्य[1], अत्राह च—"तहेव काणं काणत्ति, पंडगं पंडगत्ति वा। वाहियं वावि रोगित्ति, तेणं चोरोत्ति नो वए ॥१॥ एएणऽण्णेण अट्ठेणं, परो जेणुवहम्मई। आयारभावदोसण्णू, ण तं भासेज्ज पण्णवं ॥ २ ॥" 'आत्मार्थम्' आत्मप्रयोजनं 'परार्थं वा' परप्रयोजनम् 'उभयस्स'त्ति आत्मनः परस्य च, प्रयोजनमिति गम्यते 'अंतरेण व'त्ति विना वा प्रयोजनमित्युपस्कारः, भाषादोषं परिहरेदित्यनेनैव गते पृष्टविषयत्वादस्यापौनरुक्त्यं, यद्वा भाषादोषो जकारमकारादिरेव तत्र गृह्यत इति न दोषः, सूत्रद्वयेन चानेन वाग्गुप्त्यभिधानतश्चारित्रविनय उक्त इति सूत्रार्थः ॥ २५ ॥ इत्थं स्वगतदोषपरिहारमभिधायोपाधिकृतदोषपरिहारमाह—

समरेसु अगारेसुं, गिहसंधिसु अ महापहेसु। एगो एगित्थीए सद्धिं, नेव चिट्ठे न संलवे ॥२६॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'समरेषु' खरकुटीषु, तथा च चूर्णिकृत्—'समरं नाम जत्थ हेट्ठा लोयारा कम्मं करेंति ' उपलक्षणत्वादस्यान्येष्वपि नीचास्पदेषु 'अगारेषु' गृहेषु 'गृहसन्धिषु च' गृहद्वयान्तरालेषु च 'महापथेषु' राजमार्गादौ, किमित्याह—'एकः' असहायः एका—असहाया सा चासौ स्त्री च एकस्त्री तया 'सार्द्धं' सह 'नैव तिष्ठेत् ' असंल-

१ तथैव काणं काण इति, पण्डकं पण्डक इति वा। व्याधिमन्तं वाऽपि रोगी इति, स्तेनं चौर इति नो वदेत् ॥१॥ एतेनान्येनार्थेन, परो येनोपहन्यते। आचारभावदोषज्ञो, न तद्भाषेत प्रज्ञावान् ॥ २ ॥ २ समरं नाम यत्राधस्तात् लोहकाराः कर्म कुर्वन्ति।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२६॥

दीप अनुक्रम [२६]

पन्नेव चोर्द्धस्थानस्थो न भवेत्, 'न संलपेत्' न तयैव सह संभाषं कुर्यात्, अत्यन्तदुष्टतोद्भावनपरं चैकग्रहणम्, अन्यथा ससहायस्यापि ससहायया अपि च स्त्रिया सहावस्थानं सम्भाषणं चैवंविधास्पदेषु दोषायैव, प्रवचनमालिन्यादिदोषसम्भवात्, अथवा सममरिभिर्वर्तन्त इति समरा द्रव्यतो जनसंहारकारिणः संग्रामाः भावात्तु स्त्रीणामरिभूतत्वात् ज्ञानादिजीवस्वतत्त्वघातिनः तासामेव दृष्ट्वा दृष्टिसम्बन्धाः, तत्रेह भावसमरैरधिकारः, सप्तमी चेयं, ततोऽयं भावार्थः–द्रव्यसमरा हि न स्युरपि प्राणापहारिणः, भावसमरास्तु ज्ञानादिभावप्राणापहारिण एव, विशेषतस्त्वेकाकितायां, तत एवमेतेष्वपि दारुणेषु भावसमरेषु सत्सु नैक एकस्त्रिया सार्द्धमगारादिषु तिष्ठेत् संलपेद्वा, अनेनापि चारित्रविनय एवोक्तः, उपदेशाधिकाराच्च न पौनरुक्त्यम्, एवमन्यत्रापि भावनीयमिति सूत्रार्थः ॥ २६ ॥

कदाचित् स्खलिते च गुरुभिः शिक्षितो यत्कुर्यात् तदेवाह—

जं मे बुद्धाणुसासंति, सीएण फरुसेण वा । मम लाभुत्ति पेहाए, पयओ य (तं) पडिस्सुणे ॥२७॥(सूत्रम्)

व्याख्या—यन्मां बुद्धा 'अनुशासन्ति' शिक्षां ग्राहयन्ति 'शीतेन' सोपचारवचसा, 'शीलेन वे'ति पाठः, तत्र शीलं–महाव्रतादि उपचारात्तज्जनकं वचोऽपि शीलं तेन, यद्वा 'शील समाधौ' ततः शीलेन–समाधानकारिणा–भद्र! भवादृशामिदमनुचितमित्यादिना, 'परुषेण' कर्कशेन, उभयत्र वचसेति गम्यते, तत् 'प्रतिशृणुयात्' विधेयतया अङ्गीकुर्यादित्युत्तरेण सम्बन्धः, किमभिसन्धायेत्याह–मम 'लाभः' अप्राप्तार्थप्राप्तिरूपः, यन्मामनाचारकारिणममी शास-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||२७||

दीप अनुक्रम [२७]

न्तीति 'पेहाएत्ति' एकारस्यालाक्षणिकत्वात् प्रेक्ष्य–आलोच्य प्रेक्षया वा एवंविधबुद्धया 'पयतो'त्ति प्रयतः–प्रयत्नवान्, पदतो वा–तथाविधानुस्मर्यमाणसूत्रालापकादिति सूत्रार्थः ॥ २७ ॥ किमिह परत्र चात्यन्तोपकारि गुरुवचनमपि कस्यचिदन्यथा सम्भवति ?, येनैवमुपदिश्यते इत्याह—

अणुसासणमोवायं, दुक्कडस्स य पेरणं । हियं तं मन्नए पन्नो, वेस्सं भवइ असाहुणो ॥ २८ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'अनुशासनम्' उक्तरूपम् 'ओवायं'ति उपाये–मृदुपरुषभाषणादौ भवमौपायं, यद्वा 'ओवायंति' सूत्रत्वात् उपपतनमुपपातः–समीपभवनं तत्र भवमौपपातं–गुरुसंस्तारास्तरणविश्रामणादिकृत्यं 'दुष्कृतस्य च' कुत्सिताचरितस्य प्रेरणं–हा ! किमिदमित्थमाचरितमित्याद्यात्मकं, गुरुविहितमिति गम्यते, 'हितम्' इहपरलोकोपकारि, 'तदि'त्यनुशासनादि मन्यते 'प्राज्ञः' प्रज्ञावान्, 'द्वेष्यं' द्वेषोत्पादकं 'भवति' जायते, कस्य ?–'असाधोः' अपगतभावसाधुत्वस्य, तदनेनासाधोर्गुरुवचनस्याप्यन्यथात्वसम्भव उक्त इति सूत्रार्थः ॥ २८ ॥ अमुमेवार्थं व्यक्तीकर्तुमाह—

हियं विगयभया बुद्धा, फरुसमप्पणुसासणं । वेस्सं तं होइ मूढाणं, खंतिसुद्धिकरं पयं ॥२९॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'हितं' पथ्यं 'विगतभयाः' सप्तभयरहिताः 'बुद्धाः' अवगततत्त्वाः, मन्यन्त इति शेषः, 'परुषमपि' कर्कशमपि, अनुशासनं शिष्याणां गुरुविहितमिति प्रक्रमः, 'द्वेष्यं' द्वेषोत्पादि 'तद्' इत्यनुशासनं भवति 'मूढानाम्'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२९॥

दीप अनुक्रम [२९]

अज्ञानानां, क्षान्तिः–क्षमा शुद्धिः–आशयविशुद्धता तत्करणं, यद्वा–क्षान्तेः शुद्धिः–निर्मलता क्षान्तिशुद्धिस्तत्करम्, अमूढानां विशेषतः क्षान्तिहेतुत्वाद् गुर्वनुशासनस्य, मार्दवादिशुद्धिकरत्वोपलक्षणं चैतद्, अत एव पद्यते–गम्यते गुणैर्ज्ञानादिभिरिति पदं–ज्ञानादिगुणस्थानमित्यर्थः, अथवा–परुषमपीत्यपिशब्दो भिन्नक्रमः, ततश्च हितमप्यायत्यां विगतभयाद् 'बुद्धाद्' आचार्यादेः, उत्पन्नमिति शेषः, परुषं यच्छ्रुत्यसुखदमनुशासनं, तत्किमित्याह–द्वेष्यं तद्भवति मूढानां, शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ २९ ॥ पुनर्विनयमेवाह—

आसणे उवचिट्ठिज्जा, अनुच्चेऽकुक्कुए थिरे । अप्पुत्थाई निरुत्थाई, निसीज्जा अप्पकुक्कुई ॥३०॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'आसनं' पीठादि वर्षासु ऋतुबद्धे तु पादपुञ्छनं तत्र पीठादौ 'उपतिष्ठेत्' उपविशेत्, 'अनुच्चे' द्रव्यतो नीचे भावतस्त्वल्पमूल्यादौ, गुर्वासनात् इति गम्यते, 'अकुक्कुचे' अस्पन्दमाने, न तु तिनिशफलकवत् किञ्चिच्चलति, तस्य शृङ्गाराङ्गत्वात्, 'स्थिरे' समपादप्रतिष्ठिततया निश्चले, अन्यथा सत्त्वविराधनासम्भवात्, ईदृश्यप्यासने अल्पमुत्थातुं शीलमस्येति अल्पोत्थायी, प्रयोजनेऽपि न पुनः पुनरुत्थानशीलः, 'निरुत्थायी' न निमित्तं विनोत्थानशीलः, उभयत्रान्यथाऽनवस्थितत्वसम्भवात्, एवंविधश्च किमित्याह–'निषीदेत्' आसीत, 'अप्पकुकुइ' त्ति अल्पस्पन्दनः, करादिभिरल्पमेव चलन्, यद्वा–अल्पशब्दोऽभावाभिधायी, ततश्चाल्पम्–असत्, कुकु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३०॥

दीप अनुक्रम [३०]

यं'ति कौत्कुचं–करचरणभ्रूभ्रमणाद्यसच्चेष्टात्मकमस्येत्यल्पकौत्कुचः, अनेनाप्यौपचारिकविनयः प्रकारान्तरेणोक्त इति सूत्रार्थः ॥ ३० ॥ सम्प्रति चरणकरणविनयात्मिकामेषणासमितिमाह—

कालेण णिक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे। अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे॥३१॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'कालेण' त्ति सप्तम्यर्थे तृतीया, काले प्रस्तावे 'निष्क्रामेत्' गच्छेत् भिक्षुः, अकालनिर्गमे आत्मक्लामनादिदोषसम्भवात्, तथा कालेन च 'प्रतिक्रामेत्' प्रतिनिवर्त्तेत, भिक्षाटनादिति शेषः, इदमुक्तं भवति–अलाभेऽपि –'अलाभोत्ति न सोइज्जा, तवोत्ति अहियासए' इति समयमनुस्मरन्, अल्पं मया लब्धं न लब्धं वेति लाभार्थी नाटन्नेव तिष्ठेत्, किमित्येवमत आह–'अकालं' तत्तत्क्रियाया असमयं चेति, यस्माद्विपर्ययकाले प्रस्तावे प्रत्युप्रेक्षणादिसम्बन्धिनि 'कालमि'ति तत्तत्कालोचितं क्रियाकाण्डं 'समाचरेत्' कुर्यात्, अन्यथा कृषीबलकृषीक्रियाया इवाभिमतफलोपलम्भासम्भव इति गर्भार्थः, अनेन च कालनिष्क्रमणादौ हेतुरुक्तः, प्रसङ्गात् शेषक्रियाविषयतया वा नेयं, समुच्चयार्थश्च तदा चशब्द इति सूत्रार्थः ॥ ३१ ॥ निर्गतश्च यत्कुर्यात्तदाह–

परिवाडिए ण चिट्ठिज्जा, भिक्खू दत्तेसणं चरे। पडिरूवेण एसित्ता, मियं कालेण भक्खए॥३२॥(सूत्रम्)

व्याख्या–'परिपाटी' गृहपङ्क्तिः, तस्यां 'न तिष्ठेत्' न पङ्क्तिस्थगृहभिक्षोपादानायैकत्रावस्थितो भवति, तत्र

१ अलाभ इति न शोचेत् तप इत्यध्यासीत।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [३२]

दायकदोषाऽनवगमप्रसङ्गात्, यद्वा–पङ्क्त्यां–भोक्तुमुपविष्टपुरुषादिसम्बन्धिन्यां न तिष्ठेत्, अप्रीत्यदृष्टकल्याणतादिदोषसम्भवात्, किञ्च ? 'भिक्षुः' यतिः, दत्तं–दानं तस्मिन् गृहिणा दीयमाने 'एषणां' तद्दूतदोषान्वेषणात्मिकां 'चरेत्' आसेवेत, 'चरतिः आसेवायामपि वर्त्तते' इति वचनात्, अनेन ग्रहणैषणोक्ता, किं विधाय दत्तैषणां चरेत् ?–'प्रतिरूपेण' प्रधानेन रूपेणेति गम्यते, यद्वा–प्रतिप्रतिबिम्बं चिरन्तनमुनीनां यद्रूपं तेन, उभयत्र पतद्ग्रहादिधारणात्मकेन सकलान्यधार्मिकविलक्षणेन, न तु 'वस्त्रं छत्रं छात्रं पात्रं यष्टिं च वर्जयेद् भिक्षुः । वेषेण परिकरेण च कियताऽपि विना न भिक्षाऽपि ॥ १ ॥' इत्यादिवचनाकर्णनाद् विभूषणात्मकेनैषयित्वा,अनेन च गवेषणाविधिरुक्तः, ग्रासैषणाविधिमाह–'मितं' परिमितमतिभोजनात् स्वाध्यायविघातादिबहुदोषसंभवात्, 'कालेन' इति–'णमोक्कारेण पारित्ता, करित्ता जिणसंथवं । सज्झायं पट्ठवित्ता णं, वीसमेज्ज खणं मुणी ॥१॥' इत्याद्यागमोक्तप्रस्तावेनाद्रुताविलम्बितरूपेण वा 'भक्षयेत्' भुञ्जीतेति सूत्रार्थः ॥ ३२ ॥ यत्रान्यभिक्षुकासंभवस्तत्र विधिरुक्तः, यत्र तु पुराऽऽयातान्यभिक्षुकसम्भवस्तत्र विधिमाह–

नाइदूरे अणासण्णे,नन्नेसिं चक्खुफासओ। एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठं,लंघित्ता तं नइक्कमे॥३३॥(सूत्रम्)

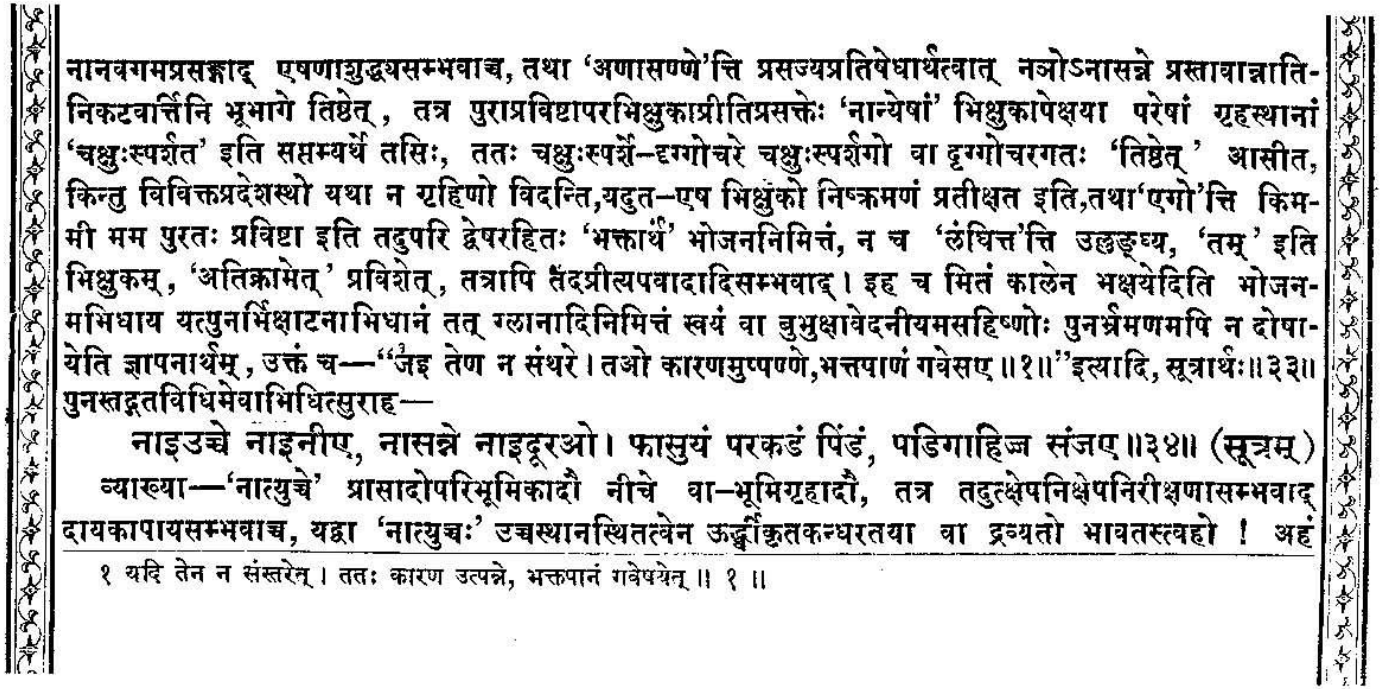
व्याख्या—'नातिदूरं' सुब्व्यत्ययात् नातिदूरे–अतिविप्रकर्षवति देशे,तिष्ठेदिति सम्बन्धः, तत्र च तन्निर्गमावस्था-

१ नमस्कारेण पारयित्वा कृत्वा (च) जिनसंस्तवम् । स्वाध्यायं प्रस्थाप्य विश्राम्येत् क्षणं मुनिः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३३॥

दीप अनुक्रम [३३]



नानवगमप्रसङ्गाद् एषणाशुद्धयसम्भवाच, तथा 'अणासण्णे'त्ति प्रसज्यप्रतिषेधार्थत्वात् नञोऽनासन्ने प्रस्तावान्नाति-निकटवर्त्तिनि भूभागे तिष्ठेत्, तत्र पुराप्रविष्टापरभिक्षुकाप्रीतिप्रसक्तेः 'नान्येषां' भिक्षुकापेक्षया परेषां गृहस्थानां 'चक्षुःस्पर्शत' इति सप्तम्यर्थे तसिः, ततः चक्षुःस्पर्शे–दृग्गोचरे चक्षुःस्पर्शगो वा दृग्गोचरगतः 'तिष्ठेत्' आसीत, किन्तु विविक्तप्रदेशस्थो यथा न गृहिणो विदन्ति,यदुत–एष भिक्षुको निष्क्रमणं प्रतीक्षत इति,तथा'एगो'त्ति किम-मी मम पुरतः प्रविष्टा इति तदुपरि द्वेषरहितः 'भक्तार्थं' भोजननिमित्तं, न च 'लंघित्त'त्ति उल्लङ्घ्य, 'तम्' इति भिक्षुकम्, 'अतिक्रामेत्' प्रविशेत्, तत्रापि तेंदग्रीत्यपवादादिसम्भवाद्। इह च मितं कालेन भक्षयेदिति भोजन-मभिधाय यत्पुनर्भिक्षाटनाभिधानं तत् ग्लानादिनिमित्तं स्वयं वा बुभुक्षावेदनीयमसहिष्णोः पुनर्भ्रमणमपि न दोषा-येति ज्ञापनार्थम्, उक्तं च—"[1]जइ तेण न संथरे। तओ कारणमुप्पण्णे,भत्तपाणं गवेसए॥१॥"इत्यादि, सूत्रार्थः॥३३॥ पुनस्तद्गतविधिमेवाभिधित्सुराह—

नाइउच्चे नाइनीए, नासन्ने नाइदूरओ। फासुयं परकडं पिंडं, पडिगाहिज्ज संजए॥३४॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'नात्युच्चे' प्रासादोपरिभूमिकादौ नीचे वा–भूमिगृहादौ, तत्र तदुत्क्षेपनिक्षेपनिरीक्षणासम्भवाद् दायकापायसम्भवाच, यद्वा 'नात्युच्चः' उच्चस्थानस्थितत्वेन ऊर्द्धीकृतकन्धरतया वा द्रव्यतो भावतस्त्वहो ! अहं

१ यदि तेन न संस्तरेत्। ततः कारण उत्पन्ने, भक्तपानं गवेषयेत्॥ १॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३४॥

दीप अनुक्रम [३४]

लब्धिमानिति मदाध्मातमानसः, नीचोऽत्यन्तावनतकन्धरो निम्नस्थानस्थितो वा द्रव्यतः भावतस्तु न मयाऽद्य किञ्चित् कुतोऽप्यवाप्तमिति दैन्यवान्, उभयत्र वा समुच्चये, तथा 'नासन्ने' समीपवर्तिनि 'नातिदूरे' अतिविप्रकर्षवति प्रदेशे, स्थित इति गम्यते, यथायोगं जुगुप्साशङ्कैषणाशुद्ध्यसम्भवादयो दोषाः, अथवा अत एव नासन्नो नातिदूरगः, प्रगता असव इति सूत्रत्वेन मतुब्लोपादसुमन्तः–सहजसंसक्तिजन्मानो यस्मात् तत् प्रासुकं, परेण–गृहिणाऽऽत्मार्थं परार्थं वा कृतं–निर्वर्त्तितं परकृतं, किं तत् ?–'पिण्डम्' आहारं 'प्रतिगृह्णीयात्' स्वीकुर्यात्, 'संयतः' यतिरिति सूत्रार्थः ॥ ३४ ॥ इत्थं सूत्रद्वयेन गवेषणाग्रहणैषणाविषयं विधिमुक्त्वा ग्रासैषणाविधिमाह–

अध्ययनम् १

अप्पपाणेऽप्पबीए वा,पडिच्छन्ने य संवुडे । समयं संजओ भुंजे,जयं अप्परिसाडियं॥३५॥(सूत्रम्)

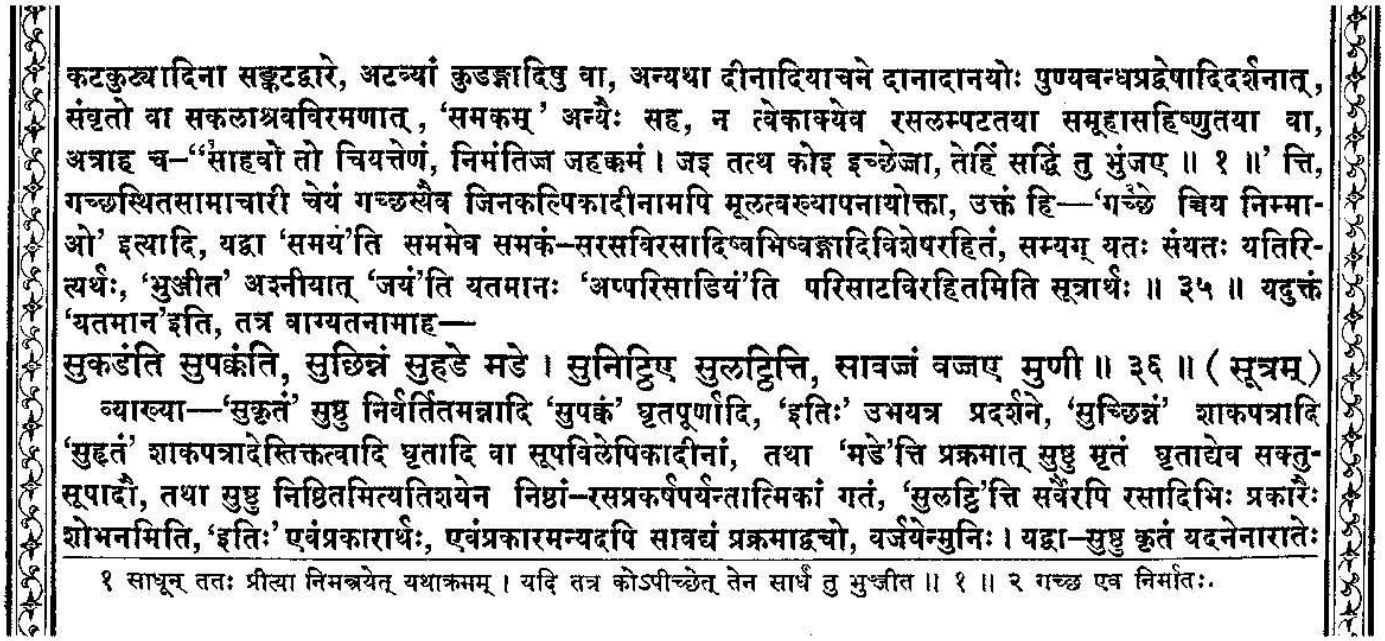
व्याख्या—अल्पशब्दोऽभावाभिधायी, तथेहापि सूत्रत्वेन मत्वर्थीयलोपात् प्राणाः–प्राणिनस्तताश्चाल्पा–अविद्यमानाः प्राणाः–प्राणिनो यस्मिंस्तदल्पप्राणं तस्मिन्–अवस्थितागन्तुकजन्तुविरहिते, उपाश्रयादाविति गम्यते, तथा अल्पानि–अविद्यमानानि बीजानि–शाल्यादीनि यस्मिंस्तदल्पबीजं तस्मिन्, उपलक्षणत्वाच्चास्य सकलैकेन्द्रियविरहिते, ननु चाल्पप्राण इत्युक्ते अल्पबीज इति गतार्थं, बीजानामपि प्राणत्वाद्, उच्यते, मुखनासिकाभ्यां यो निर्गच्छति वायुः स एवेह लोके रूढितः प्राणो गृह्यते, अयं च द्वीन्द्रियादीनामेव संभवति, न बीजाद्येकेन्द्रियाणामिति कथं गतार्थता ?, तत्रापि 'प्रतिच्छन्ने' उपरिप्रावरणान्विते, अन्यथा सम्पातिमसत्त्वसम्पातसम्भवात्, 'संवृते' पार्श्वतः

॥ ६० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३५॥

दीप अनुक्रम [३५]



कटकुट्यादिना सङ्कटद्वारे, अटव्यां कुडङ्गादिषु वा, अन्यथा दीनादियाचने दानादानयोः पुण्यबन्धप्रद्वेषादिदर्शनात्, संवृतो वा सकलाश्रवविरमणात्, 'समकम्' अन्यैः सह, न त्वेकाकयेव रसलम्पटतया समूहासहिष्णुतया वा, अत्राह च–"साहवो तो चियत्तेणं, निमंतिज्ज जहक्कमं। जइ तत्थ कोइ इच्छेज्जा, तेहिं सद्धिं तु भुंजए ॥ १ ॥[1]' त्ति, गच्छस्थितसामाचारी चेयं गच्छस्यैव जिनकल्पिकादीनामपि मूलत्वख्यापनायोक्ता, उक्तं हि—'गच्छे चिय निम्मा-ओ[2]' इत्यादि, यद्वा 'समयं'ति सममेव समकं–सरसविरसादिष्वभिष्वङ्गादिविशेषरहितं, सम्यग् यतः संयतः यतिरित्यर्थः, 'भुञ्जीत' अश्नीयात् 'जयं'ति यतमानः 'अप्परिसाडियं'ति परिसाटविरहितमिति सूत्रार्थः ॥ ३५ ॥ यदुक्तं 'यतमान'इति, तत्र वाग्यतनामाह—

सुकडंति सुपक्कंति, सुछिन्नं सुहडे मडे। सुनिट्ठिए सुलट्ठित्ति, सावज्जं वज्जए मुणी ॥ ३६ ॥ (सूत्रम्)

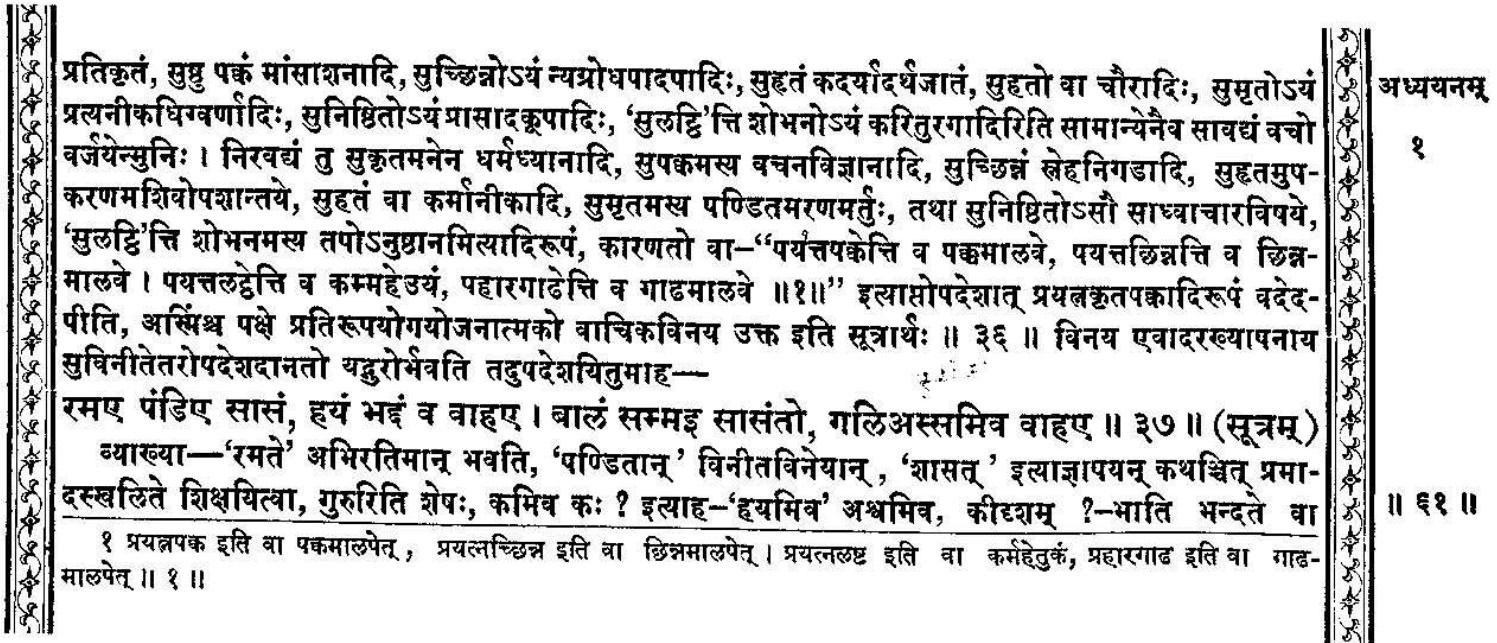
व्याख्या—'सुकृतं' सुष्ठु निर्वर्तितमन्नादि 'सुपक्वं' घृतपूर्णादि, 'इतिः' उभयत्र प्रदर्शने, 'सुच्छिन्नं' शाकपत्रादि 'सुहृतं' शाकपत्रादेस्तिक्तत्वादि घृतादि वा सूपविलेपिकादीनां, तथा 'मडे'त्ति प्रक्रमात् सुष्ठु मृतं घृताद्येव सक्तु-सूपादौ, तथा सुष्ठु निष्ठितमित्यतिशयेन निष्ठां–रसप्रकर्षपर्यन्तात्मिकां गतं, 'सुलट्ठि'त्ति सर्वैरपि रसादिभिः प्रकारैः शोभनमिति, 'इतिः' एवंप्रकारार्थः, एवंप्रकारमन्यदपि सावद्यं प्रक्रमाद्वचो, वर्जयेन्मुनिः। यद्वा–सुष्ठु कृतं यदनेनारातेः

१ साधून् ततः प्रीत्या निमन्त्रयेत् यथाक्रमम्। यदि तत्र कोऽपीच्छेत् तेन सार्धं तु भुञ्जीत ॥ १ ॥ २ गच्छ एव निर्मातः.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३६॥

दीप अनुक्रम [३६]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ ६१ ॥

प्रतिकृतं, सुष्ठु पक्वं मांसाशनादि, सुच्छिन्नोऽयं न्यग्रोधपादपादिः, सुहृतं कदर्यार्थजातं, सुहतो वा चौरादिः, सुमृतोऽयं प्रत्यनीकधिग्वर्णादिः, सुनिष्ठितोऽयं प्रासादकूपादिः, 'सुलट्ठि'त्ति शोभनोऽयं करितुरगादिरिति सामान्येनैव सावद्यं वचो वर्जयेन्मुनिः । निरवद्यं तु सुकृतमनेन धर्मध्यानादि, सुपक्वमस्य वचनविज्ञानादि, सुच्छिन्नं स्नेहनिगडादि, सुहृतमुपकरणमशिवोपशान्तये, सुहृतं वा कर्मानीकादि, सुमृतमस्य पण्डितमरणमर्तुः, तथा सुनिष्ठितोऽसौ साध्वाचारविषये, 'सुलट्ठि'त्ति शोभनमस्य तपोऽनुष्ठानमित्यादिरूपं, कारणतो वा–"पयत्तपक्केत्ति व पक्कमालवे, पयत्तछिन्नत्ति व छिन्नमालवे । पयत्तलट्ठेत्ति व कम्महेउयं, पहारगाढेत्ति व गाढमालवे ॥१॥" इत्यादेशोपदेशात् प्रयत्नकृतपक्वादिरूपं वदेदपीति, अस्मिंश्च पक्षे प्रतिरूपयोगयोजनात्मको वाचिकविनय उक्त इति सूत्रार्थः ॥ ३६ ॥ विनय एवादरख्यापनाय सुविनीतेतरोपदेशदानतो यद्गुरोर्भवति तदुपदेशयितुमाह—

रमए पंडिए सासं, हयं भद्दं व वाहए । बालं सम्मइ सासंतो, गलिअस्समिव वाहए ॥ ३७ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'रमते' अभिरतिमान् भवति, 'पण्डितान्' विनीतविनेयान्, 'शासत्' इत्याज्ञापयन् कथञ्चित् प्रमादस्खलिते शिक्षयित्वा, गुरुरिति शेषः, कमिव कः ? इत्याह–'हयमिव' अश्वमिव, कीदृशम् ?–भाति भन्दते वा

१ प्रयत्नपक इति वा पक्कमालपेत्, प्रयत्नच्छिन्न इति वा छिन्नमालपेत् । प्रयत्नलष्ट इति वा कर्महेतुकं, प्रहारगाढ इति वा गाढमालपेत् ॥ १ ॥

अध्ययनम् १ ॥ ६१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३७॥

दीप अनुक्रम [३७]

भद्रस्तं–कल्याणावहं 'वाहकः' अश्वन्दमः, 'बालम्' अज्ञं 'श्राम्यति' खिद्यते शासत्, स हि सकृदुक्त एव न कृत्येषु प्रवर्तते, तत इदं कुरु इदं च मा कार्षीरित्यादि पुनः पुनस्तमाज्ञापयन् शिक्षयित्वा, कमिव कः? इत्याह–'गलिम्' उक्तरूपमश्वमिव वाहक इति सूत्रार्थः ॥ ३७ ॥ गुरोः श्रमहेतुत्वमुद्भावयन् बालस्याभिसन्धिमाह—

खड्डुयाहिं चवेडाहिं, अक्कोसेहि वहेहि य। कल्लाणमणुसासंतं, पावदिट्ठित्ति मन्नइ ॥ ३८ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'खड्डुकाभिः' टक्कराभिः 'चपेटाभिः' करतलाघातैः 'आक्रोशैः' असत्यभाषणैः 'वधैश्च' दण्डिकादिघातैः, चशब्दादन्यैश्चैवंप्रकारैर्दुःखहेतुभिरनुशासनप्रकारैस्तमाचार्यं 'कल्याणम्' इहपरलोकहितम् 'अनुसासन्तं' शिक्षयन्तं, पापा दृष्टिः–बुद्धिरस्येति पापदृष्टिः, अयमाचार्य इति मन्यते, यथा–पापोऽयं मां हन्ति निर्घृणत्वात्, चारकपालकवत्, पठन्ति च–'खड्डुया मे' इत्यादि, अत्र व्यवच्छेदफलत्वाद् वाक्यस्य खड्डुकादय एव मम नापरं किञ्चित् समीहितमस्तीत्यभिसन्धिना कल्याणमनुशासन(त)माचार्यं पापदृष्टिं मन्यते, यद्वा–वाग्भिरप्यनुशास्यमानोऽसौ खड्डुकादिरूपा वाचो मन्यत इति सूत्रार्थः ॥ ३८ ॥ गुरोरतिहितत्वं प्रचिकाशयिषुर्विनीताभिसन्धिमाह—

पुत्तो मे भाय नाइत्ति, साहू कल्लाण मन्नइ। पावदिट्ठि उ अप्पाणं, सासं दासं व मन्नइ ॥३९॥(सूत्रम्)

व्याख्या—पुत्रो मे भ्राता ज्ञातिरिति, अत्रेवार्थस्य गम्यमानत्वात् पुत्र इवेत्यादिबुद्ध्याऽऽचार्यो मामनुशास्तीति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३९॥

दीप अनुक्रम [३९]

'साधुः' सुशिष्यः 'कल्याणं' कल्याणहेतुमाचार्यमनुशासनं वा मन्यते, स हि विवेचयति शिष्यः–सौहार्दादसौ मां शास्ति, दुर्विनीतत्वे हि मम किमस्य परिहीयते ?, ममैव त्वर्थभ्रंश इति । बालोऽप्येवं किं न मन्यत इत्याह– 'पापदृष्टिस्तु' कुशिष्यः पुनरात्मानं 'सासं'ति प्राक्कृतत्वाद्धितानुशासनेनापि शास्यमानं दासमिव मन्यते, यथा असौ दासवन्मामाज्ञापयति, ततोऽस्य शास्तरि पापदृष्टिताऽभिसन्धिरेव सम्भवतीति सूत्रार्थः ॥ ३९ ॥ विनयसर्वस्वमुपदेष्टुमाह—

ण कोवए आयरियं, अप्पाणंपि ण कोवए । बुद्धोवघाई न सिया, न सिया तोत्तगवेसए ॥४०॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'न कोपयेत्' न कोपोपेतं कुर्यात्, आचार्यम्, उपलक्षणत्वादपरमपि विनयार्हम्, 'आत्मानमपि' गुरुभिरतिपरुषभाषणादिनाऽनुशिष्यमाणं न कोपयेत्, कथञ्चित् सकोपतायामपि 'बुद्धोपघाती' आचार्योपघातकृत् 'न स्यात्' न भवेत्, तथा न स्यात् तुद्यते–व्यथ्यतेऽनेनेति तोत्रं–द्रव्यतः प्राजनको भावतस्तु तद्दोषोद्भावकतया व्यथोपजनकं वचनमेव, तद् गवेषयति किमहममीषां जात्यादिदूषकं वच्मि? इत्यन्वेषयतीति तोत्रगवेषकः, प्रक्रमाद्गुरूणां, न स्यादिति चादरख्यापनार्थत्वान्न पुनरुक्तं, यदुक्तं–बुद्धोपघाती न स्यात्तत्रोदाहरणं—कश्चिदाचार्यादिगणिगुणसम्पत्समन्वितो युगप्रधानः प्रक्षीणप्रायकर्माऽऽचार्योऽनियतविहारितया विहर्तुमिच्छन्नपि परिक्षीणजङ्घाबलः क्वचिदेकस्थान एवावतस्थे, तत्रत्यश्रावकजनेन चैतेषु भगवत्सु सत्सु तीर्थं सनाथमिति विचिन्तयता तद्वयोऽवस्थासमुचितस्नि-

॥ ६२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४०॥

दीप अनुक्रम [४०]

ग्धमधुराहारादिभिः प्रतिदिवसमुपचर्यते स्म, तच्छिष्याश्च गुरुकर्मतया कदाचिदचिन्तयन्, यथा–कियचिरमयमज-
ङ्गमोऽस्माभिरनुपालनीयः, ततस्तमनशनमादापयितुमिच्छवोऽतिभक्तश्रावकजनानुदिनदीयमानमुचितमशनादि तस्मै
न समर्पयामासुः, अन्तप्रान्तादि च समुपनीय सविषादमिव तत्पुरत उक्तवन्तः–किमिह कुर्मः ?, यदीदृशामपि
भवतामुचितमशनादि नामी विवेकविकलतया सदपि सम्पादयितुमीशते, श्राद्धानभिदधति च, यथा–अत्यन्तनिःस्पृह-
तया शरीरयापनामपि प्रत्यनपेक्षिणः प्रणीतं भक्तपानमाचार्या नेच्छन्ति, किन्तु संलेखनामेव विधातुमध्यवस्यन्तीति।
ततस्ते तद्वचनमाकर्ण्य मन्युभरनिभृतचेतसस्तमुपसृत्य सगद्गदं जगदुः–भगवन् ! भुवनभवभावस्वभावावभासिष्वर्हत्सु
चिरतरातीतेष्वपि प्रतपत्सु भवत्सु भुवनमवभासवदिवाभाति, तत्किमयमत्र भवद्भिरकाल एव संलेखनाविधिरारब्धः?,
न च वयममीषां निर्वेदहेतव इति मन्तव्यं, यतः–शिरःस्थिता अपि भवन्तो न भारमस्माकममीषां वा शिष्याणां
कदाचिदादधति, ततस्तैरिङ्गितज्ञैरवगतं–यथाऽस्मन्शिष्यमतिविजृम्भितमेतत्, किममीषामप्रीतिहेतुना प्राणधारणेन ?,
न खलु धर्मार्थिनां कस्यचिदप्रीतिरुपादयितुमुचितेति चेतसि विचिन्त्य मुकुलितमेव तत्पुरत उक्तं–कियचिरमज-
ङ्गमैरस्माभिरुपरोधनीयास्तपस्विनो भवन्तश्च, तद्वरमुत्तमाचरितमुत्तमार्थमेव च प्रतिपद्यामहे इति तानसौ संस्थाप्य
भक्तमेव प्रत्याचचक्षे। इत्येवं बुद्धोपघाती न स्यादिति सूत्रार्थः ॥ ४० ॥ एवं तावदाचार्यं न कोपयेदित्युक्तं, कथञ्चित्
कुपिते वा यत् कृत्यं तदाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४१॥

दीप अनुक्रम [४१]

आयरियं कुवियं नच्चा, पत्तिएणं पसायए । विज्झविज्जा पंजलिउडे, वएज्जा न पुणोत्ति य॥४१॥(सूत्रम्)

व्याख्या—' आचार्यम् ' उक्तस्वरूपम्, उपलक्षणत्वादुपाध्यायादिकमपि 'कुपितम्' इति सकोपमनुशासनोदासीनताभिः,—' पुरिसजाएवि तहा विणीयविणयम्मि णत्थि अभिओगो । सेसंमि उ अभिओगो जणवयजाए जहा आसे ॥ १ ॥' इत्यागमात्, कृतबहिष्कोपं वा दृष्टयप्रदानादिना 'ज्ञात्वा' अवगम्य 'पत्तिएणं'ति आर्षत्वात् प्रतीतिः प्रयोजनमस्येति प्रातीतिकं–शपथादि, अपिशब्दस्य चेह लुप्तनिर्दिष्टत्वात् तेनापि प्रसादयेत्, इदमुक्तं भवति–गुरुकोपहेतुकमबोध्याशातनामुक्त्यभावादिकं विगणयन् यया तया गत्या तत्प्रसादनमेवोत्पादयेत्, सर्वमपि वा प्रतीत्युत्पादकं वचः प्रातीतिकं तेन प्रसादयेत्, यद्वा 'पत्तिएणं'ति प्रीत्या साम्नैव, न भेददण्डाद्युपदर्शनेन, एतदेवाह–'विध्यापयेत्' कथञ्चिदुदीरितकोपानलानप्युपशमयेत्, प्रकर्षेण–अन्तःप्रीत्यात्मकेन कृतो–विहितोऽञ्जलिः–उभयकरमीलनात्मकोऽनेनेति प्रकृताञ्जलिः, प्राकृतत्वाच्च कृतशब्दस्य परनिपातः, प्रकृष्टं वा–भावान्विततयाऽञ्जलिपुटमस्येति प्राञ्जलिपुटः, इत्थं कायिकं मानसं च विध्यापनोपायमभिधाय वाचिकं वक्तुमाह–'वदेत्' ब्रूयात् न पुनरिति, चशब्दो भिन्नक्रमः, वदेदित्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः, ततोऽयमर्थः–कथञ्चित् कृतकोपानपि गुरून् विध्यापयन् वदेत्

१ पुरुषजातेऽपि तथा विनीतविनये नास्त्यभियोगः । शेषे त्वभियोगो जनपदजाते यथाऽश्वे ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४१||

दीप अनुक्रम [४१]

यथा–भगवन्! प्रमादाचरितमिदं मम क्षमितव्यं, न पुनरित्थमाचरिष्यामीति सूत्रार्थः ॥ ४१ ॥ साम्प्रतं यथा निरपवादतयाऽऽचार्यकोप एव न स्यात् तथाऽऽह–

धम्मज्जियं च ववहारं, बुद्धेहाऽऽयरियं सया । तमायरंतो ववहारं, गरहं नाभिगच्छइ ॥ ४२ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—धर्मेण–क्षान्त्यादिरूपेणार्जितम्–उपार्जितं धर्मार्जितं, न हि क्षान्त्यादिधर्मविरहित इमं प्राप्नोतीति,'चः' पूरणे, विविधं विधिवद्वाऽवहरणमनेकार्थत्वादाचरणं व्यवहारस्तं–यतिकर्तव्यतारूपं, 'बुद्धैः' अवगततत्त्वैः आचरितं, 'सदा' सर्वकालं, 'त'मिति सदावस्थिततया प्रतीतमेव 'आचरन्' व्यवहरन्, यद्वा–यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् सुब्व्यत्ययाच्च धर्मार्जितो बुद्धैराचरितश्च यो व्यवहारस्तमाचरन्–कुर्वन्, विशेषेणापहरति पापकर्मेति व्यवहारस्तं, व्यवहारविशेषणमेतत्, एवं च किमित्याह–'गर्हाम्' अविनीतोऽयमित्येवंविधां निन्दां 'नाभिगच्छति' न प्राप्नोति, यतिरिति गम्यते। यद्वा–आचार्यविनयमनेनाह, तत्र धर्मादनपेतो धर्म्यो–न धर्मातिक्रान्तः, 'जियं च ववहारं'ति प्राकृतत्वाच्चस्य भिन्नक्रमत्वाज्जीतव्यवहारश्च, अनेन चागमादिव्यवहारव्यवच्छेदमाह, अत एव 'बुद्धैः' आचार्यैराचरितः सदा–सर्वकालं त्रिकालविषयत्वात् जीतव्यवहारस्य, य एवंविधो व्यवहारस्तं व्यवहारं–प्रमादात् स्खलितादौ प्रायश्चित्तदानरूपमाचरन् 'गर्हां' दण्डरुचिरयं निर्घृणो वेत्येवंरूपां जुगुप्सां नाभिगच्छति, आचार्य इति शेषः, न चायं निजक उपकारी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४२॥

दीप अनुक्रम [४२]

वा मम विनेय इति न दण्डनीय इति ज्ञापनार्थं च धर्म्यजीतविशेषणं, पठन्ति च–'तमायरंतो मेहावि'त्ति सुगममेवेति सूत्रार्थः ॥ ४२ ॥ किं बहुना ?—

मणोगयं वक्कगयं, जाणित्ताऽऽयरियस्स उ । तं परिगिज्झ वायाए, कम्मुणा उववायए ॥ ४३ ॥(सूत्रम्)

व्याख्या—मनसि–चेतसि गतं–स्थितं मनोगतं तथा वाक्ये–वचनरचनात्मनि गतं वाक्यगतं, कृत्यमिति शेषः, वाक्यग्रहणं तु पदस्यापरिसमाप्तार्थाभिधायित्वेन क्वचिदप्रयोजकत्वात्, 'ज्ञात्वा' अवबुध्य 'आचार्यस्य' विनयार्हस्य गुरोः, तुशब्दः कायगतकृत्यपरिग्रहार्थः, 'तत्' मनोगतादि 'परिगृह्य' अङ्गीकृत्य 'वाचा' वचसा इदमित्थं करोमीत्यात्मकेन 'कर्मणा' क्रियया तन्निर्वर्तनात्मिकया तदुपपादयेत्–विदधीत, पठन्ति च—'मणोरुइं वक्करुइं, जाणित्ताऽऽयरियस्स उ'अत्र च मनसि रुचिः–अभिलाषस्तामाचार्यस्य ज्ञात्वा–इदममीषां भगवतामभिमतमित्यवगम्य, वाक्ये रुचिः–पर्यवसितकार्यवाञ्छा तां च, शेषं प्राग्वत्, अनेन सूक्ष्मो विनय उक्त इति सूत्रार्थः ॥ ४३ ॥ स चैवं विनीतविनयतया यादृक् स्यात्तदाह–

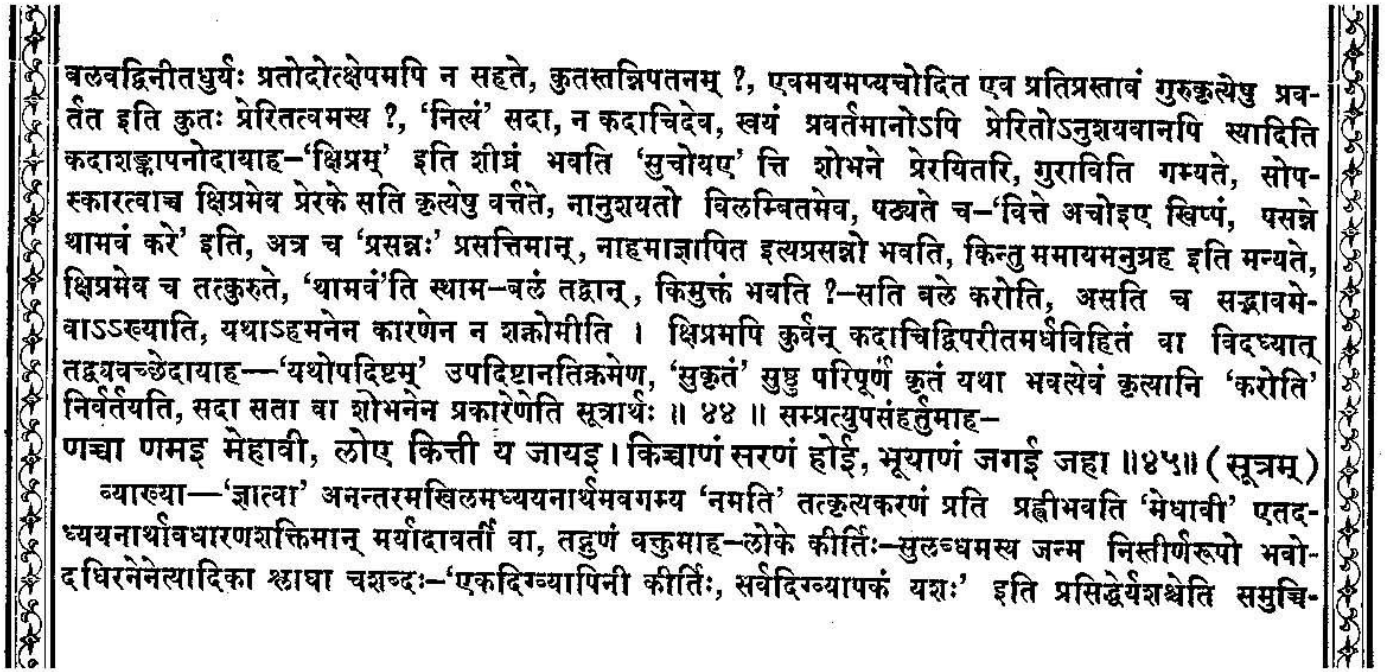
वित्ते अचोइए निच्चं, खिप्पं हवइ सुचोयए । जहोवइट्ठं सुकडं, किच्चाइं कुव्वई सया ॥४४॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'वित्ते' इति विनीतविनयतयैव सकलगुणाश्रयतया प्रतीतः प्रसिद्ध इतियावत्, 'अचोइए'त्ति यथा हि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४४||

दीप अनुक्रम [४४]



बलवद्विनीतधुर्यः प्रतोदोत्क्षेपमपि न सहते, कुतस्तन्निपतनम् ?, एवमयमप्यचोदित एव प्रतिप्रस्तावं गुरुकृत्येषु प्रवर्तत इति कुतः प्रेरितत्वमस्य ?, 'नित्यं' सदा, न कदाचिदेव, स्वयं प्रवर्तमानोऽपि प्रेरितोऽनुशयवानपि स्यादिति कदाशङ्कापनोदायाह–'क्षिप्रम्' इति शीघ्रं भवति 'सुचोयए' त्ति शोभने प्रेरयितरि, गुरावितिं गम्यते, सोपस्कारत्वाच्च क्षिप्रमेव प्रेरके सति कृत्येषु वर्त्तते, नानुशयतो विलम्बितमेव, पठ्यते च–'वित्ते अचोइए खिप्पं, पसन्ने थामवं करे' इति, अत्र च 'प्रसन्नः' प्रसत्तिमान्, नाहमाज्ञापित इत्यप्रसन्नो भवति, किन्तु ममायमनुग्रह इति मन्यते, क्षिप्रमेव च तत्करुते, 'थामवं'ति स्थाम–बलं तद्वान्, किमुक्तं भवति ?–सति बले करोति, असति च सद्भावमेवाऽऽख्याति, यथाऽहमनेन कारणेन न शक्नोमीति । क्षिप्रमपि कुर्वन् कदाचिद्विपरीतमधिविहितं वा विदध्यात् तद्व्यवच्छेदायाह—'यथोपदिष्टम्' उपदिष्टानतिक्रमेण, 'सुकृतं' सुष्ठु परिपूर्णं कृतं यथा भवत्येवं कृत्यानि 'करोति' निर्वर्तयति, सदा सता वा शोभनेन प्रकारेणेति सूत्रार्थः ॥ ४४ ॥ सम्प्रत्युपसंहर्तुमाह–

णच्चा णमइ मेहावी, लोए कित्ती य जायइ। किच्चाणं सरणं होई, भूयाणं जगई जहा ॥४५॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'ज्ञात्वा' अनन्तरमखिलमध्ययनार्थमवगम्य 'नमति' तत्कृत्यकरणं प्रति प्रह्वीभवति 'मेधावी' एतदध्ययनार्थावधारणशक्तिमान् मर्यादावर्ती वा, तद्गुणं वक्तुमाह–लोके कीर्तिः–सुलब्धमस्य जन्म निस्तीर्णरूपो भवोदधिरनेनेत्यादिका श्लाघा चशब्दः–'एकदिग्व्यापिनी कीर्तिः, सर्वदिग्व्यापकं यशः' इति प्रसिद्धेर्यशश्चेति समुचि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४५॥

दीप अनुक्रम [४५]

नोति, उभयमपि प्रक्रमान्नन्तुरेव 'जायते' प्रादुर्भवति, स एव भवति 'कृत्यानाम्' उचितानुष्ठानानां कलुषान्तःकरणवृत्तिभिरविनीतविनयैरतिदूरमुत्सादितानां 'शरणम्' आश्रय इत्यर्थः, केषां केव ?–'भूतानां' प्राणिनां 'जगती' पृथ्वी यथेति सूत्रार्थः ॥ ४५ ॥ ननु विनयः पूज्यप्रसादनफलः, ततोऽपि च किमवाप्यत इत्याह–

पूजा जस्स पसीयंति, संबुद्धा पुव्वसंथुया । पसन्ना लंभइस्संति, विउलं अट्ठियं सुयं ॥४६॥ (सूत्रम्)

व्याख्या–पूजयितुमर्हाः पूज्या–आचार्यादयः 'यस्य' इति विवक्षितशिष्योपदर्शकं सर्वनाम 'प्रसीदन्ति' तुष्यन्ति 'सम्बुद्धाः' सम्यगवगतवस्तुतत्त्वाः, पूर्वं–वाचनादिकालादारतो न तु वाचनादिकाल एव, तत्कालविनयस्य कृतप्रतिक्रियारूपत्वेन तथाविधप्रसादाजनकत्वात्, संस्तुता–विनयविषयत्वेन परिचिताः सम्यक्स्तुता वा सद्भूतगुणोत्कीर्तनादिभिः पूर्वसंस्तुताः, शेषविनयोपलक्षणमेतत्, 'प्रसन्ना' इति सप्रसादाः, पठ्यते च–'सम्पन्नाः' ज्ञानादिगुणपरिपूर्णाः सम्यग्–अविपरीता प्रज्ञा येषां ते सत्प्रज्ञा वा, 'लम्भयिष्यन्ति' प्रापयिष्यन्ति, किमित्याह–'विपुलं'विस्तीर्णम्, अर्थत इत्यर्थो–मोक्षः स प्रयोजनमस्येत्यार्थिकं, तदस्य "प्रयोजन" (पा० ५–१–१०९) मिति ठक्, अथवा–अर्थः स एव प्रयोजनरूपोऽस्यास्तीत्यार्थिकः, अत इनिठना (पा० ५–२–११५)विति ठन्, 'श्रुतम्' अङ्गोपाङ्गप्रकीर्णकादिभेदमागमं, न तु हरहरिहिरण्यगर्भादिवत् साक्षात् स्वर्गादिकम्, अनेन पूज्यप्रसादस्यानन्तरफलं श्रुतमुक्तं, व्यवहितफलं तु मुक्तिरिति सूत्रार्थः ॥ ४६ ॥ सम्प्रति श्रुतावाप्तौ तस्यैहिकफलमाह–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४७॥

दीप अनुक्रम [४७]

स पुज्जसत्थे सुविनीयसंसए, मणोरुई चिट्ठइ कम्मसंपया ।
तवोसमायारीसमाहिसंवुडे, महज्जुई पंच वयाइँ पालिया ॥ ४७ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'स' इति शिष्यः प्रसादितगुरोरधिगतश्रुतः पूज्यं–सकलजनश्लाघादिना पूजार्हं शास्त्रमस्येति पूज्यशास्त्रः, विनीतस्य हि शास्त्रं सर्वत्र विशेषेण पूज्यते, यदि वा प्राकृतत्वात्पूज्यः शास्ता गुरुरस्येति पूज्यशास्तृकः, विनीतो हि विनेयः शास्तारं पूज्यमपि विशेषतः पूजां प्रापयति, अथवा पूज्यश्चासौ शस्तश्च सर्वत्र प्रशंसास्पदत्वेन पूज्यशस्तः, सुष्ठु–अतिशयेन विनीतः–अपनीतः प्रसादितगुरुणैव शास्त्रपरमार्थसमर्पणेन संशयो–दोलायमानमानसात्मकोऽस्येति सुविनीतसंशयः, सुविनीता वा संसत्–परिषदस्येति सुविनीतसंसत्कः, विनीतस्य हि स्वयमतिशयविनीतैव परिषद्भवति, 'मणोरुई'त्ति मनसः–चेतसः प्रस्तावाद् गुरुसम्बन्धिनी रुचिः–प्रतिभासोऽस्मिन्निति मनोरुचिः, 'तिष्ठति' आस्ते, विनयाधिगतशास्त्रो हि न कथञ्चिद्गुरूणामप्रीतिहेतुरिति, तथा 'कम्मसंपय'त्ति कर्म–क्रिया दशविधचक्रवालसामाचारीप्रभृतिरितिकर्तव्यता तस्याः सम्पत्–सम्पन्नता तया, लक्षणे तृतीया, ततः कर्मसम्पदोपलक्षितस्तिष्ठतीति सम्बन्धः, हेतौ वा तृतीया, मनोरुचित्वापेक्षया च हेतुत्वम्, अथवा मनोरुचितेव मनोरुचिता तिष्ठति–आस्ते कर्मणां–ज्ञानावरणादीनां सम्पद्–उदयोदीरणादिरूपा विभूतिः कर्मसम्पद्, अस्येति गम्यते, तदुच्छेदशक्तियुक्तताऽस्य प्रतिभासमानतयेव तत्स्थितेरुपलक्ष्यमाणत्वात्, पठ्यते च–'मणोरुइ'त्ति तत्र मनसो रुचिः–अभिलाषो यस्मिं-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४७॥

दीप अनुक्रम [४७]

स्तन्मनोरुचि–स्वप्रतिभासानुरूपं यथा भवत्येवं तिष्ठति, कया ?–'कर्मसम्पदा' यत्यनुष्ठानमाहात्म्यसमुत्पन्नपुलाकादिलब्धिसम्पत्त्या, पठन्ति च–'मणोरुइं चिट्ठइ कम्मसंपयं' तत्र च मनोरुचितफलसम्पादकत्वेन मनोरुचितां कर्मसम्पदं–शुभप्रकृतिरूपाम्, अनुभवन्निति शेषः, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति–'मणिच्छियं संपयमुत्तमं गय'त्ति इह च सम्पदं–यथाख्यातचारित्रसम्पदं, अन्यत् सुगममेव, तपसः–अनशनाद्यात्मकस्य सामाचारीति–समाचरणं, यद्वा–तपश्च सामाचारी च–न्यक्षतो वक्ष्यमाणस्वरूपा समाधिश्च–चेतसः स्वास्थ्यं तैः संवृतः–निरुद्धाश्रवः तपःसामाचारीसमाधिसंवृतः, यद्वा–तपःसामाचारीसमाधिभिः संवृतं–संवरणं यस्य स तथाविधः, महती द्युतिः–तपोदीप्तिस्तेजोलेश्या वाऽस्येति महाद्युतिः, भवतीति गम्यते, किं कृत्वेत्याह–'पञ्च व्रतानि' प्राणातिपातविरमणादीनि, 'पालयित्वा'निरतिचारं संस्पृश्येति सूत्रार्थः ॥ ४७ ॥ पुनरस्यैवैहिकमामुष्मिकं च फलं विशेषेणाह–

स देवगंधव्वमणुस्सपूइए, चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं ।
सिद्धे वा हवइ सासए, देवे वाऽप्परए महिड्ढिए ॥ ४८ ॥ त्तिबेमि ॥

व्याख्या–'स' तादृग् विनीतविनयः, देवैः–वैमानिकज्योतिष्कैः गन्धर्वैश्च–गन्धर्वनिकायोपलक्षितैर्व्यन्तरभुवनपतिभिः मनुष्यैश्च–महाराजाधिराजप्रभृतिभिः पूजितः–अर्चितो देवगन्धर्वमनुष्यपूजितः, 'त्यक्त्वा' अपहाय 'देहं' शरीरं

॥ ६६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४८॥

दीप अनुक्रम [४८]

'मलपंकपुव्वयं'ति जीवशुद्धयपहारितया मलवन्मलः स चासौ 'पावे वज्जे वेरे पंके पणए य'त्ति वचनात् पङ्कश्च कर्ममलपङ्कः स पूर्वं–कार्यात् प्रथमभावितया कारणमस्येति मलपङ्कपूर्वकं, यद्वा–'माओउयं पिऊसुक्कं'त्ति वचनात् रक्तशुक्रे एव मलपङ्कौ तत्पूर्वकं, 'सिद्धो वा' निष्ठितार्थो वा 'भवति' जायते 'शाश्वतः' सर्वकालावस्थायी, न तु परपरिकल्पिततीर्थनिकारादिकारणतः पुनरिहागमवानशाश्वतः, सावशेषकर्मवांस्तु देवो वा भवति, 'अप्परए'त्ति अल्पमिति–अविद्यमानं रतमिति–क्रीडितं मोहनीयकर्मोदयजनितमस्येति अल्परतो–लवसप्तमादिः, अल्परजा वा प्रतनुबध्यमानकर्मा, महती–महाप्रमाणा प्रशस्या वा ऋद्धिः–चक्रवर्तिनमपि योधयेत् इत्यादिका विकरणशक्तिः तृणाग्रादपि हिरण्यकोटिरित्यादिरूपा वा समृद्धिरस्येति महर्द्धिकः, देवविशेषणं वा, 'इतिः' परिसमाप्तावेवमर्थे वा, एतावद्विनयश्रुतमनेन वा प्रकारेण 'ब्रवीमि' इति गणभृदादिगुरूपदेशतः, न तु स्वोत्प्रेक्षया इति ॥ ४८ ॥ उक्तोऽनुगमः, सम्प्रति चतुर्थमनुयोगद्वारं नया इति, नयति–अनेकांशात्मकं वस्त्वेकांशावलम्बनेन प्रतीतिपथमारोपयति नीयते वा तेन तस्मिंस्ततो वा नयनं वा नयः–प्रमाणप्रवृत्युत्तरकालभावी परामर्श इत्यर्थः, उक्तं च—"सं[3] नयइ तेण तहिं वा ततोऽहवा वत्थुणो व जं णयणं । बहुहा पज्जायाणं संभवओ सो णतो णामं ॥ १ ॥" ननु सन्त्वमी नयाः, एषां तु

१ पापं वज्रं वैरं पङ्कः पनकश्च. २ मातुरार्त्तवं पितुः शुक्रम्. ३ स नयति तेन तत्र वा ततोऽथवा वस्तुनो वा यन्नयनम् । बहुधा पर्यायाणां संभवतः स नयो नाम ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४८||

दीप अनुक्रम [४८]

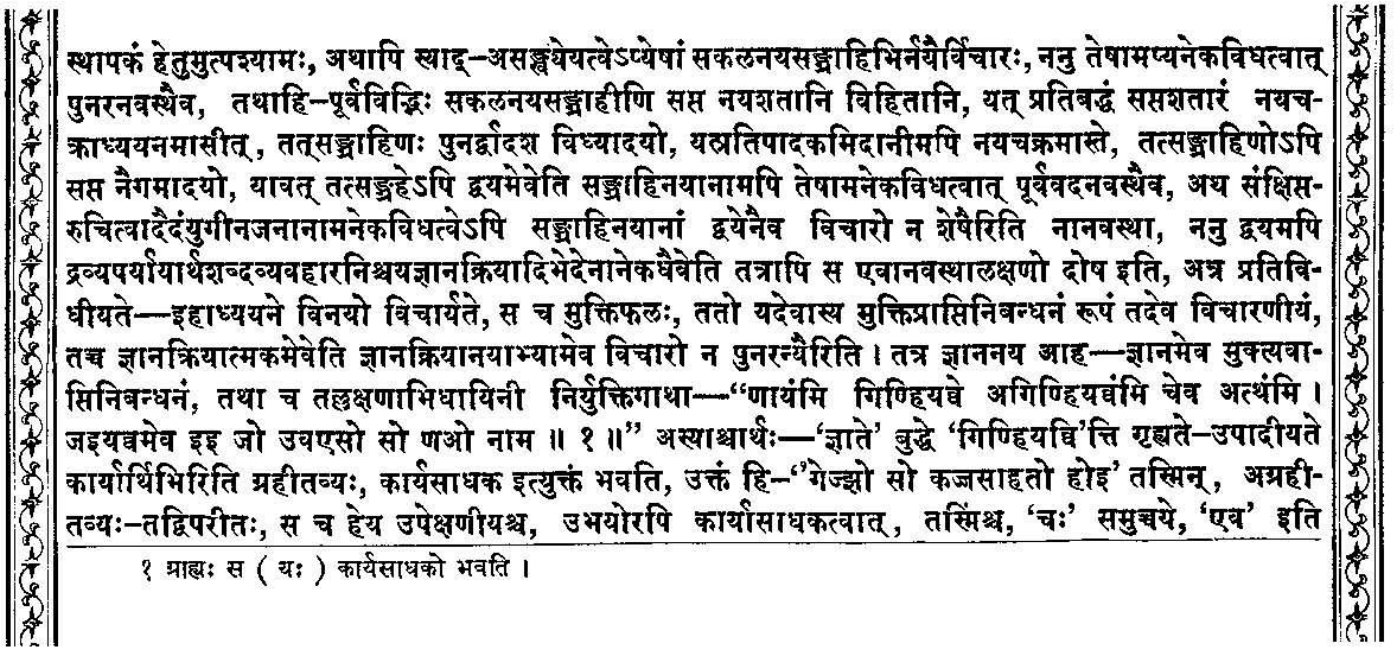
क इहोपयोगः ?, उच्यते, उपक्रमेणोपक्रान्तस्य निक्षेपेण च यथासम्भवं निक्षिप्तस्य अनुगमेनानुगतस्य चास्यैवाध्ययनस्य विचारणा, उक्तं च—"संबंधोवक्कमतो समीवमाणीय णत्थणिक्खेवं। सत्थं तओऽणुगम्मइ णएहि णाणाविहाणेहिं ॥ १ ॥" अस्तु नयैर्विचारणा, साऽपि प्रतिसूत्रं समस्ताध्ययनस्य वा ?, न तावत् प्रतिसूत्रं, प्रतिसूत्रं नयावतारनिषेधस्यात्रैवाभिधानात्, अथ समस्ताध्ययनस्य, तदपि न, सूत्रव्यतिरिक्तस्य तस्यासम्भवाद्, उच्यते, यदुक्तं–प्रतिसूत्रं नयावतारनिषेध इति, तदित्थमेव, यत्तु सूत्रव्यतिरिक्तस्याध्ययनस्यैवासम्भव इति, तदसत्, कथञ्चित् समुदायस्य समुदायिभ्योऽन्यत्वात्, शिबिकावाहकपुरुषसमूहवत्, इतरथा प्रत्येकावस्थाविलक्षणकार्यानुदयप्रसङ्गाद्, अस्त्वेवं तथाऽपि किमस्य समस्तनयैर्विचार उत कियद्भिरेव ?, न तावत् समस्तैरिति पक्षः क्षमः, तेषामसङ्ख्यत्वेन तैर्विचारस्य कर्तुमशक्यत्वात्, तथाहि–यावन्तो वचनमार्गास्तावन्त एव नयाः, यथोक्तम्—"जावइया वयणपहा तावइया चेव होंति नयवाया। जावइया नयवाया तावइया चेव परसमया ॥ १ ॥" न च निजनिजाभिप्रायविरचितानां वचनमार्गाणां सङ्ख्याऽस्ति, प्रतिप्राणि भिन्नत्वादभिप्रायाणां, नापि कियद्भिरिति वक्तुं शक्यम्, अनवस्थाप्रसङ्गात्, सङ्ख्यातीतेषु हि तेषु यावद्भिर्विचारणा क्रियते तावद्भिरपि किं नेत्यनवस्थाप्रेरणायां न नैयत्याव-

१ संबन्धोपक्रमतः समीपमानीय न्यस्तनिक्षेपम्। शास्त्रं ततोऽनुगम्यते नयैर्नानाविधानैः ॥ १ ॥ २ यावन्तो वचनपथास्तावन्त एव भवन्ति नयवादाः। यावन्तो नयवादास्तावन्त एव परसमयाः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४८॥

दीप अनुक्रम [४८]



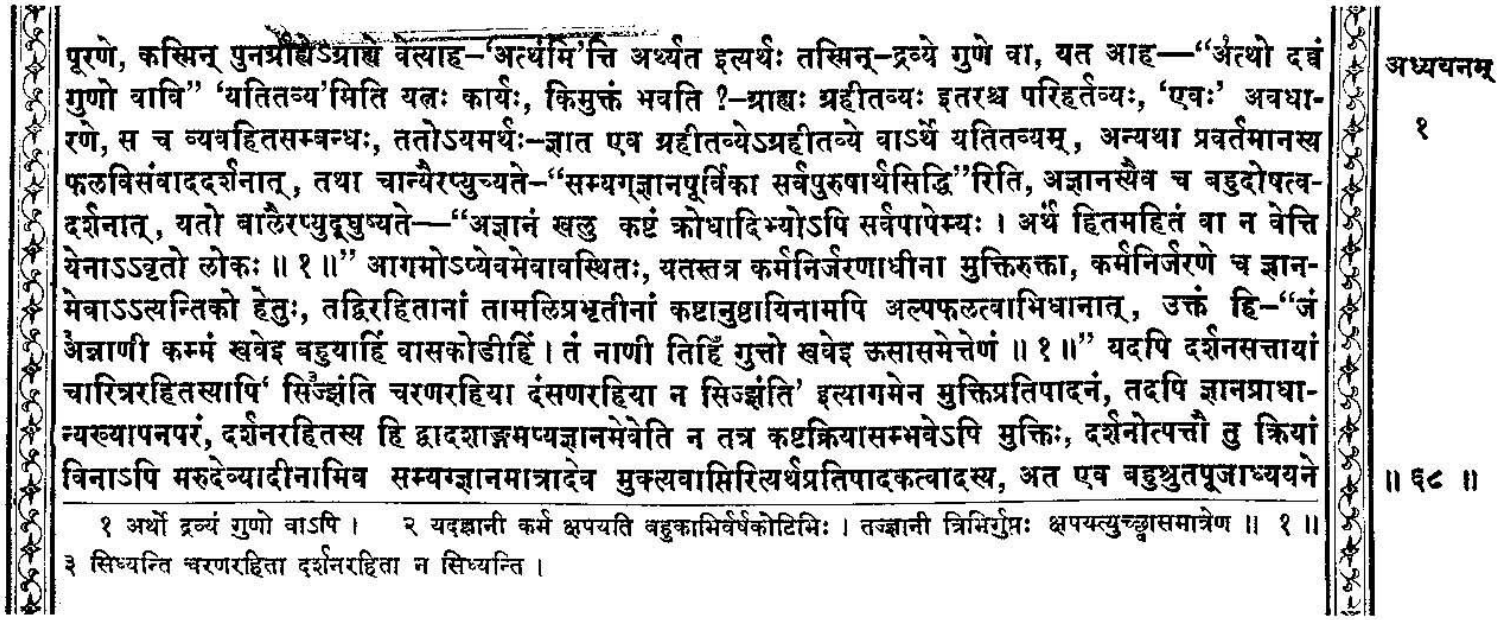
स्थापकं हेतुमुत्पश्यामः, अथापि स्याद्–असङ्ख्येयत्वेऽप्येषां सकलनयसङ्ग्राहिभिर्नयैर्विचारः, ननु तेषामप्यनेकविधत्वात् पुनरनवस्थैव, तथाहि–पूर्वविद्भिः सकलनयसङ्ग्राहीणि सप्त नयशतानि विहितानि, यत् प्रतिबद्धं सप्तशतारं नयचक्राध्ययनमासीत्, तत्सङ्ग्राहिणः पुनर्द्वादश विध्यादयो, यत्प्रतिपादकमिदानीमपि नयचक्रमास्ते, तत्सङ्ग्राहिणोऽपि सप्त नैगमादयो, यावत् तत्सङ्ग्रहेऽपि द्वयमेवेति सङ्ग्राहिनयानामपि तेषामनेकविधत्वात् पूर्ववदनवस्थैव, अथ संक्षिप्तरुचित्वादैदंयुगीनजनानामनेकविधत्वेऽपि सङ्ग्राहिनयानां द्वयेनैव विचारो न शेषैरिति नानवस्था, ननु द्वयमपि द्रव्यपर्यायार्थशब्दव्यवहारनिश्चयज्ञानक्रियादिभेदेनानेकधैवेति तत्रापि स एवानवस्थालक्षणो दोष इति, अत्र प्रतिविधीयते—इहाध्ययने विनयो विचार्यते, स च मुक्तिफलः, ततो यदेवास्य मुक्तिप्राप्तिनिबन्धनं रूपं तदेव विचारणीयं, तच्च ज्ञानक्रियात्मकमेवेति ज्ञानक्रियानयाभ्यामेव विचारो न पुनरन्यैरिति। तत्र ज्ञाननय आह—ज्ञानमेव मुक्त्यवाप्तिनिबन्धनं, तथा च तल्लक्षणाभिधायिनी निर्युक्तिगाथा—"णायंमि गिण्हियव्वे अगिण्हियव्वंमि चेव अत्थंमि। जइयव्वमेव इइ जो उवएसो सो णओ नाम ॥ १ ॥" अस्याश्चार्थः—'ज्ञाते' बुद्धे 'गिण्हियव्वि'त्ति गृह्यते–उपादीयते कार्यार्थिभिरिति ग्रहीतव्यः, कार्यसाधक इत्युक्तं भवति, उक्तं हि–"गेज्झो सो कज्जसाहतो होइ' तस्मिन्, अग्रहीतव्यः–तद्विपरीतः, स च हेय उपेक्षणीयश्च, उभयोरपि कार्यासाधकत्वात्, तस्मिंश्च, 'चः' समुच्चये, 'एव' इति

१ ग्राह्यः स (यः) कार्यसाधको भवति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४८॥

दीप अनुक्रम [४८]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ ६८ ॥

पूरणे, कस्मिन् पुनर्ग्राह्येऽग्राह्ये वेत्याह–'अत्थंमि'त्ति अर्थ्यत इत्यर्थः तस्मिन्–द्रव्ये गुणे वा, यत आह—"अत्थो दव्वं गुणो वावि" 'यतितव्य'मिति यत्नः कार्यः, किमुक्तं भवति ?–ग्राह्यः ग्रहीतव्यः इतरश्च परिहर्तव्यः, 'एवः' अवधारणे, स च व्यवहितसम्बन्धः, ततोऽयमर्थः–ज्ञात एव ग्रहीतव्येऽग्रहीतव्ये वाऽर्थे यतितव्यम्, अन्यथा प्रवर्तमानस्य फलविसंवाददर्शनात्, तथा चान्यैरप्युच्यते–"सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धि"रिति, अज्ञानस्यैव च बहुदोषत्वदर्शनात्, यतो बालैरप्युद्घुष्यते—"अज्ञानं खलु कष्टं क्रोधादिभ्योऽपि सर्वपापेभ्यः । अर्थं हितमहितं वा न वेत्ति येनाऽऽवृतो लोकः ॥ १ ॥" आगमोऽप्येवमेवावस्थितः, यतस्तत्र कर्मनिर्जरणाधीना मुक्तिरुक्ता, कर्मनिर्जरणे च ज्ञानमेवाऽऽत्यन्तिको हेतुः, तद्विरहितानां तामलिप्रभृतीनां कष्टानुष्ठायिनामपि अल्पफलत्वाभिधानात्, उक्तं हि–"जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं । तं नाणी तिहिँ गुत्तो खवेइ ऊसासमेत्तेणं ॥ १ ॥" यदपि दर्शनसत्तायां चारित्ररहितस्यापि[2] सिज्झंति चरणरहिया दंसणरहिया न सिज्झंति[3] इत्यागमेन मुक्तिप्रतिपादनं, तदपि ज्ञानप्राधान्यख्यापनपरं, दर्शनरहितस्य हि द्वादशाङ्गमप्यज्ञानमेवेति न तत्र कष्टक्रियासम्भवेऽपि मुक्तिः, दर्शनोत्पत्तौ तु क्रियां विनाऽपि मरुदेव्यादीनामिव सम्यग्ज्ञानमात्रादेव मुक्त्यवाप्तिरित्यर्थप्रतिपादकत्वादस्य, अत एव बहुश्रुतपूजाध्ययने

१ अर्थो द्रव्यं गुणो वाऽपि । २ यदज्ञानी कर्म क्षपयति बहुकाभिर्वर्षकोटिभिः । तज्ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तः क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण ॥ १ ॥
३ सिध्यन्ति चरणरहिता दर्शनरहिता न सिध्यन्ति ।

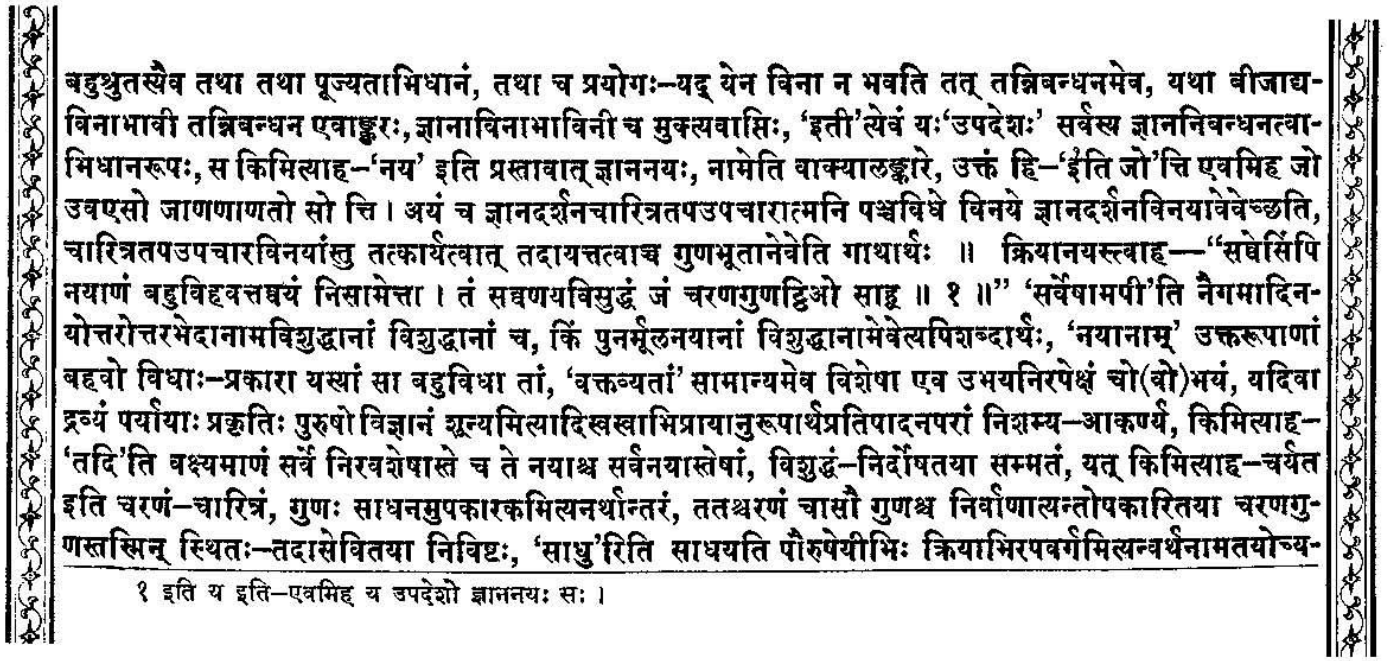
अध्ययनम् १

॥ ६८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४८||

दीप अनुक्रम [४८]



बहुश्रुतस्यैव तथा तथा पूज्यताभिधानं, तथा च प्रयोगः–यद् येन विना न भवति तत् तन्निबन्धनमेव, यथा बीजाद्यविनाभावी तन्निबन्धन एवाङ्कुरः, ज्ञानाविनाभाविनी च मुक्त्यवाप्तिः, 'इती'त्येवं यः'उपदेशः' सर्वस्य ज्ञाननिबन्धनत्वाभिधानरूपः, स किमित्याह–'नय' इति प्रस्तावात् ज्ञाननयः, नामेति वाक्यालङ्कारे, उक्तं हि–'ईति जो'त्ति एवमिह जो उवएसो जाणणाणतो सो त्ति। अयं च ज्ञानदर्शनचारित्रतपउपचारात्मनि पञ्चविधे विनये ज्ञानदर्शनविनयावेवेच्छति, चारित्रतपउपचारविनयौ तु तत्कार्यत्वात् तदायत्तत्वाच्च गुणभूतानेवेति गाथार्थः ॥ क्रियानयस्त्वाह—"सव्वेसिंपि नयाणं बहुविहवत्तव्वयं निसामेत्ता। तं सव्वणयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहू ॥ १ ॥" 'सर्वेषामपी'ति नैगमादियोत्तरोत्तरभेदानामविशुद्धानां विशुद्धानां च, किं पुनर्मूलनयानां विशुद्धानामेवेत्यपिशब्दार्थः, 'नयानाम्' उक्तरूपाणां बहवो विधाः–प्रकारा यस्यां सा बहुविधा तां, 'वक्तव्यतां' सामान्यमेव विशेषा एव उभयनिरपेक्षं चो(वो)भयं, यदिवा द्रव्यं पर्यायाः प्रकृतिः पुरुषो विज्ञानं शून्यमित्यादिस्वस्वाभिप्रायानुरूपार्थप्रतिपादनपरां निशम्य–आकर्ण्य, किमित्याह–'तदि'ति वक्ष्यमाणं सर्वं निरवशेषास्ते च ते नयाश्च सर्वनयास्तेषां, विशुद्धं–निर्दोषतया सम्मतं, यत् किमित्याह–चर्यत इति चरणं–चारित्रं, गुणः साधनमुपकारकमित्यनर्थान्तरं, ततश्चरणं चासौ गुणश्च निर्वाणात्यन्तोपकारितया चरणगुणस्तस्मिन् स्थितः–तदासेवितया निविष्टः, 'साधु'रिति साधयति पौरुषेयीभिः क्रियाभिरपवर्गमित्यन्वर्थनामतयोच्य-

१ इति य इति–एवमिह य उपदेशो ज्ञाननयः सः।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४८॥

दीप अनुक्रम [४८]

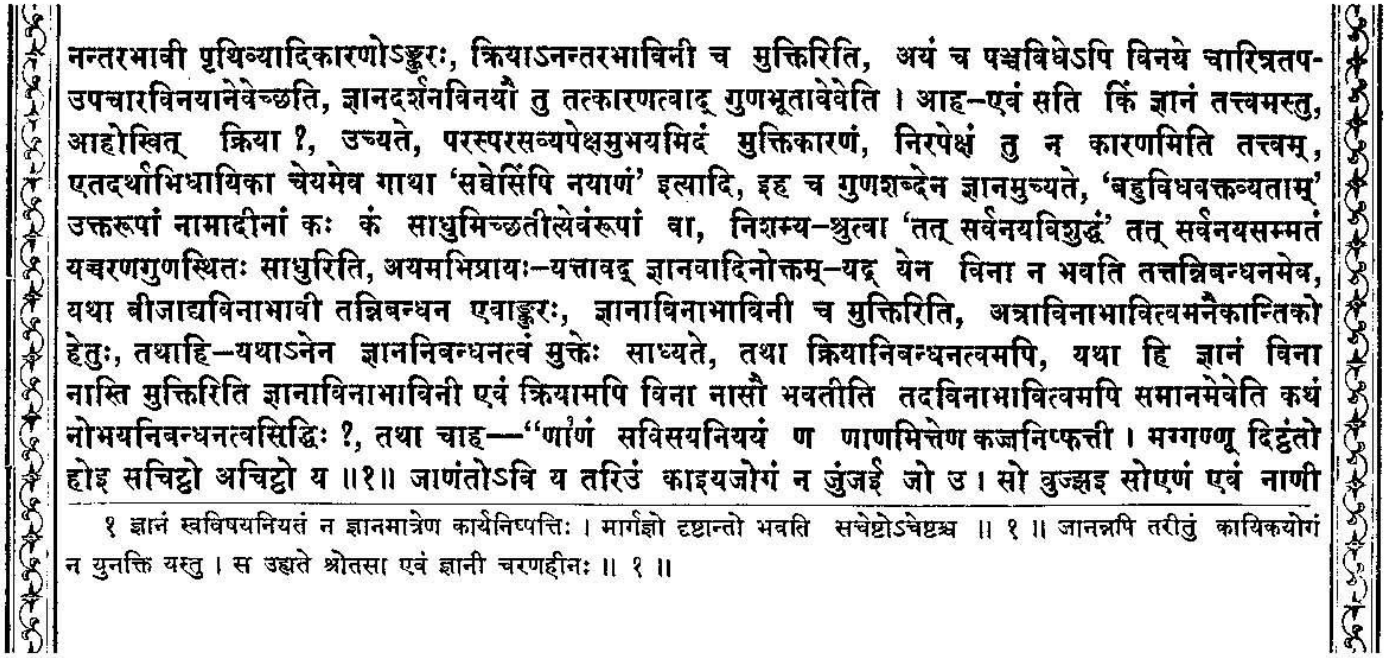
ते, अस्यायमाशयः–बहुविधायामपि वक्तव्यतायां क्रियात एव फलप्राप्तिः, तथाहि–तृत्यर्थी जलादिकमवलोकयन्नपि न यावत् पानादिक्रियायां प्रवृत्तस्तावत्तृप्तिलक्षणफलमवाप्नोति, अत एव सम्यग्ज्ञानमपि तदुपयोगितयैव विचार्यते, तथा च तद्विचारप्रवृत्तैरुक्तम्—"न ह्याभ्यामर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियायां विसंवाद्यत" इति, आगमोऽप्येवमेवावस्थितः, यतस्तत्रापि क्रियाविकलं विफलमेव ज्ञानम्, उक्तं हि—"जहा खरो चंदणभारवाही, भारस्स भागी न हु चंदणस्स । एवं खु नाणी चरणेण हीणो, नाणस्स भागी न हु सुग्गईए ॥१॥" यदि च ज्ञानमेव मुक्तिसाधनं ज्ञानाविनाभाव्यनुत्तरदर्शनसम्पत्समन्वितानां दशार्हसिंहादीनामपि स्यात्, अथ चाधोगतिगामिन एवैते श्रूयन्ते, यत आह—"दसारसीहस्स य सेणियस्स, पेढालपुत्तस्स य सच्चइस्स । अणुत्तरा दंसणसंपया तया, विणा चरित्तेणऽहरं गइं गया ॥ १ ॥" किञ्च–यदि ज्ञानमेव मुक्तिकारणमिष्यते, तदा यदुच्यते–'विहरति मुहूर्तकालं, देशोनां पूर्वकोटिं च' इत्येतदपि विरुध्येत, ज्ञानेषु निखिलवस्तुविस्तरपरिच्छेदकरूपतां बिभ्रत् केवलज्ञानमेवोत्तममिति तत्समनन्तरमेव मुक्त्यवाप्तौ कथं विहरणसम्भवः ?, अतः सत्यपि ज्ञाने शैलेश्यवस्थाऽवाप्तौ सर्वसंवररूपक्रियाऽनन्तरमेव मुक्त्यवाप्तिरिति क्रियाया एव मुक्तिकारणत्वं, प्रयोगश्चात्र–यद् यत्समनन्तरभावि तत् तत्कारणं, यथा पृथिव्यादिसामग्र्य-

१ यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य भागी नैव चन्दनस्य । एवमेव ज्ञानी चरणेन हीनो ज्ञानस्य भागी नैव सद्गतेः॥ १ ॥ २ दशार्हसिंहस्य च श्रेणिकस्य पेढालपुत्रस्य च सत्यकिनः । अनुत्तरा दर्शनसंपद् तदा विना चारित्रेणाधमां गतिं गताः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४८॥

दीप अनुक्रम [४८]



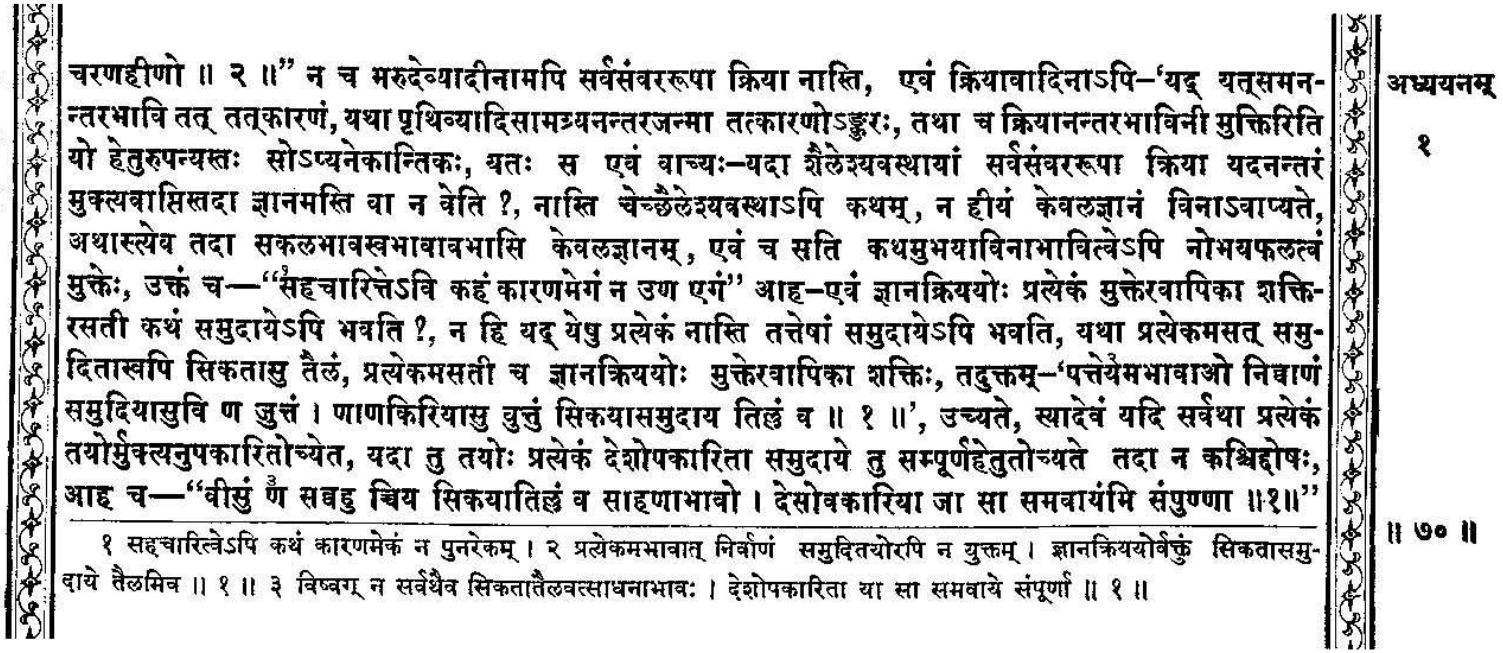
नन्तरभावी पृथिव्यादिकारणोऽङ्कुरः, क्रियाऽनन्तरभाविनी च मुक्तिरिति, अयं च पञ्चविधेऽपि विनये चारित्रतप-उपचारविनयानेवेच्छति, ज्ञानदर्शनविनयौ तु तत्कारणत्वाद् गुणभूतावेवेति । आह–एवं सति किं ज्ञानं तत्त्वमस्तु, आहोस्वित् क्रिया ?, उच्यते, परस्परसव्यपेक्षमुभयमिदं मुक्तिकारणं, निरपेक्षं तु न कारणमिति तत्त्वम्, एतदर्थाभिधायिका चेयमेव गाथा 'सव्वेसिंपि नयाणं' इत्यादि, इह च गुणशब्देन ज्ञानमुच्यते, 'बहुविधवक्तव्यताम्' उक्तरूपां नामादीनां कः कं साधुमिच्छतीत्येवंरूपां वा, निशम्य–श्रुत्वा 'तत् सर्वनयविशुद्धं' तत् सर्वनयसम्मतं यच्चरणगुणस्थितः साधुरिति, अयमभिप्रायः–यत्तावद् ज्ञानवादिनोक्तम्–यद् येन विना न भवति तत्तन्निबन्धनमेव, यथा बीजाद्यविनाभावी तन्निबन्धन एवाङ्कुरः, ज्ञानाविनाभाविनी च मुक्तिरिति, अत्राविनाभावित्वमनैकान्तिको हेतुः, तथाहि–यथाऽनेन ज्ञाननिबन्धनत्वं मुक्तेः साध्यते, तथा क्रियानिबन्धनत्वमपि, यथा हि ज्ञानं विना नास्ति मुक्तिरिति ज्ञानाविनाभाविनी एवं क्रियामपि विना नासौ भवतीति तदविनाभावित्वमपि समानमेवेति कथं नोभयनिबन्धनत्वसिद्धिः ?, तथा चाह—"णाणं सविसयनिययं ण णाणमित्तेण कज्जनिप्फत्ती । मग्गण्णू दिट्ठंतो होइ सचिट्ठो अचिट्ठो य ॥१॥ जाणंतोऽवि य तरिउं काइयजोगं न जुंजई जो उ । सो बुज्झइ सोएणं एवं नाणी

१ ज्ञानं स्वविषयनियतं न ज्ञानमात्रेण कार्यनिष्पत्तिः । मार्गज्ञो दृष्टान्तो भवति सचेष्टोऽचेष्टश्च ॥ १ ॥ जानन्नपि तरीतुं कायिकयोगं न युनक्ति यस्तु । स उह्यते श्रोतसा एवं ज्ञानी चरणहीनः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४८॥

दीप अनुक्रम [४८]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ ७० ॥

चरणहीणो ॥ २ ॥" न च भरुदेव्यादीनामपि सर्वसंवररूपा क्रिया नास्ति, एवं क्रियावादिनाऽपि–'यद् यत्समनन्तरभावि तत् तत्कारणं, यथा पृथिव्यादिसामग्र्यनन्तरजन्मा तत्कारणोऽङ्कुरः, तथा च क्रियानन्तरभाविनी मुक्तिरिति यो हेतुरुपन्यस्तः सोऽप्यनेकान्तिकः, यतः स एवं वाच्यः–यदा शैलेश्यवस्थायां सर्वसंवररूपा क्रिया यदनन्तरं मुक्त्यवाप्तिस्तदा ज्ञानमस्ति वा न वेति ?, नास्ति चेच्छैलेश्यवस्थाऽपि कथम्, न हीयं केवलज्ञानं विनाऽवाप्यते, अथास्त्येव तदा सकलभावस्वभावावभासि केवलज्ञानम्, एवं च सति कथमुभयाविनाभावित्वेऽपि नोभयफलत्वं मुक्तेः, उक्तं च—"सहचारित्तेऽवि कहं कारणमेगं न उण एगं" आह–एवं ज्ञानक्रिययोः प्रत्येकं मुक्तेरवापिका शक्तिरसती कथं समुदायेऽपि भवति ?, न हि यद् येषु प्रत्येकं नास्ति तत्तेषां समुदायेऽपि भवति, यथा प्रत्येकमसत् समुदितास्वपि सिकतासु तैलं, प्रत्येकमसती च ज्ञानक्रिययोः मुक्तेरवापिका शक्तिः, तदुक्तम्–'पत्तेयमभावाओ निव्वाणं समुदियासुवि ण जुत्तं । णाणकिरियासु वुत्तुं सिकयासमुदाय तिलुं व ॥ १ ॥', उच्यते, स्यादेवं यदि सर्वथा प्रत्येकं तयोर्मुक्त्यनुपकारितोच्येत, यदा तु तयोः प्रत्येकं देशोपकारिता समुदाये तु सम्पूर्णहेतुतोच्यते तदा न कश्चिद्दोषः, आह च—"वीसुं णं सवहु चिय सिकयातिलुं व साहणाभावो । देसोवकारिया जा सा समवायंमि संपुण्णा ॥१॥"

१ सहचारित्वेऽपि कथं कारणमेकं न पुनरेकम् । २ प्रत्येकमभावात् निर्वाणं समुदितयोरपि न युक्तम् । ज्ञानक्रिययोर्वक्तुं सिकतासमुदाये तैलमिव ॥ १ ॥ ३ विष्वग् न सर्वथैव सिकतातैलवत्साधनाभावः । देशोपकारिता या सा समवाये संपूर्णा ॥ १ ॥

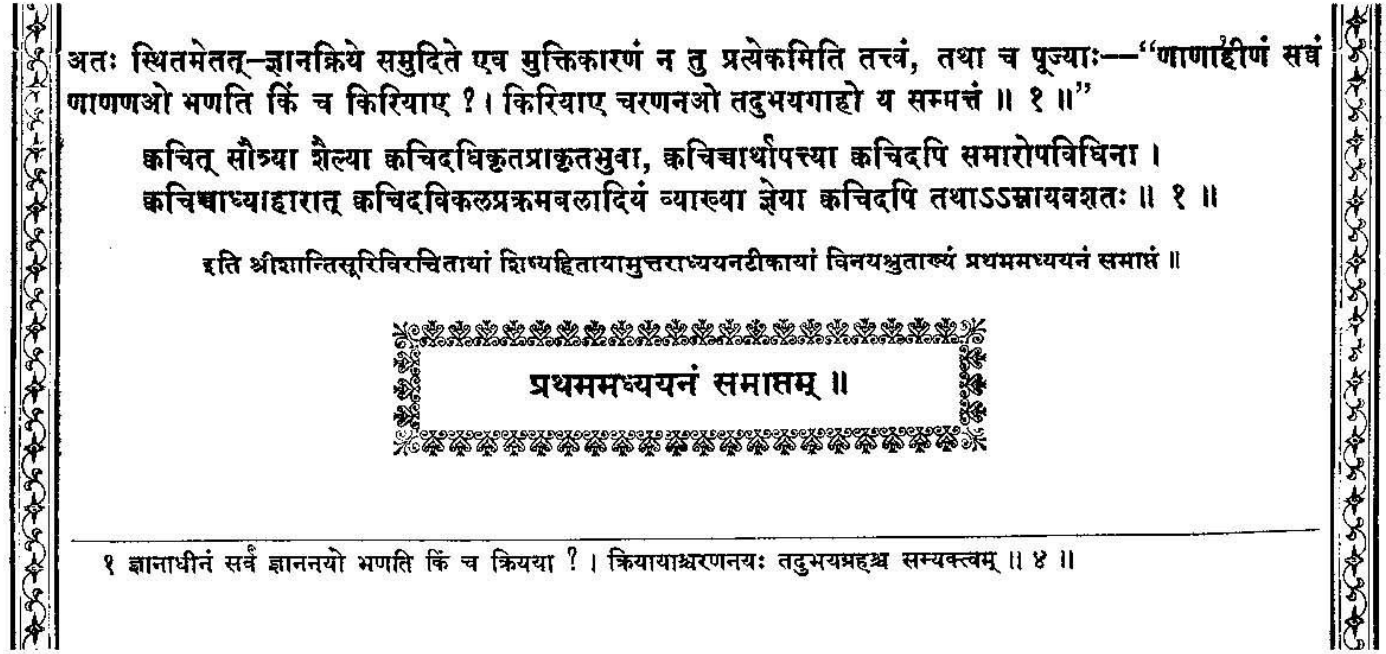
अध्ययनम् १

॥ ७० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४८॥

दीप अनुक्रम [४८]



अतः स्थितमेतत्–ज्ञानक्रिये समुदिते एव मुक्तिकारणं न तु प्रत्येकमिति तत्त्वं, तथा च पूज्याः—"णाणाहीणं सव्वं णाणणओ भणति किं च किरियाए ?। किरियाए चरणनओ तदुभयगाहो य सम्मत्तं ॥ १ ॥"

क्वचित् सौत्र्या शैल्या क्वचिदधिकृतप्राकृतभुवा, क्वचिचार्थापत्त्या क्वचिदपि समारोपविधिना ।
क्वचिद्वाध्याहारात् क्वचिदविकलप्रक्रमबलादियं व्याख्या ज्ञेया क्वचिदपि तथाऽऽम्नायवशतः ॥ १ ॥

इति श्रीशान्तिसूरिविरचितायां शिष्यहितायामुत्तराध्ययनटीकायां विनयश्रुताख्यं प्रथममध्ययनं समाप्तं ॥

प्रथममध्ययनं समाप्तम् ॥

१ ज्ञानाधीनं सर्वं ज्ञाननयो भणति किं च क्रियया ? । क्रियायाश्चरणनयः तदुभयग्रहश्च सम्यक्त्वम् ॥ ४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं - १ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥४८॥

दीप अनुक्रम [४८]

अध्ययन – २

॥ श्रीजिनाय नमः । नमः सर्वविदे । व्याख्यातं विनयश्रुताख्यं प्रथममध्ययनम्, इदानीं द्वितीयं व्याख्यायते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तराध्ययने विनयः सप्रपञ्चः पञ्चप्रकार उक्तः, स च किं स्वस्थावस्थैरेव समाचरितव्य उत परीषहमहासैन्यसमरसमाकुलितमनोभिरपि?, उभयावस्थैरपीति ब्रूमः । ननु तर्हि केऽमी परीषहाः ?, किंरूपाः?, किञ्चालम्बनमुररीकृत्यैतेषु सत्स्वपि न विनयविलङ्घनमित्याशङ्कापोहाय परिषहास्तत्स्वरूपादि चाभिधेयमित्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य महार्थस्य महापुरस्येव चतुरनुयोगद्वारस्वरूपमुपवर्णनीयं, तत्र च नामनिष्पन्ननिक्षेपस्थं परीषह इति नाम, अतस्तन्निक्षेपदर्शनायाह भगवान्निर्युक्तिकारः—

णासो परीसहाणं चउव्विहो दुविहो य(उ)दव्वंमि । आगमनोआगमतो नोआगमओ य सो तिविहो ॥६५॥

व्याख्या—नियतं निश्चितं वाऽऽसनं–नामादिरचनात्मकं क्षेपणं न्यासो–निक्षेप इत्यर्थः, अयं च केषामित्याह–परीति–समन्तात् स्वहेतुभिरुदीरिता मार्गाच्यवननिर्जरार्थं साध्वादिभिः सह्यन्त इति परीषहास्तेषां, चत्वारो विधाः–प्रकारा अस्येति चतुर्विधो, नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात्, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे इत्यनादृत्य द्रव्यपरीषहमाह–'द्विविधो' द्विभेदः, तुः पूरणे, भवति 'द्रव्य' इति द्रव्यविषयः, प्रक्रमात्परिषहः, स च 'आगमणोआगमतो' त्ति आगमतो नोआगमतश्च, तत्र आगमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्त इत्यागमस्वरूपमतिपरिचितमिति परिहृत्य नोआगमत

१ अधिकार उपवर्णने वा इत्यध्याहार्यम् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्ति:

अथ अध्ययनं – २ "परिसह" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥४८॥

दीप अनुक्रम [४८]

आह—'नोआगमतस्तु' नोआगमं पुनराश्रित्य 'स' इति परीषहः 'त्रिविधः' त्रिप्रकार इति गाथार्थः ॥ ६५ ॥ त्रैविध्यमेवाह—

जाणगसरीर भविए तव्वइरित्ते य से भवे दुविहे। कम्मे नोकम्मे या कम्मंमि य अणुदओ भणिओ ॥६६॥

व्याख्या—'जाणगसरीर' त्ति ज्ञायको ज्ञो वा तस्य शरीरं ज्ञायकशरीरं ज्ञशरीरं वा जीवरहितं सिद्धशिलातलगतं निषीधिकागतं वा अहो ! अमुना शरीरसमुच्छ्रयेणोपात्तेन परीषह इति पदं शिक्षितम्, अयं घृतघटोऽभूदितिवत्संभाव्यमानं, तथा 'भविय'त्ति शरीरशब्दस्य काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र संबन्धात् भव्यशरीरं, तत्र भविष्यति—तेन तेनावस्थात्मना सत्तां प्राप्स्यति यः स भव्यो जीवस्तस्य शरीरं यद्यापि परीषह इति पदं न शिक्षते एष्यति तु शिक्षिष्यते तदयं घृतघटो भविष्यतीतिवत्संभाव्यमानं नोआगमतो द्रव्यपरीषहः, 'तव्वतिरित्ते य' त्ति ताभ्यां—ज्ञशरीरभव्यशरीराभ्यां व्यतिरिक्तः—पृथग्भूतः तद्व्यतिरिक्तः, स च प्रकृतत्वाद् द्रव्यपरिषहो भवेत्, 'द्विविधः' द्विभेदः, कथमित्याह—क्रियते—मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगानुगतेनात्मना निर्वर्त्त्यत इति कर्म तत्र—ज्ञानावरणादिरूपे, 'नोकर्मणि च' तद्विपरीतरूपे, चः समुच्चये, दीर्घत्वं च 'ह्रस्वदीर्घौ मिथ' इति प्राकृतलक्षणात्, तत्राद्यमाह—कर्मणि विचार्ये, चः पूरणे, द्रव्यपरीषहः 'अनुदयः' उदयाभावः, प्रक्रमात् परीषहवेदनीयकर्मणामेव, 'भणितः' उक्त इति गाथार्थः ॥ ६६ ॥ द्वितीयभेदमाह— ॥ ७२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४८॥

दीप अनुक्रम [४८]

णोकम्मंमि य तिविहो सचित्ताचित्तमीसओ चेव। भावे कम्मस्सुदओ तस्स उ दाराणिमे हुंति ॥६७॥

व्याख्या—नोकर्मणि पुनर्विचार्ये; चस्य पुनरर्थत्वाद्द्रव्यपरीषहः 'त्रिविधः'त्रिभेदः, 'सचित्ताचित्तमीसओ'त्ति लुप्तनिर्दिष्टत्वाद्विभक्तेः सचित्तोऽचित्तो मिश्रक इति, समाहारो वा सचित्ताचित्तमिश्रकमिति, प्राकृतत्वाच्च पुँल्लिङ्गता; चः स्वगतानेकभेदसमुच्चये, एवोऽवधारणे इयन्त एवामी भेदाः, तत्र नोकर्मणि सचित्तद्रव्यपरीषहो गिरिनिर्झर-रजलादिः अचित्तद्रव्यपरीषहश्चित्रकचूर्णादिर्मिश्रद्रव्यपरीषहो गुडार्द्रकादि, त्रयस्यापि कर्माभावरूपत्वात् क्षुत्-परीषहजनकत्वाच्च, इत्थं पिपासादिजनकं लवणजलाद्यप्यनेकधा नोकर्मद्रव्यपरीषह इति स्वधिया भावनीयं, भावपरीषह आगमतो ज्ञाता तत्र चोपयुक्तो, नोआगमतस्तु नोशब्दस्यैकदेशवाचित्वे आगमैकदेशभूतमिदमेवाध्ययनं, निषेधवाचित्वे तु तदभावरूपः परीषहवेदनीयस्य कर्मणः उदयः, तथा चाह–'भावे कम्मस्स उदओ' त्ति कर्मण-इति परीषहवेदनीयकर्मणां बहुत्वेऽपि जात्यपेक्षयैकवचननिर्देशः 'तस्य च' भावपरीषहस्य 'द्वाराणि' व्याख्यानमु-खानि 'इमानि' अनन्तरवक्ष्यमाणानि भवन्तीति गाथार्थः ॥ ६७ ॥ तान्येवाह—

कत्तो[1] कस्स[2] व दव्वे[3] समोआर[4] अहिआस[5] नए[6] य वत्तणा[7] कालो। खित्तुदेसे[10] पुच्छा निद्देसे[12] सुत्तफासे[13] या॥६८॥

व्याख्या—'कुत' इति कुतोऽङ्गादेरिदमुद्भूतं १, 'कस्य' इति कस्य संयतादेरमी परीषहाः २, 'द्रव्यम्' इति किममी-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४८॥

दीप अनुक्रम [४८]

षामुत्पादकं द्रव्यं ३, 'समवतार' इति क्व कर्मप्रकृतौ पुरुषविशेषे वाऽमीषां सम्भवः ? ४, 'अध्यास' इति कथममीषामध्यासना सहनात्मिका ? ५, 'नय' इति को नयः कं परीषहमिच्छति ?, ६ चः समुच्चये, 'वर्त्तना' इति कति क्षुदादयः एकदैकस्मिन् स्वामिनि वर्त्तन्ते ७, 'काल' इति कियन्तं कालं यावत् परीषहास्तित्वं ८, 'क्षेत्ते' त्ति कतरस्मिन्कियति वा क्षेत्रे ९, 'उद्देशो' गुरोः सामान्याभिधायि वचनं १०, 'पृच्छा' तज्जिज्ञासोः शिष्यस्य प्रश्नः ११, 'निर्देशः' गुरुणा पृष्टार्थविशेषभाषणं १२, 'सूत्रस्पर्शः' सूत्रसूचितार्थवचनं १३, 'चः' समुच्चये, इति गाथासमासार्थः ॥ ६८ ॥ तत्र कुत इति प्रश्नप्रतिवचनमाह—

कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे पाहुडंमि जं सुत्तं । सणयं सोदाहरणं तं चेव इहंपि णायव्वं ॥ ६९ ॥

व्याख्या—कर्म्मणः प्रवादः–प्रकर्षेण प्रतिपादनमस्मिन्निति कर्मप्रवादं तच्च तत् पूर्वं च तस्मिन्, तत्र बहूनि प्राभृतानीति कतिथे प्राभृते इत्याह—सप्तदशे प्राभृते–प्रतिनियतार्थाधिकाराभिधायिनि, यत् 'सूत्रं' गणधरप्रणीतश्रुतरूपं 'सनयं' नैगमादिनयान्वितं, 'सोदाहरणं' सदृष्टान्तं, 'तं चेव' त्ति चः पूरणे एवोऽवधारणे, ततस्तदेव 'इहापि' परीषहाध्ययने 'ज्ञातव्यम्' अवगन्तव्यं, न त्वधिकं, किमुक्तं भवति ?–निरवशेषं तत एवेदमुद्धृतं न पुनरन्यत इति गाथार्थः ॥ ६५ ॥ कस्येति यदुक्तं तदुत्तरमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४८॥

दीप अनुक्रम [४८]

तिण्हंपि णेगमणओ परीसहो जाव उज्जुसुत्ताओ । तिण्हं सद्दणयाणं परीसहो संजए होइ ॥ ७० ॥

व्याख्या—'त्रयाणामपि' अविरतविरताविरतविरतानां न तु विरतस्यैव नैगमनयः 'परीषहः' क्षुदादिरिति, मन्यत इति शेषः, त्रयाणामपि परीषहवेदनीयासातादिकर्मोदयजनितस्य क्षुधादेस्तत्सहनस्य च यथायोगं सकामाकामनिर्जराहेतोः सम्भवाद्, अनेकगमत्वेन चास्य सर्वप्रकारसङ्ग्राहित्वात्, 'जाव उज्जुसुत्ताउ'त्ति सोपस्कारत्वादस्यैवं यावदृजुसूत्रः, कोऽर्थः ?–सङ्ग्रहव्यवहारऋजुसूत्रा अपि त्रयाणामपि परीषहं मन्यन्ते, एकैकनयस्य शतभेदत्वेनैतद्भेदानामपि केषाञ्चित् परीषहं प्रति नैगमेन तुल्यमतत्वात्, 'त्रयाणां' त्रिसङ्ख्यानां, केषाम् ?–शब्दप्रधाना नयाः शब्दनयाः, शाकपार्थिवादिवत् समासः, तेषां–शब्दसमभिरूढैवम्भूतानां, मतेनेति शेषः, परीषहः 'संयते' विरते भवति "मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहा" (तत्त्वा० अ० ९ सू० ८) इति लक्षणोपेतनिरुपचरितपरीषहशब्दवृत्तेस्तत्रैव सम्भवादिति गाथार्थः ॥ ७० ॥ द्रव्यद्वारमधिकृत्य नयमतमाह—

पढमंमि अट्ठ भंगा संगहि जीवो व अहव नोजीवो । ववहारे नोजीवो जीवदुवं तु सेसाणं ॥७१॥

व्याख्या—'प्रथमे' प्रक्रमान्नैगमनये अष्टौ भङ्गाः, स हि "णेगेहिं माणेहिं मिणइत्ती णेगमस्स नेरुत्ती" इतिलक्षणादने-

१ नैकैर्मानैर्मिनोतीति नैगमस्य निरुक्तिः (आ० नि०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४८॥

दीप अनुक्रम [४८]

कधा कारणमिच्छन् यदैकेन पुरुषादिना चपेटादिना परीषह उदीर्यते तदा परीषहवेदनीयकर्मोदयनिमित्तत्वेऽपि तस्य तद्विवक्षया जीवेनासौ परीषह उदीरित इति वक्ति १, यदा बहुभिस्तदा जीवैः २, यदा अचेतनेनैकेन दृषदादिना जीवप्रयोगरहितेन तदाऽजीवेन ३, यदा तैरेव बहुभिस्तदा अजीवैः ४, यदैकेन लुब्धकादिना बाणादिनैकेन तदा जीवेनाजीवेन च ५, यदा तेनैकेनैव बहुभिः बाणादिभिस्तदा जीवेनाजीवैश्च ६, यदा बहुभिः पुरुषादिभिरेकं शिलादिकमुत्क्षिप्य क्षिपद्भिस्तदा जीवैरजीवेन च ७, यदा तु तैरेव मुद्गरादीन् बहून् मुञ्चद्भिस्तदा जीवैश्चाजीवैश्चेति ८ 'सङ्ग्रहे' सङ्ग्रहनाम्नि नये विचार्यमाणे जीवो 'वा' अथवा नोजीवो हेतुरिति प्रक्रमः, किमुक्तं भवति ?–जीवद्रव्येणाजीवद्रव्येण वा परीषह उदीर्यते, स हि "संगहियपिंडियत्थं संगहवयणं समासतो बेंती"ति वचनात् सामान्यग्राहित्वेनैकत्वमेवेच्छति न पुनर्द्वित्वबहुत्वे, अस्यापि च शतभेदत्वाद्यदा चिद्रूपतया सर्वं गृह्णाति तदा जीवद्रव्येण, यदा त्वचिद्रूपतया तदा अजीवद्रव्येण, 'व्यवहारे' व्यवहारनये 'नोजीव' इति अजीवो हेतुः, कोऽर्थः ?–अजीवद्रव्येण परीषह उदीर्यत इत्येकमेव भङ्गमयमिच्छति, तथाहि—"ववहइ विणिच्छियत्थं ववहारो सव्वदव्वेसुं" इति तल्लक्षणं, तत्र च 'विनिश्चित'मित्यनेकरूपत्वेऽपि वस्तुनः सांव्यवहारिकजनप्रतीतमेव रूपमुच्यते, तद्ग्राहकोऽयम्, उक्तं च—

१ संगृहीतपिण्डितार्थं संग्रहवचनं समासतो ब्रुवते (आ० नि०) २ व्रजति विनिश्चितार्थं व्यवहारः सर्वद्रव्येषु ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४८||

दीप अनुक्रम [४८]

"भमराइ पंचवण्णाइं णिच्छिए जम्मि वा जणवयस्स । अत्थे विनिच्छओ जो विनिच्छियत्थुत्ति सो गेज्झो ॥१॥ बहुयर-उत्ति व तं चिय गमेइ संतेऽवि सेसए मुयइ । संववहारपरतया ववहारो लोगमिच्छंतो ॥ २ ॥" त्ति, ततोऽयमा-शयः– 'कालो सभाव नियई पुवकयं पुरिसकारणेगंता । मिच्छत्तं ते चेव उ समासओ होंति सम्मत्तं ॥ १ ॥' इत्या-गमवचनतः सर्वस्यानेककारणत्वेऽपि कर्म्मकृतं लोकवैचित्र्यमिति प्रायः प्रसिद्धेर्यत् कर्म कारयिष्यति तत्करिष्याम इत्युक्तेश्च कर्मैव कारणमित्याह, तच्चाचेतनत्वेनाजीव एवेति । 'जीवदव्वं'तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् जीवद्रव्यमेव 'शेषाणाम्' ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूतानां पर्यायनयानां मतेन, हेतुरिति गम्यते, अयमर्थः–जीवद्रव्येण परीषह उदीर्यत इत्येष एवैषां भङ्गोऽभिमतः, ते हि पर्यायास्तिकत्वेन परीषह्यमाणमेव परीषहमिच्छन्ति, परीषहणं चोप-योगात्मकम्, उपयोगस्य च जीवस्वाभाव्यात् जीवद्रव्यमेव सन्निहितमव्यभिचारि च कारणं, तद्विपरीतं तु अजीवद्रव्यं दण्डादीत्यकारणं, जीवद्रव्यमिति तु द्रव्यग्रहणं पर्यायनयस्यापि गुणसंहतिरूपस्य द्रव्यस्येष्टत्वात्, तदुक्तम्–"पर्यायन-योऽपि द्रव्यमिच्छति गुणसन्तानरूप"मिति गाथार्थः ॥ ७१ ॥ सम्प्रति समवतारद्वारमाह—

१ भ्रमरादीन् पञ्चवर्णान् निश्चिते (नेच्छति) यस्मिन् वा जनपदस्थे । अर्थे विनिश्चयो यो विनिश्चितार्थ इति स ग्राह्यः ॥१॥ बहुसरक इति वा तमेव गमयति सतोऽपि शेषान्मुञ्चति । संव्यवहारपरतया व्यवहारो लोकमिच्छन् ॥२॥ १ कालः स्वभावो नियतिः पूर्वकृतं पुरुषकारण मेकान्तात् । मिथ्यात्वं त एव समासतो भवति सम्यक्त्वम् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४८॥

दीप अनुक्रम [४८]

समोयारो खलु दुविहो पयडिपुरिसेसु चेव नायव्वो। एएसिं नाणत्तं वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ७२ ॥

व्याख्या—'समवतारः खलु द्विविधः' इति खलुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् द्विविध एव, द्वैविध्यं च विषयभेदत इति तमाह—प्रकृतयश्च पुरुषाश्च प्रकृतिपुरुषास्तेषु, कोऽर्थः ?–प्रकृतिषु ज्ञानावरणादिरूपासु पुरुषेषु, चशब्दात् स्त्री-पण्डकेषु च, तत्तद्गुणस्थानविशेषवर्तिषु 'एवे'ति पूरणे, 'ज्ञातव्यः' अवबोद्धव्यः, 'एतेषां' प्रकृत्यादीनां 'नानात्वं' भेदं वक्ष्ये 'अथ' अनन्तरम् 'आनुपूर्व्या' क्रमेणेति गाथार्थः ॥ ७२ ॥ तत्र प्रकृतिनानात्वमाह—

णाणावरणे वेए मोहंमिय अंतराइए चेव। एएसुं बावीसं परीसहा हुंति णायव्वा ॥ ७३ ॥

व्याख्या—ज्ञानावरणे वेद्ये मोहे चान्तरायिके चैव एतेषु चतुर्षु कर्मसु वक्ष्यमाणस्वरूपेषु द्वाविंशतिः परीषहा भवन्ति ॥ ७३ ॥ अनेन प्रकृतिभेद उक्तः, सम्प्रति यस्य यत्रावतारस्तमाह–

पन्नाऽन्नाणपरिसहा णाणावरणंमि हुंति दुन्नेए। इक्को य अंतराए अलाहपरीसहो होइ ॥ ७४ ॥

व्याख्या—प्रज्ञा चाज्ञानं च प्रज्ञाज्ञाने ते एवोत्सेकवैरूप्याकरणतः परीषह्यमाणे परीषहौ, 'ज्ञानावरणे' कर्मणि भवतो 'द्वौ' एतौ, तदुदयक्षयोपशमाभ्यामनयोः सद्भावाद्, एकश्च (ग्रन्थाग्रम् २०००) 'अन्तराये' अन्तरायक-र्मण्यलाभपरीषहो भवति, तदुदयनिबन्धनत्वादलाभस्येति गाथार्थः ॥ ७४ ॥ मोहनीयं द्विधेति यत्र तद्भेदे वेदनीये च यत्परिषहावतारस्तमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४८||

दीप अनुक्रम [४८]

अरई अचेल इत्थी निसीहिया जायणा य अक्कोसे । सक्कारपुरक्कारे चरित्तमोहंमि सत्तेए ॥ ७५ ॥
अरईइ दुगुंछाए पुंवेय भयस्स चेव माणस्स । कोहस्स य लोहस्स य उदएण परीसहा सत्त ॥ ७६ ॥
दंसणमोहे दंसणपरीसहो नियमसो भवे इक्को । सेसा परीसहा खलु इक्कारस वेयणीजंमि ॥ ७७ ॥

व्याख्या—'अरतिः' इति अरतिपरीषहः, एवमुत्तरेष्वपि परीषहशब्दः सम्बन्धनीयः, 'अचेल' त्ति प्राकृतत्वाद्धि-न्दुलोपः, अचेलं, 'स्त्री नैषेधिकी याचना चाक्रोशः सत्कारपुरस्कारः' सप्तैते वक्ष्यमाणरूपाः परीषहाः, 'चरित्रमोहे' चरित्रमोहनाम्नि मोहनीयभेदे, भवन्तीति गम्यते, तदुदयभावित्वादेषां ॥ चारित्रमोहनीयस्यापि बहुभेदत्वाद्यस्य तद्भेद-स्योदयेन यत्परीषहसद्भावस्तमाह—'अरतेः' अरतिनाम्नश्चारित्रमोहनीयभेदस्य, अचेलस्य जुगुप्सायाः, 'पुंवेय'त्ति सुपो लोपात् पुंवेदस्य, भयस्य चैवं मानस्य क्रोधस्य लोभस्य च उदयेन परीषहाः सप्त, इह चारत्युदयेनारतिपरीषहः जुगुप्सो-दयेनाचेलपरीषह इत्यादि यथाक्रमं योजना कार्येति, तथा दर्शनमोहे 'दर्शनपरीषहः' वक्ष्यमाणरूपो, 'णियमसो'त्ति आर्षत्वेन नियमात् भवेद् 'एकः' अद्वितीयः, 'शेषाः' एतद्व्यतिरिक्ताः, परीषहाः पुनः एकादश 'वेदनीये' वेदनीयनाम्नि कर्मणि संभवन्तीति गाथात्रयार्थः ॥ ७५–७६–७७ ॥ के पुनस्ते एकादशेत्याह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४८॥

दीप अनुक्रम [४८]

पंचेव आणुपुवी चरिया सिज्जा वहे वँ(य) रोगे य। तणफासजल्लमेव य इक्कारस वेयणीजंमि ॥७८॥

व्याख्या—'पञ्चैव' पञ्चसंख्या एव, ते च प्रकारान्तरेणापि स्युरित्याह—'आनुपूर्व्या' परिपाट्या, क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकाख्या इति भावः, चर्य्या शय्या वधश्च रोगश्च तृणस्पर्शो जल्ल एव च इत्यमी एकादश वेदनीयकर्मण्युदयवति परीषहा भवन्तीति शेष इति गाथार्थः ॥ ७८ ॥ सम्प्रति पुरुषसमवतारमाह—

बावीसं बायरसंपराए चउदस य सुहुमरागंमि। छउमत्थवीयराए चउदस इक्कारस जिणंमि ॥७९॥

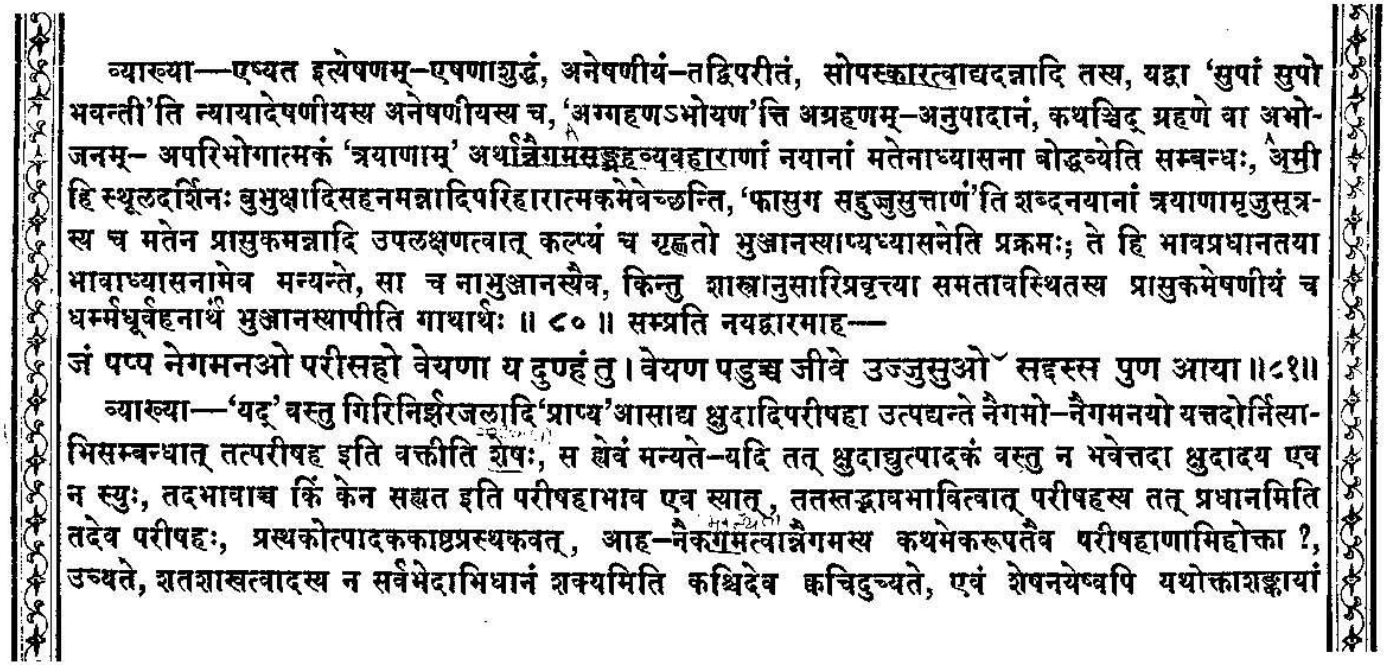
व्याख्या—'द्वाविंशतिः' द्वाविंशतिसङ्ख्याः प्रक्रमात्परीषहाः 'बादरसंपराये' बादरसम्परायनाम्नि गुणस्थाने, किमुक्तं भवति ?—बादरसम्परायं यावत्सर्वेऽपि परीषहाः सम्भवन्ति, 'चतुर्दश' चतुर्दशसङ्ख्याः, चः पूरणे, 'सूक्ष्मसंपराये' सूक्ष्मसम्परायनाम्नि गुणस्थाने, 'सप्तानां' चारित्रमोहनीयप्रतिबद्धानां दर्शनमोहनीयप्रतिबद्धस्य चैकस्य तत्रासम्भवादिति भावः, 'छद्मस्थवीतरागे' छद्मस्थवीतरागनाम्नि गुणस्थाने, 'चतुर्दश' उक्तरूपा एव, 'एकादश' एकादशसङ्ख्याः 'जिने' केवलिनि, वेदनीयप्रतिबद्धानां क्षुदादीनामेव तत्र भावादिति गाथार्थः ॥ ७९ ॥ अधुना अध्यासनामाह—

एसणमणेसणीजं तिण्हं अग्गहणऽभोयण नयाणं। अहिआसण बोद्धवा फासुय सहुज्जुसुत्ताणं ॥८०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४८॥

दीप अनुक्रम [४८]



व्याख्या—एष्यत इत्येषणम्–एषणाशुद्धं, अनेषणीयं–तद्विपरीतं, सोपस्कारत्वाद्यदन्नादि तस्य, यद्वा 'सुपां सुपो भवन्ती'ति न्यायादेषणीयस्य अनेषणीयस्य च, 'अग्गहणऽभोयण'त्ति अग्रहणम्–अनुपादानं, कथञ्चिद् ग्रहणे वा अभोजनम्– अपरिभोगात्मकं 'त्रयाणाम्' अर्थानैगमसङ्ग्रहव्यवहाराणां नयानां मतेनाध्यासना बोद्धव्येति सम्बन्धः, अमी हि स्थूलदर्शिनः बुभुक्षादिसहनमन्नादिपरिहारात्मकमेवेच्छन्ति, 'फासुग सद्दुजुसुत्ताणं'ति शब्दनयानां त्रयाणामृजुसूत्रस्य च मतेन प्रासुकमन्नादि उपलक्षणत्वात् कल्प्यं च गृह्णतो भुञ्जानस्याप्यध्यासनेति प्रक्रमः; ते हि भावप्रधानतया भावाध्यासनामेव मन्यन्ते, सा च नाभुञ्जानस्यैव, किन्तु शास्त्रानुसारिप्रवृत्त्या समतावस्थितस्य प्रासुकमेषणीयं च धर्म्मधूर्वहनार्थं भुञ्जानस्यापीति गाथार्थः ॥ ८० ॥ सम्प्रति नयद्वारमाह—

जं पप्प नेगमनओ परीसहो वेयणा य दुण्हं तु। वेयण पडुच्च जीवे उज्जुसुओ सद्दस्स पुण आया ॥८१॥

व्याख्या—'यद्' वस्तु गिरिनिर्झरजलादि 'प्राप्य' आसाद्य क्षुदादिपरीषहा उत्पद्यन्ते नैगमो–नैगमनयो यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् तत्परीषह इति वक्तीति शेषः, स ह्येवं मन्यते–यदि तत् क्षुदाद्युत्पादकं वस्तु न भवेत्तदा क्षुदादय एव न स्युः, तदभावाच्च किं केन सह्यत इति परीषहाभाव एव स्यात्, ततस्तद्भावभावित्वात् परीषहस्य तत् प्रधानमिति तदेव परीषहः, प्रस्थकोत्पादककाष्ठप्रस्थकवत्, आह–नैकगमत्वान्नैगमस्य कथमेकरूपतैव परीषहाणामिहोक्ता ?, उच्यते, शतशास्त्रत्वादस्य न सर्वभेदाभिधानं शक्यमिति कश्चिदेव क्वचिदुच्यते, एवं शेषनयेष्वपि यथोक्ताशङ्कायां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४८॥

दीप अनुक्रम [४८]

वाच्यमिति । 'वेदना' क्षुदादिजनिता असातवेदना, चशब्दात्तदुत्पादकं च परीषहः, 'द्वयोस्तु' पारिशेष्यात् सङ्ग्रहव्यवहारयोः पुनर्मतेनेति गम्यते, अयं चानयोरभिप्रायः–यदि तावद्गिरिनिर्झरजलादि क्षुदादिवेदनाजनकत्वेन परीषहः, कथमिव क्षुदादिवेदना न परीषहो, निरुपचरितं परीषहलक्षणं वेदनाया एव सम्भवति, उपचरितं तु गिरिनिर्झरजलादौ, तात्त्विकवस्तुनिबन्धनश्चोपचार इति तदभावे तस्याप्यभाव एव स्यात्, 'वेदनां' क्षुदाद्यनुभवात्मिकां 'प्रतीत्य' आश्रित्य जीवे परीषह इति ऋजुसूत्रः मन्यत इतीहापि गम्यते, अयमस्याशयः–सति हि निरुपचरितलक्षणान्वितेऽपि परीषहे स एव परीषहोऽस्तु, किमुपचरितकल्पनया ?, ततो निरुपचरितलक्षणयोगाद्वेदनैव परीषहः, सा च जीवधर्मत्वाज्जीवे नाजीव इति वेदनां प्रतीत्य जीवे परीषह उच्यते, न तु पूर्वेषामिवाजीवेऽपीति, 'शब्दस्ये'ति शब्दाख्यनयस्य साम्प्रतसमभिरूढैवम्भूतभेदतस्त्रिरूपस्य मतेनात्मा–जीवः, परीषह इति प्रक्रमः, पुनः–शब्दो विशेषं द्योतयति, विशेषश्च परीषहोपयुक्तत्वम्, अयं ह्युपयोगप्रधानः, उपयोगश्चात्मन एवेति परीषहोपयुक्त आत्मैव परीषह इति मन्यते इति गाथार्थः ॥ ८१ ॥ इदानीं वर्त्तनाद्वारमाह—

वीसं उक्कोसपए वट्टंति जहन्नओ हवइ एगो। सीउसिण चरिय निसीहिया य जुगवं न वट्टंति ॥ ८२ ॥

व्याख्या—विंशतिः उत्कृष्टपदे चिन्त्यमाने परीषहाः वर्त्तन्ते, युगपदेकत्र प्राणिनीति गम्यते, 'जघन्यतः' जघन्यपदमाश्रित्य भवेदेकः परीषहः, ननूत्कृष्टपदे द्वाविंशतिरपि किं नैकत्र वर्त्तन्त इत्याह—'सीउसिण'त्ति शीतोष्णे चर्या-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४८॥

दीप अनुक्रम [४८]

नैषेधिक्यौ च 'युगपद्' एककालं 'न वर्त्तेते' न भवतः, परस्परं परिहारस्थितिलक्षणत्वादमीषां, तथाहि–न शीतमुष्णे न चोष्णं शीते न चर्यायां नैषेधिकी नैषेधिक्यां वा चर्येत्यतो यौगपद्येनामीषामेकत्रासम्भवान्नोत्कृष्टतोऽपि द्वाविंशतिरिति,आह–नैषेधिकीवत्कथं शय्याऽपि न चर्यया विरुध्यते ?, उच्यते, निरोधबाधादितस्त्वङ्गनिकादेरपि तत्र सम्भवान्नैषेधिकी तु स्वाध्यायादीनां भूमिः, ते च प्रायः स्थिरतायामेवानुज्ञाता इति तस्या एव चर्यया विरोध इति गाथार्थः ॥ ८२ ॥ कालद्वारमाह—

वासग्गसो अ तिण्हं मुहुत्तमंतं च होइ उज्जुसुए । सद्दस्स एगसमयं परीसहो होइ नायव्वो ॥ ८३ ॥

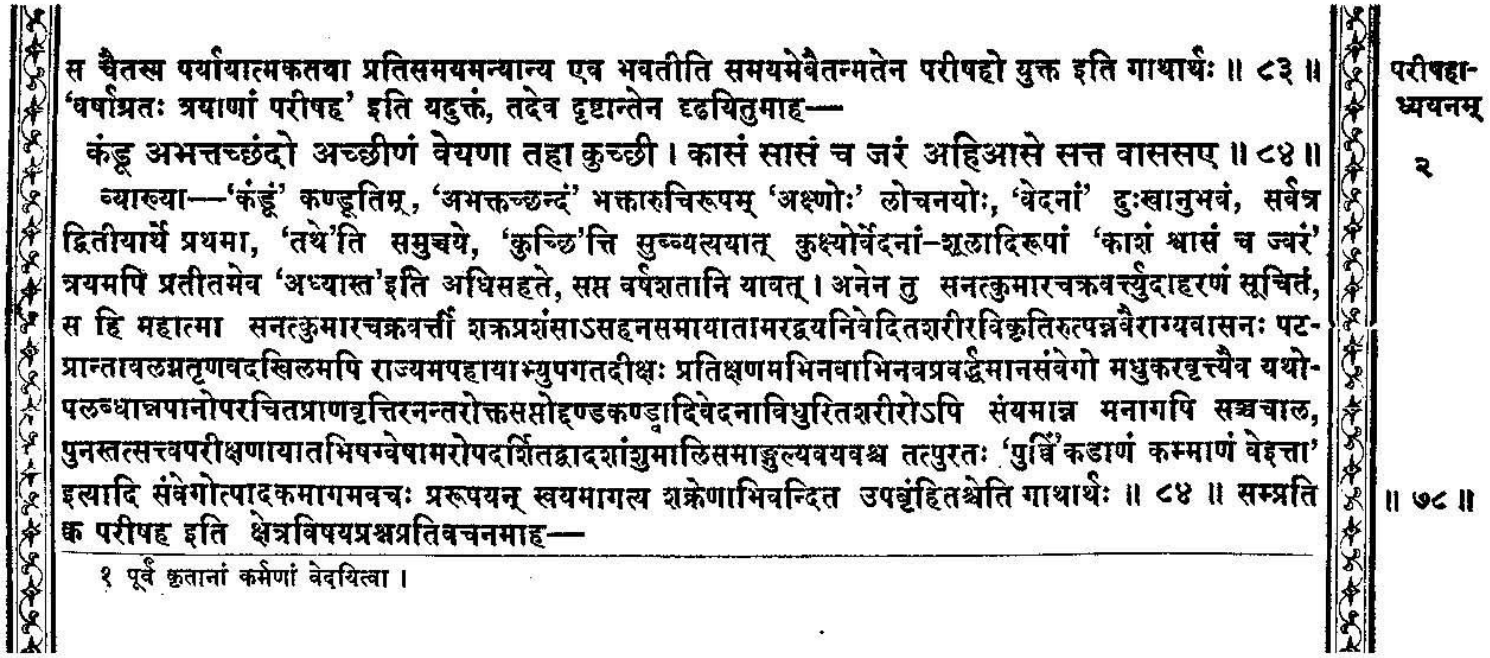
व्याख्या—'वासग्गसो य'त्ति आर्षत्वाद्वर्षाग्रतः, कोऽर्थः ?–वर्षलक्षणं कालपरिमाणमाश्रित्य, परीषहो भवति इति गम्यते, चः पूरणे, 'त्रयाणां' नैगमसङ्ग्रहव्यवहारनयानां मतेन, ते ह्यनन्तरोक्तन्यायतस्तदुत्पादकं वस्त्वपि परीषहमिच्छन्ति, तच्चैतावत्कालस्थितिकमपि सम्भवत्येवेति, 'मुहुत्तमंतं च' इति प्राकृतत्वादन्तर्मुहूर्त्तं पुनर्भवति, प्रक्रमात्परीषहः, ऋजुसूत्रे ऋजुश्रुते वा–विचार्यमाणे, स हि प्रागुक्तनीतितो वेदना परीषह इति वक्ति, सा चोपयोगात्मिका, उपयोगश्च 'अंतोमुहुत्ताउ परं जोगुवओगा न संती'ति वचनात् आन्तर्मुहूर्त्तिक एव, 'शब्दस्य' साम्प्रतादित्रिभेदस्य मतेनैकसमयं परीषहो भवति 'ज्ञातव्यः' अवबोद्धव्यः, स ह्युक्तनीतितो वेदनोपयुक्तमात्मानमेव परीषहं मनुते,

१ अन्तर्मुहूर्त्तात्परतो योगोपयोगा न सन्ति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४८॥

दीप अनुक्रम [४८]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ ७८ ॥

स चैतस्य पर्यायात्मकतया प्रतिसमयमन्यान्य एव भवतीति समयमेवैतन्मतेन परीषहो युक्त इति गाथार्थः ॥ ८३ ॥ 'वर्षाग्रतः त्रयाणां परीषह' इति यदुक्तं, तदेव दृष्टान्तेन दृढयितुमाह—

कंडू अभत्तच्छंदो अच्छीणं वेयणा तहा कुच्छी । कासं सासं च जरं अहिआसे सत्त वाससए ॥ ८४ ॥

व्याख्या—'कंडूं' कण्डूतिम्, 'अभक्तच्छन्दं' भक्तारुचिरूपम् 'अक्ष्णोः' लोचनयोः, 'वेदनां' दुःखानुभवं, सर्वत्र द्वितीयार्थे प्रथमा, 'तथे'ति समुच्चये, 'कुच्छि'त्ति सुव्व्यत्ययात् कुक्ष्योर्वेदनां–शूलादिरूपां 'कासं श्वासं च ज्वरं' त्रयमपि प्रतीतमेव 'अध्यास्त'इति अधिसहते, सप्त वर्षशतानि यावत्। अनेन तु सनत्कुमारचक्रवर्त्युदाहरणं सूचितं, स हि महात्मा सनत्कुमारचक्रवर्त्ती शक्रप्रशंसाऽसहनसमायातामरद्वयनिवेदितशरीरविकृतिरुत्पन्नवैराग्यवासनः पट-प्रान्तावलग्नतृणवदखिलमपि राज्यमपहायाभ्युपगतदीक्षः प्रतिक्षणमभिनवाभिनवप्रवर्द्धमानसंवेगो मधुकरवृत्त्यैव यथो-पलब्धान्नपानोपरचितप्राणवृत्तिरनन्तरोक्तसप्तोद्दण्डकण्ड्वादिवेदनाविधुरितशरीरोऽपि संयमान्न मनागपि सञ्चचाल, पुनस्तत्सत्त्वपरीक्षणायातभिषग्वेषामरोपदर्शितद्वादशांशुमालिसमाङ्गुल्यवयवश्च तत्पुरतः 'पुव्विं[1]कडाणं कम्माणं वेइत्ता' इत्यादि संवेगोत्पादकमागमवचः प्ररूपयन् स्वयमागत्य शक्रेणाभिवन्दित उपबृंहितश्चेति गाथार्थः ॥ ८४ ॥ सम्प्रति क्व परीषह इति क्षेत्रविषयप्रश्नप्रतिवचनमाह—

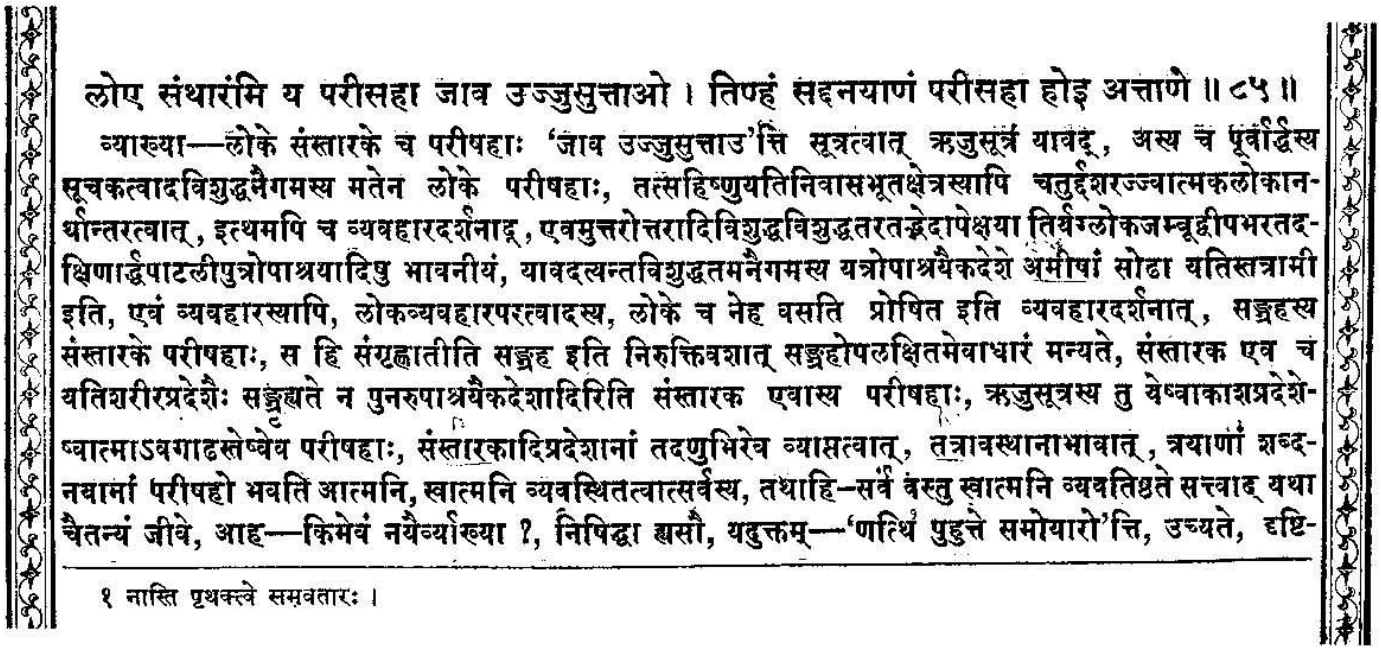
१ पूर्वं कृतानां कर्मणां वेदयित्वा ।

परीषहाध्ययनम् २ ॥ ७८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४८॥

दीप अनुक्रम [४८]



लोए संथारंमि य परीसहा जाव उज्जुसुत्ताओ । तिण्हं सद्दनयाणं परीसहा होइ अत्ताणे ॥ ८५ ॥

व्याख्या—लोके संस्तारके च परीषहाः 'जाव उज्जुसुत्ताउ'त्ति सूत्रत्वात् ऋजुसूत्रं यावद्, अस्य च पूर्वार्द्धस्य सूचकत्वादविशुद्धनैगमस्य मतेन लोके परीषहाः, तत्सहिष्णुयतिनिवासभूतक्षेत्रस्यापि चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकानर्थान्तरत्वात्, इत्थमपि च व्यवहारदर्शनाद्, एवमुत्तरोत्तरादिविशुद्धविशुद्धतरतद्भेदापेक्षया तिर्यग्लोकजम्बूद्वीपभरतदक्षिणार्द्धपाटलीपुत्रोपाश्रयादिषु भावनीयं, यावदत्यन्तविशुद्धतमनैगमस्य यत्रोपाश्रयैकदेशे अमीषां सोढा यतिस्तत्रामी इति, एवं व्यवहारस्यापि, लोकव्यवहारपरत्वादस्य, लोके च नेह वसति प्रोषित इति व्यवहारदर्शनात्, सङ्ग्रहस्य संस्तारके परीषहाः, स हि संगृह्णातीति सङ्ग्रह इति निरुक्तिवशात् सङ्ग्रहोपलक्षितमेवाधारं मन्यते, संस्तारक एव च यतिशरीरप्रदेशैः सङ्ग्रह्यते न पुनरुपाश्रयैकदेशादिरिति संस्तारक एवास्य परीषहाः, ऋजुसूत्रस्य तु येष्वाकाशप्रदेशेष्वात्माऽवगाढस्तेष्वेव परीषहाः, संस्तारकादिप्रदेशानां तदणुभिरेव व्याप्तत्वात्, तत्रावस्थानाभावात्, त्रयाणां शब्दनयानां परीषहो भवति आत्मनि, स्वात्मनि व्यवस्थितत्वात्सर्वस्य, तथाहि–सर्वं वस्तु स्वात्मनि व्यवतिष्ठते सत्त्वाद् यथा चैतन्यं जीवे, आह—किमेवं नयैर्व्याख्या ?, निषिद्धा ह्यसौ, यदुक्तम्—'णत्थि पुहुत्ते समोयारो'त्ति, उच्यते, दृष्टि-

१ नास्ति पृथक्त्वे समवतारः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [४९]

वादोद्धृतत्ववादस्य न दोषः, तथा च प्रागुक्तम्–'कम्मप्पवायपुव्वे' त्यादि, दृष्टिवादे हि नयैर्व्याख्येयत्रापि तथैवाभिधानमिति गाथार्थः ॥ ८५ ॥ इदानीमुद्देशादिद्वारत्रयमल्पवक्तव्यमित्येकगाथया गदितुमाह—

उद्देसो गुरुवयणं पुच्छा सीसस्स उ मुणेयव्वा । निद्देसो पुणिमे खलु बावीसं सुत्तफासे य ॥ ८६ ॥

व्याख्या—उद्दिश्यत इति उद्देशः, क इत्याह–'गुरुवचनं' गुरोः विवक्षितार्थसामान्याभिधायकं वचो, यथा प्रस्तुतमेव 'इह खलु बावीसं परीसह'त्ति 'पृच्छा शिष्यस्य तु' गुरूद्दिष्टार्थविशेषजिज्ञासोर्विनेयस्य, तुः पुनः प्रक्रमाद्वचनं 'मुणितव्या' ज्ञातव्या, यथा 'कयरे खलु ते बावीसं परीसहा ?' इति, निर्देशश्चेति निर्देशः–पुनः इमे खलु द्वाविंशतिः, परीषहा इति गम्यते, अनेन च शिष्यप्रश्नानन्तरं गुरोर्निर्वचनं निर्देश इत्यर्थादुक्तं भवति, अत्र चैवमुदाहरणद्वारेणाभिधानं पूर्वयोरप्युक्तोदाहरणद्वयसूचनार्थं वैचित्र्यख्यापनार्थं चेति किञ्चिन्यूनगाथार्थः ॥ ८६ ॥ इत्थं 'कुत' इत्यादिद्वादशद्वारवर्णनादवसितो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, सम्प्रति 'सूत्रस्पर्श' इति चरमद्वारस्य सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपस्य चावसरः, तच्चोभयं सूत्रे सति भवतीति सूत्रानुगमे सुत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

'सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं–इह खलु बावीसं परीसहा समणेण भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया जे भिक्खू सुच्चा नच्चा जिच्चा अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयंतो पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [४९]

व्याख्या—श्रुतम् आकर्णितमवधारितमितियावत् 'मे' मया 'आयुष्मन्नि'ति शिष्यामन्त्रणं, कः कमेवमाह ?, सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं, किं तत् श्रुतमित्याह–'तेने'ति त्रिजगत्प्रतीतेन 'भगवता' अष्टमहाप्रातिहार्यरूपसमग्रैश्वर्यादियुक्तेन, 'एव'मित्यमुना वक्ष्यमाणन्यायेन 'आख्यातं' सकलजन्तुभाषाभिव्याप्त्या कथितम्, उक्तं च—"देवा देवीं नरा नारीं, शबराश्चापि शाबरीम् । तिर्यञ्चोऽपि हि तैरश्चीं, मेनिरे भगवद्गिरम् ॥ १ ॥" किमत आह—'इहे'ति लोके प्रवचने वा 'खलुः' वाक्यालङ्कारे अवधारणे वा, तत इहैव–जिनप्रवचन एव द्वाविंशतिः परीषहाः, सन्तीति गम्यते, अत्र च श्रुतमित्यनेनावधारणाभिधायिना स्वयमवधारितमेव अन्यस्मै प्रतिपादनीयमित्याह, अन्यथाऽभिधाने प्रत्युतापायसम्भवात्, उक्तं च–"किं एत्तो पावयरं सम्मं अणहिगयधम्मसब्भावो । अन्नं कुदेसणाए कट्ठतरायंमि पाडेइ ॥ १ ॥"त्ति, 'मये'त्यनेनार्थतोऽनन्तरागमत्वमाह, 'भगवते'त्यनेन च वक्तुः केवलज्ञानादिगुणवत्त्वसूचकेन प्रकृतवचसः प्रामाण्यं ख्यापयितुं वक्तुः प्रामाण्यमाह, वक्तृप्रामाण्यमेव हि वचनप्रामाण्ये निमित्तं, यदुक्तम्–"पुरुषप्रामाण्यमेव शब्दे दर्पणसङ्क्रान्तं मुखमिवोपचारादभिधीयते" 'तेने'ति च गुणवत्त्वप्रसिध्यभिधानेन प्रस्तुताध्ययनस्य प्रामाण्यनिश्चयमाह, संदिग्धे हि वक्तुर्गुणवत्त्वे वचसोऽपि प्रामाण्ये संदिह्येतेति, समुदायेन तु आत्मौद्धत्यपरिहारेण गुरुगुणप्रभावनापरैरेव विनेयेभ्यो देशना विधेया, एतद्भक्तिपरिणामे च विद्यादेरपि फलसिद्धिः, यदुक्तम्–"आर्यरियभक्ति-

१ किमेतस्मात्पापकरं ? सम्यगनधिगतधर्मसद्भावः । अन्यं कुदेशनया कष्टतरागसि पातयति ॥ १ ॥ २ आचार्यभक्तिरागेण विद्या मन्त्राश्च सिध्यन्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [४९]

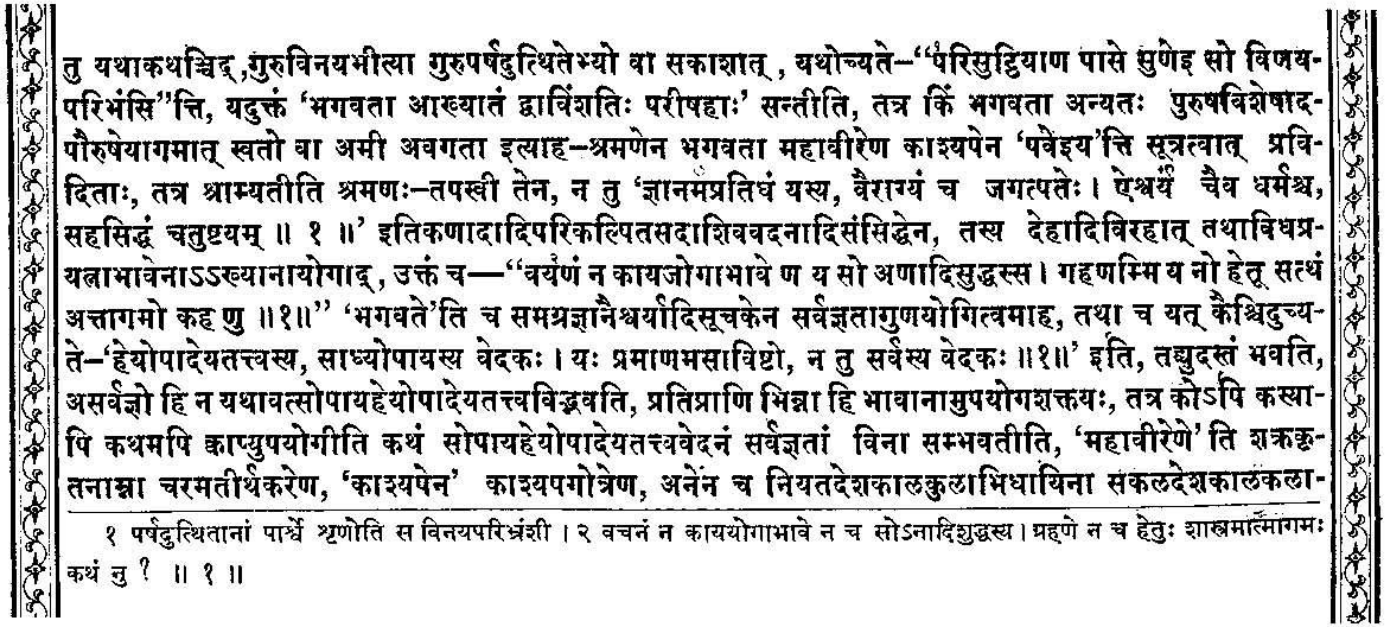
राएण विज्जा मन्ता य सिज्झंति" अथवा—'आउसंतेणं'ति भगवद्विशेषणम्, आयुष्मता भगवता, चीरजीविनेत्यर्थो, मङ्गलवचनमेतत्, यद्वा–'आयुष्मते'ति परार्थप्रवृत्त्यादिना प्रशस्तमायुर्धारयता, न तु मुक्तिमवाप्यापि तीर्थनिकारादिदर्शनात्पुनरिहायातेन, यथोच्यते कैश्चित्–"ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्त्तारः परमं पदम् । गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि, भवं तीर्थनिकारतः ॥ १ ॥" एवं हि अनुन्मूलितनिःशेषरागादिदोषत्वात्तद्वचसोऽप्रामाण्यमेव स्यात्, निःशेषोन्मूलने हि रागादीनां कुतः पुनरिहागमनसम्भव इति। यदिवा–'आवसंतेणं'ति मयेत्यस्य विशेषणं, तत आङिति–मुरुदर्शितमर्यादया वसता, अनेन तत्त्वतो गुरुमर्यादावर्त्तित्वरूपत्वाद्गुरुकुलवासस्य तद्विधानमर्थत उक्तं, ज्ञानादिहेतुत्वात्तस्य, उक्तं च—"णाणस्स होइ भागी थिरयरतो दंसणे चरित्ते य। धन्ना आवकहाए गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥ १ ॥"अथवा 'आमुसंतेण' आमृशता भगवत्पादारविन्दं भक्तितः करतलयुगादिना स्पृशता, अनेनैतदाह–अधिगतसमस्तशास्त्रेणापि गुरुविश्रामणादिविनयकृत्यं न मोक्तव्यम्, उक्तं हि—"जहाहिअग्गी जलणं नमंसे, णाणाहुईमंतपयाहिसित्तं। एवायरियं उवचिट्ठएज्जा, अणंतणाणोवगतोऽवि संतो ॥ १ ॥"त्ति, यद्वा—'आउसंतेणं'ति प्राकृतत्वेन तिङव्यत्ययादाजुषमाणेन–श्रवणविधिमर्यादया गुरून् सेवमानेन, अनेनाप्येतदाह—विधिनैवोचितदेशस्थेन गुरुसकाशात् श्रोतव्यं, न

१ ज्ञानस्य भवति भागी स्थिरतरो दर्शने चारित्रे च । धन्या यावत्कथिकं गुरुकुलवासं न मुञ्चन्ति ॥ १ ॥ २ यथाऽऽहिताग्निर्ज्वलनं नमस्यति नानाहुतिमन्त्रपदाभिषिक्तम् । एवमाचार्यमुपतिष्ठेतानन्तज्ञानोपगतोऽपि सन् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [४९]



तु यथाकथञ्चिद्,गुरुविनयभीत्या गुरुपर्षदुत्थितेभ्यो वा सकाशात्, यथोच्यते–"परिसुट्ठियाण पासे सुणेइ सो विणय-परिभंसि"त्ति, यदुक्तं 'भगवता आख्यातं द्वाविंशतिः परीषहाः' सन्तीति, तत्र किं भगवता अन्यतः पुरुषविशेषाद-पौरुषेयागमात् स्वतो वा अमी अवगता इत्याह–श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन 'पवेइय'त्ति सूत्रत्वात् प्रवि-दिताः, तत्र श्राम्यतीति श्रमणः–तपस्वी तेन, न तु 'ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः। ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च, सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥ १ ॥' इतिकणादादिपरिकल्पितसदाशिववदनादिसंसिद्धेन, तस्य देहादिविरहात् तथाविधप्र-यत्नाभावेनाऽऽख्यानायोगाद्, उक्तं च—"वयणं न कायजोगाभावे ण य सो अणादिसुद्धस्स। गहणम्मि य नो हेतू सत्थं अत्तागमो कह णु ॥१॥" 'भगवते'ति च समग्रज्ञानैश्वर्यादिसूचकेन सर्वज्ञतागुणयोगित्वमाह, तथा च यत् कैश्चिदुच्य-ते–'हेयोपादेयतत्त्वस्य, साध्योपायस्य वेदकः। यः प्रमाणमसाविष्टो, न तु सर्वस्य वेदकः ॥१॥' इति, तद्युदस्तं भवति, असर्वज्ञो हि न यथावत्सोपायहेयोपादेयतत्त्वविद्भवति, प्रतिप्राणि भिन्ना हि भावानामुपयोगशक्तयः, तत्र कोऽपि कस्या-पि कथमपि क्वाप्युपयोगीति कथं सोपायहेयोपादेयतत्त्ववेदनं सर्वज्ञतां विना सम्भवतीति, 'महावीरेणे'ति शक्रकृ-तनाम्ना चरमतीर्थकरेण, 'काश्यपेन' काश्यपगोत्रेण, अनेन च नियतदेशकालकुलाभिधायिना सकलदेशकालकला-

१ पर्षदुत्थितानां पार्श्वे शृणोति स विनयपरिभ्रंशी। २ वचनं न काययोगाभावे न च सोऽनादिशुद्धस्य। ग्रहणे न च हेतुः शास्त्रमात्मागमः कथं नु ? ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [४९]

व्यापिपुरुषाद्वैतनिराकरणं कृतं भवति, तत्र हि सर्वस्यैकत्वादयमाख्याताऽस्मै व्याख्येयमित्यादिविभागाभावत आख्यानस्यैवासम्भव इति, 'प्रविदिताः' प्रकर्षेण–स्वयंसाक्षात्कारित्वलक्षणेन ज्ञाताः, अनेन बुद्धिव्यवहितार्थपरिच्छेदवादः परिक्षिप्तो भवति, स्वयमसाक्षात्कारी हि प्रदीपहस्तान्धपुरुषवद्व्यतिरिक्तबुद्धियोगोऽपि कथं कञ्चनार्थं परिच्छेत्तुं क्षमः स्याद् ?, एवं चैतदुक्तं भवति—नान्यतः पुरुषविशेषादेतेऽवगताः, स्वयंसम्बुद्धत्वाद्भगवतः, नाप्यपौरुषेयागमात्, तस्यैवासम्भवाद्, अपौरुषेयत्वं ह्यागमस्य स्वरूपापेक्षमर्थप्रत्यायनापेक्षं वा ?, तत्र यदि स्वरूपापेक्षं तदा तालवादिकरणव्यापारं विनैवास्य सदोपलम्भप्रसङ्गः, न चावृतत्वात् नोपलम्भ इति वाच्यं, तस्य सर्वथा नित्यत्वे आवरणस्याकिञ्चित्करत्वात्, किञ्चित्करत्वे वा कथञ्चिदनित्यत्वप्रसङ्गाद्, अथार्थप्रत्यायनापेक्षम्, एवं कृतसङ्केता बालादयोऽपि ततोऽर्थं प्रतिपद्येरन्निति नापौरुषेयागमसम्भव इति। ते च कीदृशा इत्याह—'यानि'ति परीषहान् 'भिक्षुः' उक्तनिरुक्तः, 'श्रुत्वा' आकर्ण्य, गुर्वन्तिक इति गम्यते, 'ज्ञात्वा' यथावदवबुद्ध्य, 'जित्वा' पुनः पुनरभ्यासेन परिचितान् कृत्वा 'अभिभूय' सर्वथा तत्सामर्थ्यमुपहत्य, भिक्षोश्चर्या–विहितक्रियासेवनं भिक्षुचर्या तया 'परिव्रजन्' समन्ताद्विहरन् 'स्पृष्टः' आश्लिष्टः, प्रक्रमात्परीषहैरेव, 'नो' नैव 'विनिहन्येत' विविधैः प्रकारैः संयमशरीरोपघातेन विनाशं प्राप्नुयात्, पठन्ति च 'भिक्खायरियाए परिव्वयंतो'त्ति भिक्षाचर्यायां–भिक्षाटने परिव्रजन्, उदीर्यन्ते हि

॥ ८१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [४९]

भिक्षाटने प्रायः परीषहाः, उक्तं हि—"भिक्खायरियाए बावीसं परीसहा उदीरिज्जंति"त्ति, शेषं प्राग्वत् ॥ इत्युक्तः उद्देशः, पृच्छामाह—

कयरे ते खलु बावीसं प० जे०

व्याख्या—'कयरे' किंनामानः 'ते' अनन्तरसूत्रोद्दिष्टाः 'खलुः' वाक्यालङ्कारे, शेषं प्राग्वदिति ॥ निर्देशमाह—

इमे खलु ते बावीसं प० जे०

व्याख्या—'इमे' अनन्तरं वक्ष्यमाणत्वात् हृदि विपरिवर्तमानतया प्रत्यक्षाः इमे'ते' इति ये त्वया पृष्टाः,शेषं पूर्ववत्,॥

तंजहा–दिगिंछापरीसहे १ पिवासापरीसहे २ सीयपरीसहे ३ उसिणपरीसहे ४ दंसमसगपरीसहे ५ अचेलपरीसहे ६ अरइपरीसहे ७ इत्थीपरीसहे ८ चरियापरीसहे ९ निसीहियापरीसहे १० सिज्जा-परीसहे ११ अक्कोसपरीसहे १२ वहपरीसहे १३ जायणापरीसहे १४ अलाभपरीसहे १५ रोगपरीसहे १६ तणफासपरीसहे १७ जल्लपरीसहे १८ सक्कारपुरक्कारपरीसहे १९ पण्णापरीसहे २० अन्नाणपरीसहे २१ सम्मत्तपरीसहे २२

१ भिक्षाचर्यायां द्वाविंशतिः परीषहा उदीर्यन्ते ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [४९]

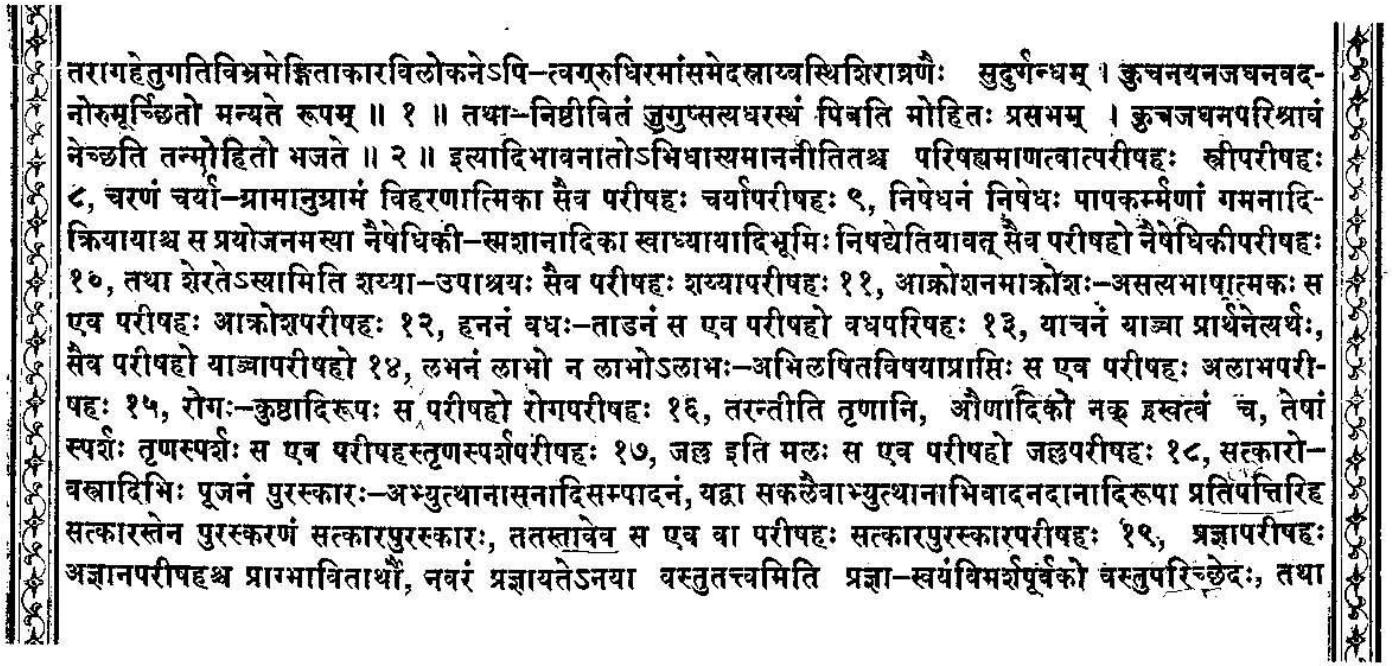
व्याख्या—'तद्यथे'त्युदाहरणोपन्यासार्थः दिगिञ्छापरीषहः १, पिपासापरीषहः २, शीतपरीषहः ३, उष्णपरीषहः ४, दंशमशकपरीषहः ५, अचेलपरीषहः ६, अरतिपरीषहः ७, स्त्रीपरीषहः ८, चर्यापरीषहः ९, नैषेधिकीपरीषहः १०, शय्यापरीषहः ११, आक्रोशपरीषहः १२, वधपरीषहः १३, याचनापरीषहः १४, अलाभपरीषहः १५, रोगपरीषहः १६, तृणस्पर्शपरीषहः १७, जल्लपरीषहः १८, सत्कारपुरस्कारपरीषहः १९, प्रज्ञापरीषहः २०, अज्ञानपरीषहः २१, दर्शनपरीषहः २२। इह च 'दिगिंछ'त्ति देशीवचनेन बुभुक्षोच्यते, सैवात्यन्तव्याकुलत्वहेतुरप्यसंयमभीरुतया आहारपरिपाकादिवाञ्छाविनिवर्त्तनेन परीति–सर्वप्रकारं सह्यत इति परीषहः दिगिंछापरीषहः १, एवं पातुमिच्छा पिपासा सैव परीषहः पिपासापरीषहः २, 'ग्रैङ् गताविं' इत्यस्य भत्यर्थत्वात्कर्त्तरि क्तः, ततो 'द्रवमूर्तिस्पर्शयोः श्यः' (पा० ६–१–२४) इति संप्रसारणे स्पर्शवाचित्वाच्च 'श्योऽस्पर्शे' (पा० ८–२–७) इति नत्वाभावे शीतं–शिशिरः स्पर्शस्तदेव परीषहः शीतपरीषहः ३, 'उष दाह' इत्यस्यौष्णादिकनक्प्रत्ययान्तस्य उष्णं–निदाघादितापात्मकं तदेव परीषहः उष्णपरीषहः ४, दशन्तीति दंशाः पक्षादित्वादच्, मारयितुं शक्नुवन्ति मशकाः, दंशाश्च मशकाश्च दंशमशकाः, यूकाद्युपलक्षणं चैतत्, त एव परीषहो दंशमशकपरीषहः ५, अचेलं–चेलाभावो जिनकल्पिकादीनाम् अन्येषां तु भिन्नमल्पमूल्यं च चेलमप्यचेलमेव, अवस्त्राशीलादिवत्, तदेव परीषहोऽचेलपरीषहः ६, रमणं रतिः–संयमविषया धृतिः तद्विपरीता त्वरतिः, सैव परीषहः अरतिपरीषहः ७, स्त्यायतेः स्तृणोतेर्वा त्रटि टित्त्वाच्च ङीपि स्त्री सैव तद्वः-

॥ ८२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [४९]



तरागहेतुगतिविभ्रमेङ्गिताकारविलोकनेऽपि–त्वग्रुधिरमांसमेदस्नाय्वस्थिशिराव्रणैः सुदुर्गन्धम् । कुचनयनजघनवद-नोरुमूर्च्छितो मन्यते रूपम् ॥ १ ॥ तथा–निष्ठीवितं जुगुप्सत्यधरस्थं पिबति मोहितः प्रसभम् । कुचजघनपरिश्रावं नेच्छति तन्मोहितो भजते ॥ २ ॥ इत्यादिभावनातोऽभिधास्यमाननीतितश्च परिषह्यमाणत्वात्परीषहः स्त्रीपरीषहः ८, चरणं चर्या–ग्रामानुग्रामं विहरणात्मिका सैव परीषहः चर्यापरीषहः ९, निषेधनं निषेधः पापकर्म्मणां गमनादि-क्रियायाश्च स प्रयोजनमस्या नैषेधिकी–स्मशानादिका स्वाध्यायादिभूमिः निषद्येतियावत् सैव परीषहो नैषेधिकीपरीषहः १०, तथा शेरतेऽस्यामिति शय्या–उपाश्रयः सैव परीषहः शय्यापरीषहः ११, आक्रोशनमाक्रोशः–असत्यभाषात्मकः स एव परीषहः आक्रोशपरीषहः १२, हननं वधः–ताडनं स एव परीषहो वधपरिषहः १३, याचनं याच्ञा प्रार्थनेत्यर्थः, सैव परीषहो याच्ञापरीषहो १४, लभनं लाभो न लाभोऽलाभः–अभिलषितविषयाप्राप्तिः स एव परीषहः अलाभपरी-षहः १५, रोगः–कुष्ठादिरूपः स परीषहो रोगपरीषहः १६, तरन्तीति तृणानि, औणादिको नक् ह्रस्वत्वं च, तेषां स्पर्शः तृणस्पर्शः स एव परीषहस्तृणस्पर्शपरीषहः १७, जल्ल इति मलः स एव परीषहो जल्लपरीषहः १८, सत्कारो–वस्त्रादिभिः पूजनं पुरस्कारः–अभ्युत्थानासनादिसम्पादनं, यद्वा सकलैवाभ्युत्थानाभिवादनदानादिरूपा प्रतिपत्तिरिह सत्कारस्तेन पुरस्करणं सत्कारपुरस्कारः, ततस्तावेव स एव वा परीषहः सत्कारपुरस्कारपरीषहः १९, प्रज्ञापरीषहः अज्ञानपरीषहश्च प्राग्भावितार्थौ, नवरं प्रज्ञायतेऽनया वस्तुतत्त्वमिति प्रज्ञा–स्वयंविमर्शपूर्वको वस्तुपरिच्छेदः, तथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [५०]

ज्ञायते वस्तुतत्त्वमनेनेति ज्ञानं–सामान्येन मत्यादि तदभावोऽज्ञानं २०–२१, दर्शनं–सम्यग्दर्शनं तदेव क्रियादिवादिनां विचित्रमतश्रवणेऽपि सम्यक् परिषह्यमाणं–निश्चलचित्ततया धार्यमाणं परीषहो दर्शनपरीषहः, यद्वा दर्शनशब्देन दर्शनव्यामोहहेतुरैहिकामुष्मिकफलानुपलम्भादिरिह गृह्यते, ततः स एव परीषहो दर्शनपरीषहः २२॥ इत्थं नामतः परीषहानभिधाय तानेव स्वरूपतोऽभिधित्सुः संबन्धार्थमाह—

परीसहाणं पविभत्ती, कासवेण पवेइया । तं भे उदाहरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥ १ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'परीषहाणाम्' अनन्तरोक्तनाम्नां 'प्रविभक्तिः' प्रकर्षेण–स्वरूपसम्मोहाभावलक्षणेन विभागः–पृथक्त्वा 'काश्यपेन' काश्यपगोत्रेण महावीरेणेतियावत्, 'प्रवेदिता' प्ररूपिता 'ता'मिति काश्यपप्ररूपितां परीषहप्रविभक्तिं 'भे' इति भवताम् ' 'उदाहरिष्यामि' प्रतिपादयिष्यामि' 'आनुपूर्व्या' क्रमेण शृणुत 'मे' मम प्रक्रमादुदाहरतः, शिष्यादरख्यापनार्थं च काश्यपेन प्रवेदितेति वचनमिति सूत्रार्थः ॥ १ ॥ इह चाशेषपरीषहाणां क्षुत्परीषह एव दुःसह इत्यादितस्तमाह—

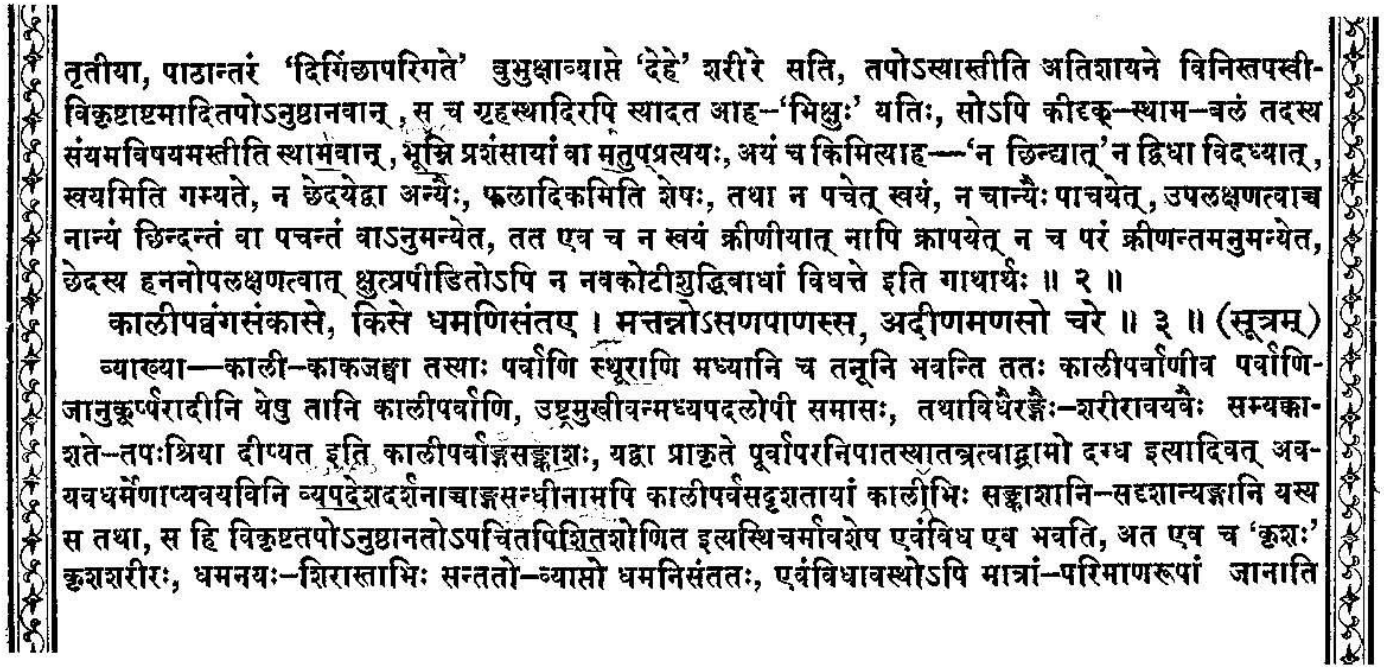
दिगिंछापरियावेणं, तवस्सी भिक्खु थामवं । न छिंदे न छिंदावए, न पए न पयावए ॥२॥ (सूत्रम्)

व्याख्या–दिगिञ्छा–उक्तरूपा तया परितापः–सर्वाङ्गीणसन्तापो दिगिञ्छापरितापस्तेन, छिदादिक्रियापेक्षा–हेतौ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२॥

दीप अनुक्रम [५१]



तृतीया, पाठान्तरं 'दिगिंछापरिगते' बुभुक्षाव्याप्ते 'देहे' शरीरे सति, तपोऽस्यास्तीति अतिशायने विनिस्तपस्वी-विकृष्टाष्टमादितपोऽनुष्ठानवान्, स च गृहस्थादिरपि स्यादत आह–'भिक्षुः' यतिः, सोऽपि कीदृक्–स्थाम–बलं तदस्य संयमविषयमस्तीति स्थामवान्, भूम्नि प्रशंसायां वा मतुप्प्रत्ययः, अयं च किमित्याह—'न छिन्द्यात्' न द्विधा विदध्यात्, स्वयमिति गम्यते, न छेदयेद्वा अन्यैः, फलादिकमिति शेषः, तथा न पचेत् स्वयं, न चान्यैः पाचयेत्, उपलक्षणत्वाच्च नान्यं छिन्दन्तं वा पचन्तं वाऽनुमन्येत, तत एव च न स्वयं क्रीणीयात् नापि क्रापयेत् न च परं क्रीणन्तमनुमन्येत, छेदस्य हननोपलक्षणत्वात् क्षुत्प्रपीडितोऽपि न नवकोटीशुद्धिबाधां विधत्ते इति गाथार्थः ॥ २ ॥

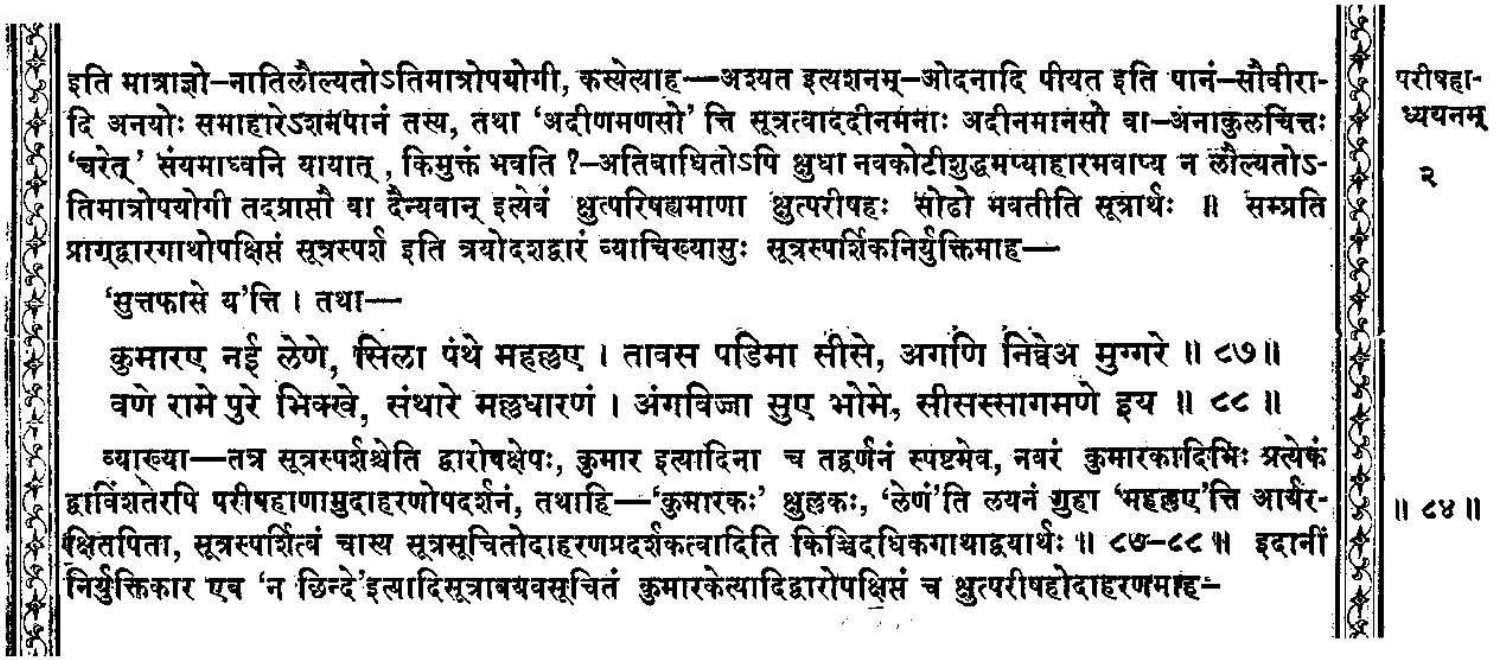
कालीपव्वंगसंकासे, किसे धमणिसंतए । मत्तन्नोऽसणपाणस्स, अदीणमणसो चरे ॥ ३ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—काली–काकजङ्घा तस्याः पर्वाणि स्थूराणि मध्यानि च तनूनि भवन्ति ततः कालीपर्वाणीव पर्वाणि-जानुकूर्परादीनि येषु तानि कालीपर्वाणि, उष्ट्रमुखीवन्मध्यपदलोपी समासः, तथाविधैरङ्गैः–शरीरावयवैः सम्यक्का-शते–तपःश्रिया दीप्यत इति कालीपर्वाङ्गसङ्काशः, यद्वा प्राकृते पूर्वापरनिपातस्यातन्त्रत्वाद्वामो दग्ध इत्यादिवत् अव-यवधर्मेणाप्यवयविनि व्यपदेशदर्शनाच्चाङ्गसन्धीनामपि कालीपर्वसदृशतायां कालीभिः सङ्काशानि–सदृशान्यङ्गानि यस्य स तथा, स हि विकृष्टतपोऽनुष्ठानतोऽपचितपिशितशोणित इत्यस्थिचर्मावशेष एवंविध एव भवति, अत एव च 'कृशः' कृशशरीरः, धमनयः–शिरास्ताभिः सन्ततो–व्याप्तो धमनिसंततः, एवंविधावस्थोऽपि मात्रां–परिमाणरूपां जानाति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३॥

दीप अनुक्रम [५२]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ ८४ ॥

इति मात्राज्ञो–नातिलौल्यतोऽतिमात्रोपयोगी, कस्येत्याह—अश्यत इत्यशनम्–ओदनादि पीयत इति पानं–सौवीरादि अनयोः समाहारेऽशनपानं तस्य, तथा 'अदीणमणसो' त्ति सूत्रत्वाददीनमनाः अदीनमानसो वा–अनाकुलचित्तः 'चरेत्' संयमाध्वनि यायात्, किमुक्तं भवति ?–अतिबाधितोऽपि क्षुधा नवकोटीशुद्धमप्याहारमवाप्य न लौल्यतोऽतिमात्रोपयोगी तदप्राप्तौ वा दैन्यवान् इत्येवं क्षुत्परिषह्यमाणा क्षुत्परीषहः सोढो भवतीति सूत्रार्थः ॥ सम्प्रति प्राग्द्वारगाथोपक्षिप्तं सूत्रस्पर्श इति त्रयोदशद्वारं व्याचिख्यासुः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिमाह—

'सुत्तफासे य'त्ति । तथा—

कुमारए नई लेणे, सिला पंथे महल्लए । तावस पडिमा सीसे, अगणि निवेअ मुग्गरे ॥ ८७ ॥
वणे रामे पुरे भिक्खे, संथारे मल्लधारणं । अंगविज्जा सुए भीमे, सीससस्सागमणे इय ॥ ८८ ॥

व्याख्या—तत्र सूत्रस्पर्शश्चेति द्वारोपक्षेपः, कुमार इत्यादिना च तद्वर्णनं स्पष्टमेव, नवरं कुमारकादिभिः प्रत्येकं द्वाविंशतेरपि परीषहाणामुदाहरणोपदर्शनं, तथाहि—'कुमारकः' क्षुल्लकः, 'लेणं'ति लयनं गुहा 'महल्लए'त्ति आर्षत्वक्षितपिता, सूत्रस्पर्शित्वं चास्य सूत्रसूचितोदाहरणप्रदर्शकत्वादिति किञ्चिदधिकगाथाद्वयार्थः ॥ ८७–८८ ॥ इदानीं निर्युक्तिकार एव 'न छिन्दे'इत्यादिसूत्रावयवसूचितं कुमारकेत्यादिद्वारोपक्षिप्तं च क्षुत्परीषहोदाहरणमाह–

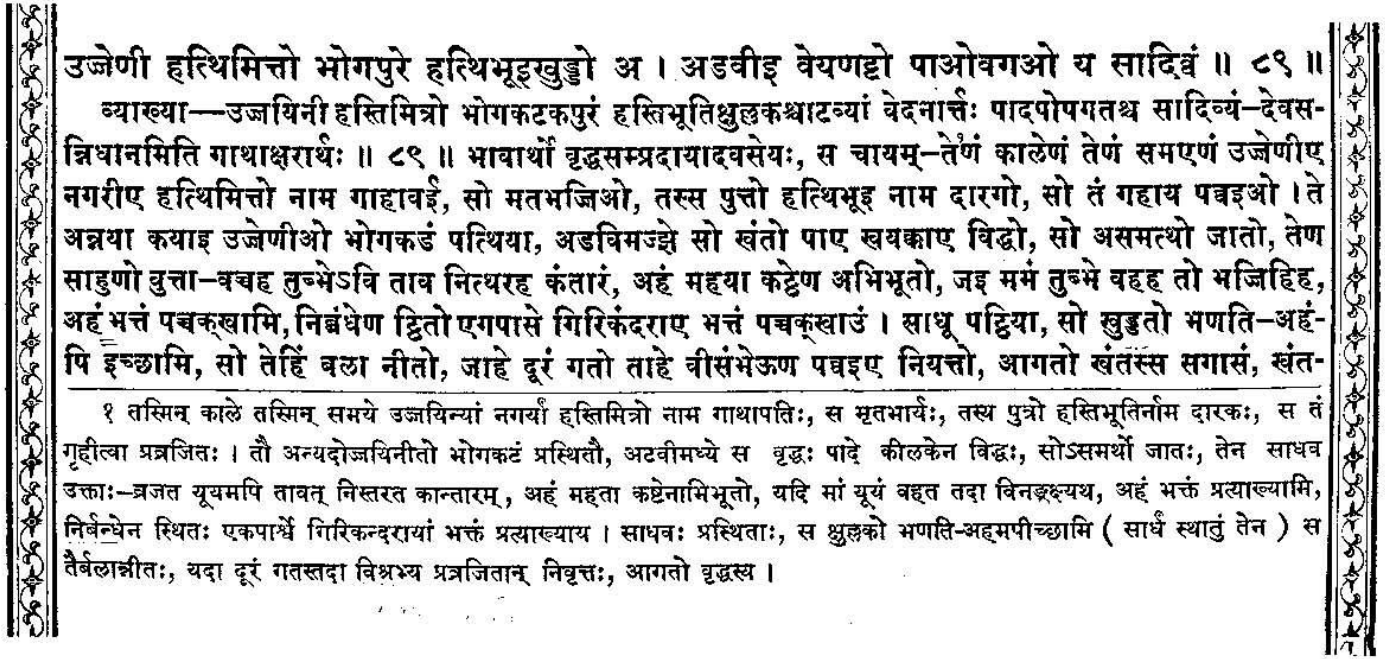
परीषहाध्ययनम् २

॥ ८४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३॥

दीप अनुक्रम [५२]



उज्जेणी हत्थिमित्तो भोगपुरे हत्थिभूइखुड्डो अ । अडवीइ वेयणट्टो पाओवगओ य सादिव्वं ॥ ८९ ॥

व्याख्या—उज्जयिनी हस्तिमित्रो भोगकटकपुरं हस्तिभूतिक्षुल्लकश्चाटव्यां वेदनार्त्तः पादपोपगतश्च सादिव्यं–देवसन्निधानमिति गाथाक्षरार्थः ॥ ८९ ॥ भावार्थो वृद्धसम्प्रदायादवसेयः, स चायम्–तेणं कालेणं तेणं समएणं उज्जेणीए नगरीए हत्थिमित्तो नाम गाहावई, सो मतभज्जिओ, तस्स पुत्तो हत्थिभूइ नाम दारगो, सो तं गहाय पव्वइओ । ते अन्नया कयाइ उज्जेणीओ भोगकडं पत्थिया, अडविमज्झे सो खंतो पाए खयकाए विद्धो, सो असमत्थो जातो, तेण साहुणो वुत्ता–वच्चह तुब्भेऽवि ताव नित्थरह कंतारं, अहं महया कट्ठेण अभिभूतो, जइ ममं तुब्भे वहह तो भज्जिहिह, अहं भत्तं पच्चक्खामि, निब्बंधेण ट्ठितो एगपासे गिरिकंदराए भत्तं पच्चक्खाउं । साधू पट्ठिया, सो खुड्डतो भणति–अहंपि इच्छामि, सो तेहिं बला नीतो, जाहे दूरं गतो ताहे वीसंभेऊण पव्वइए नियत्तो, आगतो खंतस्स सगासं, खंत-

१ तस्मिन् काले तस्मिन् समये उज्जयिन्यां नगर्यां हस्तिमित्रो नाम गाथापतिः, स मृतभार्यः, तस्य पुत्रो हस्तिभूतिर्नाम दारकः, स तं गृहीत्वा प्रव्रजितः । तौ अन्यदोज्जयिनीतो भोगकटं प्रस्थितौ, अटवीमध्ये स वृद्धः पादे कीलकेन विद्धः, सोऽसमर्थो जातः, तेन साधव उक्ताः–व्रजत यूयमपि तावत् निस्तरत कान्तारम्, अहं महता कष्टेनाभिभूतो, यदि मां यूयं वहत तदा विनङ्क्ष्यथ, अहं भक्तं प्रत्याख्यामि, निर्बन्धेन स्थितः एकपार्श्वे गिरिकन्दरायां भक्तं प्रत्याख्याय । साधवः प्रस्थिताः, स क्षुल्लको भणति-अहमपीच्छामि (सार्धं स्थातुं तेन) स तैर्बलान्नीतः, यदा दूरं गतस्तदा विश्रभ्य प्रव्रजितान् निवृत्तः, आगतो वृद्धस्य ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३॥

दीप अनुक्रम [५२]

एण भणियं–तुमं कीस आगओ ?, इहं मरिहिसि, सोऽवि थेरो वेयणत्तो तद्दिवसं चेव कालगतो, खुड्डगो न चेव जाणइ जहा कालगतो। सो देवलोएसु उववण्णो, पच्छा तेण ओही पउत्ता–किं मया दत्तं तत्तं वा ?, जाव तं सरीरयं पेच्छइ खुड्डगं च, सो तस्स खुड्डगस्स अणुकंपाए तहेव सरीरगं अणुपविसित्ता खुड्डएण सद्धिं उल्लावेंतो अच्छइ, तेण भणिओ–वच्चह पुत्त! भिक्खाए, सो भणइ–कहिं ?, तेण भण्णइ–एए धवणिग्गोहादी पायवा, एएसु तन्निवासी पागवंतो, जे तव भिक्खं देहिंति, तहत्ति भणिउं गतो, धम्मलाभेति रुक्खहेट्ठेसु, ततो सालंकारो हत्थो णिग्गच्छिउं भिक्खं देइ, एवं दिवसे दिवसे भिक्खं गिण्हंतो अच्छितो जाव ते साहुणो तंमि देसे दुब्भिक्खे जाए पुणोवि उज्जेणिगं देसं आगच्छंता तेणेव मग्गेण आगया बितिए संवच्छरे, जाव तं गया पएसं, खुड्डगं पेच्छंति वरिसस्स

सकाशं, वृद्धेन भणितम्–त्वं किमागतः, इह मरिष्यसि, सोऽपि स्थविरो वेदनार्त्तः तद्दिवस एव कालं गतः, क्षुल्लको नैव जानाति यथा कालगतः। स देवलोके उत्पन्नः, पश्चात्तेनावधिः प्रयुक्तः—किं मया दत्तं तप्तं वा ?, यावत्तच्छरीरकं प्रेक्षते क्षुल्लकं च, स तस्य क्षुल्लकस्यानुकम्पया तथैव शरीरकमनुप्रविश्य क्षुल्लकेन सार्धं उल्लापयन् तिष्ठति, तेन भणितः–व्रज पुत्र! भिक्षायै, स भणति-क ?, तेन भण्यते-एते धवन्यग्रोधादयः पादपाः, एतेषु तन्निवासिनः पाकवन्तः, ये तुभ्यं भिक्षां दास्यन्ति, तथेति भणित्वा गतः, धर्मलाभयति वृक्षाणामधस्तात्, ततः सालङ्कारो हस्तो निर्गत्य भिक्षां ददाति, एवं दिवसे दिवसे भिक्षां गृह्णन् स्थितः यावत्ते साधवस्तस्मिन् देशे दुर्भिक्षे जाते पुनरपि उज्जयिनीदेशमागच्छन्तः तेनैव मार्गेणागताः, द्वितीयस्मिन् संवत्सरे, यावत्तं प्रदेशं गताः, क्षुल्लकं प्रेक्षन्ते, वर्षस्यान्ते।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४॥

दीप अनुक्रम [५३]

अंते, पुच्छितो भणइ–खंतोऽवि अच्छइ, गया जाव सुक्कं सरीरयं पेच्छंति, तेहिं नायं–देवेण होऊणमणुकंपा कइ-लिया होहित्ति । खंतेण अहियासितो परीसहो ण खुड्डएण, अहवा खुड्डएणवि अहियासितो, ण तस्स एवं भावो भवइ–जहाऽहं न लभिस्सामि भिक्खं, पच्छा सो खुड्डगो साहूहिं नीओ। यथा च ताभ्यामयं परीषहः सोढस्तथा साम्प्रतस्थमुनिभिरपि सोढव्य इत्यैदम्पर्यार्थः। उक्तः क्षुत्परीषहः, एवं चाधिसहमानस्य न्यूनकुक्षितयैषणीयाहारार्थं वा पर्यटतः श्रमादिभिरवश्यंभाविनी पिपासा, सा च सम्यक् सोढव्येति तत्परीषहमाह—

तओ पुट्ठो पिवासाए, दुगुंछी लद्धसंजमे। सीओदगं ण सेवेज्जा, वियडस्सेसणं चरे ॥४॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'तत' इति क्षुत्परीषहात् तको वा उक्तविशेषणो भिक्षुः 'स्पृष्टः' अभिद्रुतः 'पिपासया' अभिहितस्वरू-पया 'दोगुंछी'ति जुगुप्सी, सामर्थ्यादनाचारस्येति गम्यते, अत एव लब्धः–अवाप्तः संयमः–पञ्चाश्रवादिविरमणात्मको येन स तथा, पाठान्तरं वा 'लज्जसंजमेत्ति' लज्जा–प्रतीता संयमः–उक्तरूपः एताभ्यां स्वभ्यस्ततया सात्मीभावसमु-पगताभ्यामनन्य इति स एव लज्जासंयमः, पठ्यते च 'लज्जासंजए'त्ति, तत्र लज्जया सम्यग्यतते–कृत्यं प्रत्यादृतो भवतीति लज्जासंयतः, सर्वधातूनां पचादिषु दर्शनात्, स एवंविधः किमित्याह—शीतं–शीतलं, स्वरूपस्थतोयो-

१ पृष्टो भणति–वृद्धोऽपि तिष्ठति, गता यावत् शुष्कं शरीरकं प्रेक्षन्ते, तैर्ज्ञातं–देवीभूयानुकम्पा कृताऽभविष्यत् इति। वृद्धेनाध्यासितः परी-षहो न क्षुल्लकेन, अथवा क्षुल्लकेनापि अध्यासितः, न तस्यैवं भावोऽभूत्-यथाऽहं न लप्स्ये भिक्षां, पश्चात्स क्षुल्लकः साधुभिर्नीतः।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [५४]

पलक्षणमेतत्, ततः स्वकीयादिशस्त्रानुपहतम्, अप्रासुकमित्यर्थः, तच्च तदुदकं च शीतोदकं, 'न सेवेत' न पानादिना भजेत, किन्तु 'वियडस्स'त्ति विकृतस्य–वह्न्यादिना विकारं प्रापितस्य प्रासुकस्येतियावत्, प्रक्रमादुदकस्य 'एसणं'ति चतुर्थ्यर्थे द्वितीया, ततश्चैषणाय–गवेषणार्थं 'चरेत्, तथाविधकुलेषु पर्यटेत्, अथवा एषणाम्–एषणासमितिं चरेत्, चरतेरासेवायामपि दर्शनात् पुनः पुनः सेवेत, किमुक्तं भवति ?–एकवारमेषणाया अशुद्धावपि न पिपासातिरेकतोऽनेषणीयमपि गृह्णंस्तामुल्लङ्घयेदिति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥ कदाचिज्जनाकुल एव निकेतनादौ लज्जातः स्वस्थ एव चैवं विदधीतेत्यत आह—

छिन्नावाएसु पंथेसुं, आउरे सुपिवासिए । परिसुक्कमुहे दीणे, तं तितिक्खे परीसहं॥५॥(सूत्रम्)

व्याख्या—छिन्नः–अपगतः आपातः–अन्यतोऽन्यत आगमनात्मकः अर्थाजनस्य येषु ते छिन्नापाताः, विविक्ता इत्यर्थः, तेषु, 'पथिषु' मार्गेषु, गच्छन्निति गम्यते, कीदृशः सन्नित्याह–'आतुरः' अत्यन्ताकुलतनुः, किमिति ?, यतः सुष्ठु–अतिशयेन पिपासितः–तृषितः सुपिपासितः, अत एव च परिशुष्कं–विगतनिष्ठीवनतयाऽनार्द्रतामुपगतं मुखमस्येति परिशुष्कमुखः स चासौ अदीनश्च–दैन्याभावेन परिशुष्कमुखादीनः 'त'मिति तृट्परीषहं 'तितिक्षेत' सहेत पठ्यते च–'सव्वतो य परिव्वएज्जे' सर्वत इति सर्वान्–मनोयोगादीनाश्रित्य, चः पूरणे 'परिव्रजेत्' सर्वप्रकारसंयमाध्वनि यायात्, उभयत्रायमर्थो–विविक्तदेशस्थोऽप्यत्यन्तं पिपासितोऽस्वास्थ्यमुपगतोऽपि च नोक्तविधि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [५४]

मुल्लङ्घयेत्, ततः पिपासापरीषहोऽध्यासितो भवतीति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥ इदानीं नदीद्वारमनुसरन् 'सीओदगं न सेवेजा' इत्यादिसूत्रावयवसूचितं निर्युक्तिकृत् दृष्टान्तमाह—

उज्जेणी धणमित्तो पुत्तो से खुड्डओ अ धणसम्मो। तण्हाइत्तोऽपीओ कालगओ एलगच्छपहे ॥ ९० ॥

व्याख्या—उज्जयिन्यां धनमित्रः 'से' इति तस्य पुत्रः क्षुल्लकश्च धनपुत्रशर्म्मा 'तण्हाएत्तो'त्ति तृषितोऽपीतः कालगत एडकाक्षपथ इत्यक्षरार्थः ॥ ९० ॥ भावार्थस्तु सम्प्रदायादवसेयः, स चायम्—

एत्थ उदाहरणं किंचि पडिवक्खेण किंचि अणुलोमेण। उज्जेणी नाम नयरी, तत्थ धणमित्तो नाम वाणियतो, तस्स पुत्तो धणसम्मो नाम दारतो,सो धणमित्तो तेण पुत्तेण सह पव्वइओ। अन्नया ते साहू मज्झण्हवेलाए एलगच्छपहे पट्ठिया, सोऽवि खुड्डगो तण्हाइतो एति, सोऽवि से खन्तो सिणेहाणुरागेण पच्छओ एति, साहुणोऽवि पुरतो वच्चंति, अन्तरावि नदी समावडिया, पच्छा तेण वुच्चइ–एहि पुत्त! इमं पाणियं पियाहि, सोऽवि खंतो नइं उत्तिन्नो चिंतेति य–म-

१ अत्रोदाहरणं किञ्चित्प्रतिपक्षेण किञ्चिदनुलोमेन। उज्जयिनी नाम नगरी, तत्र धनमित्रो नाम वणिक्, तस्य पुत्रो धनशर्मा नाम दारकः, स धनमित्रस्तेन पुत्रेण सह प्रव्रजितः। अन्यदा ते साधवो मध्याह्नवेलायामेलकाक्षपथे प्रस्थिताः, सोऽपि क्षुल्लकस्तृषित एति, सोऽपि तस्य पिता स्नेहानुरागेण पश्चादायाति, साधवोऽपि पुरतो व्रजन्ति, अन्तराऽपि नदी समापतिता, पश्चात्तेनोच्यते–एहि पुत्रेदं पानीयं पिब, सोऽपि वृद्धो नदीमुत्तीर्णश्चिन्तयति च–मनागपसरामि।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [५४]

णागं ओसरामि, जावेस खुड्डओ पाणियं पियइ, मा मे संकाए न पाहित्ति एगंते पडिच्छइ, जाव खुड्डतो पत्तो णइं ण पियति, केइ भणंति–अंजलीए उक्कुसित्ताए अह से चिंता जाया–पियामित्ति, पच्छा चिंतेइ–कहमहं एए हालाहले जीवे पिविस्सं ?, ण पीयं, आसाए छिन्नाए कालगतो, देवेसु उववण्णो, ओहि पउत्तो, जाव खुड्डगसरीरं पासति, तहिं अणुपविट्ठो, खंतं ओलग्गति, खंतोऽवि एतित्ति पत्थितो, पच्छा तेण तेसिं देवेणं साहूणं गोउलाणि विउविताणि, साहूवि तासु वइयासु तक्काईणि गिण्हन्ति, एवं वइयापरंपरेण जाव जणवयं संपत्ता, पच्छिल्लाए वइयाए तेण देवेण विंटिया पम्हुसाविया जाणणनिमित्तं, एगो साहू णियत्तो, पेच्छति विंटियं, णत्थि वइया, पच्छा तेहिं णायं–सादिव्वंति, पच्छा तेण देवेण साहुणो वंदिया, खंतो न वंदिओ, तओ सव्वं परिकहेइ, भणइ–एएण

१ यावदेष क्षुल्लकः पानीयं पिबति, मा मम शङ्कया न पास्यतीति एकान्ते प्रतीक्षते, यावत्क्षुल्लकः प्राप्तः नदीं, न पिबति, केचिद्भणन्ति-अञ्जलावुत्क्षिप्तायामथ तस्य चिन्ता जाता-पिबामीति, पश्चात् चिन्तयति-कथमहमेतान् हालाहलान् जीवान् पास्ये ?, न पीतम्, आशायां छिन्नायां कालगतः, देवेषूपपन्नः, अवधिः प्रयुक्तः, यावत् क्षुल्लकशरीरं पश्यति, तत्रानुप्रविष्टः, वृद्धमवलगति, वृद्धोऽपि एतीति प्रस्थितः, पश्चात्तेन देवेन तेभ्यः साधुभ्यो गोकुलानि विकुर्वितानि, साधवोऽपि तासु व्रजिकासु तक्रादीनि गृह्णन्ति, एवं व्रजिकापरम्परकेण यावज्जनपदं संप्राप्ताः, पश्चिमायां व्रजिकायां तेन देवेन विण्टिका विस्मारिता ज्ञाननिमित्तम्, एकः साधुर्निवृत्तः, पश्यति विण्टिकां, नास्ति व्रजिका, पश्चात्तैर्ज्ञातं-सादिव्यमिति, पश्चात् तेन देवेन साधवो वन्दिताः, वृद्धो न वन्दितः, ततः सर्वं परिकथयति, भणति-एतेनाहं ।

॥ ८७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ॥६॥

दीप अनुक्रम [५५]

अहं परिचत्तो–तुमं णं पाणियं पियाहित्ति, जदि मे तं पाणियं पियं होन्तं तो संसारं भमंतो, पडिगतो। एवं अहियासेयवं। इत्यवसितः पिपासापरीषहः, क्षुत्पिपासासहनकर्शितशरीरस्य च नितरां शीतकाले शीतसम्भव इति तत्परीषहमाह—

चरंतं विरयं लूहं, सीयं फुसइ एगया। नाइवेलं विहन्निज्जा, पावदिट्ठी विहन्नइ ॥ ६ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'चरन्तम्' इति ग्रामानुग्रामं मुक्तिपथे वा व्रजन्तं, धर्ममासेवमानं वा, 'विरतम्' अग्निसमारम्भादेर्निवृत्तं विगतरतं वा 'लूहं'ति स्नानस्निग्धभोजनादिपरिहारेण रूक्षं, किमित्याह—शृणाति इति शीतं, 'स्पृशति' अभिद्रवति, चरदादिविशेषणविशिष्टो हि सुतरां शीतेन बाध्यते, 'एकदे'ति शीतकालादौ प्रतिमाप्रतिपत्त्यादौ वा, ततः किम्?–'न' नैव वेला–सीमा मर्यादा सेतुरित्यनर्थान्तरं, ततश्चातीति शेषसमयेभ्यः स्थविरकल्पिकापेक्षया जिनकल्पिकापेक्षया च स्थविरकल्पाच्चातिशायिनी वेला शक्त्यपेक्षतया च सर्वथानपेक्षतया च शीतसहनलक्षणा मर्यादा तां विहन्यात्, कोऽर्थः–अपध्यानस्थानान्तरसर्पणादिभिरतिक्रामेत्, किमेवमुपदिश्यत इत्याह—पातयति वा भवावर्त इति पापा तादृशी दृष्टिः–बुद्धिरस्येति पापदृष्टिः 'विहन्नइ' इति सूत्रत्वाद्विहन्ति–अतिक्रामत्यतिवेला-

१ परित्यक्तः–त्वमिदं पानीयं पिबेति, यदि मया तत्पानीयं पीतमभविष्यत्तदा संसारमभ्रमिष्यम्, प्रतिगतः, एवमध्यासितव्यम्।
२ नेदं पदत्रयं प्रत्यन्तरे.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७॥

दीप अनुक्रम [५६]

मिति प्रक्रमः, अयमत्र भावार्थः–पापदृष्टिरेवोक्तरूपमर्यादातिक्रमकारी, ततः पापबुद्धिकृतत्वादस्य सद्बुद्धिभिः परिहारो विधेयः, पठ्यते च—'नाइवेलं मुणी गच्छे, सुच्चा णं जिणसासणं' तत्र वेला–स्वाध्यायादिसमयात्मिका तामतिक्रम्य शीतेनाभिहतोऽहमिति 'मुनिः' तपस्वी न 'गच्छेत्' स्थानान्तरमभिसर्पेत्, 'सोच्चे'ति श्रुत्वा णमिति वाक्यालङ्कारे 'जिनशासनं' जिनागमम्–अन्यो जीवोऽन्यश्च देहस्तीव्रतराश्च नरकादिषु शीतवेदनाः प्राणिभिरनुभूतपूर्वा इत्यादिकमिति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ अन्यच—

ण मे णिवारणं अत्थि, छवित्ताणं न विज्जइ । अहं तु अग्गिं सेवामि, इइ भिक्खू न चिंतए ॥७॥(सूत्रम्)

व्याख्या—न 'मे' मम नितरां वार्यते–निषिध्यतेऽनेन शीतवातादीति निवारणं–सौधादि 'अस्ति' विद्यते, तथा छविः–त्वक् त्रायते–शीतादिभ्यो रक्ष्यतेऽनेनेति छवित्राणं–वस्त्रकम्बलादि न विद्यते, वृद्धास्तु निवारणं–वस्त्रादि तथा छविः–त्वक् त्राणं न विद्यते–न भवति, असौ हि शीतोष्णादीनां ग्राहिकेति व्याचक्षते, अतः 'अह'मित्यात्मनिर्देशः तुः पुनरर्थः, तद्भावना च येषां निवारणं छवित्राणं वा समस्ति ते किमिति अग्निं सेवेयुः?, अहं तु तदभावादत्राणः तत्किमन्यत्करोमीत्यग्निं सेवे 'इती'त्येवं 'भिक्षुः' यतिः 'न चिन्तयेत्' न ध्यायेत्, चिन्तानिषेधे च सेवनं दूरापास्तमिति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥ इदानीं लयनद्वारं, तत्र च 'नातिवेलं मुनिर्गच्छेदि'त्यादिसूत्रावयवसूचितं दृष्टान्तमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७॥

दीप अनुक्रम [५६]

रायगिहंमि वयंसा सीसा चउरो उ भद्दबाहुस्स । वेभारगिरिगुहाए सीयपरिगया समाहिगया ॥९१॥

व्याख्या—राजगृहे नगरे वयस्याः शिष्याश्चत्वारस्तु भद्रबाहोर्वैभारगिरिगुहायां शीतपरिगताः समाधिगता इत्यक्षरार्थः ॥ ९१ ॥ भावार्थस्तु वृद्धविवरणादवसेयः, तच्चेदम्—

रायगिहे णयरे चत्तारि वयंसा वाणियगा सहवड्ढियया, ते भद्दबाहुस्स अंतिए धम्मं सोच्चा पव्वइया, ते सुयं बहुं अहिजित्ता अन्नया कयाइ एगल्लविहारपडिमं पडिवन्ना, ते समावत्तीए विहरंता पुणोवि रायगिहं नयरं संपत्ता, हेमंतो य वट्टति, ते य भिक्खं काउं तइयाए पोरिसीए पडिनियत्ता, तेसिं च वैभारगिरितेणं गंतव्वं, तत्थ पढमस्स गिरिगुहादारे चरिमा पोरिसी ओगाढा, सो तत्थेव ठिओ, बिययस्स उज्जाणे, ततियस्स उज्जाणसमीवे, चउत्थस्स नगरब्भासे चेव, तत्थ जो गिरिगुहब्भासे तस्स निरागं सीयं सो सम्मं सहंतो खमंतो अ पढमजामे चेव कालगतो, एवं

१ राजगृहे नगरे चत्वारो वयस्या वणिजः सहवृद्धाः, ते भद्रबाहोरन्तिके धर्मं श्रुत्वा प्रव्रजिताः, ते श्रुतं बहुधीत्य अन्यदा कदाचित् एकाकिविहारप्रतिमां प्रतिपन्नाः, ते समापत्त्या (भवितव्यतया) विहरन्तः पुनरपि राजगृहं नगरं संप्राप्ताः, हेमन्तश्च वर्त्तते, ते च भिक्षां कृत्वा तृतीयायां पौरुष्यां प्रतिनिवृत्ताः, तेषां च वैभारगिरिमार्गेण गन्तव्यं, तत्र प्रथमस्य गिरिगुहाद्वारे चरमा पौरुष्यवगाढा, स तत्रैव स्थितः, द्वितीयस्योद्याने, तृतीयस्योद्यानसमीपे, चतुर्थस्य नगराभ्यासे चैव, तत्र यो गिरिगुहाभ्यासे तस्य निरन्तरायं शीतं स सम्यक् सहमानः क्षममाणश्च प्रथमयाम एव कालगतः, एवं.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८॥

दीप अनुक्रम [५७]

जो नगरसमीवे सो चउत्थे जामे कालगतो, तेसिं जो नगरब्भासे तस्स नगरुण्हाए न तहा सीअं तेण पच्छा कालगतो, ते सम्मं कालगया, एवं सम्मं अहियासियवं जहा तेहिं चउहिं अहियासियं ॥ इदानीं शीतविपक्षभूतमुष्णमिति यदिवा शीतकाले शीतं तदनन्तरं ग्रीष्मे उष्णमिति तत्परीषहमाह—

उसिणपरितावेण, परिदाहेण तज्जिओ। घिंसु वा परितावेणं, सायं ण परिदेवए ॥ ८ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—उष्णम्–उष्णस्पर्शवत् भूशिलादि तेन परितापः तेन, तथा 'परिदाहेन' बहिः स्वेदमलाभ्यां वह्निना वा अन्तश्च तृष्णया जनितदाहस्वरूपेण 'तर्जितः' भर्त्सितोऽत्यन्तपीडित इतियावत्, तथा 'ग्रीष्मे' वाशब्दात् शरदि वा 'परितापेन' रविकिरणादिजनितेन तर्जित इति सम्बन्धः, किमित्याह—'सातं' सुखं, प्रतीति शेषः, न परिदेवेत्, किमुक्तं भवति ?–'नारीकुचोरुकरपल्लवोपगूढैः क्वचित्सुखं प्राप्ताः। क्वचिदङ्गारैर्ज्वलितैस्तीक्ष्णैः पक्काः स्म नरकेषु॥१॥' इत्यादि परिभावयन् हा ! कथं मम मन्दभाग्यस्य सुखं स्यादिति प्रलपेत्, यद्वा–'सात'मिति सातहेतुं प्रति, यथा हा ! कथं कदा वा शीतकालः शीतांशुकरकलापादयो वा मम सुखोत्पादकाः सम्पत्स्यन्त इति न परिदेवेतेति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥ उपदेशान्तरमाह—

१ यो नगरसमीपे स चतुर्थे यामे कालगतः, तेषां यो नगराभ्यासे तस्य नगरोष्मणा न तथा शीतं तेन पश्चात्कालगतः, ते सम्यक् कालगताः, एवं सम्यगध्यासितव्यं यथा तैश्चतुर्भिरध्यासितम्।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९॥

दीप अनुक्रम [५८]

उण्हाहितत्तो मेहावी,सिणाणं नाभिपत्थए । गायं न परिसिंचेज्जा,न विंजिज्जा य अप्पयं॥९॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'उष्णाभितप्तः' उष्णेनात्यन्तं पीडितो 'मेधावी' मर्यादानतिवर्ती 'स्नानं' शौचं देशसर्वभेदभिन्नं 'नाभिप्रार्थयेत्' नैवाभिलषेत्, पठन्ति च–'णोऽवि पत्थए'त्ति अपेर्भिन्नक्रमत्वात् प्रार्थयेदपि न, किं पुनः कुर्यादिति ?, तथा 'गात्रं' शरीरं 'न परिषिञ्चेत्' न सूक्ष्मोदकबिन्दुभिरार्द्रीकुर्यात्, 'न वीजयेच्च' तालवृन्तादिना 'अप्पयं'ति आत्मानम्, अथवाऽल्पमेवाल्पकं, किं पुनर्बहिति सूत्रार्थः ॥९॥ साम्प्रतं शिलाद्वारमनुस्मरन् 'उसिणपरितावेणे–' त्यादिसूत्रावयवसूचितमुदाहरणमाह–

तगराइ अरिहमित्तो दत्तो अरहन्नओ य भद्दा य । वणियमहिलं चइत्ता तत्तंमि सिलायले विहरे ॥९२॥

व्याख्या—तगरायामर्हन्मित्रो दत्तोऽर्हन्नकश्च भद्रा च वणिग्महिलां त्यक्त्वा तप्ते शिलातले 'विहरे'त्ति व्यहार्षीदिति गाथाक्षरार्थः ॥ ९२ ॥ भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः, स चायम्—

[1]तगरा नयरी, तत्थ अरिहमित्तो नाम आयरिओ, तस्स समीवे दत्तो नाम वाणियओ भद्दाए भारियाए पुत्तेण य

१ तगरा नगरी, तत्रार्हन्मित्रनामा आचार्यः, तस्य समीपे दत्तो नाम वणिक् भद्रया भार्यया पुत्रेण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९॥

दीप अनुक्रम [५८]

अरहन्नएण सद्धिं पवइओ, सो तं खुड्गं ण कयाइ भिक्खाए हिंडावेइ, पढमालियाईहिं किमिच्छएहिं पोसेति, सो सुकुमालो, साहूण अप्पत्तियं, ण तरंति किंचि भणिउं। अन्नया सो खंतो कालगतो, साहूहिं दो तिन्नि वा दिवसे दाउं भिक्खस्स ओयारिओ,सो सुकुमालसरीरो गिम्हे उवरिं हिट्ठा य डज्झति पासे य, तिण्हाभिभूतो छायाए वीसमंतो पउत्थवतियाए वणियमहिलाए दिट्ठो, ओरालसुकुमालसरीरोत्तिकाउं तीसे तहिं अज्झोववाओ जाओ, चेडीए सद्दावितो, किं मग्गसि ?, भिक्खं, दिण्णा से मोयगा, पुच्छितो–कीस तुमं धम्मं करेसि ?, भणइ–सुहनिमित्तं, सा भणइ–तो मए चेव समं भोगे भुंजाहि, सो य उण्हेण तज्जिओ उवसग्गिज्जंतो य पडिभग्गो भोगे भुंजति। सो साहूहिं सव्वहिं मग्गितो ण दिट्ठो अप्पसागारियं पविट्ठो, पच्छा से माया उम्मत्तिया जाया पुत्तसोगेण, णयरं परिभमंती

१ चार्हन्नकेन सार्धं प्रव्रजितः, स तं क्षुल्लकं न कदाचित् भिक्षायै हिण्डयति, प्रथमालिकादिभिः किमिच्छकैः पोषयति, स सुकुमालः, साधूनामप्रीतिकं, न तरन्ति किञ्चिद्भणितुम्। अन्यदा स वृद्धः कालगतः, साधुभिः द्वौ त्रीन् वा दिवसान् दत्त्वा भिक्षायायवतारितः, स सुकुमालशरीरो ग्रीष्मे उपरि अधस्ताच्च दह्यते पार्श्वयोश्च, तृष्णाभिभूतश्छायायां विश्राम्यन् प्रोषितपतिकया वणिग्महेलया दृष्टः, उदारसुकुमालशरीर इतिकृत्वा तस्यास्तत्राध्युपपातो जातः, चेटया शब्दितः, किं मार्गयसि ?, भिक्षां, दत्तास्तस्मै मोदकाः, पृष्टः–कथं त्वं धर्मं करोषि ?, भणति-सुखनिमित्तं, सा भणति-तदा मयैव समं भोगान् भुङ्क्ष्व,स चोष्णेन तर्जितः उपसर्ग्यमाणश्च प्रतिभग्नो भोगान् भुनक्ति। स साधुभिः सर्वत्र मार्गितः न दृष्टोऽल्पसागारिकं प्रविष्टः, पश्चात्तस्य मातोन्मत्ता जाता पुत्रशोकेन, नगरं परिभ्रान्यन्ती अर्हन्नकं विलपन्ती यं यत्र पश्यति

॥ ९० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९॥

दीप अनुक्रम [५८]

अरहन्नयं विलवंती जं जहिं पासइ [1]तं तहिं सवं भणति–अत्थि ते कोइ अरहन्नओ दिट्ठो ?, एवं विलवमाणी भमइ, जाव अन्नया तेण पुत्तेण ओलोयणगएण दिट्ठा, पच्चभिन्नाया, तहेव ओयरित्ता पाएसु पडिओ, तं पिच्छिऊण तहेव सत्थचित्ता जाया, ताहे भण्णइ–पुत्त ! पव्वयाहि, मा दुग्गइं जाहिसि, सो भणइ–न तरामि काउं संजमं, जदि परं अणसणं करेमि, एवं करेहि, मा य असंजओ भवाहि, मा संसारं भमिहिसि, पच्छा सो तहेव तत्ताए सिलाए पाओवगमणं करेइ, मुहुत्तेण सुकुमालसरीरो उण्हेण विलाओ, पुर्वि तेण नाहियासिओ पच्छा तेणऽहियासितो । एवं अहियासियवं ॥ उष्णं च ग्रीष्मे तदनन्तरं वर्षासमयः, तत्र च दंशमशकसम्भव इति तत्परीषहमाह–

पुट्ठो य दंसमसएहिं, समरे व महामुणी। नागो संगामसीसे व, सूरे अभिभवे परं॥१०॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'स्पृष्टः' अभिद्रुतः 'चः' पूरणे दंशमशकैः, उपलक्षणत्वात् यूकादिभिश्च 'समरे व'त्ति 'एदोदुरलोपा

१ तं तत्र सर्वं भणति-अस्ति स कोऽपि (येन) अर्हन्नको दृष्टः, एवं विलपन्ती भ्राम्यति, यावदन्यदा तेन पुत्रेण अवलोकनगतेन दृष्टा, प्रत्यभिज्ञाता, तथैवोत्तीर्य पादयोः पतितः, तं प्रेक्ष्य तथैव स्वस्थचित्ता जाता, तदा भण्यते-पुत्र ! प्रव्रज, मा दुर्गतिं यासीः, स भणति-न शक्नोमि कर्तुं संयमं, यदि परमनशनं करोमि, एवं कुरु, मा चासंयतो भूः, मा संसारं भ्रमीः, पश्चात्स तथैव तप्तायां शिलायां पादपोपगमनं करोति, मुहूर्त्तेन सुकुमालशरीर उष्णेन विलीनः, पूर्वं तेन नाध्यासितः पश्चात्तेनाध्यासितः । एवमध्यासितव्यम् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०॥

दीप अनुक्रम [५९]

विसर्जनीयस्ये'ति रेफात्, ततः सम एव–तदगणनया स्पृष्टास्पृष्टावस्थयोस्तुल्य एव, यद्वा समन्तादरयः–शत्रवो यस्मिंस्तत्समरं तस्मिन्निति संग्रामशिरोविशेषणं, वेति पूरणे, 'महामुनिः' प्रशस्तयतिः, किमित्याह—'णागो संगामसीसे वे'ति इवार्थस्य वाशब्दस्य भिन्नक्रमत्वान्नाग इव–हस्तीव संग्रामस्य शिर इव शिरः–प्रकर्षावस्था संग्रामशिरस्तस्मिन् 'शूरः' पराक्रमवान्, यद्वा शूरो–योधः, ततोऽन्तर्भावितोपमार्थत्वाद्वाशब्दस्य च गम्यमानत्वात् शूरवद्वाऽभिहन्यात्, कोऽर्थः?–अभिभवेत् 'परं' शत्रुम्, अयमभिप्रायः–यथा शूरः करी यद्वा यथा वा योधः शरैस्तुद्यमानोऽपि तदगणनया रणशिरसि शत्रून् जयति, एवमयमपि दंशादिभिरभिद्रूयमानोऽपि भावशत्रुं–क्रोधादिकं जयेदिति सूत्रार्थः ॥ १० ॥ यथा च भावशत्रुर्जेतव्यस्तथोपदेष्टुमाह––

ण संतसे ण वारिजा, मणंपि णो पउस्सए। उवेहे नो हणे पाणे, भुंजंते मंससोणिए॥११॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'न संत्रसेत्' नोद्विजेत्, दंशादिभ्य इति गम्यते, यद्वाऽनेकार्थत्वाद्धातूनां न कम्पयेत्तैस्तुद्यमानोऽपि, अज्ञानीति शेषः, 'न निवारयेत्' न निषेधयेत्, प्रक्रमादंशादीनेव तुदतो, मा भूदन्तराय इति, मनः–चित्तं तदपि, आस्तां वचनादि, 'न प्रदूषयेत्' न प्रदुष्टं कुर्यात्, किन्तु 'उवेहे'त्ति उपेक्षेत–औदासीन्येन पश्येद्, अत एव न हन्यात् 'प्राणान्' प्राणिनो 'भुञ्जानान्' आहारयतो मांसशोणितम्, अयमिहाशयः–अत्यन्तबाधकेष्वपि दंशका-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११॥

दीप अनुक्रम [६०]

दिषु–शृगालवृककरूपैश्च, नदद्भिर्घोरनिष्ठुरम् । आक्षेपत्रोटितस्नायु, भक्ष्यन्ते रुधिरोक्षिताः ॥ १ ॥ खरूपैः श्यामशबलैर्वालपुच्छैर्भयान्वितैः । परस्परं विरुध्यद्भिर्विलुप्यन्ते दिशोदिशम् ॥ २ ॥ काकगृध्रादिरूपैश्च, लोहतुण्डैर्बलान्वितैः । विनिकृष्टाक्षिजिह्वान्त्रा, विचेष्टन्ते महीतले ॥३॥ प्राणोपक्रमणैर्घोरैर्दुःखैरेवंविधैरपि । आयुष्यक्षपिते नैव, म्रियन्ते दुःखभागिनः ॥ ४ ॥ इत्यादि, तथा असंज्ञिन एते आहारार्थिनश्च भोज्यमेतेषां मच्छरीरं बहुसाधारणं च यदि भक्षयन्ति किमत्र प्रद्वेषेणेति च विचिन्तयन् तदुपेक्षणपरो न तदुपघातं विदध्यादिति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥ इदानीं पथिद्वारं, तत्र 'स्पृष्टो दंशमशकै'रित्यादिसूत्रसूचितमुदाहरणमाह—

चंपाए सुमणुभद्दो जुवराया धम्मघोससीसो य । पंथंमि मसगपरिपीयसोणिओ सोऽवि कालगओ ॥९३॥

व्याख्या—चम्पायां सुमनोभद्रो युवराजो धर्म्मघोषशिष्यश्च पथि मशकपरिपीतशोणितः सोऽपि कालगत इति गाथाक्षरार्थः ॥ ९३ ॥ भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः, स चायम्—

चंपाए नयरीए जियसत्तुस्स रण्णो पुत्तो सुमणभद्दो जुवराया, धम्मघोसस्स अन्तिए धम्मं सोऊण निव्विण्णकामभोगो पव्वइतो, ताहे चेव एगल्लविहारपडिमं पडिवन्नो, पच्छा हेट्ठाभूमीए विहरन्तो सरयकाले अडवीए पडिमागतो

१ चम्पायां नगर्यां जितशत्रो राज्ञः पुत्रः सुमनोभद्रो युवराजः, धर्मघोषस्यान्तिके धर्मं श्रुत्वा निर्विण्णकामभोगः प्रव्रजितः, तदैव एकाकिविहारप्रतिमां प्रतिपन्नः, पश्चादधोभूमौ विहरन् शरत्कालेऽटव्यां प्रतिमागतः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१२॥

दीप अनुक्रम [६१]

रात्रिं मसएहिं खज्जइ, सो ते ण पमज्जइ, सम्मं सहइ, रत्तीए पीयसोणितो कालगतो । एवं अहियासेयव्वं ॥ इत्यवसितो दंशमशकपरीषहः ॥ अधुना अचेलः संस्तैस्तुद्यमानो वस्त्रकम्बलाद्यन्वेषणपरो न स्यादित्यचेलपरीषहमाह—

परिजुन्नेहि वत्थेहिं, होक्खामित्ति अचेलए। अदुवा सचेलए होक्खं, इइ भिक्खु न चिंतए॥१२॥(सूत्रम्)

व्याख्या—' परिजीर्णैः' समन्तात् हानिमुपगतैः 'वस्त्रैः' शाटकादिभिः 'होक्खामित्ति ' इतिर्भिन्नक्रमः ततो भविष्यामि ' अचेलकः' चेलविकलः अल्पदिनभावित्वादेषामिति भिक्षुर्न विचिन्तयेत्, अथवा ' सचेलकः ' चेलान्वितो भविष्यामि, परिजीर्णवस्त्रं हि मां दृष्ट्वा कश्चित् श्राद्धः सुन्दरतराणि वस्त्राणि दास्यतीति भिक्षुर्न चिन्तयेत्, इदमुक्तं भवति—जीर्णवस्त्रः सन्न मम प्राक्परिगृहीतमपरं वस्त्रमस्ति न च तथाविधो दातेति न दैन्यं गच्छेत्, न चान्यलाभसम्भावनया प्रमुदितमानसो भवेदिति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥ इत्थं जीर्णादिवस्त्रतया अचेलं स्थविरकल्पिकमाश्रित्याचेलपरीषह उक्तः, सम्प्रति तमेव सामान्येनाह—

एगया अचेलए होइ, सचेले यावि एगया। एयं धम्महियं णच्चा, णाणी णो परिदेवए॥१३॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'एकदा' एकस्मिन् काले जिनकल्पप्रतिपत्तौ स्थविरकल्पेऽपि दुर्लभवस्त्रादौ वा सर्वथा चेलाभावेन स-

१ रात्रौ मशकैः खाद्यते, स तान् न प्रमार्जयति, सम्यक् सहते, रात्रौ पीतशोणितः कालगतः। एवमध्यासितव्यम्।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [६२]

ति वा चेले विना वर्षादिनिमित्तमप्रावरणेन जीर्णादिवस्त्रतया वा 'अचेलक' इति अवस्त्रोऽपि भवति, पठ्यते च 'अचेलए सयं होइ'त्ति तत्र स्वयम्–आत्मनैव न पराभियोगतः, 'सचेलः' सवस्त्रश्चाप्येकदा स्थविरकल्पिकत्वे तथाविधालम्बनेनावरणे सति, यद्येवं ततः किमित्याह—'एतदि'त्यवस्थौचित्येन सचेलत्वमचेलत्वं च धर्म्मो–यतिधर्म्मः तस्यै हितम्–उपकारकं धर्म्महितं 'ज्ञात्वा' अवबुद्धय, तत्राचेलकत्वस्य धर्म्महितत्वमल्पप्रत्युपेक्षादिभिः, यथोक्तम्—"पंचहिं ठाणेहिं पुरिमपच्छिमाणं अरहन्ताणं भगवंताणं अचेलए पसत्थे भवइ, तं जहा–अप्पा पडिलेहा१, वेसासिए रूवे २, तवे अणुमए ३, लाघवे पसत्थे ४, विउले इंदियनिग्गहे ५"त्ति, सचेलत्वस्य तु धर्मोपकारित्वमश्याद्यारम्भनिवारकत्वेन संयमफलत्वात्, 'ज्ञानी' नग्ना एव प्रायस्तिर्यञ्चारकाः तद्भवभयादेव च मया सन्त्यपि वासांस्यपास्यन्त इत्येवं बोधवान्नो परिदेवयेत्, किमुक्तं भवति ?–अचेलः सन् किमिदानीं शीतादिपीडितस्य मम शरणमिति न दैन्यमालम्बेत इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥ इह च केचिन्मिथ्यात्वाकुलितचेतस इदमित्थं महार्थकर्म्मप्रवादपूर्वोद्धृतप्रस्तुताध्ययनाधीतमपि सचेलत्वं तथा–सम्यक्त्वज्ञानशीलानि, तपश्चेतीह सिद्धये। तेषामुपग्रहार्थाय, स्मृतं चीवरधारणम् ॥ १ ॥ जटी कूर्ची शिखी मुण्डी, चीवरी नग्न एव च । तप्यन्नपि तपः कष्टं, मौढ्याद्धिंस्रो न सिद्धयति

१ पञ्चभिः स्थानैः पूर्वपश्चिमयोरर्हतोर्भगवतोरचेलकत्वं प्रशस्तं भवति, तद्यथा–अल्पा प्रत्युपेक्षा १ वैश्वासिकं रूपं २ तपोऽनुमतं ३ लाघवं प्रशस्तं ४ विपुल इन्द्रियनिग्रहः ५

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [६२]

॥ २ ॥ सम्यग्ज्ञानी दधद्वांस्तु, ध्यानी यस्तप्यते तपः । नग्नश्चीवरधारी वा, स सिद्धयति महामुनिः ॥ ३ ॥ इति वाचकवचनानूदितं चानुचितमित्याहुः, तान् प्रति वक्तुमुपक्रम्यते–इह यो यदर्थी न स तन्निमित्तोपादानं प्रत्यनाद्रतो, यथा घटार्थी मृत्पिण्डोपादानं प्रति, चारित्रार्थिनश्च यतयस्तन्निमित्तं च चीवरमिति, न चास्यासिद्धत्वं, तद्धि तस्य तदनिमित्ततया स्यात्, सा च तत्रास्य बाधाविधायितयौदासीन्येन वा ?, न तावद्बाधाविधायितया, यतोऽसौ पञ्चमव्रतविघातकत्वेन संसक्तिविषयतया कषायकारणत्वेन वा ?, यदि पञ्चमव्रतविघातकत्वेन, तदपि कुतः?, युक्तित इति चेत्, नन्वियं स्वतन्त्रा सिद्धान्ताधीना वा ?, यदि स्वतन्त्रा ततः सलोमा मण्डूकश्चतुष्पात्त्वे सत्युत्प्लुत्य गमनात्, मृगवत्, अलोमा वा हरिणः, चतुष्पात्त्वे सत्युप्लुत्य गमनात्, मण्डूकवदित्यादिवन्न निर्मूलयुक्तेः साध्यसाधकत्वम्, उक्तं हि—"यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः, कुशलैरनुमातृभिः। अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥ १ ॥" सिद्धान्ताधीनयुक्तिस्तु तथाविधसिद्धान्ताभावादसम्भविनी, अथास्त्यसौ 'गामे वा नगरे वा अप्पं वा बहुं वा जाव नो परिगिण्हेज्जा' इत्यादिः, तदनुगृहीता युक्तिश्च–यद्यत्परिग्रहस्वरूपं तत्तदुपादीयमानं पञ्चमव्रतविघाति, यथा धनधान्यादि, परिग्रहस्वरूपं च चीवरमिति, नन्वसिद्धोऽयं हेतुः, तथाहि–परिग्रहस्वरूपत्वमस्य किं मूर्च्छाहेतुत्वेन धारणादिमात्रेण वा ?, यदि मूर्च्छाहेतुत्वेन, शरीरमपि मूर्च्छाया हेतुर्न वा ?, न तावदहेतुः, तस्यान्तरङ्गत्वेन दुर्लभतरतया

॥ ९३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [६२]

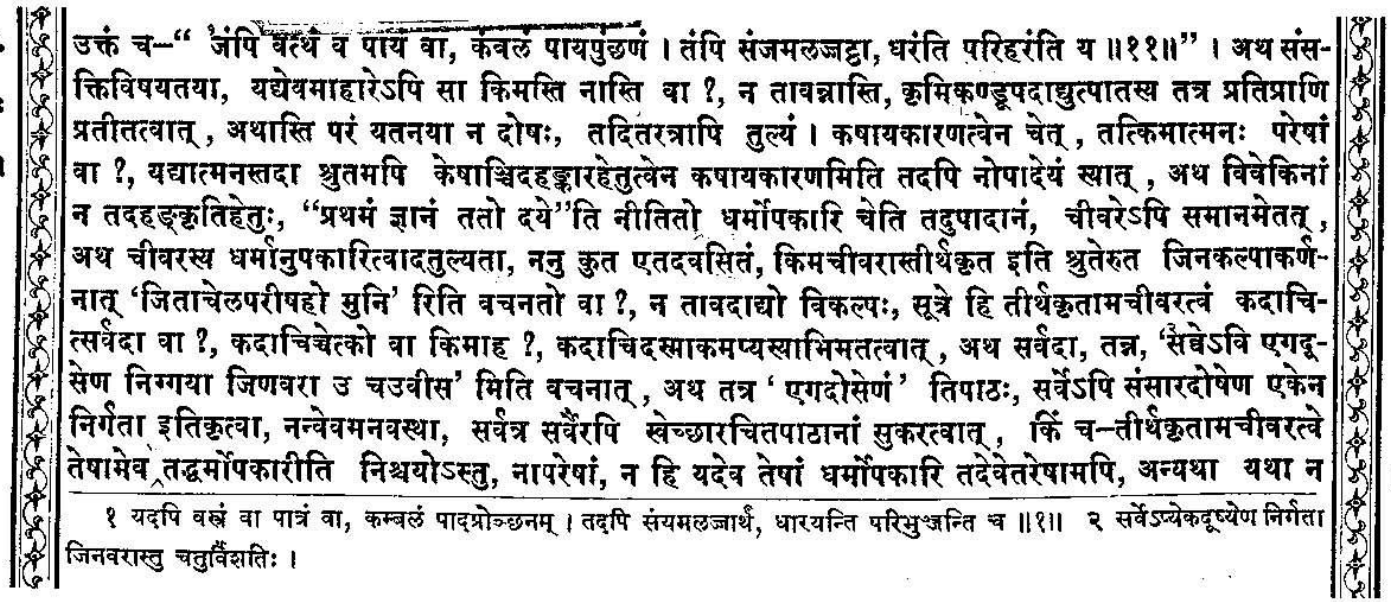
च विशेषतस्तद्धेतुत्वाद्, उक्तं च–"अह[1] कुणसि थुलवत्थाइएसु मुच्छं धुवं सरीरेऽवि। अक्केज्जदुलभतरे काहिसि मुच्छं विसेसेण ॥ १ ॥" अथास्तु तन्निमित्तमेतत्, तर्हि चीवरवत्तस्यापि किं दुस्त्यजत्वेन मुक्त्यङ्गतया वा न प्रथमत एव परिहारः ?, दुस्त्यजत्वेन चेत् तदपि किमशेषपुरुषाणामुत केषाञ्चिदेव ?, न तावदशेषपुरुषाणां, दृश्यन्ते हि बहवो वह्निप्रवेशादिभिः शरीरं परित्यजन्तः, अथ केषाञ्चित्, तदा वस्त्रमपि केषाञ्चित् दुस्त्यजमिति तदपि न परिहार्यं, मुक्त्यङ्गतापक्षाश्रयणे च किं चीवरेणापराद्धम् ?, तस्यापि तथाविधशक्तिविकलानां शीतकालादिषु स्वाध्यायाद्यु-पष्टम्भकत्वेन मुक्त्यङ्गत्वाद्, अभ्युपगम्य च मूर्च्छाहेतुत्वमुच्यते–न हि निगृहीतात्मनां क्वचिन्मूर्च्छाऽस्ति, तदुक्त-म्—"सव्वत्थुवहिणा[3] बुद्धा, संरक्खणपरिग्गहे। अवि अप्पणोऽवि देहम्मि, णायरंति ममाइउं (यं) ॥१॥" ति, नापि धारणादिमात्रेण, एवं हि शीतकालादौ प्रतिमाप्रतिपत्त्यादिषु केनचिद्भक्त्यादिनोपरि क्षिप्तस्यापि चीवरस्य परिग्रहता-प्रसङ्गः, अथ तत्र स्वयंग्रहाभाववाददोषः, तर्हि स्वयंग्रहः परिग्रहत्वे हेतुः, तथा च कुण्डिकाद्यपि नोपादेयं, दृष्टेष्टवि-रोधि चेदम्, अथ तत्र मूर्च्छाया अभावादपरिग्रहत्वम्, एवं सति संयमरक्षणायोपादीयमाने चीवरे तदभावात्तदस्तु,

१ अथ करोषि स्थूलवस्त्रादिषु मूर्च्छां ध्रुवं शरीरेऽपि। अक्केयदुर्लभतरे करिष्यसि मूर्च्छां विशेषेण ॥ १ ॥ २ मूर्च्छाहेतुः शरीरं
३ सर्वत्रोपधिना बुद्धाः, संरक्षणपरिग्रहे। अपिचात्मनोऽपि देहे नाचरन्ति ममायितुम् (तम्) ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [६२]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥ ९४ ॥

उक्तं च–" जंपि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं । तंपि संजमलज्जट्ठा, धरंति परिहरंति य ॥११॥" । अथ संसक्तिविषयतया, यद्येवमाहारेऽपि सा किमस्ति नास्ति वा ?, न तावन्नास्ति, कृमिकण्डूपदाद्युत्पातस्य तत्र प्रतिप्राणि प्रतीतत्वात्, अथास्ति परं यतनया न दोषः, तदितरत्रापि तुल्यं । कषायकारणत्वेन चेत्, तत्किमात्मनः परेषां वा ?, यद्यात्मनस्तदा श्रुतमपि केषाञ्चिदहङ्कारहेतुत्वेन कषायकारणमिति तदपि नोपादेयं स्यात्, अथ विवेकिनां न तदहङ्कृतिहेतुः, "प्रथमं ज्ञानं ततो दये"ति नीतितो धर्मोपकारि चेति तदुपादानं, चीवरेऽपि समानमेतत्, अथ चीवरस्य धर्मानुपकारित्वादतुल्यता, ननु कुत एतदवसितं, किमचीवरास्तीर्थकृत इति श्रुतेरुत जिनकल्पाकर्णनात् 'जिताचेलपरीषहो मुनि' रिति वचनतो वा ?, न तावदाद्यो विकल्पः, सूत्रे हि तीर्थकृतामचीवरत्वं कदाचित्सर्वदा वा ?, कदाचिच्चेत्को वा किमाह ?, कदाचिदस्माकमप्यस्याभिमतत्वात्, अथ सर्वदा, तन्न, 'सव्वेऽवि एगदूसेण निग्गया जिणवरा उ चउवीस' मिति वचनात्, अथ तत्र 'एगदोसेणं' तिपाठः, सर्वेऽपि संसारदोषेण एकेन निर्गता इतिकृत्वा, नन्वेवमनवस्था, सर्वत्र सर्वैरपि स्वेच्छारचितपाठानां सुकरत्वात्, किं च–तीर्थकृतामचीवरत्वे तेषामेव तद्धर्मोपकारीति निश्चयोऽस्तु, नापरेषां, न हि यदेव तेषां धर्मोपकारि तदेवेतरेषामपि, अन्यथा यथा न

१ यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा, कम्बलं पादप्रोञ्छनम् । तदपि संयमलज्जार्थं, धारयन्ति परिभुञ्जन्ति च ॥१॥ २ सर्वेऽप्येकदूष्येण निर्गता जिनवरास्तु चतुर्विंशतिः ।

परीषहाध्ययनम् २

॥ ९४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [६२]

ते परोपदेशतः प्रवर्त्तन्ते यथा च छद्मस्थावस्थायां परोपदेशं दीक्षां वा न प्रयच्छन्ति, तथाऽन्यैरपि विधेयमिति मूलच्छेद एव तीर्थस्य, उक्तं च–"न परोवएसविसया ण य छउमत्था परोवएसंपि। देंति न य सिस्सवग्गं दिक्खंति जिणा जहा सव्वे ॥ १ ॥ तह सेसेहि य सव्वं कज्जं जइ तेहिं सवसाहम्मं। एवं च कओ तित्थं ? ण चेदचेलत्ति को गाहो ?, ॥ २ ॥" अथ जिनकल्पाकर्णनात्, तत्र हि न किञ्चिदुपकरणमिति चीवरस्थाप्यभावः, तथा च न तस्य धर्मोपकारिता, ननु जिनकल्पिकानामुपकरणाभावः प्रवादतः आगमतो वा ?, न तावदाद्यपक्षो, न हि वसति किलात्र वटवृक्षे रक्ष इत्यादिनिर्मूलप्रवादानां प्रमाणता, नाप्यागमतः, तेषामपि तत्र शक्त्यपेक्षयोपकरणप्रतिपादनात्, तदुक्तम्–"जिणकप्पियादओ पुण सोवहओ सवकालमेगंतो। उवगरणमाणमेसिं पुरिसावेक्खाएँ बहुभेयं ॥ १ ॥" अथवा अस्तु जिनकल्पिकानामुपकरणाभावः, तथापि धृतिशक्तिसंहननश्रुतातिशययुक्तानामेव तत्प्रतिपत्तिः अथ रथ्यापुरुषाणामपि ?, यद्याद्यो विकल्पस्तत्किमेवंविधाः सम्प्रत्यपि सन्ति न वा ?, सन्ति चेदुपलब्धिलक्षणप्राप्ता उपलभ्येरन्, अनुपलब्धिलक्षणप्राप्ताश्च कुतः सत्त्वेन निश्चीयन्ते ?, अथ न सन्ति, तादृशामेव जिनकल्पप्रतिपत्तिः, तर्हि

१ न परोपदेशविषया न च छद्मस्थाः परोपदेशमपि। ददति न च शिष्यवर्गं दीक्षयन्ति जिना यथा सर्वे ॥१॥ तथा शेषैरपि सर्वं कार्यं यदि तैः सर्वसाधर्म्यम्। एवं च कुतस्तीर्थं ? न चेदचेला इति क आग्रहः ? ॥ १ ॥ २ जिनकल्पिकादयः पुनः सोपधयः सर्वकालमेकान्तः। उपकरणमानमेतेषां पुरुषापेक्षया बहुभेदम् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [६२]

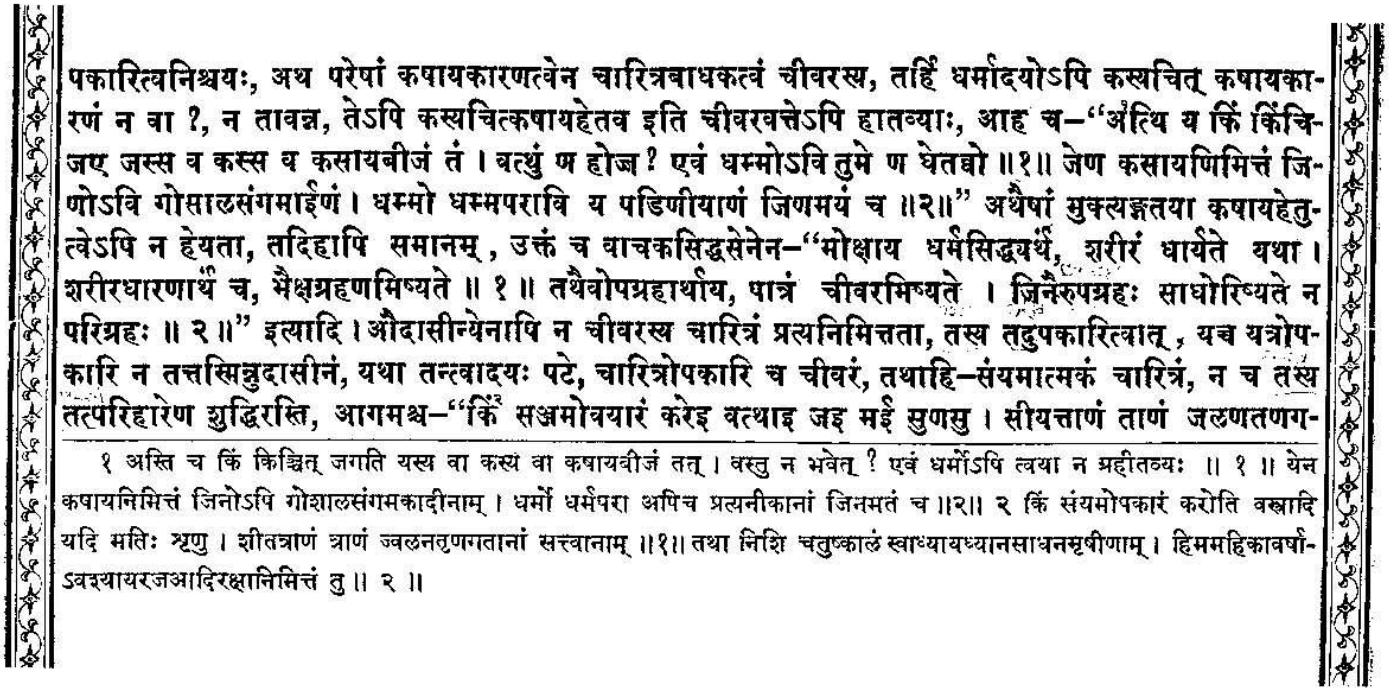
वृथैव "मणपरमोहिपुलाए आहारग खवग उवसमे कप्पे। संजमतिय केवलि सिज्झणा य जंबुम्मि वोच्छिन्ना ॥१॥" इत्यागमवचनानाश्रयणं, यदि तु रथ्यापुरुषाणामपीति कल्प्यते, तिरश्चामपि तत्कल्पनाऽस्तु, अथ देशविरतिभाज एव त इति न तेषां तत्प्रतिपत्तिः, तर्हि सर्वविरतिस्तत्कारणं, तथा च तद्वता एकेन यत्कृतं तत्किमखिलैरपि तद्वद्भिराचरणीयमथ तथाविधशक्तियुक्तैरेव ?, यद्याद्यो विकल्पस्तदैकस्मिन् मासषण्मासादिकं तपश्चरत्यन्यैरपि तच्चरणीयं स्याद्, अथ द्वितीयः पक्षस्तर्हि जिनकल्पोऽपि तथाविधशक्तियुक्तैरेव प्रतिपत्तव्यः, अथ तथाविधशक्तिविकलानां तत्तपश्चरतां बहुतरदोषसम्भव इति न तच्चरणं, तदिहापि तुल्यं, तथाहि—सम्भवत्येवेदानीन्तनयतीनां तथाविधशक्तिसंहननविकलतया हिमकणानुषक्तशीतादिषु बहुतरदोषहेतुकमभ्यारम्भादिकं तथा तथाविधाच्छादनाभावतः शीतादिखेदितानां शुभध्यानाभावेन सम्यक्त्वादिविचलनम्, उक्तं च वाचकैः–"शीतवातातपैर्दंशैर्मशकैश्चापि खेदितः। मा सम्यक्त्वादिषु ध्यानं, न सम्यक् संविधास्यति ॥ १ ॥" यच्च 'जिताचेलपरीषहो मुनि' रिति वचनतो न चीवरं धर्मोपकारीति, तत्र जिताचेलपरीषहत्वं चेलाभावेनैवाहोश्चिदेषणाशुद्धतत्परिभोगेनापि ?, यदि चेलाभावेनैव, ततः क्षुत्परीषहजयनमप्याहाराभावेनैवेति व्रतग्रहणकाल एवानशनमायातम्, एतच्च भवतोऽपि नाभिमतं, ततः परिशुद्धोपभोगितया जिताचेलपरीषहत्वमिति द्वितीय एव पक्षः, स चास्मत्पथवर्त्येवेति न कुतोऽपि चीवरस्य धर्मानु-

१ मनः (पर्यायः) परमावधिः पुलाक आहारकः क्षपक उपशमकः (जिन) कल्पः। संयमत्रिकं केवलित्वं सिद्धिश्च जम्बौ व्युच्छिन्नाः॥१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [६२]



पकारित्वनिश्चयः, अथ परेषां कषायकारणत्वेन चारित्रबाधकत्वं चीवरस्य, तर्हि धर्मादयोऽपि कस्यचित् कषायकारणं न वा ?, न तावन्न, तेऽपि कस्यचित्कषायहेतव इति चीवरवत्तेऽपि हातव्याः, आह च–"अत्थि य किं किंचि-जए जस्स व कस्स व कसायबीजं तं । वत्थुं ण होज्ज ? एवं धम्मोऽवि तुमे ण घेतव्वो ॥१॥ जेण कसायणिमित्तं जि-णोऽवि गोसालसंगमाईणं । धम्मो धम्मपरावि य पडिणीयाणं जिणमयं च ॥२॥" अथैषां मुक्त्यङ्गतया कषायहेतु-त्वेऽपि न हेयता, तदिहापि समानम्, उक्तं च वाचकसिद्धसेनेन–"मोक्षाय धर्मसिद्ध्यर्थं, शरीरं धार्यते यथा । शरीरधारणार्थं च, भैक्षग्रहणमिष्यते ॥ १ ॥ तथैवोपग्रहार्थाय, पात्रं चीवरमिष्यते । जिनैरुपग्रहः साधोरिष्यते न परिग्रहः ॥ २ ॥" इत्यादि । औदासीन्येनापि न चीवरस्य चारित्रं प्रत्यनिमित्तता, तस्य तदुपकारित्वात्, यच्च यत्रोप-कारि न तत्तस्मिन्नुदासीनं, यथा तन्त्वादयः पटे, चारित्रोपकारि च चीवरं, तथाहि–संयमात्मकं चारित्रं, न च तस्य तत्परिहारेण शुद्धिरस्ति, आगमश्च–"किं सञ्जमोवयारं करेइ वत्थाइ जइ मई सुणसु । सीयत्ताणं ताणं जलणतणग-

१ अस्ति च किं किञ्चित् जगति यस्य वा कस्य वा कषायबीजं तत् । वस्तु न भवेत् ? एवं धर्मोऽपि त्वया न ग्रहीतव्यः ॥ १ ॥ येन कषायनिमित्तं जिनोऽपि गोशालसंगमकादीनाम् । धर्मो धर्मपरा अपिच प्रत्यनीकानां जिनमतं च ॥२॥ २ किं संयमोपकारं करोति वस्त्रादि यदि मतिः शृणु । शीतत्राणं त्राणं ज्वलनतृणगतानां सत्त्वानाम् ॥१॥ तथा निशि चतुष्कालं स्वाध्यायध्यानसाधनमृषीणाम् । हिममहिकावर्षा-ऽवश्यायरजआदिरक्षानिमित्तं तु ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [६२]

याण सत्ताणं ॥ १ ॥ तह निसि चाउक्कालं सज्झायज्झाणसाहणमिसीणं । हिममहियावासोसारयाइरक्खाणिमित्तं तु ॥ २ ॥" इत्यतः स्थितमेतत्–चारित्रनिमित्तं चीवरमिति नासिद्धता हेतोः, विरुद्धत्वानैकान्तिकत्वे तूक्तानुसारतः परिहर्त्तव्ये । ततश्च 'निर्ग्रन्थानाममलज्ञानयुतैस्तीर्थकृद्भिरुक्तानि । सम्यग्व्रतानि यस्मान्नैर्ग्रन्थ्यमतः प्रशंसन्ति ॥ १ ॥ रागाद्यपचयहेतुं नैर्ग्रन्थ्यं खप्रवृत्तितस्तेषाम् । तद्वद्भिरतोऽवश्यं वस्त्रादिपरिग्रहयुतानाम् ॥२॥' इत्यादि दुर्मतिपरिस्पन्दितमपकर्णनीयम् ॥ सम्प्रति 'महल्लेत्तिद्वारं, तत्र च 'एयं धम्महियं नच्चे' त्यादिसूत्रसूचितं दृष्टान्तमाह—

वीयभय देवदत्ता गंधारं सावयं पडियरित्ता । लहइ सयं गुलियाणं पज्जोएण णी(णाणि)ओज्जेणिं॥९४॥
दट्ठूण चेडिमरणं पभावई पव्वइत्तु कालगया । पुक्खरकरणं गहणं दसउरपज्जोयमुयणं च ॥ ९५ ॥
माया य रुद्दसोमा पिया य नामेण सोमदेवत्ति । भाया य फग्गुरक्खिय तोसलिपुत्ता य आयरिया ॥९६॥
सिंहगिरि भद्दगुत्ते वयरक्खमणा पढित्तु पुव्वगयं । पव्वाविओ य भाया रक्खियखमणेहि जनओ य॥९७॥

व्याख्या—वीतभये देवदत्ता गन्धारं श्रावकं प्रतिजागर्य लभते शतं गुलिकानां प्रद्योतेनानीतोज्जयिनीं, दृष्ट्वा चेटीमरणं प्रभावती प्रव्रज्य कालगता पुष्करकरणं ग्रहणं दशपुरप्रद्योतमोचनं च, माता च रुद्रसोमा पिता च नाम्ना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [६२]

सोमदेव इति भ्राता च फल्गुरक्षितः तोसलिपुत्राश्चाचार्याः सिंहगिरिभद्रगुप्ताभ्यां च वज्रश्रमणात्पठित्वा पूर्वगतं प्रव्राजितश्च भ्राता रक्षितक्षमणैर्जनकश्चेति गाथाचतुष्टयाक्षरार्थः ॥ ९४-९५-९६-९७ ॥ भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदाया-दवसेयः, स चायम्—जीवंसामिपडिमावत्तव्वयं दसपुरुप्पत्तिं च भाणिऊणं ताव भाणियव्वं जाव अज्जवयरसामिणो स-यासे णव पुव्वाणि दसमस्स य पुव्वस्स किंचि अहिजिऊण अज्जरक्खिया दसपुरमेव गया, तत्थ सवो सयणवग्गो पव्वाविंतो–माया भाया भगिणी,जो सो तस्स खंतो सोऽवि तेसिं अणुरागेणं तेहिं चेव सम्मं अच्छइ, णो पुण लिंगं गेण्हइ लज्जाए, किह समणतो पव्वइस्सं ?, इत्थं मम धूयातो सुण्हातो णत्तुगीतो, तासिं पुरतो ण तरामि णग्गो अच्छिउं, एवं सो तत्थ अच्छइ, वहुसो आयरिया भणंति, ताहे सो भणति–जइ मम जुवलएणं कुंडियाए छत्तेणं उवहणाहिं जन्नोवइएण य समं पव्वावेह तो पव्वयामि,पव्वइतो सो पुण चरणकरणसज्झायं अणुयत्तंतेहि गिण्हावियं-

१ जीवत्स्वामिप्रतिमावक्तव्यतां दशपुरोत्पत्तिं च भणित्वा तावद्भणितव्यं यावदार्यवज्रस्वामिनः सकाशे नव पूर्वाणि दशमस्य च पूर्वस्य किञ्चिदधीत्यार्यरक्षिता दशपुरमेव गताः, तत्र सर्वैः स्वजनवर्गः प्रव्राजितः—माता भ्राता भगिनी, यः स तेषां पिता सोऽपि तेषामनुरागेण तत्रैव सम्यक् तिष्ठति, न पुनर्लिङ्गं गृह्णाति लज्जया, कथं श्रमणकः प्रव्रजिष्यामि ?, अत्र मम दुहितरः स्नुषा नप्तारः, तासां पुरतो न शक्नोमि नग्नः स्थातुम् , एवं स तत्र तिष्ठति,बहुश आचार्या भणन्ति, तदा स भणति–यदि मां युगलकेन कुण्डिकया छत्रेण उपानद्भ्यां यज्ञोपवीतेन च समं प्रव्राजयत तदा प्रव्रजामि, प्रव्रजितः स पुनश्चरणकरणस्वाध्यायमनुवर्तयद्भिर्ग्राह्यितव्यः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [६२]

वो, ताहे ते भणंति–अच्छह तुब्भे कडिपट्टएणं, सोऽवि थेरो भणइ–छत्तएणं विणा ण तरामि अच्छिउं, छत्तयंपि, करगेण विणा दुक्खं उच्चारपासवणं वोसिरिउं, बंभसुत्तगंपि अच्छउत्ति, अवसेसं सव्वं परिहरइ। अन्नया य चेइयाइं वंदिउं गया, आयरिया चेडगरूवाणि गाहंति, भणह–सव्वे वंदामो एगं छत्तइल्लं मोत्तुं, एवं भणितो, ताहे सो जाणति –इमे मम पुत्ता णत्तुया य वन्दिज्जंति, अहं कीस न वंदिज्जामि ?, ताहे भणति–किमहं अपव्वइओत्ति ?, ताणि भणंति–किं पव्वइयगाणोवाणहकरगबंभसुत्तछत्तगाणि भवंति ?, ताहे सो जाणति–एयाणिवि ममं पडिचोएंति, ता छड्डेमि, ताहे पुत्तं भणति–अलाहि पुत्तगा! छत्तेणं, ताहे ते भणंति–अलाहि, जाहे उण्हं होहिति ताहे कप्पो उवरिं करेहत्ति, एवं ताणि मोत्तुं करइल्लं, तत्थ से पुत्तो भणति–मत्तएणं चेव सन्नाभूमिं गम्मइ, एवं जन्नोवइयं च मुयइ,

१ तदा ते भणन्ति–तिष्ठत यूयं कटीपट्टकेन, सोऽपि स्थविरो भणति–छत्रेण विना न शक्नोमि स्थातुं, छत्रमपि, करकेण विना दुःख-मुच्चारप्रश्रवणं व्युत्सृष्टुं, ब्रह्मसूत्रमपि तिष्ठत्विति, अवशेषं सर्वं परिहरति। अन्यदा च चैत्यानि वन्दितुं गताः, आचार्याश्चेट (डिम्भ) रूपाणि ग्राहयन्ति, भणत–सर्वान् वन्दामहे एकं छत्रिणं मुक्त्वा, एवं भणितस्तदा स जानाति–इमे मम पुत्रा नप्तारश्च वन्द्यन्ते, अहं कथं न वन्द्ये ?, तदा भणति–किमहमप्रव्रजित इति ?, तानि भणन्ति–किं प्रव्रजितानामुपानत्करकब्रह्मसूत्रच्छत्राणि भवन्ति ?, तदा स जानाति–एतान्यपि मां प्रतिचोदयन्ति, तत् त्यजामि, तदा पुत्रं भणति–अलं पुत्र ! छत्रेण, तदा ते भणन्ति–अलं, यदोष्णं भविष्यति तदा कल्पं उपरि कुर्या इति, एवं तानि मुक्त्वा करकवन्तं, तत्र तस्य पुत्रो भणति–मात्रकेणैव संज्ञाभूमिः गम्यते, एवं यज्ञोपवीतं च मुञ्चति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [६२]

ताहे आयरिया भणंति–को वा अम्हे न जाणइ जहा बंभणा, एवं ताणि तेण मुक्काणि, पच्छा ताणि पुणो भणंति–सव्वे वंदामो मोत्तूण कडिपट्टइल्लं, ताहे सो रुट्ठो भणति–सह अज्जयपज्जएहिं मा वन्दह, अन्ने वंदिहंति ममं, एयं कडिपट्टयं न छड्डेमि, तत्थ य साहू भत्तपच्चक्खायतो, ताहे तस्स निमित्तं कडिपट्टवोसिरणट्ठयाए आयरिया भणंति –एयं महाफलं हवइ जो साधुं वहइ, तत्थ य पढमपव्वइया सन्निया–तुमे भणिज्जह–अम्हे एयं वहामो, एवं ते उवट्ठिया, तत्थ य आयरिया भणंति-अम्हं सयणवग्गो मा णिज्जरं पावउ ?, भो तुब्भे चेव सव्वे भणह अम्हे चेव वहामो, ताहे सो थेरो भणति–किं पुत्ता ! एत्थ बहुतरया णिज्जरा ?, आयरिया भणंति–बाढं, किं एत्थ भणियव्वं ?, ताहे सो भणति–तो खाइ अहंपि वहामि, आयरिया भणंति–एत्थ उवसग्गा उप्पज्जंति, चेडरूवाणि लग्गेंति,

१ तदा आचार्या भणन्ति–को वाऽस्मान् न जानाति यथा ब्राह्मणाः, एवं तानि तेन मुक्तानि, पश्चात्तानि पुनर्भणन्ति–सर्वान् वन्दामहे मुक्त्वा कटीपट्टकवन्तं, तदा स रुष्टो भणति–सह आर्यकप्रार्यकैः (पितृपितामहैः) मा वन्दिष्वम्, अन्ये वन्दिष्यन्ते मद्यम्, एतं कटीपट्टकं न छर्दयामि, तत्र च साधुः प्रत्याख्यातभक्तः, तदा तन्निमित्तं कटीपट्टकव्युत्सर्जनार्थाय आचार्या भणन्ति–एतत् महाफलं भवति यस्साधुं वहति, तत्र च प्रथमप्रव्रजिताः संज्ञिताः (संकेतिताः)–यूयं भणेत—वयं वहाम एनम्, एवं ते उपस्थिताः, तत्र चाचार्या भणन्ति–अस्माकं स्वजनवर्गो मा निर्जरां प्रापत् ततो यूयं सर्वे भणथ—वयमेव वहामः, तदा स स्थविरो भणति–किं पुत्र ! अत्र बहुतरा निर्जरा ?, आचार्या भणन्ति–बाढं, किमत्र भणितव्यं ?, तदा स भणति—तत् कथयाहमपि वहामि, आचार्या भणन्ति–अत्रोपसर्गा उत्पद्यन्ते, चेटरूपाणि लगन्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [६२]

यदि तरसि अहियासिउं वहाहि,अह णाहियासेसि ताहे अम्हं न सुंदरं भवति, एवं सो थिरो कओ, जाहे सो उक्खित्तो साहू मग्गओ वच्चइ, पच्छओ संजईओ ठिआतो, ताहे खुड्डगा भणिआ–एत्ताहे कडिपट्टयं मुयह, ताहे सो मुत्तुमारद्धो, ताहे अन्नेहिं भणिओ–मा मोचिहि,तत्थ से अन्नेण कडिपट्टओ पुरओ काऊण दोरेण बद्धो,ताहे सो लज्जिओ तं वहइ, मग्गओ मम पिच्छंति सुण्हाओ अ, एवं तेणवि उवसग्गो उट्ठिओत्तिकाऊण वूढं, पच्छा आगतो तहेव, ताहे आयरिया भणंति–किं अज्ज खंता! इमं?, ताहे सो भणइ–सो एस अज्ज पुत्त ! उवसग्गो उवट्ठिओ, आणेह साडयं, ताहे भणइ –किं व साडएणंति ?, जं दट्ठव्वं तं दिट्ठं, चोलपट्टओ चेव मे भवउ, एवं ता सो चोलपट्टंपि गिण्हाविओ। तेण पुव्वं अचेलपरीसहो नाहियासितो पच्छाऽहियासिओत्ति ॥ अचेलस्य चाप्रतिबद्धविहारिणः शीतादिभिरभिभूयमानत्वेनारतिरप्युत्पद्येतातस्तत्परीषहमाह—

१ यदि शक्नोष्यधिसोढुं वह, अथ नाधिसहसे तदाऽस्माकं न सुन्दरं भवति, एवं स स्थिरः कृतः, यदा स उक्षिप्तः साधुर्मार्गतः व्रजति, पश्चात् संयत्यः स्थिताः,तदा क्षुल्लकैः भणिताः–अधुना कटीपट्टकं मुञ्चत, तदा स मोक्तुमारब्धः, तदाऽन्यैर्भणितः–मा मुचः, तत्र तस्यान्येन कटीपट्टकः पुरतः कृत्वा दवरकेण बद्धः,तदा स लज्जितस्तं वहति, पृष्ठतो मम पश्यन्ति स्नुषाश्च,एवं तेनापि उपसर्ग उत्थित इतिकृत्वा व्यूढं, पश्चादागतस्तथैव, तदाऽऽचार्या भणन्ति–किमद्य पितरिदम्, तदा स भणति–स एषोऽद्य पुत्र ! उपसर्ग उत्थितः, आनयत शाटकं, तदा भणति–किं वा शाटकेनेति, यद्रष्टव्यं तद्दृष्टं,चोलपट्टक एव मे भवतु,एवं तावत्स चोलपट्टकमपि ग्राहितः। तेन पूर्वमचेलपरीषहो नाध्यासितः, पश्चादध्यासितः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१४॥

दीप अनुक्रम [६३]

गामाणुगामं रीयंतं, अणगारमकिंचणं । अरई अणुप्पविसे, तं तितिक्खे परीसहं ॥१४॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—ग्रसते बुद्ध्यादीन् गुणान् इति ग्रामः स च जिगमिषितः अनुग्रामश्च–तन्मार्गानुकूलः अननुकूलगमने प्रयोजनाभावाद् ग्रामानुग्रामं, यद्वा ग्रामश्च महान् अणुग्रामश्च स एव लघुर्ग्रामाणुग्रामम्, अथवा–ग्राममिति रूढिशब्दत्वादेकस्माद्ग्रामादन्यो ग्रामः ततोऽपि चान्यो ग्रामानुग्राममुच्यते, नगरोपलक्षणमेतत्, ततो नगरादींश्च, किमित्याह—'रीयंतं'ति तिङ्व्यत्ययाद्रीयमाणं–विहरन्तम् 'अनगारम्' उक्तस्वरूपम् 'अकिञ्चनं' नास्य किञ्चन प्रतिबन्धास्पदं धनकनकाद्यस्तीत्यकिञ्चनो–निष्परिग्रहः, तथाभूतम् 'अरतिः' उक्तरूपा 'अनुप्रविशेत्' मनसि लब्धास्पदा भवेत्, 'त'मित्यरतिस्वरूपं 'तितिक्षेत' सहेत परीषहमिति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥ तत्सहनोपायमेवाह—

अरइं पिट्ठओ किच्चा,विरओ आयरक्खिए । धम्मारामे निरारंभे,उवसंते मुणी चरे ॥१५॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'अरतिं' संयमविषयां मोहनीयकर्म्मप्रकृतिरूपां पृष्ठतः कृत्वा कोऽर्थः ?–धर्मविघ्नहेतुरियमितिमत्या तिरस्कृत्य, किमित्याह—'विरतः' हिंसादिभ्य उपरतः, आत्मा रक्षितः दुर्गतिहेतोरपध्यानादेरनेनेत्यात्मरक्षितः, आहिताग्न्यादिषु दर्शनात् क्तान्तस्य परनिपातः, आयो वा–ज्ञानादिलाभो रक्षितोऽनेनेत्यायरक्षितः, धर्म्मे–श्रुतधर्मादौ आङित्यभिव्याप्त्या रमते–रतिमान् भवतीति धर्मारामः, यद्वा–धर्म एव सततमानन्दहेतुतया प्रतिपाल्यतया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१५॥

दीप अनुक्रम [६४]

वा आरामो धर्मारामस्तत्र, स्थित इति गम्यते, निर्गत आरम्भाद्–असत्क्रियाप्रवर्त्तनलक्षणात् निरारम्भः 'उपशान्तः' क्रोधाद्युपशमात् 'मुनिः' सर्वविरतिप्रतिज्ञाता चरेत्, 'पलिओवमं झिज्जइ सागरोवमं, किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं'ति विचिन्तयन्संयमाध्वनि यायात्, न पुनरुत्पन्नारतिरपि अवधावनानुप्रेक्षी भवेद् । इह च विरतादिविशेषणानि अरतितिरस्करणफलतया, यद्वा यत एव विरतोऽत एवात्मरक्षित इत्यादिहेतुफलतया नेयानीति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥ इदानीं तापसद्वारमनुस्मरन् 'अरई अणुप्पवेसे' इत्यादिसूत्रसूचितमुदाहरणमाह—

अयलपुरे जुवराया सीसो राहस्स नगरीमुज्जेणिं । अज्जा राहक्खमणा पुरोहिए रायपुत्तो य ॥ ९८ ॥
कोसंबीए सिट्ठी आसी नामेण तावसो तहियं । मरिऊण सूयरोरग जाओ पुत्तस्स पुत्तोत्ति ॥ ९९ ॥

व्याख्या—अचलपुरे युवराजः शिष्यो राधस्य नगरीमुज्जयिनीम् आर्या राधक्षमणाः पुरोहितो राजपुत्रश्च कौशाम्ब्यां श्रेष्ठी आसीन्नाम्ना तापसः तत्र मृत्वा 'सूयरोरगो' त्ति सुपो लोपः शूकर उरगो जातः पुत्रस्य पुत्र इति गाथाद्वयाक्षरार्थः ॥ ९८—९९ ॥ एतदर्थस्तु सम्प्रदायादवसेयः, स चायम्—

१ पल्योपमं क्षीयते सागरोपमं किमङ्ग पुनर्ममेदं मनोदुःखमिति ।

॥ ९९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१५॥

दीप अनुक्रम [६४]

अचलपुरं नाम पतिट्ठाणं, तत्थ जियसत्तू राया, तस्स पुत्तो जुवराया, सो राहायरियाण अंतिए पव्वइओ। सो य अन्नया विहरंतो गतो तगरं नगरिं, तस्स य राहायरियस्स सज्झंतेवासी अज्जराहक्खमणा णाम उज्जेणीए विहरंति, तओ आगया साहुणो तगरं, गया राहसमीवं, ते पुच्छिया–निरुवसग्गंति, भणंति–रायपुत्तो पुरोहियपुत्तो य बाहिंति, तस्स जुवरायपव्वतियगस्स सो रायपुत्तो भत्तिज्जतो, मा संसारं भमिहितित्ति आपुच्छिऊण आयरिए गओ उज्जेणिं, भिक्खवेलाए उग्गाहेऊण पट्ठितो, आयरिएहिं भणिओ–अच्छाहि, सो भणइ–न अच्छामि, नवरं दाएह तं पडणीयघरं, चेल्लगो भणिओ–वच्च दाएहि, तेण दाइयं, सो तत्थ गतो, वीसत्थो पविट्ठो, तत्थ ते दोऽवि अच्छंति, ते तं पिच्छिऊण उट्ठिया, तेणवि महया सद्देणं धम्मलाभियं, ते भणंति–अहो! लट्ठं पव्वइयगो अम्हंतेण गतो, वंदामोत्ति,

१ अचलपुरं नाम प्रतिष्ठानं, तत्र जितशत्रू राजा, तस्य पुत्रो युवराजः, स राधाचार्याणामन्तिके प्रव्रजितः। स चान्यदा विहरन् गतस्तगरां नगरीं, तस्य च राधाचार्यस्य सङ्घोऽन्तेवासिनः आर्यराधक्षमणा नामोज्जयिन्यां विहरन्ति,तत आगताः साधवस्तगरां,गता राधसमीपं, ते पृष्ट्वा निरुपसर्गमिति, भणन्ति–राजपुत्रः पुरोहितपुत्रश्च बाधेते, तस्य युवराजप्रव्रजितस्य स राजपुत्रो भ्रातृव्यः, मा संसारं भ्रमीदित्यापृच्छयाचार्यान् गत उज्जयिनीं, भिक्षावेलायामुद्ग्राह्य प्रस्थितः, आचार्यैर्भणितः—तिष्ठ, स भणति—न तिष्ठामि, परं दर्शयत तद् प्रत्यनीककृहं, क्षुल्लको भणितः—व्रज दर्शय, तेन दर्शितं, स तत्र गतः, विश्वस्तः प्रविष्टः, तत्र तौ द्वावपि तिष्ठतः, तौ तं प्रेक्ष्योत्थितौ, तेनापि महता शब्देन धर्मलाभितं, तौ भणतः—अहो लष्टं प्रव्रजितोऽस्माकं मार्गेणागतः, वन्दावह इति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१५॥

दीप अनुक्रम [६४]

भणंति ते–आयरिया ! तुब्भे गाइउं जाणह ?,तेण भणियं–आमं जाणामो, तुब्भे वाएह,ते आढत्ता, जाव ण जाणंति, तेण भण्णइ–एरिसगा चेव तुब्भे कोलियगा, ण किंचि जाणह, ते रुट्ठा उद्धाइया, तेण घेत्तुं तेसिं णिजुद्धं जाणंतेण सव्वे संधी खोइया, पढमं ताव पिट्टिया, ते हम्मंता राडिं करेंति, परियणो जाणइ–सो एस पव्वइओ हम्मंतो राडिं करेइ, सोऽवि गतो, पच्छा तेहिं दिट्ठा, णवि जीवंति, णवि मरंति, णवरं णिरिक्खंति एक्केकं दिट्ठीए, पच्छा रण्णो सिट्ठं पुरोहियस्स य–जहा कोऽवि पव्वइयगो,तेण दोऽवि जणा संखलेत्तूण मुक्का, पच्छा राया सव्वबलेणागतो पव्वइगाण मूले, सोऽवि साहू एकपासे अच्छइ परियट्टंतो, राया आयरियाणं पाए पडिओ, पसायमावज्जह, आयरिओ भणइ–अहं न याणामि, महाराय ! इत्थ एगो साहू पाहुणो, जइ परं तेण होज्जा, राया तस्स मूलमागतो, पच्चभि-

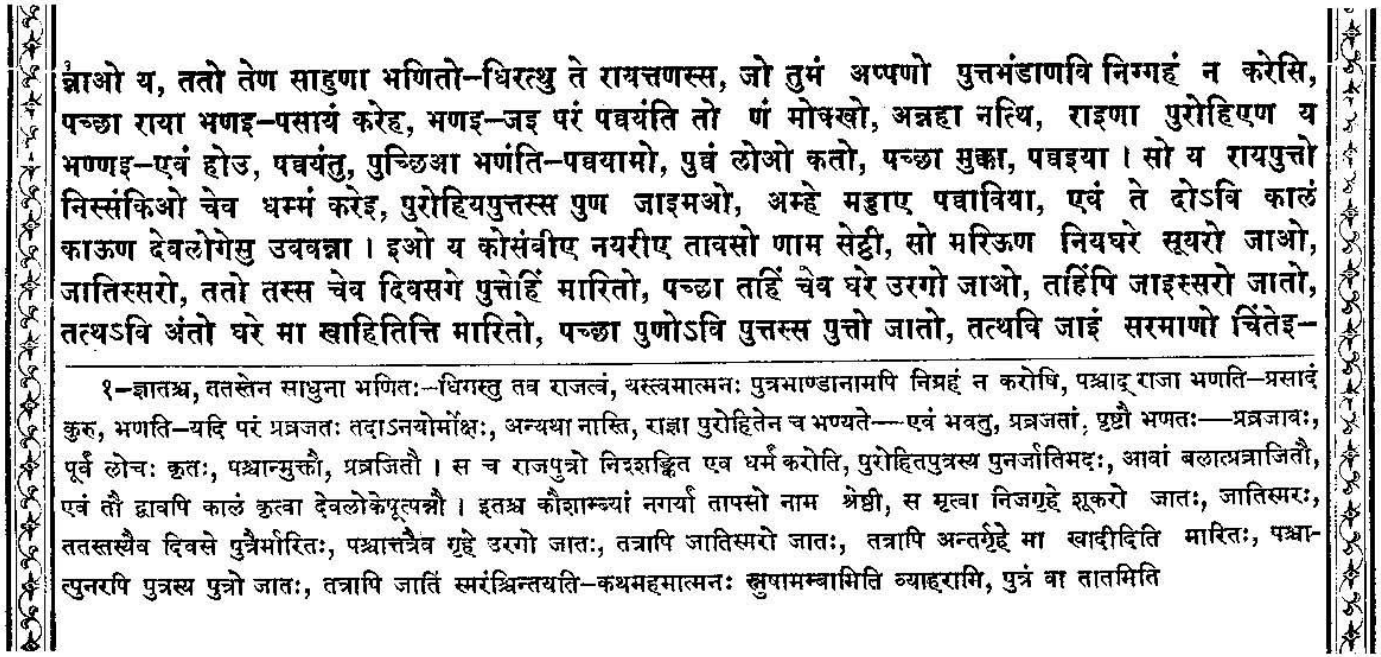
१ भणतस्तौ–आचार्या ! यूयं गातुं जानीथ, तेन भणितम्–ओम् जानीमः, युवां वादयतं, तावाद्दतौ, यावन्न जानीतः, तेन भण्येते–एतादृशावेव युवां कोलिकौ, न किञ्चिज्जानीथः, तौ रुष्टौ उद्धावितौ, तेन गृहीत्वा तयोः नियुद्धं जानता सर्वे सन्धयो विसंयोजिताः, प्रथमं तावत्पिट्टितौ, तौ हन्यमानौ राटीं कुरुतः, परिजनो जानाति––स एष प्रव्रजितो हन्यमानो राटीं करोति, सोऽपि गतः, पश्चात्तैर्दृष्टौ, नैव जीवतो नैव म्रियेते, परं निरीक्षेते एकैकं दृष्ट्या, पश्चाद् राज्ञे शिष्टं पुरोहिताय च–यथा कोऽपि प्रव्रजितः, तेन द्वावपि जनौ विश्रब्धस्तलय्य मुक्तौ, पश्चाद् राजा सर्वबलेनागतः प्रव्रजितानां मूले, सोऽपि साधुरेकपार्श्वे तिष्ठति परावर्त्तमानः, राजा आचार्याणां पादयोः पतितः, प्रसादमापद्यध्वं, आचार्यो भणति–अहं न जानामि, महाराज ! अत्रैकः साधुः प्राघूर्णकः, यदि परं तेन भवेत्, राजा तस्य मूलमागतः, प्रत्यभि-

॥१००॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१५॥

दीप अनुक्रम [६४]



ज्ञाओ य, ततो तेण साहुणा भणितो–धिरत्थु ते रायत्तणस्स, जो तुमं अप्पणो पुत्तभंडाणवि निग्गहं न करेसि, पच्छा राया भणइ–पसायं करेह, भणइ–जइ परं पव्वयंति तो णं मोक्खो, अन्नहा नत्थि, राइणा पुरोहिएण य भण्णइ–एवं होउ, पव्वयंतु, पुच्छिआ भणंति–पव्वयामो, पुव्वं लोओ कतो, पच्छा मुक्का, पव्वइया। सो य रायपुत्तो निस्संकिओ चेव धम्मं करेइ, पुरोहियपुत्तस्स पुण जाइमओ, अम्हे मडाए पव्वाविया, एवं ते दोऽवि कालं काऊण देवलोगेसु उववन्ना। इओ य कोसंबीए नयरीए तावसो णाम सेट्ठी, सो मरिऊण नियघरे सूयरो जाओ, जातिस्सरो, ततो तस्स चेव दिवसगे पुत्तेहिं मारितो, पच्छा तहिं चेव घरे उरगो जाओ, तहिंपि जाइस्सरो जातो, तत्थऽवि अंतो घरे मा खाहितित्ति मारितो, पच्छा पुणोऽवि पुत्तस्स पुत्तो जातो, तत्थवि जाइं सरमाणो चिंतेइ–

१–ज्ञातश्च, ततस्तेन साधुना भणितः–धिगस्तु तव राजत्वं, यस्त्वमात्मनः पुत्रभाण्डानामपि निग्रहं न करोषि, पश्चाद् राजा भणति–प्रसादं कुरु, भणति–यदि परं प्रव्रजतः तदाऽनयोर्मोक्षः, अन्यथा नास्ति, राज्ञा पुरोहितेन च भण्यते—एवं भवतु, प्रव्रजतां, पृष्टौ भणतः—प्रव्रजावः, पूर्वं लोचः कृतः, पश्चान्मुक्तौ, प्रव्रजितौ। स च राजपुत्रो निश्शङ्कित एव धर्मं करोति, पुरोहितपुत्रस्य पुनर्जातिमदः, आवां बलात्प्रव्राजितौ, एवं तौ द्वावपि कालं कृत्वा देवलोकेषूत्पन्नौ। इतश्च कौशाम्ब्यां नगर्यां तापसो नाम श्रेष्ठी, स मृत्वा निजगृहे शूकरो जातः, जातिस्मरः, ततस्तस्यैव दिवसे पुत्रैर्मारितः, पश्चात्तत्रैव गृहे उरगो जातः, तत्रापि जातिस्मरो जातः, तत्रापि अन्तर्गृहे मा खादीदिति मारितः, पश्चात्पुनरपि पुत्रस्य पुत्रो जातः, तत्रापि जातिं स्मरंश्चिन्तयति–कथमहमात्मनः स्नुषामम्बामिति व्याहरामि, पुत्रं वा तातमिति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१५॥

दीप अनुक्रम [६४]

किहमहं अप्पणो सुण्हं अंमंति वाहरिहामि, पुत्तं वा तायंति, पच्छा मूयत्तणं करेइ, पच्छा महंतीभूओ साहूणं अलीणो, धम्मोऽणेण सुतो। इतो य सो धिज्जाइयदेवो महाविदेहे तित्थयरं पुच्छइ–किमहं सुलहबोहिओ दुलभबोहिओत्ति ?, ततो सामिणा भणितो–दुलभबोहिओऽसि, पुणोऽवि पुच्छइ–कत्थऽहं उववज्जिउकामो ?, भगवया भण्णइ–कोसंबीए मूयस्स भाया भविस्ससि, सो य मूओ पव्वइस्सइ, सो देवो भगवंतं वंदिऊण गओ मूयगस्सगासं, तस्स सो बहुयं दव्वजायं दाऊण भणइ–अहं तुज्झ पिउघरे उववज्जिस्सामि, तीसे य दोहलओ अंबएहिं भविस्सइ, अमुगे पव्वए अंबगो सयापुप्फफलो कओ मए, तुमं ताए पुरओ णामगं लिहिज्जासि, जहा–तुब्भं पुत्तो भविस्सइ, जइ तं मम देसि तो ते आणेमि अंबफलाणित्ति, तओ ममं जायं संतं तहा करिज्जासि जहा धम्मे संबु-

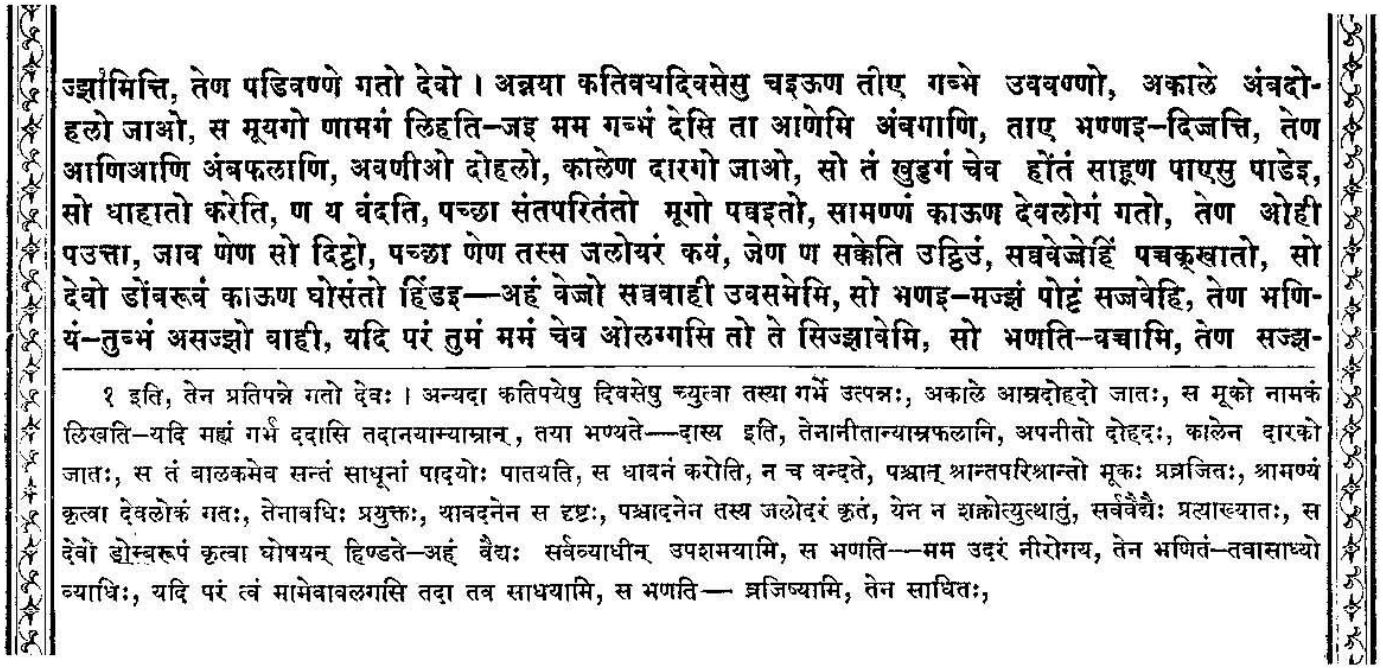
१ पश्चान्मूकत्वं करोति, पश्चात् महद्भूतः साधूनाश्रितः, धर्मोऽनेन श्रुतः, । इतश्च स धिग्जातीयदेवो महाविदेहे तीर्थकरं पृच्छति–किमहं सुलभबोधिको दुर्लभबोधिक इति ?, ततः स्वामिना भणितः—दुर्लभबोधिकोऽसि, पुनरपि पृच्छति–कुत्राहमुत्पत्तुकामो ?, भगवता भण्यते–कौशाम्ब्यां मूकस्य भ्राता भविष्यसि, स च मूकः प्रव्रजिष्यति, स देवो भगवन्तं वन्दित्वा गतो मूकसकाशं, तस्मै स बहु द्रव्यजातं दत्त्वा भणति—अहं तव पितृगृहे उत्पत्स्ये, तस्याश्च दोहदः आम्रैर्भविष्यति, अमुकस्मिन् पर्वते आम्रः सदापुष्पफलः कृतो मया, त्वं तस्याः पुरतो नामकं लिखेः, यथा–तव पुत्रो भविष्यति, यदि तं मह्यं ददासि तदा तुभ्यमानयामि आम्रफलानीति, ततो मां जावं सन्तं तथा कुर्याः यथा धर्मं संभोत्स्य

॥१०१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१५॥

दीप अनुक्रम [६४]



ज्झामित्ति, तेण पडिवण्णे गतो देवो । अन्नया कतिवयदिवसेसु चइऊण तीए गब्भे उववण्णो, अकाले अंबदोहलो जाओ, स मूयगो णामगं लिहति–जइ मम गब्भं देसि ता आणेमि अंबगाणि, ताए भण्णइ–दिज्जत्ति, तेण आणिआणि अंबफलाणि, अवणीओ दोहलो, कालेण दारगो जाओ, सो तं खुड्डगं चेव होंतं साहूण पाएसु पाडेइ, सो धाहातो करेति, ण य वंदति, पच्छा संतपरितंतो मूगो पव्वइतो, सामण्णं काऊण देवलोगं गतो, तेण ओही पउत्ता, जाव णेण सो दिट्ठो, पच्छा णेण तस्स जलोयरं कयं, जेण ण सक्केति उट्ठिउं, सव्ववेज्जेहिं पच्चक्खातो, सो देवो डोंबरूवं काऊण घोसंतो हिंडइ—अहं वेज्जो सव्वाही उवसमेमि, सो भणइ–मज्झं पोट्टं सज्जवेहि, तेण भणियं–तुब्भं असज्झो वाही, यदि परं तुमं ममं चेव ओलग्गसि तो ते सिज्झावेमि, सो भणति–वच्चामि, तेण सज्झ-

१ इति, तेन प्रतिपन्ने गतो देवः । अन्यदा कतिपयेषु दिवसेषु च्युत्वा तस्या गर्भे उत्पन्नः, अकाले आम्रदोहदो जातः, स मूको नामकं लिखति–यदि मह्यं गर्भं ददासि तदानयाम्याम्रान्, तया भण्यते—दास्य इति, तेनानीतान्याम्रफलानि, अपनीतो दोहदः, कालेन दारको जातः, स तं बालकमेव सन्तं साधूनां पादयोः पातयति, स धावनं करोति, न च वन्दते, पश्चात् श्रान्तपरिश्रान्तो मूकः प्रव्रजितः, श्रामण्यं कृत्वा देवलोकं गतः, तेनावधिः प्रयुक्तः, यावदनेन स दृष्टः, पश्चादनेन तस्य जलोदरं कृतं, येन न शक्नोत्युत्थातुं, सर्ववैद्यैः प्रत्याख्यातः, स देवो डोम्बरूपं कृत्वा घोषयन् हिण्डते–अहं वैद्यः सर्वव्याधीन् उपशमयामि, स भणति—मम उदरं नीरोगय, तेन भणितं–तवासाध्यो व्याधिः, यदि परं त्वं मामेवावलगसि तदा तव साधयामि, स भणति— व्रजिष्यामि, तेन साधितः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१५॥

दीप अनुक्रम [६४]

वितो, गंतो तेण सद्धिं, तेण तस्स सत्थकोसगो अल्लवितो, सो ताए देवमायाए अतीव भारितो, जाव पव्वइया एगंमि पएसे पढंति, विज्जेण भण्णइ–जइ पव्वयसि तो मुयामि, सो तेण भारेण अतीव परिताविज्जंतो चिंतेइ–वरं मे पव्वइउं, भणइ–पव्वयामि, पव्वइओ, देवे गतेणाचिरस्स उप्पव्वइओ, तेण देवेण ओहिणा पिच्छिऊण सो चेव से पुणोऽवि वाही कओ, तेणेव उवाएण पुणोऽवि पव्वाविओ, एवं एक्कसिं दो तिन्नि वारा उप्पव्वइतो, तइया वाराए गच्छइ देवोऽवि तेणेव समं, तणभारं गहाय पलित्तयं गामं पविसति, तेण भण्णइ–किं तणभारएण पलित्तं गामं पविससि ?, तेण भण्णइ–कहं तुमं कोहमाणमायालोभसंपलित्तं गिहिवासं पविससि ?, तहावि न संबुज्झइ, पच्छा दोऽवि गच्छन्ति, नवरं देवो अडवीए उप्पहेणं संपट्ठितो, तेण भण्णइ–कहं एत्तो तं पंथं मोत्तूण पविससि ?,

१ गतस्तेन सार्धं, तेन तस्मिन् शस्त्रकोषकः आश्रयितः, स तया देवमायया अतीव भारितः, यावत् प्रव्रजिता एकस्मिन् प्रदेशे पठन्ति, वैद्येन भण्यते–यदि प्रव्रजसि तदा मुञ्चामि, स तेन भारेण अतीव परितापयमानश्चिन्तयति–वरं मे प्रव्रजितुं, भणति–प्रव्रजामि, प्रव्रजितो, देवे गतेऽचिरेणोत्प्रव्रजितः, तेन देवेनावधिना दृष्ट्वा स एव तस्य पुनरपि व्याधिः कृतः, तेनैवोपायेन पुनरपि प्रव्राजितः, एवं सकृत् द्वौ त्रीन् वारान् उत्प्रव्रजितः, तृतीये वारे गच्छति देवोऽपि तेनैव समं, तृणभारं गृहीत्वा प्रदीप्तं ग्रामं प्रविशति, तेन भण्यते—किं तृणभारेण प्रदीप्तं ग्रामं प्रविशसि ?, तेन भण्यते—कथं त्वं क्रोधमानमायालोभसंप्रदीप्तं गृहिवासं प्रविशसि ?, तथापि न संबुध्यते, पश्चात् द्वावपि गच्छतः, नवरं देवोऽटव्यामुत्पथेन संप्रस्थितः, तेन भण्यते—कथमितस्त्वं पन्थानं मुक्त्वा प्रविशसि ?,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१५॥

दीप अनुक्रम [६४]

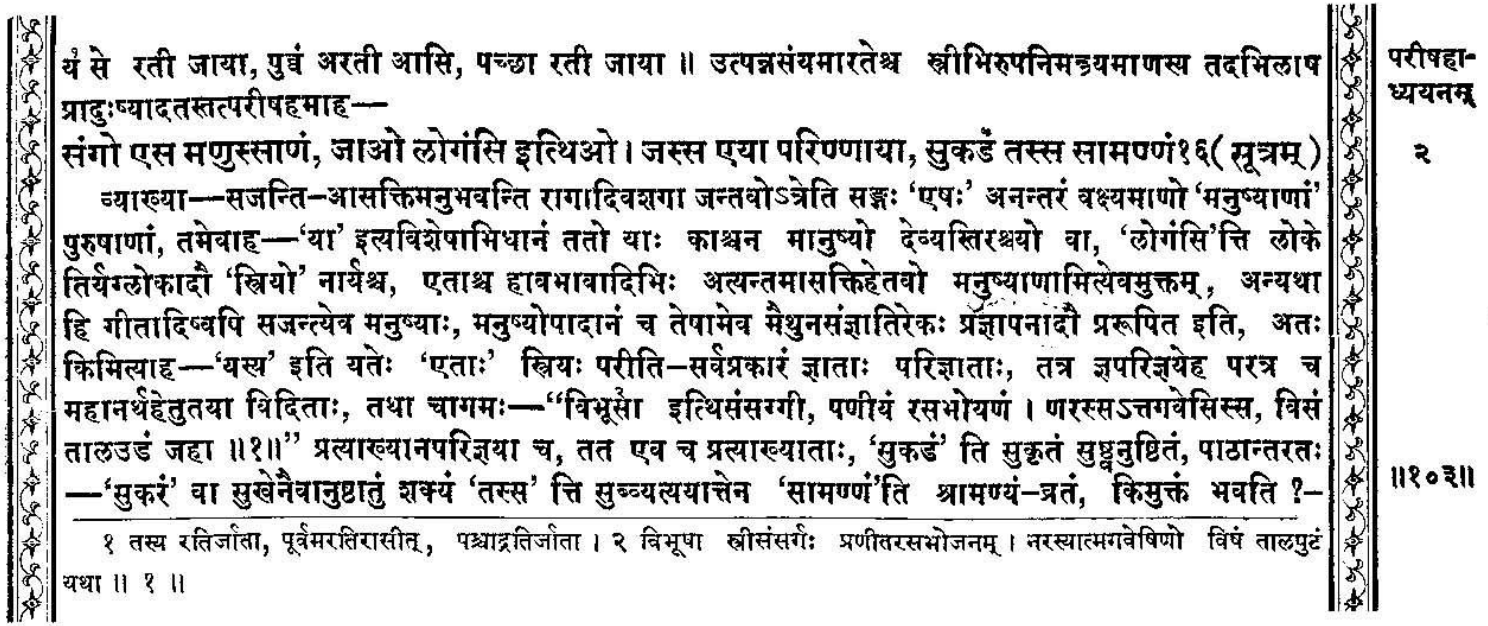
देवेण भण्णइ–कहं तुमं मोक्खपहं मोत्तूणं संसाराडविं पविससि ?, तहावि न संबुज्झइ, पुणो एगंमि देवकुले वाणमंतरो अचितो हिट्ठाहुत्तो पडइ, सो भणइ–अहो वाणमंतरो ! अधण्णो अपुण्णो य जो उवरिहुत्तो कओ अचियओ य हेट्ठाहुत्तो पडइ, तेण देवेण भण्णइ–अहो ! तुमंपि अधण्णो जो उप्पराहुत्तो ठविओ अचणिज्जे य ठाणे पुणो पुणो उप्पवयसि, तेण भण्णइ–कोऽसि तुमं ?, तेण मूयगरूवं दंसियं, पुव्वभवो से कहितो, तो सो भणइ–को पच्चओ ?, जहाऽहं देवो आसि, पच्छा सो देवो तं गहाय गओ वेयड्ढपव्वयं, सिद्धाययणं कूडं च, तत्थ तेण पुव्वं चेव संगारो कतिल्लओ जहा–यदि अहं न संबुज्झेज्ज तो एयं ममच्चयं कुंडलजुयलं णामयंकियं सिद्धाययणपुक्खरिणीए दरिसिज्जासि, तेण से दंसियं, सो तं कुंडलं सनामंकियं पिच्छिऊण जाइस्सरो जातो, संबुद्धो पव्वइतो जाओ, संजमे

१ देवेन भण्यते–कथं त्वं मोक्षपथं मुक्त्वा संसाराटवीं प्रविशसि ?, तथापि न संबुध्यते, पुनरेकस्मिन् देवकुले व्यन्तरोऽर्चितोऽधस्तात्पतति, स भणति—अहो व्यन्तरोऽधन्योऽपुण्यश्च य उपरि कृतोऽर्चितश्च अधः पतति, तेन देवेन भण्यते—अहो त्वमप्यधन्यो य उपरि स्थापितोऽर्चनीये च स्थाने पुनः पुनरुत्प्रव्रजसि, तेन भण्यते—कोऽसि त्वं ?, तेन मूकरूपं दर्शितं, पूर्वभवश्च तस्मै कथितः, ततः स भणति–कः प्रत्ययः ?, यथाऽहं देव आसं, पश्चात्स देवस्तं गृहीत्वा गतो वैताढ्यपर्वतं, सिद्धायतनकूटं च, तत्र तेन पूर्वं चैव संकेतः कृतो यथा –यद्यहं न संबुध्येय तदैतत् मामकीनं कुण्डलयुगलं नामाङ्कितं सिद्धायतनपुष्करिण्यां दर्शयेः, तेन तस्मै दर्शितं, स तत् कुण्डलं स्वनामाङ्कितं प्रेक्ष्य जातिस्मरो जातः, संबुद्धः प्रव्रजितो जातः, संयमे च

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६॥

दीप अनुक्रम [६५]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥१०३॥

यं से रती जाया, पुव्वं अरती आसि, पच्छा रती जाया ॥ उत्पन्नसंयमारतेश्च स्त्रीभिरुपनिमन्त्र्यमाणस्य तदभिलाष प्रादुःष्यादतस्तत्परीषहमाह—

संगो एस मणुस्साणं, जाओ लोगंसि इत्थिओ। जस्स एया परिण्णाया, सुकडं तस्स सामण्णं१६(सूत्रम्)

व्याख्या—सजन्ति–आसक्तिमनुभवन्ति रागादिवशगा जन्तवोऽत्रेति सङ्गः 'एषः' अनन्तरं वक्ष्यमाणो 'मनुष्याणां' पुरुषाणां, तमेवाह—'या' इत्यविशेषाभिधानं ततो याः काश्चन मानुष्यो देव्यस्तिरश्च्यो वा, 'लोगंसि'त्ति लोके तिर्यग्लोकादौ 'स्त्रियो' नार्यश्च, एताश्च हावभावादिभिः अत्यन्तमासक्तिहेतवो मनुष्याणामित्येवमुक्तम्, अन्यथा हि गीतादिष्वपि सजन्त्येव मनुष्याः, मनुष्योपादानं च तेषामेव मैथुनसंज्ञातिरेकः प्रज्ञापनादौ प्ररूपित इति, अतः किमित्याह—'यस्य' इति यतेः 'एताः' स्त्रियः परीति–सर्वप्रकारं ज्ञाताः परिज्ञाताः, तत्र ज्ञपरिज्ञयेह परत्र च महानर्थहेतुतया विदिताः, तथा चागमः—"विभूसा इत्थिसंसग्गी, पणीयं रसभोयणं। णरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥१॥" प्रत्याख्यानपरिज्ञया च, तत एव च प्रत्याख्याताः, 'सुकडं' ति सुकृतं सुष्ठुनुष्ठितं, पाठान्तरतः —'सुकरं' वा सुखेनैवानुष्ठातुं शक्यं 'तस्स' त्ति सुब्व्यत्ययात्तेन 'सामण्णं'ति श्रामण्यं–व्रतं, किमुक्तं भवति ?–

१ तस्य रतिर्जाता, पूर्वमरतिरासीत्, पश्चाद्रतिर्जाता। २ विभूषा स्त्रीसंसर्गः प्रणीतरसभोजनम्। नरस्यात्मगवेषिणो विषं तालपुटं यथा ॥ १ ॥

परीषहाध्ययनम् २

॥१०३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६॥

दीप अनुक्रम [६५]

अवद्यहेतुत्यागो हि व्रतं, रागद्वेषावेव च तत्त्वतस्तद्धेतू, उक्तनीतितश्च न स्त्रीभ्यः परं तन्मूलमिति तत्प्रत्याख्यानत एव सुकृतत्वं श्रामण्यस्य, यथोक्तनीतितः स्त्रिय एव दुस्त्यजाः, ततस्तत्त्यागे त्यक्तमेवापरमिति तत्प्रत्याख्यानतः सुकृतत्वं श्रामण्यस्योच्यते, वक्ष्यति हि—"एए उ संगे समइक्कमित्ता, सुदुत्तरा चेव हवंति सेसा । जहा महासागर-मुत्तरित्ता, णई भवे अवि गंगासमाणा ॥ १ ॥" इति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥ अतः किं विधेयमित्याह—

एवमाणाय मेहावी, पंकभूयाउ इत्थीओ । नो ताहिं विणिहण्णिज्जा, चरे अत्तगवेसए ॥१७॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'एवम्' इत्यनन्तरोक्तेन प्रकारेणात्यन्तासक्तिहेतुत्वलक्षणेन 'आज्ञाय' स्वरूपाभिव्याप्ता अवगम्य 'मेधावी' अवधारणशक्तिमान् पङ्कः—कर्दमः तद्भूताः—मुक्तिपथप्रवृत्तानां विबन्धकत्वेन मालिन्यहेतुत्वेन च तदुपमाः, तुरवधारणार्थः, ततः पङ्कभूता एव स्त्रियः, पठ्यते च—'एवमादाय मेहावी जहा एया लहुस्सग'त्ति 'एवम्', अनन्तर एव वक्ष्यमाणमर्थम् 'आदाय' बुद्ध्या गृहीत्वा मेधावी, तमेवाह—'यथे'त्युपदर्शने, 'एताः' स्त्रियः 'लहुस्सग'त्ति तुच्छाशयत्वादिना लघ्व्यः, ततः किमित्याह—'नो' नैव 'ताभिः' 'स्त्रीभिः' 'विनिहन्यात्' विशेषेण-संयमजीवितव्यव्यपरोपणात्मकेनातिशयेन च—सामस्त्यतदुच्छेदरूपेणातिपातयेत्, आत्मानमिति गम्यते, कृत्यमाह—'चरेत्' धर्मानुष्ठानमासेवेत, आत्मानं गवेषयते—कथं मयाऽऽत्मा भवान्निस्तारणीय इत्यन्वेषयते आत्मगवेषकः,

१ एतांस्तु सङ्गान् समतिक्रम्य सुखोत्तारा एव भवन्ति शेषाः । यथा महासागरमुत्तीर्य नदी भवेदपि गङ्गासमाना ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७॥

दीप अनुक्रम [६६]

'सिद्धिः स्वरूपापत्ति'रिति वचनात् सिद्धिर्वा आत्मा, ततः कथं ममासौ स्यादित्यन्वेषकः आत्मगवेषको, यद्वा आत्मानमेव गवेषयते इत्यात्मगवेषकः, किमुक्तं भवति ?–चित्रालङ्कारशालिनीरपि स्त्रियोऽवलोक्य तद्दृष्टिन्यासस्य दुष्टतावगमात् झगिति ताभ्यो दृगुपसंहारत आत्माऽन्वेष्टैव भवति, उक्तं हि—"चित्तभित्तिं ण णिज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं । भक्खरंपिव दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥ १ ॥" इति सूत्रार्थः ॥ १७ ॥ सम्प्रति प्रतिमाद्वारं विवृण्वन् 'यस्यैताः परिज्ञाता' इत्यादिसूत्रसूचितं चैदंयुगीनजनदार्ढ्योत्पादकं दृष्टान्तमाह—

उसभपुरं रायगिहं पाडलिपुत्तस्स होइ उप्पत्ती । नंदे सगडाले थूलभद्द सिरिए वररुई य ॥ १०० ॥
तिण्हं अणगाराणं अभिग्गहो आसि चउण्ह मासाणं । वसहीमित्तनिमित्तं को कहि वुत्थो ? निसामेह १०१
गणियाघरम्मि इक्को वुत्थो बीओ उ वग्घवसहीए । सप्पवसहीइ तइओ को दुक्करकारओ इत्थं ? १०२
वग्घो वा सप्पो वा सरीरपीडाकरा उ भइयव्वा । नाणं व दंसणं वा चरित्तं(यं) व न पचला भित्तुं ॥१०३॥
भयवंपि थूलभद्दो तिक्खे चंकम्मिओ न उण छिन्नो । अग्गिसिहाए वुत्थो चाउम्मासे न उण दड्ढो १०४
अन्नोऽवि य अणगारो भणमाणोऽहंपि थूलभद्दसमो । कंबलओ चंदणयाइ मइलिओ एगराईए ॥१०५॥

॥१०४॥

१ भित्तिचित्रं न निध्यायेत्, नारीं वा सुवलङ्कृताम् । भास्करमिव दृष्ट्वा दृष्टिं प्रतिसमाहरेत् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७॥

दीप अनुक्रम [६६]

व्याख्या—वृषभपुरं राजगृहं पाटलिपुत्रस्य भवत्युत्पत्तिः, नन्दः शकडालः स्थूलभद्रः सिरियको वररुचिश्च, त्रयाणामनगाराणां अभिग्रह आसीत् 'चउण्हं मासाणं' सुव्व्यत्ययाच्चतुर्षु मासेषु वसतिमात्रनिमित्तं, कः कुत्रोषितः ? निशामयत–गणिकागृह एको, द्वितीय उषितस्तु व्याघ्रवसतौ, सर्पवसतौ तृतीयः, को दुष्करकारकोऽत्र ?, तेषु मध्ये व्याघ्रो वा सर्प्पो वा शरीरपीडाकरौ तु भक्तव्यौ, ज्ञानं वा दर्शनं वा चारित्रं वा न प्रत्यलौ भेत्तुं, भगवानपि स्थूलभद्रः तीक्ष्णे–निशितासिधारादौ चङ्क्रमितो न पुनश्छिन्नः, अग्निशिखायामुषितश्चातुर्मास्यां न पुनर्दग्धः, अन्योऽपि चानगारो भणन्नहमपि स्थूलभद्रसमः कम्बलकश्चन्दनिकायाम्–उच्चारभूमौ मलिनित इति गाथाषट्कार्थः ॥ १००–१०५ ॥ एतदर्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः, स चायम्—

पुंवि खिइप्पइट्ठियं णाम नयरं, तत्थ वत्थुंमि खीणे चणगपुरं णिविट्ठं, ततो उसहपुरं, ततो रायगिहं, ततो चंपा, ततो पाडलिपुत्तं इचाइ भाणियवं जाव सगडाले पंचत्तमुवगते णंदेण सिरितो भणितो–कुमारामच्चत्तणं पडिवज्जाहि, सो भणइ–मम भाया जेट्ठो थूलभद्दो बारसमं वरिसं गणियाघरं पविट्ठस्स, सो सद्दावितो भणइ–चिंतेमि, राया भणइ–

१ पूर्वं क्षितिप्रतिष्ठितं नाम नगरं, तत्र वस्तुनि क्षीणे चणकपुरं निविष्टं, तत ऋषभपुरं, ततो राजगृहं, ततश्चम्पा, ततः पाटलीपुत्रमित्यादि भणितव्यं यावत् शकटाले पञ्चत्वमुपगते नन्देन श्रीयको भणितः–कुमारामात्यत्वं प्रतिपद्यस्व, स भणति–मम भ्राता ज्येष्ठः स्थूलभद्रो द्वादशं वर्षं गणिकागृहं प्रविष्टस्य, स शब्दितो भणति–चिन्तयामि, राजा भणति—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७॥

दीप अनुक्रम [६६]

असोगवणियाए चिंतेहि,सो तत्थ अतिगतो चिंतेति–केरिसं भोगकज्जं वक्खित्ताणं ?, पुणरवि णरगं जातियव्वं होहित्ति, एए णाम परिणामदुस्सहा भोगत्ति पंचमुट्ठियं लोयं काऊण पाऊयं कंबलरयणं छिंदित्ता रओहरणं काउं रण्णो मूलं गतो, एयं चिंतियं, राया भणइ–सुचिंतियं, विणिग्गतो, राया चिंतेइ–पिच्छामि किं कवडत्तणेण गणियाघरं पविस्सइ ण वत्ति? पासायतलगओ पेच्छइ, नवरं मयगकलेवरस्स जणो ओसरइ, मुहाणि य ठएइ, सो मज्झेण गतो, राया भणइ–णिविण्णकामभोगो भगवंति सिरिओ ठावितो। सो संभूयगविजयस्स मूले पव्वतितो, थूलभद्दसामीवि संभूयविजयाणं मूले घोरागारं तवं करेइ, विहरंता पाडलिपुत्तं आगया, तिण्णि अणगारा अभिग्गहे गिण्हंति–एक्को सीहगु-

१ अशोकवनिकायां चिन्तय, स तत्रातिगतश्चिन्तयति–कीदृशं भोगकार्यं व्याक्षिप्तानां ?, पुनरपि नरके यातव्यं भविष्यतीति, एते नाम परिणामदुस्सहा भोगा इति पञ्चमौष्टिकं लोचं कृत्वा प्रावृतं कम्बलरत्नं छित्त्वा रजोहरणं कृत्वा राज्ञो मूलं गतः, एतच्चिन्तितं, राजा भणति—सुचिन्तितं, विनिर्गतः, राजा चिन्तयति—पश्यामि किं कपटेन गणिकागृहं प्रविशति न वेति ?, प्रासादतलगतः प्रेक्षते, नवरं–मृतककलेवरात् जनोऽपसरति, मुखानि च स्थगयति, स मध्येन गतः, राजा भणति—निर्विण्णकामभोगो भगवानिति श्रीयकः स्थापितः। स संभूतविजयस्य मूले प्रव्रजितः, स्थूलभद्रस्वाम्यपि संभूतविजयानां मूले घोराकारं तपः करोति, विहरन्तः पाटलीपुत्रमागताः, त्रयोऽनगारा अभिग्रहान् गृह्णन्ति–एकः सिंहगुहायां,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७॥

दीप अनुक्रम [६६]

हाए, 'तं पेहंतओ सीहो उवसंतो, अन्नो सप्पगुहाए, सोऽवि दिट्ठीविसो उवसंतो, थूलभद्दो कोसाघरे, सा तुट्ठा, परीसहपराजिओ आगओत्ति, भणइ–किं करेमि ?, उज्जाणघरे ठाणं देहि, दिन्नं, रत्तिं सव्वालङ्कारविभूसिया आगया, चाडुयं पकया, सो मंदरोपमो अकंपो, ताहे सब्भावेण पडिसुणेइ, धम्मो कहितो, साविगा जाया, भणति–जति रायवसेणं अन्नेणं समं वसेज्जा, इयरहा बंभचारिणीवयं गिण्हति । ताहे सीहगुहाओ आगओ चत्तारि मासे उववासं काऊणं, आइरिएहिं ईसत्ति अब्भुट्ठिओ, भणिओ य–सागयं दुक्करकारगस्सत्ति, एवं सप्पईत्तोऽवि, थूलभद्दसामी तत्थेव गणियाघरे भिक्खं गिण्हइ, सोऽवि चउमासेसु पुण्णेसु आगतो, आयरिया संभमेण उट्ठिया, भणिओ य–सागयं ते अइदुक्करदुक्करकारगस्सत्ति, ते भणंति दोण्णिवि–पेच्छह आयरिया रागं वहति अमच्चपुत्तोत्ति, बितियए वरिसारत्ते

१ तं प्रेक्षमाणः सिंह उपशान्तः, अन्यः सर्पबिले, सोऽपि दृष्टिविष उपशान्तः, स्थूलभद्रः कोशागृहे, सा तुष्टा, परीषहपराजित आगत इति, भणति–किं करोमि ?, उद्यानगृहे स्थानं देहि, दत्तं, रात्रौ सर्वालङ्कारविभूषिता आगता, चाटु प्रकृता, स मन्दरोपमोऽकम्प्रः, तदा सद्भावेन प्रतिशृणोति, धर्मः कथितः, श्राविका जाता, भणति—यदि राजवशेनान्येन समं वसेयम्, इतरथा ब्रह्मचारिणीव्रतं गृह्णाति। तदा सिंहगुहाया आगतश्चतुरो मासान् उपवासं कृत्वा, आचार्यैरीषदित्यभ्युत्थितः, भणितश्च–स्वागतं दुष्करकारकस्येति, एवं सर्पबिलसत्कोऽपि, स्थूलभद्रस्वामी तत्रैव गणिकागृहे भिक्षां गृह्णाति, सोऽपि चतुर्षु मासेषु पूर्णेषु आगतः, आचार्याः संभ्रमेणोत्थिताः, भणितश्च–स्वागतं तेऽतिदुष्करदुष्करकारकस्येति, तौ भणतो द्वावपि–पश्यत आचार्या रागं वहन्ति अमात्यपुत्र इति, द्वितीये वर्षारात्रे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७॥

दीप अनुक्रम [६६]

सीहगुहाखमणो भणति–गणियाघरं वचामित्ति अभिग्गहं गिण्हइ, आयरिया उवउत्ता, वारिओ, अप्पडिसुणंतो गतो, वसही मग्गिया, दिण्णा, सा सब्भावेण ओरालियसरीरा विभूसिया अविभूसिया वा, सुणति धम्मं, सो तीसे सरीरे अज्झोववन्नो, ओभासइ, सा ण इच्छति, भणति–जति नवरि किंचि देसि, किं देमि ?, सयसहस्सं, सो मग्गिउमारद्धो, णेवालविसये सावतो, जो तहिं जाइ तस्स सयसहस्समुलं कंबलं देइ, तहिं गतो, तेण दिण्णं सहरायाणएणत्ति, एगत्थ चोरेहिं पंथो बद्धो, सउणो वासति–सयसहस्संति, चोरसेणावई जाणइ, नवरि संजयं पेच्छइ, वोलीणो, पुणो वासति–सयसहस्सं गतं, तेण सेणावइणा गंतूण पलोइओ, सब्भावं पुच्छिओ भणति–अत्थि कंवलो, गणिकाए णेमि, मुक्को गतो, तीसे दिण्णो, ताए चंदणिकाए छूढो, सो भणइ–मा विणासेहि, सा

१ सिंहगुहाक्षपणो भणति–गणिकागृहं व्रजामीति अभिग्रहं गृह्णाति, आचार्या उपयुक्ताः, वारितः, अप्रतिशृण्वन् गतः, वसतिर्मार्गिता, दत्ता, सा सद्भावेनोदारशरीरा विभूषिता अविभूषिता वा, शृणोति धर्मं, स तस्याः शरीरेऽध्युपपन्नः, अवभासयति (याचते), सा नेच्छति, भणति–यदि नवरं किञ्चिद्दासि, किं ददामि ?, शतसहस्रं, स मार्गयितुमारब्धः, नेपालविषये श्रावकः यस्तत्र याति तस्मै शतसहस्रमूल्यं कम्बलं ददाति, तत्र गतः, तेन दत्तं श्राद्धेन राज्ञेति, एकत्र चौरैः पन्था बद्धः, शकुनो वासयति–शतसहस्रमिति, चौरसेनापतिर्जानाति, नवरं संयतं प्रेक्षते, वलितः, पुनर्वासयति–शतसहस्रं गतं, तेन सेनापतिना गत्वा प्रलोकितः, सद्भावः पृष्टो भणति–अस्ति कम्बलः, गणिकायै नयामि, मुक्तो गतः, तस्यै दत्तः, तया चन्दनिकायां (वर्चोगृहे) निक्षिप्तः, स भणति–मा विनिनेशः, सा

॥१०६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७॥

दीप अनुक्रम [६६]

भणइ–तुमंपि एरिसओ चेव होहिसि, उवसामेति लद्धबुद्धी, इच्छामि अणुसट्ठिं, गतो, पुणो आलोएत्ता विहरइ। आयरिएणं भणिओ–एवं दुक्करदुक्करकारओ थूलभद्दो पुव्विं खरिका (दुअक्खरिया) इच्छइ, इदाणीं सद्धी जाया, अदिट्ठदोसा तुमे पत्थियत्ति उवालद्धो, एवं चेव विहरंति। सा गणिका रहियस्स रण्णा दिण्णा, तं अकूखाणं जहा णमोक्कारे। जहा थूलभद्देणित्थीपरीसहो अहियासितो तहा अहियासियव्वो, ण उ जहा तेण णो अहियासितोत्ति ॥ अयं चैकत्र वसतस्तथा स्त्रीजनसंसर्गतो मन्दसत्त्वस्य भवति अतो नैकस्थेन भाव्यं, किन्तु चर्यापरीषहः सोढव्य इति तमाह—

एग एव चरे लाढे, अभिभूय परीसहे। गामे वा नगरे वावि, णिगमे वा रायहाणीए ॥ १८ ॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'एक एवे' ति रागद्वेषविरहितः 'चरेत्' अप्रतिबद्धविहारेण विहरेत्, सहायवैकल्यतो वैकस्तथाविधगीतार्थो, यथोक्तम्—"ण यो लभिज्जा णिउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणतो समं वा। एक्कोऽवि पावाइं विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ १ ॥" 'लाढे' त्ति लाढयति प्रासुकैषणीयाहारेण साधुगुणैर्वाऽऽत्मानं यापयतीति

१ भणति—त्वमप्येतादृश एव भविष्यसि, उपशाम्यति लब्धबुद्धिः, इच्छामि अनुशास्तिं, गतः, पुनरालोच्य विहरति। आचार्येण भणितः—एवं दुष्करदुष्करकारकः स्थूलभद्रः पूर्वं व्यक्षरिका इच्छति, इदानीं श्राद्धी जाता, अदृष्टदोषा त्वया प्रार्थितेति उपालब्धः, एवमेव विहरन्ति। सा गणिका रथिकाय राज्ञा दत्ता, तदाख्यानकं यथा नमस्कारे (आवश्यकवृत्तौ)। यथा स्थूलभद्रेण स्त्रीपरिषहोऽध्यासितस्तथाऽध्यासितव्यः, न तु यथा तेन नाध्यासित इति। २ न चापि लभेत निपुणं सहायं, गुणाधिकं वा गुणतः समं वा। एकोऽपि पापानि विवर्जयन्, विहरेत् कामेषु असजन् १

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१८॥

दीप अनुक्रम [६७]

लाढः, प्रशंसाभिधायि वा देशीपदमेतत्, पठ्यते च–'एग एगे चरे लाढं' ति, तत्र चैकः–असहायः प्रतिमाप्रतिपन्नादिः स चैको रागादिवैकल्याद्' 'अभिभूय' निर्जित्य 'परीषहान्' क्षुदादीन्, क्व पुनश्चरेदित्याह—'ग्रामे' चोक्तरूपे 'नगरे वा' करविरहितसन्निवेशे 'अपिः' पूरणे 'निगमे वा' वणिग्निवासे 'राजधान्यां' वा प्रसिद्धायाम्, उभयत्र वाशब्दानुवृत्तेः, मडम्बाद्युपलक्षणं चैतद्, आग्रहाभावं चानेनाहेति सूत्रार्थः ॥ १८ ॥ पुनः प्रस्तुतमेवाह—

असमाणो चरे भिक्खू, नेव कुज्जा परिग्गहं। असंसत्तो गिहत्थेहिं, अनिकेओ परिव्वए ॥१९॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—न विद्यते समानोऽस्य गृहिण्याश्रयामूर्च्छितत्वेन अन्यतीर्थिकेषु वाऽनियतविहारादिनेत्यसमानः–असदृशो, यद्वा समानः–साहङ्कारो न तथेत्यसमानः, अथवा '(अ)समाणो' त्ति प्राकृतत्वादसन्निवासन्, यत्रास्ते तत्राप्यसंनिहित एवेति हृदयं, सन्निहितो हि सर्वैः स्वाश्रयस्योदन्तमावहति अयं तु न तथेत्येवंविधः सन् 'चरेत्, अप्रतिबद्धविहारतया विहरेत् 'भिक्षुः' यतिः, कथमेतत् स्यादित्याह—नैव कुर्यात् 'परिग्रहं' ग्रामादिषु ममत्वबुद्ध्यात्मकम्, अत्राह च–"गामे कुले वा नगरे व देसे, ममत्तभावं ण कहिंचि कुज्जा", इदमपि यथा स्यात्तथाह—'असंसक्तः' असम्बद्धो 'गृहस्थैः' गृहिभिः 'अनिकेतः' अविद्यमानगृहो, नैकत्र बद्धास्पदः, 'परिव्रजेत्' सर्वतो विहरेत्, न (ना) नियतदेशादौ गृहिसम्पर्कः, एकत्र बद्धास्पदत्वे नियतदेशादिविहारितायां वा स्यादपि ममत्वबुद्धिः, तदभावे

१ ग्रामे कुले वा नगरे वा देशे, ममत्वभावं न कुत्रचित्कुर्यात्।

॥१०७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१९॥

दीप अनुक्रम [६८]

तु निरवकाशैवेयमिति भाव इति सूत्रार्थः ॥ १९ ॥ अत्र च शिष्यद्वारमनुसरन् 'असमाणो चरे' इत्यादिसूत्रसूचितमुदाहरणमाह—

कोल्लयरे वत्थव्वो दत्तो सीसो अ हिंडओ तस्स । उवहरइ धाइपिंडं अंगुलिजलणा य सादिवं ॥१०६॥

व्याख्या—'कोल्लयरे' कुल्लयरनाम्नि नगरे वास्तव्यः, आचार्य इति शेषः, दत्तः शिष्यश्च हिण्डकः तस्य उपहरति धात्रीपिण्डमङ्गुलिज्वलनाच्च सादेव्यमिति गाथाक्षरार्थः ॥ १०६ ॥ भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः, स चायम्—कोल्लयरे नयरे वत्थव्वा सङ्गमथेरा आयरिया, दुब्भिक्खे तेहिं संजया विसज्जिया,तं णगरं णवभागे काऊण जंघाबलपरिहीणा विहरन्ति, णगरदेवया य तेसिं किर उवसंता, तेसिं सीसो दत्तो नामं आहिंडितो, चिरेणं कालेणं उदंतवाहतो आगतो, सो तेसिं पडिस्सयं ण पविट्ठो णिययावासत्ति, भिक्खवेलाए उवग्गाहियं हिंडंताणं संकिलिस्सति, कुंढो सड्ढकुलाइं ण दावेइत्ति, तेहिं णायं, एगत्थ सिट्ठिकुले रेवतियाए गहियतो दारतो, छम्मासा रोवंतस्स, आइरिएहिं चप्पुडिया

१ कोल्लकेर नगरे वास्तव्याः संगमस्थविरा आचार्याः, दुर्भिक्षे तैः संयता विसृष्टाः, तन्नगरं नव भागान् कृत्वा परिक्षीणजङ्घाबला विहरन्ति, नगरदेवता च तेषु किलोपशान्ता, तेषां शिष्यो दत्तो नामाहिण्डकः, चिरेण कालेनोदन्तवाहक आगतः, स तेषां प्रतिश्रयं न प्रविष्टो नित्यवास इति, भिक्षावेलायामौपग्रहिकं हिण्डमानयोः संक्लिश्यति, कुण्टः श्राद्धकुलानि न दर्शयतीति, तैर्ज्ञातम्, एकत्र श्रेष्ठिकुले रेवतिकया गृहीतो दारकः, षण्मासा रुदतः, आचार्यैश्चप्पुटिका

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१९॥

दीप अनुक्रम [६८]

कया, मा रोवत्ति, वाणमंतरीए मुक्को, तेहिं तुट्ठेहिं पडिलाहिया जहिच्छिएणं, सो विसज्जितो, एयाणि कुलाणित्ति, आयरिया सुचिरं हिंडिऊण अंतपंतं गहाय आगया, समुद्दिट्ठा, आवस्सए आलोयणाए आलोएहि, भणति–तुब्भेहिं समं हिंडिओ मि, धाईपिंडो ते भुत्तो, भणति–अह सुहमाइं पिच्छहत्ति पदुट्ठो, देवयाए अद्धरत्ते वासं अंधकारो य विगुव्वितो, एसो हीलेइत्ति, आयरिएहिं भणिओ–अतीहित्ति, सो भणइ–अंधकारोत्ति, आयरिएहिं अंगुली दाइया, सा पज्जलिया, आउट्टो आलोएइ, आयरियावि से णवभागे कहेंति ॥ ततश्च यथा महात्मभिरमीभिः सङ्गमस्थविरैरश्र्यापरीषहोऽध्यासितः तथान्यैरपि अध्यासितव्य इति ॥ यथा चायं ग्रामादिष्वप्रतिबद्धेनाधिसह्यते एवं नैषेधिकीपरीषहोऽपि शरीरादिष्वप्रतिबद्धेनाधिसहनीय इति तमाह—

सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले य एगओ। अकुक्कुए निसीएज्जा, न य वित्तासए परं ॥२०॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—शबानां शयनमस्मिन्निति श्मशानं तस्मिन्–पितृवने, (पा० ५–१–२) श्वभ्यो हितमिति वाक्ये

१ कृता–मा रोदिहीति, व्यन्तर्या मुक्तः, तैस्तुष्टैः प्रतिलम्भिता यथेप्सितेन, स विसृष्टः, एतानि कुलानीति, आचार्याः सुचिरं हिण्डित्वाऽन्तप्रान्तं गृहीत्वा आगताः, भुक्ताः, आवश्यके आलोचनायामालोचय, भणति–युष्माभिः समं हिण्डितोऽस्मि, धात्रीपिण्डस्त्वया भुक्तः, भणति–अथ सूक्ष्माणि प्रेक्षध्वमिति प्रद्विष्टः, देवतया अर्धरात्रे वर्षा अन्धकारं च विकुर्विते, एष हीलतीति, आचार्यैर्भणितः–आयाहीति, स भणति—अन्धकारमिति, आचार्यैरङ्गुलिर्दर्शिता, सा प्रज्वलिता, आवृत्त आलोचयति, आचार्या अपि तस्मै नव भागान् कथयन्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२०॥

दीप अनुक्रम [६९]

'उगवादिभ्यो यदि'त्यत्र (पा० ५–१–२) 'शुनः संप्रसारणं वा दीर्घत्व'मिति (वार्त्तिकं ५–१–२) वचनतो यति संप्रसारणे दीर्घत्वे च शून्यम्–उद्वसं तच्च तत् अगारं च शून्यागारं तस्मिन्वा, वृश्च्यते इति वृक्षः तस्य मूलं–अधोभूभागो वृक्षमूलं तस्मिन्वा, 'एकः' उक्तरूपः स एवैककः, एको वा प्रतिमाप्रतिपत्त्यादौ गच्छतीत्येकगः, एकं वा कर्म्मसाहित्य-विगमतो मोक्षं गच्छति–तत्प्राप्तियोग्यानुष्ठानप्रवृत्तेर्यातीत्येकगः, 'अकुक्कुचः' अशिष्टचेष्टारहितो 'निषीदेत्' तिष्ठेत्, 'न च' नैव वित्रासयेत् 'परम्' अन्यं, किमुक्तं भवति ?–'पंडिमं पडिवज्जिया मसाणे, णो भायए भयभेरवाइं दिस्स । विविहगुणतवोरए य णिच्चं, ण सरीरं चाभिकंखए सभिक्खू ॥ १ ॥' इत्यागममनुस्मरन् श्मशानादावप्येककोऽप्य-नेकभयानकोपलम्भेऽपि न स्वयं संबिभीयात्, न च विकृतस्वरमुखविकारादिभिरन्येषां भयमुत्पादयेत्, यद्वा 'अकु-क्कुए' त्ति अकुत्कुचः कुन्थ्वादिविराधनाभयात्कर्मबन्धहेतुत्वेन कुत्सितं हस्तपादादिभिरस्पन्दमानो निषीदेत्, न च 'वित्रासयेत्' विक्षोभयेत् ' परम् ' उन्दूरादि, मा भूदसंयम इति सूत्रार्थः ॥ २० ॥ तत्र च तिष्ठतः कदाचिदुप-सर्गोत्पत्तौ यत् कृत्यं तदाह—

तत्थ से चिट्ठमाणस्स, उवसग्गेऽभिधारए । संकाभीओ न गच्छेज्जा, उट्ठित्ता अण्णमासणं ॥२१॥(सूत्रम्)

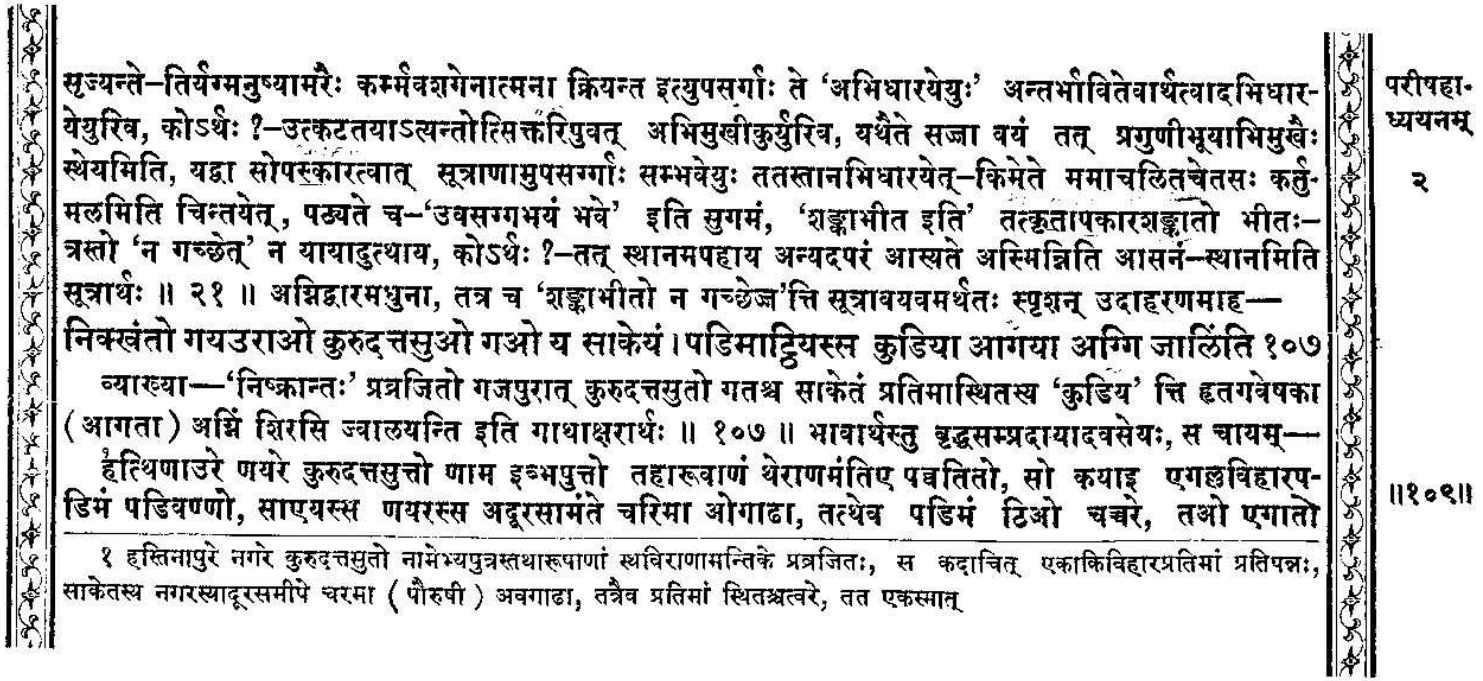
व्याख्या—'तत्र' इति श्मशानादौ 'से' तस्य तिष्ठतः, पठ्यते च–'अच्छमाणस्स' त्ति आसीनस्य उप–सामीप्येन

१ प्रतिमां प्रतिपद्य श्मशाने न बिभेति भयभैरवाणि दृष्ट्वा । विविधगुणतपोरतश्च नित्यं न शरीरं चाभिकाङ्क्षते स भिक्षुः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२१॥

दीप अनुक्रम [७०]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥१०९॥

सृज्यन्ते–तिर्यग्मनुष्यामरैः कर्म्मवशगेनात्मना क्रियन्त इत्युपसर्गाः ते 'अभिधारयेयुः' अन्तर्भावितेवार्थत्वादभिधारयेयुरिव, कोऽर्थः ?–उत्कटतयाऽत्यन्तोत्सिक्तैरिपुवत् अभिमुखीकुर्युरिव, यथैते सज्जा वयं तत् प्रगुणीभूयाभिमुखैः स्थेयमिति, यद्वा सोपस्कारत्वात् सूत्राणामुपसर्गाः सम्भवेयुः ततस्तानभिधारयेत्–किमेते ममाचलितचेतसः कर्तुमलमिति चिन्तयेत्, पठ्यते च–'उवसग्गभयं भवे' इति सुगमं, 'शङ्काभीत इति' तत्कृतापकारशङ्कातो भीतः–त्रस्तो 'न गच्छेत्' न यायादुत्थाय, कोऽर्थः ?–तत् स्थानमपहाय अन्यदपरं आस्ते अस्मिन्निति आसनं–स्थानमिति सूत्रार्थः ॥ २१ ॥ अग्निद्वारमधुना, तत्र च 'शङ्काभीतो न गच्छेज्ज'त्ति सूत्रावयवमर्थतः स्पृशन् उदाहरणमाह—

निक्खंतो गयउराओ कुरुदत्तसुओ गओ य साकेयं। पडिमाट्ठियस्स कुडिया आगया अग्गि जालिंति १०७

व्याख्या—'निष्क्रान्तः' प्रव्रजितो गजपुरात् कुरुदत्तसुतो गतश्च साकेतं प्रतिमास्थितस्य 'कुडिय' त्ति हृतगवेषका (आगता) अग्निं शिरसि ज्वालयन्ति इति गाथाक्षरार्थः ॥ १०७ ॥ भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः, स चायम्—

हत्थिणाउरे णयरे कुरुदत्तसुत्तो णाम इब्भपुत्तो तहारूवाणं थेराणमंतिए पव्वतितो, सो कयाइ एगल्लविहारपडिमं पडिवण्णो, साएयस्स णयरस्स अदूरसामंते चरिमा ओगाढा, तत्थेव पडिमं ठिओ चच्चरे, तओ एगातो

१ हस्तिनापुरे नगरे कुरुदत्तसुतो नामेभ्यपुत्रस्तथारूपाणां स्थविराणामन्तिके प्रव्रजितः, स कदाचित् एकाकिविहारप्रतिमां प्रतिपन्नः, साकेतस्य नगरस्यादूरसमीपे चरमा (पौरुषी) अवगाढा, तत्रैव प्रतिमां स्थितश्चत्वरे, तत एकस्मात्

परीषहाध्ययनम् २

॥१०९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२२॥

दीप अनुक्रम [७१]

गामातो गावितो हिरियातो, तेण ओगासेण णीयातो, जाव मग्गमाणा कुढिया आगया, जाव साहू दिट्ठो, तत्थ दुवे पंथा, पच्छा ते ण जाणंति–कयरेण मग्गेण णीयातो ?, ते साहुं पुच्छंति–कयरेण मग्गेण णीयाओ ?, ताहे सो भगवं न वाहरति, तेहिं रुट्ठेहिं न वाहरतित्तिकाऊण तस्स सीसे मट्टियाए पालिं बंधिऊण चियागते अंगारे घेत्तूण सीसे छूढा, गया य, सो भगवं सम्मं सहइ ॥ तेन स यथा सम्यक् सोढो नैषिधिकीपरीषहः तथाऽन्यैरपि साधुभिः सहनीय इति ॥ नैषेधिकीतश्च स्वाध्यायादि कृत्वा शय्यां प्रति निवर्त्तेतातस्तत्परीषहमाह—

उच्चावयाहिं सिज्जाहिं, तवस्सी भिक्खू थामवं। णाइवेलं विहण्णिज्जा, पावदिट्ठी विहण्णइ ॥२२॥(सूत्रम्)

व्याख्या—ऊर्द्धं चिता उच्चा, उपलिप्ततलाद्युपलक्षणमेतत्, यद्वा शीतातपनिवारकत्वादिगुणैः शय्यान्तरोपरिस्थितत्वेनोच्चाः, तद्विपरीतास्त्वेवचाः, अनयोर्द्वन्द्वे उच्चावचाः, नानाप्रकारा वोच्चावचास्ताभिः 'शय्याभिः' वसतिभिः 'तपस्वी' प्रशस्ततपोऽन्वितो, भिक्षुः प्राग्वत्, 'स्थामवान्' शीतातपादिसहनं प्रति सामर्थ्यवान् 'नातिवेलं' स्वाध्यायादिवेलातिक्रमेण 'विहन्यात्' हनर्गतावपि वृत्तेरत्राहं शीतादिभिरभिभूत इति स्थानान्तरं गच्छेत्, यद्वा 'अतिवेलाम्'

१ ग्रामात् गावो हृताः, तेनावकाशेन नीताः, यावन्मार्गयमाणा हृतगवेषका आगताः, यावत्साधुर्दृष्टः, तत्र द्वौ पन्थानौ, पश्चात्ते न जानन्ति–कतरेण मार्गेण नीताः, ते साधुं पृच्छन्ति–कतरेण मार्गेण नीताः ?, तदा स भगवान् न व्याहरति, तै रुष्टैर्न व्याहरतीतिकृत्वा तस्य शीर्षे मृत्तिकया पालीं बद्ध्वा चितागतानङ्गारान् गृहीत्वा (ते) शीर्षे क्षिप्ताः, गताश्च, स भगवान् सम्यक् सहते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२३॥

दीप अनुक्रम [७२]

अन्यसमयातिशायिनीं मर्यादां–समतारूपामुचां शय्यामवाप्याहो ! सभाग्योऽहं यस्येदृशी सकलदुःसुखोत्पादिनी मम शय्येति अवचावासौ वा अहो ! मम मन्दभाग्यता येन शय्यामपि शीतादिनिवारिकां न लभे इति हर्षविषादादिना 'न विहन्यात्' नोल्लङ्घयेत्, किमित्येवमुपदिश्यत इत्याह–'पावदिट्ठी विहन्नइ' त्ति प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ २२ ॥ किं पुनः कुर्यादित्याह—

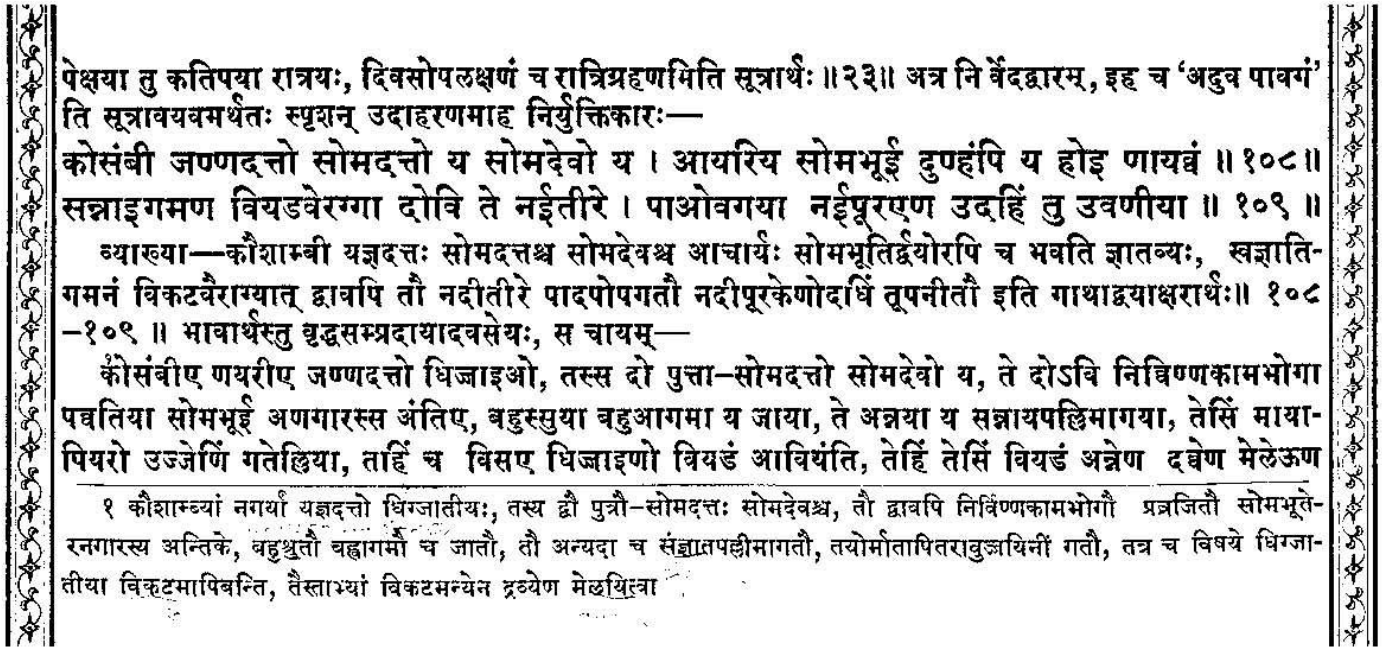
पइरिक्कमुवस्सयं लद्धुं, कल्लाणं अदुव पावगं। किमेगरायं करिस्सइ ?, एवं तत्थऽहियासए ॥२३॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'पइरिकं' स्त्र्यादिविरहितत्वेन विविक्तमव्याबाधं वा 'उपाश्रयं' वसतिं 'लब्ध्वा' प्राप्य 'कल्याणं' शोभनम् 'अदुव'त्ति अथवा 'पापं' पांशूत्करकीर्णत्वादिभिरशोभनं, किं ?, न किञ्चित्, सुखं दुःखं चेति गम्यते, एकारात्रिर्यत्र तदेकरात्रं 'करिष्यति' विधास्यति ? कल्याणः पापको वोपाश्रय इति प्रक्रमः, कोऽभिप्रायः ?–केचित् पुरोपचितसुकृता विविधमणिकिरणोद्योतितासु महाधनसमृद्धासु महारजतरजतोपचितभित्तिषु मणिनिर्मितोरुस्तम्भासु तदितरे तु जीर्णविशीर्णभग्नकटकस्थूणापटलसंवृतद्वारासु तृणकचवरतुषमूषकोत्करपांशुबुसभस्मविण्मूत्रावसङ्कीर्णासु श्वनकुलमार्जारमूत्रप्रसेकदुर्गन्धिष्वाजन्म वसतिषु वसन्ति, मम त्वद्यैवेयमीदृशी श्वोऽन्या भविष्यतीति किमत्र हर्षेण विषादेन वा ?, मया हि धर्मनिर्वाहाय विविक्तत्वमेवाश्रयस्यान्वेष्यं, किमपरेण ?, 'एवमि'त्यमुना प्रकारेण 'तत्र' ति कल्याणे पापके वाऽऽश्रये 'अध्यासीत' सुखं दुःखं वाऽधिसहेत, प्रतिमाकल्पिकापेक्षं चैकरात्रमिति, स्थविरकल्पिका-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२३॥

दीप अनुक्रम [७२]



पेक्षया तु कतिपया रात्रयः, दिवसोपलक्षणं च रात्रिग्रहणमिति सूत्रार्थः ॥२३॥ अत्र निर्वेदद्वारम्, इह च 'अदुव पावगं' ति सूत्रावयवमर्थतः स्पृशन् उदाहरणमाह निर्युक्तिकारः—

कोसंबी जण्णदत्तो सोमदत्तो य सोमदेवो य । आयरिय सोमभूई दुण्हंपि य होइ णायव्वं ॥ १०८ ॥
सन्नाइगमण वियडवेरग्गा दोवि ते नईतीरे । पाओवगया नईपूरएण उदहिं तु उवणीया ॥ १०९ ॥

व्याख्या—कौशाम्बी यज्ञदत्तः सोमदत्तश्च सोमदेवश्च आचार्यः सोमभूतिर्द्वयोरपि च भवति ज्ञातव्यः, स्वज्ञातिगमनं विकटवैराग्यात् द्वावपि तौ नदीतीरे पादपोपगतौ नदीपूरकेणोदधिं तूपनीतौ इति गाथाद्वयाक्षरार्थः॥ १०८–१०९ ॥ भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः, स चायम्—

कोसंबीए णयरीए जण्णदत्तो धिज्जाइओ, तस्स दो पुत्ता–सोमदत्तो सोमदेवो य, ते दोऽवि निव्विण्णकामभोगा पव्वतिया सोमभूई अणगारस्स अंतिए, बहुस्सुया बहुआगमा य जाया, ते अन्नया य सन्नायपल्लिमागया, तेसिं मायापियरो उज्जेणिं गतेल्लिया, ताहिं च विसए धिज्जाइणो वियडं आवियंति, तेहिं तेसिं वियडं अन्नेण दव्वेण मेलेऊण

१ कौशाम्ब्यां नगर्यां यज्ञदत्तो धिग्जातीयः, तस्य द्वौ पुत्रौ–सोमदत्तः सोमदेवश्च, तौ द्वावपि निर्विण्णकामभोगौ प्रव्रजितौ सोमभूतेरनगारस्य अन्तिके, बहुश्रुतौ बह्वागमौ च जातौ, तौ अन्यदा च संज्ञातपल्लीमागतौ, तयोर्मातापितरावुज्जयिनीं गतौ, तत्र च विषये धिग्जातीया विकटमापिबन्ति, तैस्ताभ्यां विकटमन्येन द्रव्येण मेलयित्वा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२४॥

दीप अनुक्रम [७३]

दिण्णं, केऽवि भणंति–वियडं चेव अयाणंताण दिण्णं, तेहिवि य तं विसेसं अयाणमाणेहिं पीयं, पच्छा वियडत्ता जाया, ते चिंतेंति–अम्हेहिं अजुत्तं कयं, पमाओ एस, वरं भत्तं पच्चक्खायंति ते एगाए णदीए तीरे तीसे कट्ठाण उवरिं पाओवगया, तत्थ अकाले वरिसं जायं, पूरो य आगतो, हरिया, वुज्झमाणा य उदएण समुद्दं णीया। तेहिं समं अहियासियं, अहाउयं पालियं, सेज्जापरीसहो अहियासितो समविसमाहिं सेज्जाहिं। एवं एसो अहियासियव्वोत्ति ॥ शय्यास्थितस्य तदुपद्रवेऽप्युदासीनस्य तथाविधशय्यातरोऽन्यो वा कश्चिदाक्रोशेदतस्तत्परीषहमाह—

अक्कोसेज्ज परो भिक्खुं, न तेसिं पइ संजले। सरिसो होई बालाणं, तम्हा भिक्खू न संजले ॥२४॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'अक्कोसेज्ज' त्ति आक्रोशेत्–तिरस्कुर्यात् 'परः' अन्यो धर्मापेक्षया धर्मबाह्य आत्मव्यतिरिक्तो वा 'भिक्षुं' यतिं, यथा धिग्मुण्ड ! किमिह त्वमागतोऽसीति ?, 'न तेसिं' ति सुपो वचनस्य च व्यत्ययान्न तस्मै 'प्रतिसञ्वलेत्' निर्यातने प्रतिभूतश्चाक्रोशदानतः सञ्वलते, तन्निर्यातनार्थं देहदाहलौहित्यप्रत्याक्रोशाभिघातादिभिरग्नि-

१ दत्तं, केचिद्भणन्ति–विकटमेव अजानानाभ्यां दत्तं, ताभ्यामपि च तद्विशेषमजानानाभ्यां पीतं, पश्चाद्विकटार्त्तौ जातौ, तौ चिन्तयतः –आवाभ्यामयुक्तं कृतं, प्रमाद एषः, वरं भक्तं प्रत्याख्यातमिति तावेकस्या नद्यास्तीरे तस्याः काष्ठानामुपरि पादपोपगतौ, तत्राकाले वर्षा जाता, पूरश्चागतः, हृतौ उह्यमानौ चोदकेन समुद्रं नीतौ । ताभ्यां सम्यगध्यासितं, यथायुष्कं पालितं, शय्यापरीषहोऽध्यासितः समविषमाभिः शय्याभिः, एवमेषोऽध्यासितव्य इति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२४॥

दीप अनुक्रम [७३]

वन्न दीप्येत, सज्वलनकोपमपि न कुर्यादिति सज्वलेदित्युपादानं, किमेवमुपदिश्यत इत्याह–'सदृशः' समानो भवति, सज्वलन्निति प्रक्रमः, केषां !–'बालानाम्' अज्ञानां, तथाविधक्षपकवत्, यथा–कश्चित् क्षपको देवतया गुणैरावर्जितया सततमभिवन्द्यते, उच्यते च–मम कार्यमावेदनीयम्, अन्यदैकेन धिग्जातिना सह योद्धुमारब्धः, तेन च बलवता क्षुत्क्षामशरीरो भुवि पातितः ताडितश्च, रात्रौ देवता वन्दितुमायाता, क्षपकस्तूष्णीमास्ते, ततश्चासौ देवतयाऽभिहितो–भगवन् ! किं मयाऽपराद्धं ?, स प्राह–न तस्य त्वया दुरात्मनो ममापकारिणः किञ्चित्कृतं, सा चावादीत्–न मया विशेषः कोऽप्युपलब्धो यथाऽयं श्रमणोऽयं च धिग्जातिरिति, यतः कोपाविष्टौ द्वावपि समानौ सम्पन्नाविति, ततः सती प्रेरणेति प्रतिपन्नं क्षपकेणेति। उक्तमेवार्थं निगमयितुमाह–'तम्ह' त्ति यस्मात्सदृशो भवति बालानां तस्माद्भिक्षुर्न सज्वलेदिति सूत्रार्थः ॥ २४ ॥ कृत्योपदेशमाह—

सोच्चा णं फरुसा भासा,दारुणे गामकंटए। तुसिणीओ उवेक्खिज्जा, ण ताओ मणसी करे ॥२५॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'श्रुत्वा' आकर्ण्य, णमिति वाक्यालङ्कारे 'परुषाः' कर्कशाः 'भाषा' गिरो दारयन्ति मन्दसत्त्वानां संयमविषयां धृतिमिति दारुणाः ताः, ग्रामः–इन्द्रियग्रामस्तस्य कण्टका इव ग्रामकण्टकाः–प्रतिकूलशब्दादयः, कण्टकत्वं चैषां दुःखोत्पादकत्वेन मुक्तिमार्गप्रवृत्तिविघ्नहेतुतया च, तदेकदेशत्वेन परुषभाषा अपि तथोक्ताः, भाषाविशेषणत्वेऽपि चात्राविष्टलिङ्गत्वात्पुँल्लिङ्गता, 'तूष्णीकः' तूष्णीशीलो न कोपात् प्रतिपरुषभाषी, एवंविधश्च

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२५॥

दीप अनुक्रम [७४]

'जो सहइ हु गामकंटए अक्कोसपहारतज्जणाओ य' त्ति इत्यागमं परिभावयन् 'उपेक्षेत' अवधीरयेत्, प्रक्रमात्परुष-भाषा एव, कथमित्याह–न ता मनसि कुर्यात्, तद्भाषिणि द्वेषाकरणेनेति भाव इति सूत्रार्थः ॥ २५ ॥ इदानीं मुद्गरद्वारं व्याचिख्यासुः 'सुचा ण'न्ति सूत्रसूचितमुदाहरणमाह—

रायगिहि मालगारो अज्जुणओ तस्स भज्ज खंदसिरी। मुग्गरपाणी गोट्ठी सुदंसणो वंदओ णीइ ॥ ११० ॥

व्याख्या—राजगृहे मालाकारोऽर्जुनकस्तस्य भार्या स्कन्दश्रीः मुद्गरपाणिर्यक्षो गोष्ठी सुदर्शनो वन्दको 'निरेति'–वन्दनार्थं निर्गच्छतीति गाथाक्षरार्थः ॥ ११० ॥ भावार्थस्तु सम्प्रदायादवगम्यः, स चायम्—

रायगिहे णयरे अज्जुणगो नाम मालागारो परिवसति, तस्स भज्जा खंदसिरी णामा, तस्स रायगिहस्स णयरस्स बहिया मोग्गरपाणी नाम जक्खे अज्जुणगस्स कुलदेवयं, तस्स मालागारस्स आरामस्स पन्थे चेव जक्खो। अन्नया खंदसिरी भत्तं तस्स भत्तारस्स णेउं गया, अग्गाइं पुप्फाइं घेत्तुं घरं गच्छति, मोग्गरपाणिघरए य ट्ठियाए दुल्ललि-

१ यः सहते ग्रामकण्टकान् आक्रोशप्रहारान् तर्जनाश्च। २ राजगृहे नगरे अर्जुनो नाम मालाकारः परिवसति, तस्य भार्या स्कन्दश्रीर्नाम्नी, तस्माद्राजगृहान्नगराद्बहिर्मुद्गरपाणिर्नाम यक्षः अर्जुनस्य कुलदेवता, तस्य मालाकारस्य आरामस्य पथि चैव यक्षः। अन्यदा स्कन्दश्रीः भक्तं तस्मै भर्त्रे नेतुं गता, अग्राणि पुष्पाणि गृहीत्वा गृहं गच्छति, मुद्गरपाणिगृहे च स्थितायां दुर्ललितायां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२५॥

दीप अनुक्रम [७४]

याए गोट्ठीएहिं छहिं जणेहिं दिट्ठा, ते भणंति–एसा अज्जुणमालागारस्स भज्जाऽपडिरूवा, गिण्हामो णं, तेहिं सा गहिया, छवि जणा तस्स जक्खस्स पुरतो भोगे भुंजंति, सोऽवि मालागारो णिच्चकालमेव अग्गेहिं वरेहिं पुप्फेहिं जक्खं अच्चेइ, अच्चिउकामो ततो आगच्छइ, ताए ते भणिया–एसो मालागारो आगच्छति तो तुब्भे मए किं विसज्जेहिह ?, तेहिं णायं–एयाए पियं, तेहिं भणियं–मालागारं बंधामो, तेहिं सो बद्धो अवहोडेण, जक्खस्स पुरतो बंधिऊण पुरतो चेव से भारियं भुंजंति, सा य तस्स भत्तारस्स मोहुप्पाइयाइं इत्थिसद्दाइं करेइ, पच्छा सो मालागारो चिंतेति–एयं अहं जक्खं णिच्चकालमेव अग्गेहिं वरेहिं पुप्फेहिं अच्चेमि, तहावि अहं एयस्स पुरतो चेव एवं कीरामि, जइ एत्थ कोइ जक्खो होंतो तो अहं न कीरंतो, एवं सुवत्तं एयं कट्ठं णत्थि एत्थ कोइ मोग्गरपाणी जक्खो, ताहे सो जक्खो अणुकंपंतो

१ गोष्ठीकैः षड्भिर्जनैर्दृष्टा, ते भणन्ति–एषाऽर्जुनमालाकारस्य भार्याऽप्रतिरूपा, गृह्णीम एतां, तैः सा गृहीता, षडपि जनास्तस्य यक्षस्य पुरतो भोगान् भुञ्जन्ति, सोऽपि मालाकारो नित्यकालमेवाग्रैर्वरैः पुष्पैर्यक्षमर्चति, अर्चितुकामस्तत आगच्छति, तया ते भणिताः–एष मालाकार आगच्छति तत् यूयं मां किं विसृजत, तैर्ज्ञातम्—एतस्याः प्रियं, तैर्भणितं–मालाकारं बध्नीमः, तैः स बद्धोऽवस्फोटकेन, यक्षस्य पुरतो बद्ध्वा पुरत एव तस्य भार्यां भुञ्जन्ति, सा च तस्य भर्तुर्मोहोत्पादकानि स्त्रीशब्दानि करोति, पश्चात् स मालाकारश्चिन्तयति—एनमहं यक्षं नित्यकालमेव अग्रैर्वरैः पुष्पैरर्चयामि, तथाप्यहमेतस्य पुरत एवैवं क्रम्यामि, यद्यत्र कोऽपि यक्षोऽभविष्यत्तदाऽहं नाक्रमिष्यम्, एवं सुव्यक्तमेतत् काष्ठं, नास्यत्र कोऽपि मुद्गरपाणिर्यक्षः, तदा स यक्षोऽनुकम्पयन्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२५॥

दीप अनुक्रम [७४]

मालागारस्स सरीरमणुपविट्ठो, तडतडस्स बंधे छेत्तूण लोहमयं पलसहस्सनिप्फन्नं मोग्गरं गहाय अण्णाइट्ठो समाणो ते छप्पि इत्थिसत्तमे पुरिसे घाएति, एवं दिणे दिणे छ इत्थिसत्तमे पुरिसे घाएमाणे विहरइ, जणवतोऽवि रायगिहातो णगरातो ण ताव णिग्गच्छइ जाव सत्त घातियाइं। तेणं कालेणं तेणं समएणं भगवं महावीरे समोसरिए, जाव सुदंसणो सेट्ठी वंदतो णीइ, अज्जुणएण दिट्ठो, सागारपडिमं ठिओ, न तरइ अक्कमिउं, परिपेरंतेहि भमित्ता परिसंतो, अज्जुणतो सुदंसणं अणमिसाए दिट्ठीए अवलोएइ, जक्खोऽवि मोग्गरं गहाय पडिगओ, पडितो अज्जुणतो, उट्ठिओ य तं पुच्छइ–कहिं गच्छसि ?, भणइ–सामिं वंदिउं, सोऽवि गतो, धम्मं सोचा पव्वतितो। रायगिहे

१ मालाकारस्य शरीरमनुप्रविष्टः, त्रटत्रटदितिबन्धान् छित्त्वा लोहमयं सहस्रपलनिष्पन्नं मुद्गरं गृहीत्वा अन्याविष्टः (परायत्तः) सन् तान् षडपि स्त्रीसप्तमान् पुरुषान् घातयति, एवं दिने दिने षट् स्त्रीसप्तमान् पुरुषान् घातयन् विचरति, जनपदोऽपि राजगृहात् नगरान्न तावन्निर्गच्छति यावत्सप्त घातितानि। तस्मिन् काले तस्मिन् समये भगवान् महावीरः समवसृतः, यावत् सुदर्शनः श्रेष्ठी वन्दको निरेति, अर्जुनेन दृष्टः, साकारप्रतिमां स्थितः, न शक्नोत्याक्रमितुं, परिपर्यन्तेषु भ्रान्त्वा परिश्रान्तः, अर्जुनः सुदर्शनमनिमेषया दृष्ट्या अवलोकयति, यक्षोऽपि मुद्गरं गृहीत्वा प्रतिगतः, पतितोऽर्जुनः, उत्थितश्च तं पृच्छति—क्व गच्छसि ?, भणति स्वामिनं वन्दितुं, सोऽपि गतः, धर्मं श्रुत्वा प्रव्रजितः, राजगृहे

॥११३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२६॥

दीप अनुक्रम [७५]

भिक्खं हिंडंतो सयणमारगोत्ति लोएणं अक्कोसिज्जइ णाणापगारेहिं अक्कोसेहिं, सो सम्मं सहइ, सहंतस्स केवलणाणं समुप्पण्णं ॥ एवमन्यैरपि साधुभिः आक्रोशपरीषहः सोढव्यः ॥ कश्चिदाक्रोशमात्रेणातुष्यन्नधमाधमो वधमपि विदध्यादिति वधपरीषहमाह—

हओ ण संजले भिक्खू, मणंपि णो पउस्सए। तितिक्खं परमं णच्चा, भिक्खुधम्ममंमि चिंतए ॥२६॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'हतः' यष्ट्यादिभिः ताडितो 'न सञ्ज्वलेत्' कायतः कम्पनप्रत्याहननादिना वचनतश्च प्रत्याक्रोशदानादिना भृशं ज्वलन्तमिवात्मानं नोपदर्शयेत्, भिक्षुः 'मनः' चित्तं तदपि 'न प्रदूषयेत्' न कोपतो विकृतं कुर्वीत, किन्तु 'तितिक्षां' क्षमां–'धर्मस्य दया मूलं न चाक्षमावान् दयां समाधत्ते। तस्माद्यः क्षान्तिपरः स साधयत्युत्तमं धर्मम् ॥ १ ॥' इत्यादिवचनतः 'परमां' धर्मसाधनं प्रति प्रकर्षवतीं 'ज्ञात्वा' अवगम्य 'भिक्षुधर्मे' यतिधर्मे, यद्वा भिक्षुधर्मे क्षान्त्यादिकं वस्तुस्वरूपं वा चिन्तयेत्, यथा–क्षमामूल एव मुनिधर्मः, अयं चास्मन्निमित्तं कर्म्मोपचिनोति, अस्मद्दोष एवायम्, अतो नेमं प्रति कोप उचित इति सूत्रार्थः ॥ २६ ॥ अमुमेव प्रकारान्तरेणाह—

समणं संजयं दंतं, हणिणजा कोऽवि कत्थवि। नत्थि जीवस्स नासुत्ति, ण तं पेहे असाहुवं ॥२७॥(सूत्रम्)

१ भिक्षां हिण्डमानः स्वजनमारक इति लोकेनाक्रोश्यते नानाप्रकारैराक्रोशैः स सम्यक् सहते, सहमानस्य केवलज्ञानं समुत्पन्नम्।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२७॥

दीप अनुक्रम [७६]

व्याख्या—'समणं' श्रमणं सममनसं वा—तथाविधवधेऽपि धर्मं प्रति प्रहितचेतसं, श्रमणश्च शाक्यादिरपि स्यादित्याह–'संयतं' पृथ्व्यादिव्यापादननिवृत्तं, सोऽपि कदाचिल्लाभादिनिमित्तं बाह्यवृत्त्यैव सम्भवेदत आह—'दान्तम्' इन्द्रियनोइन्द्रियदमेन 'हन्यात्' ताडयेत्, 'कोऽपि' इति तथाविधोऽनार्यः 'कुत्रापि' ग्रामादौ, तत्र किं विधेयमित्याह–नास्ति 'जीवस्य' आत्मन उपयोगरूपस्य 'नाशः' अभावः, तत्पर्यायविनाशरूपत्वेन हिंसाया अपि तत्र तत्राभिधानाद्, 'इती'त्यस्माद्धेतोः न 'त'मिति घातकं प्रेक्षेत असाधुमर्हति यत्प्रेक्षणं भ्रुकुटिभङ्गादियुक्तं तदसाधुवत्, किन्तु रिपुजयं प्रति सहायोऽयमितिधिया साधुवदेव प्रेक्षेतेति भावः, अथवा अपेक्ष्यमानत्वान्न तं प्रेक्षेतापि असाधुना तुल्यं वर्त्तते इति असाधुवत्, किं पुनरपकारायोपतिष्ठेत् संक्लिश्नाति वा ?, असाधुर्हि सत्यां शक्तौ प्रत्यपकारायोपतिष्ठते असत्यां तु विकृतया दृशा पश्यति सङ्क्लेशं वा कुरुत इत्येवमभिधानं, पठ्यते च–'न य पेहे असाधुयं' ति चकारस्यापिशब्दार्थस्य भिन्नक्रमत्वात् प्रेक्षेतापि न–चिन्तयेदपि न, काम् ?–'असाधुतां' तदुपरि द्रोहस्वभावतां, पठन्ति च–'एवं पेहिज्ज संजतो' इति सूत्रार्थः ॥ २७ ॥ अधुना वण्णेत्ति द्वारं, तत्र 'हतो न सञ्ज्वलेदि' त्यादि सूत्रमर्थतः स्पृशन्नुदाहरणमाह—

सावत्थी जियसत्तू धारणि देवी य खंदओ पुत्तो। धूआ पुरंदरजसा दत्ता सा दंडईरण्णो ॥ १११ ॥
मुणिसुव्वयंतेवासी खंदगपमुहा य कुंभकारकडे। देवी पुरंदरजसा दंडइ पालग मरूए य ॥ ११२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२७॥

दीप अनुक्रम [७६]

पंचसया जंतेणं वहिआ उ पुरोहिएण रुट्ठेणं । रागद्दोसतुलग्गं समकरणं चिंतयंतेहिं ॥ ११३ ॥

व्याख्या—श्रावस्ती जितशत्रुर्धारिणी देवी च स्कन्दकः पुत्रो दुहिता पुरन्दरयशा दत्ता सा दण्डकिराजाय, मुनिसुव्रतान्तेवासिनः स्कन्दकप्रमुखाश्च कुम्भकारकटे देवी पुरन्दरयशा दण्डकिः पालकः मरुकश्च पञ्च शतानि यन्त्रेण घातितानि तुः पूरणे पुरोहितेन रुष्टेन पालकेन रागद्वेषयोस्तुलाग्रमिव–तदनभिभाव्यत्वेन रागद्वेषतुलाग्रं 'समकरणं' माध्यस्थ्यपरिणामं भावयद्भिः, स्वकार्यं साधितमिति शेषः, इति गाथात्रयाक्षरार्थः ॥१११–११२–११३॥ भावार्थस्तु सम्प्रदायादवसेयः, स चायम्—

सावत्थीए नयरीए जियसत्तू राया, धारिणी देवी, तीसे पुत्तो खंदओ णाम कुमारो, तस्स भगिणी पुरंदरजसा, सा कुंभकारकडे नयरे दंडगी नाम राया तस्स दिन्ना, तस्स य दंडकिस्स रण्णो पालगो णाम मरुतो पुरोहितो । अन्नया सावत्थीए मुणिसुव्वयसामी तित्थयरो समोसरिओ, परिसा निग्गया, खंदतोऽवि निग्गतो, धम्मं सोच्चा सावगो जाओ ।

१ श्रावस्त्यां नगर्यां जितशत्रू राजा, धारिणी देवी, तस्याः पुत्रः स्कन्दको नाम कुमारः, तस्य भगिनी पुरन्दरयशाः, सा कुम्भकारकटे नगरे दण्डकी नाम राजा तस्मै दत्ता, तस्य च दण्डकिनो राज्ञः पालको नाम ब्राह्मणः पुरोहितः । अन्यदा श्रावस्त्यां मुनिसुव्रतस्वामी तीर्थकरः समवसृतः, पर्षन्निर्गता, स्कन्दकोऽपि निर्गतः, धर्मं श्रुत्वा श्रावको जातः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२७॥

दीप अनुक्रम [७६]

अन्नया सो पालकमरुतो दूयत्ताए आगतो सावत्थिं नयरिं, अत्थाणिमज्झे साहूणं अवण्णं वयमाणो खंदएणं निप्पिट्ठपसिणवागरणो कतो, पतोसमावण्णो, तप्पभिइं चेव खंदगस्स छिद्दाणि चारपुरिसेहिं मग्गाविंतो विहरइ, जाव खंदगो पंचजणसएहिं कुमारोलग्गएहिं सद्धिं मुणिसुव्वयसामिसगासे पव्वतितो, बहुसुतो जातो, ताणि चेव से पंच सयाणि सीसत्ताए अणुण्णायाणि । अन्नया खंदओ सामिमापुच्छइ–वच्चामि भगिणीसगासं, सामिणा भणियं–उवसग्गो मारणंतितो, भणइ–आराहगा विराहगा वा ?, सामिणा भणियं–सव्वे आराहगा तुमं मोत्तुं, सो भणइ–लट्ठं, जदि एत्तिया आराहगा, गओ कुंभकारकडं, मरुएण जहिं उज्जाणे ठिओ तहिं आउहाणि णूमियाणि, राया वुग्गाहिओ–जहा एस कुमारो परीसहपराइतो एएण उवाएण तुमं मारित्ता रज्जं गिण्हिहित्ति, जदि ते विपच्चतो

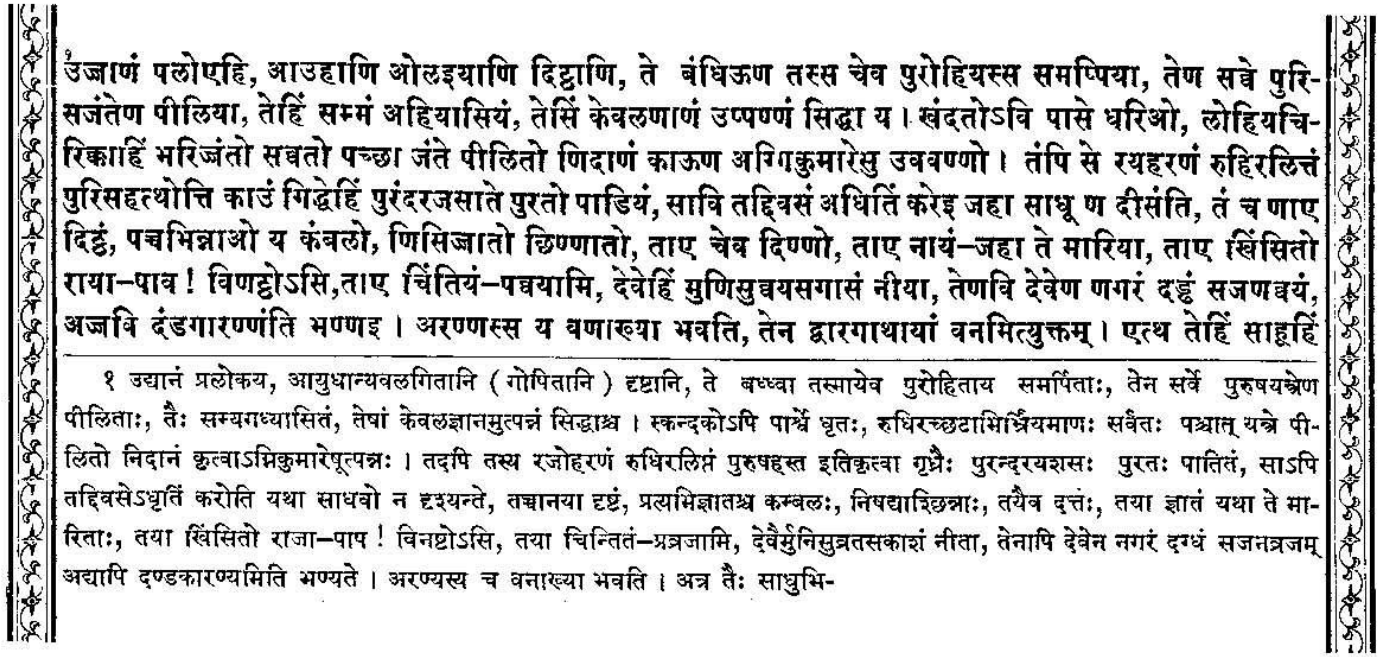
१ अन्यदा स पालको ब्राह्मणो दूततायै आगतः श्रावस्तीं नगरीम्, आस्थानिकामध्ये साधूनामवर्णं वदन् स्कन्दकेन निष्पृष्टप्रश्नव्याकरणः कृतः, प्रद्वेषमापन्नः, तत्प्रभृत्येव स्कन्दकस्य छिद्राणि चारपुरुषैर्मार्गयन् विहरति, यावत्स्कन्दकः पञ्चभिर्जनशतैः कुमारावलगकैः सार्धं मुनिसुव्रतस्वामिसकाशे प्रव्रजितः, बहुश्रुतो जातः, तान्येव पञ्च शतानि तस्मै शिष्यतयाऽनुज्ञातानि । अन्यदा स्कन्दकः स्वामिनमापृच्छति—व्रजामि भगिनीसकाशं, स्वामिना भणितम्—उपसर्गो मारणान्तिकः, भणति—आराधका विराधका वा ?, स्वामिना भणितं–सर्वे आराधकास्त्वां मुक्त्वा, स भणति–लष्टं, यद्येतावन्त आराधकाः, गतः कुम्भकारकटं, मरुकेण यत्रोद्याने स्थितः तत्रायुधानि गोपितानि, राजा व्युद्ग्राहितः–यथैष कुमारः परीषहपराजित एतेनोपायेन त्वां मारयित्वा राज्यं ग्रहीष्यतीति, यदि तव विप्रत्ययः

॥११५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२७॥

दीप अनुक्रम [७६]



उज्जाणं पलोएहि, आउहाणि ओलइयाणि दिट्ठाणि, ते बंधिऊण तस्स चेव पुरोहियस्स समप्पिया, तेण सव्वे पुरिसजंतेण पीलिया, तेहिं सम्मं अहियासियं, तेसिं केवलणाणं उप्पण्णं सिद्धा य। खंदतोऽवि पासे धरिओ, लोहियचिरिकाहिं भरिज्जंतो सव्वतो पच्छा जंते पीलितो णिदाणं काऊण अग्गिकुमारेसु उववण्णो। तंपि से रयहरणं रुहिरलित्तं पुरिसहत्थोत्ति काउं गिद्धेहिं पुरंदरजसाते पुरतो पाडियं, सावि तद्दिवसं अधिर्तिं करेइ जहा साधू ण दीसंति, तं च णाए दिट्ठं, पचभिन्नाओ य कंबलो, णिसिज्जातो छिण्णातो, ताए चेव दिण्णो, ताए नायं–जहा ते मारिया, ताए खिंसितो राया–पाव! विणट्ठोऽसि,ताए चिंतियं–पव्वयामि, देवेहिं मुणिसुव्वयसगासं नीया, तेणवि देवेण णगरं दड्ढं सजणवयं, अज्जवि दंडगारण्णंति भण्णइ। अरण्णस्स य वणारुया भवति, तेन द्वारगाथायां वनमित्युक्तम्। एत्थ तेहिं साहूहिं

१ उद्यानं प्रलोकय, आयुधान्यवलगितानि (गोपितानि) दृष्टानि, ते बध्ध्वा तस्मायेव पुरोहिताय समर्पिताः, तेन सर्वे पुरुषयन्त्रेण पीलिताः, तैः सम्यगध्यासितं, तेषां केवलज्ञानमुत्पन्नं सिद्धाश्च। स्कन्दकोऽपि पार्श्वे धृतः, रुधिरच्छटाभिर्भ्रियमाणः सर्वतः पश्चात् यन्त्रे पीलितो निदानं कृत्वाऽग्निकुमारेषूत्पन्नः। तदपि तस्य रजोहरणं रुधिरलिप्तं पुरुषहस्त इतिकृत्वा गृध्रैः पुरन्दरयशसः पुरतः पातितं, साऽपि तद्दिवसेऽधृतिं करोति यथा साधवो न दृश्यन्ते, तच्चानया दृष्टं, प्रत्यभिज्ञातश्च कम्बलः, निषद्याश्छिन्नाः, तयैव दत्तः, तया ज्ञातं यथा ते मारिताः, तया खिंसितो राजा–पाप! विनष्टोऽसि, तया चिन्तितं–प्रव्रजामि, देवैर्मुनिसुव्रतसकाशं नीता, तेनापि देवेन नगरं दग्धं सजनव्रजम् अद्यापि दण्डकारण्यमिति भण्यते। अरण्यस्य च वनाख्या भवति। अत्र तैः साधुभि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२८॥

दीप अनुक्रम [७७]

वैधपरीसहो अहियासितो सम्मं, एवं अहियासेयव्वं, ण जहा खंधएण णाहियासियं ॥ परैरभिहतस्य च तथाविधौषधादि ग्रासादि च सदोपयोगि यतेर्याचितमेव भवतीति याच्ञापरीषहमाह—

दुक्करं खलु भो ! णिच्चं, अणगारस्स भिक्खुणो। सव्वं से जाइयं होइ, नत्थि किंचि अजाइयं ॥२८॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—दुःखेन क्रियत इति दुष्करं–दुरनुष्ठानं, खलुर्विशेषणे निरुपकारिण इति विशेषं द्योतयति, 'भो' इत्यामन्त्रणे 'नित्यं' सर्वकालं, यावज्जीवमित्यर्थः, अनगारस्य भिक्षोरिति च प्राग्वत्, किं तत् दुष्करमित्याह–यत् 'सर्वम्' आहारोपकरणादि 'से' तस्य याचितं भवति, नास्ति 'किञ्चिद्' दन्तशोधनाद्यपि अयाचितं, ततः सर्वस्यापि वस्तुनो याचनमिति गम्यमानेन विशेष्येण दुष्करमित्यस्य सम्बन्ध इति सूत्रार्थः ॥ २८ ॥ ततश्च—

गोयरग्गपविट्ठस्स, हत्थे नो सुप्पसारए। सेओ अगारवासोत्ति, इइ भिक्खू न चिंतए ॥२९॥(सूत्रम्)

व्याख्या—गोरिव चरणं गोचरो, यथाऽसौ परिचितापरिचितविशेषमपहायैव प्रवर्त्तते तथा साधुरपि भिक्षार्थं, तस्याग्र्यं–प्रधानं यतोऽसौ एषणायुक्तो गृह्णाति न पुनर्गौरिव यथा कथञ्चित्, तस्मिन् प्रविष्टो गोचराग्रप्रविष्टः तस्य, 'पाणिः' हस्तो 'नो' नैव सुखेन प्रसार्यते पिण्डादिग्रहणार्थं प्रवर्त्तत इति सुप्रसारः स एव सुप्रसारकः, कथं हि नि-

१ वैधपरीषहोऽध्यासितः सम्यक्, एवमध्यासितव्यं, न यथा स्कन्दकेन नाध्यासितम्।

॥११६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२९॥

दीप अनुक्रम [७८]

रुपकारिणा परः प्रतिदिनं प्रणयितुं शक्यः, उत्तरत्रेतिशब्दस्य भिन्नक्रमत्वाद् 'इती'त्यस्माद्धेतोः 'श्रेयान्' अतिशयप्रशस्यः 'अगारवासो' गार्हस्थ्यं, तत्र हि न कश्चिद्याच्यते, स्वभुजार्जितं च दीनादिभ्यः संविभज्य भुज्यते, 'इती'त्येतद्भिक्षुः न चिन्तयेद्, यतो गृहवासो बहुसावद्यो निरवद्यवृत्त्यर्थं च तत्परित्यागः, ततः स्वयंपचनादिप्रवृत्तेभ्यो गृहिभ्यः पिण्डादिग्रहणं न्याय्यमिति भाव इति सूत्रार्थः ॥२९॥ साम्प्रतं रामद्वारं, तत्र 'दुक्करं खलु भो ! णिच्चं' इति सूत्रमर्थतः स्पृशन्नुदाहरणमाह—

जायणपरीसहंमि बलदेवो इत्थ होइ आहरणं ।

व्याख्या—याच्ञापरीषहे बलदेवोऽत्र भवत्याहरणम्–उदाहरणम् । अत्र सम्प्रदायः—

जया सो वासुदेवसवं वहंतो सिद्धत्थेणं पडिबोहिओ कण्हस्स सरीरगं सक्कारेउं कयसामातितो लिंगं पडिवज्जिउं तुंगीसिहरे तवं तप्पमाणो भाणेण–कहिं भिक्खाण भिक्खट्ठं अल्लीसं ?, तेण कट्ठाहाराईण भिक्खं गिण्हइ, न गामं नयरं वा अल्लियति । तेण सो णाहियासितो जायणापरीसहो, एवं न कायव्वं, । अन्ने भणंति–बलदेवस्स भिक्खं

१ णोऽपरतः .... क्यम् २ यदा स वासुदेवशवं वहन् सिद्धार्थेन प्रतिबोधितः कृष्णस्य शरीरकं सत्कार्यं (संस्कृत्य) कृतसामायिको लिङ्गं प्रतिपद्य तुङ्गिशिखरे तपः तपन् मानेन–क भूत्वान् भिक्षार्थमाश्रयिष्ये ?, तेन काष्ठाहारकादिभ्यो भिक्षां गृह्णाति, न ग्रामं नगरं वाऽऽश्रयते । तेन स नाध्यासितो याचनापरीषहः, एवं न कर्तव्यम् । अन्ये भणन्ति–बलदेवस्य भिक्षां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३०॥

दीप अनुक्रम [७९]

भमंतस्स बहुओ जणो तस्स रूवेणावक्खित्तो ण किंचि अन्नं जाणइ, तच्चित्तो चेव चिट्ठइ, तेण सो न हिंडइ गामागरादि, जहागयपहियाहिंतो चेव भिक्खं जायतित्ति, एस जायणापरीसहो पसत्थो ॥ एवं शेषसाधुभिरपि याच्यापरीषहः सोढव्यः ॥ याच्याप्रवृत्तश्च कदाचिल्लाभान्तरायदोषतो न लभेतापीत्यलाभपरीषहमाह—

परेसु गासमेसिज्जा, भोयणे परिणिट्ठिए । लद्धे पिंडे अलद्धे[2] दविरिज्जा, अलद्धे नाणुतप्पए ॥३०॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'परेषु' इति गृहस्थेषु 'ग्रासं' कवलम्, अनेन च मधुकरवृत्तिमाह, 'एषयेद्' गवेषयेत्, भुज्यत इति भोजनम्–ओदनादि तस्मिन् 'परिनिष्ठिते' सिद्धे, मा भूत्प्रथमगमनात्तदर्थं पाकादिप्रवृत्तिः, ततश्च 'लब्धे' गृहिभ्यः प्राप्ते 'पिण्डे' आहारे 'अलब्धे वा' अप्राप्ते वा नानुतप्येत संयतः, तद्यथा–अहो! ममाधन्यता यदहं न किञ्चिल्लभे, उपलक्षणत्वाल्लब्धे वा लब्धिमानहमिति न हृष्येत्, यद्वा लब्धेऽप्यल्पेऽनिष्टे वा सम्भवत्येवानुताप इति सूत्रार्थः॥३०॥ किमालम्बनमालम्ब्य नानुतप्येतेत्याह—

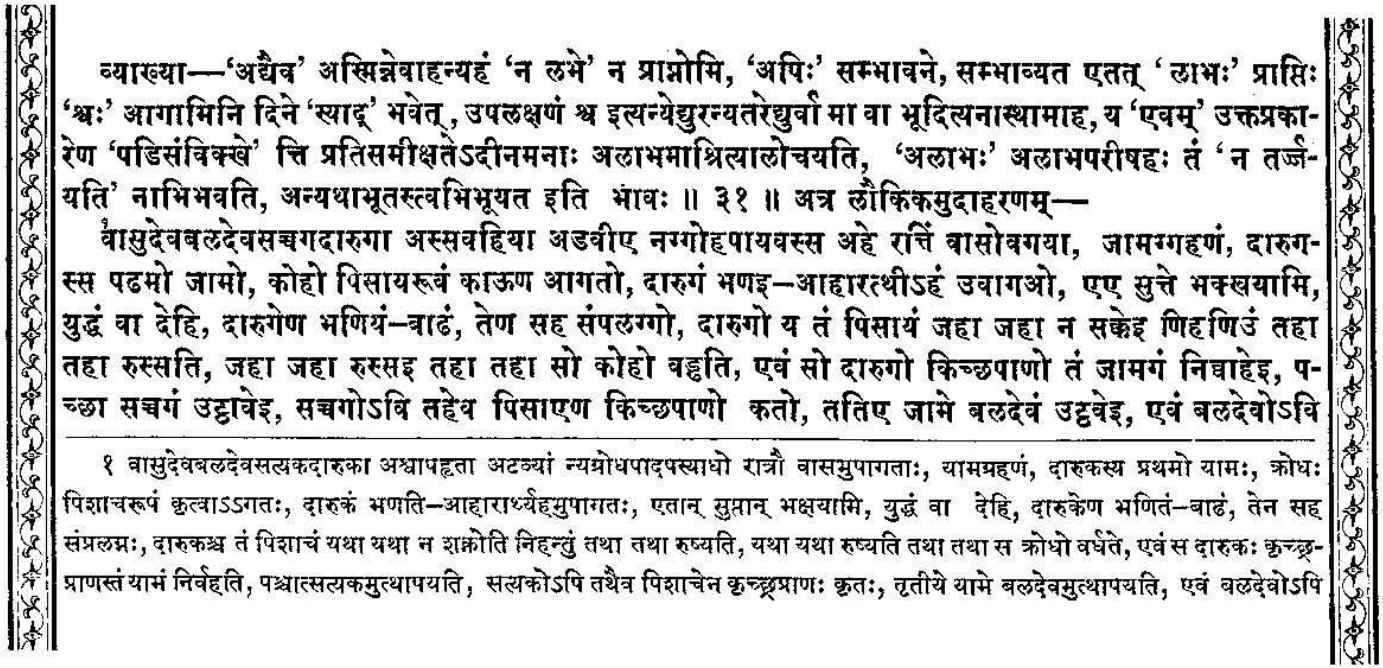
अज्जेवाहं ण लब्भामि, अवि लाभो सुए सिया । जो एवं पडिसंविक्खे, अलाभो तं न तज्जए॥३१॥(सूत्रम्)

१ भ्राम्यतो बहुर्जनस्तस्य रूपेणाक्षिप्तः न किञ्चिदन्यत् जानाति, तच्चित्तश्चैव तिष्ठति, तेन स न हिण्डते ग्रामाकरादिषु, यथागतपथिकादिभ्य एव भिक्षां याचते इति, एष याचनापरीषहः प्रशस्तः । २ अलद्धे वा नाणुतप्पेज्ज संजए (टीका)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३१॥

दीप अनुक्रम [८०]



व्याख्या—'अद्यैव' अस्मिन्नेवाहन्यहं 'न लभे' न प्राप्नोमि, 'अपिः' सम्भावने, सम्भाव्यत एतत् 'लाभः' प्राप्तिः 'श्वः' आगामिनि दिने 'स्याद्' भवेत्, उपलक्षणं श्च इत्यन्येद्युरन्यतरेद्युर्वा मा वा भूदित्यनास्थामाह, य 'एवम्' उक्तप्रकारेण 'पडिसंविक्खे' त्ति प्रतिसमीक्षतेऽदीनमनाः अलाभमाश्रित्यालोचयति, 'अलाभः' अलाभपरीषहः तं 'न तर्जयति' नाभिभवति, अन्यथाभूतस्त्वभिभूयत इति भावः ॥ ३१ ॥ अत्र लौकिकमुदाहरणम्—

वासुदेवबलदेवसच्चगदारुगा अस्सवहिया अडवीए नग्गोहपायवस्स अहे रत्तिं वासोवगया, जामग्गहणं, दारुगस्स पढमो जामो, कोहो पिसायरूवं काऊण आगतो, दारुगं भणइ—आहारत्थीऽहं उवागओ, एए सुत्ते भक्खयामि, युद्धं वा देहि, दारुगेण भणियं—बाढं, तेण सह संपलग्गो, दारुगो य तं पिसायं जहा जहा न सक्केइ णिहणिउं तहा तहा रुस्सति, जहा जहा रुस्सइ तहा तहा सो कोहो वड्ढति, एवं सो दारुगो किच्छपाणो तं जामगं निव्वाहेइ, पच्छा सच्चगं उट्ठावेइ, सच्चगोऽवि तहेव पिसाएण किच्छपाणो कतो, ततिए जामे बलदेवं उट्ठवेइ, एवं बलदेवोऽवि

१ वासुदेवबलदेवसत्यकदारुका अश्वापहृता अटव्यां न्यग्रोधपादपस्याधो रात्रौ वासमुपागताः, यामग्रहणं, दारुकस्य प्रथमो यामः, क्रोधः पिशाचरूपं कृत्वाऽऽगतः, दारुकं भणति—आहारार्थ्यहमुपागतः, एतान् सुप्तान् भक्षयामि, युद्धं वा देहि, दारुकेण भणितं—बाढं, तेन सह संप्रलग्नः, दारुकश्च तं पिशाचं यथा यथा न शक्नोति निहन्तुं तथा तथा रुष्यति, यथा यथा रुष्यति तथा तथा स क्रोधो वर्धते, एवं स दारुकः कृच्छ्रप्राणस्तं यामं निर्वहति, पश्चात्सत्यकमुत्थापयति, सत्यकोऽपि तथैव पिशाचेन कृच्छ्रप्राणः कृतः, तृतीये यामे बलदेवमुत्थापयति, एवं बलदेवोऽपि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३१॥

दीप अनुक्रम [८०]

चउत्थे जामे वासुदेवं उट्ठवेइ, वासुदेवो तेण पिसाएण तहेव भणितो, वासुदेवो भणति–मं अणिज्जिउं कहं मम सहाए खाहिसि ?, जुद्धं लग्गं, जहा जहा जुज्झइ पिसाओ तहा तहा वासुदेवो अहो बलसंपुण्णो अयं मल्लो इति तूसए, जहा जहा तूसए तहा तहा पिसाओ परिहायति, सो तेण एवं खविओ जेण घेत्तुं उयट्टीए छूढो, पभाए पस्सए ते भिन्नजाणुकोप्परे, केणंति पुट्ठा भणंति–पिसाएण, वासुदेवो भणति–स एस कोवो पिसायरूवधारी मया पसंतयाए जितो, उयट्टिणीए णीणेऊण दरिसिओ । इति सूत्रार्थः ॥ सम्प्रति 'पुरे'तिद्वारं, 'पुरा' इति पूर्वस्मिन् काले कृतं कर्मेति गम्यते, तत्र च 'णाणुतप्पेज्ज संजएत्ति' सूत्रावयवमर्थतः स्पृशन्नुदाहरणमाह—

किसिपारासरढंढो अलाभए होइ आहरणं ॥ ११४ ॥

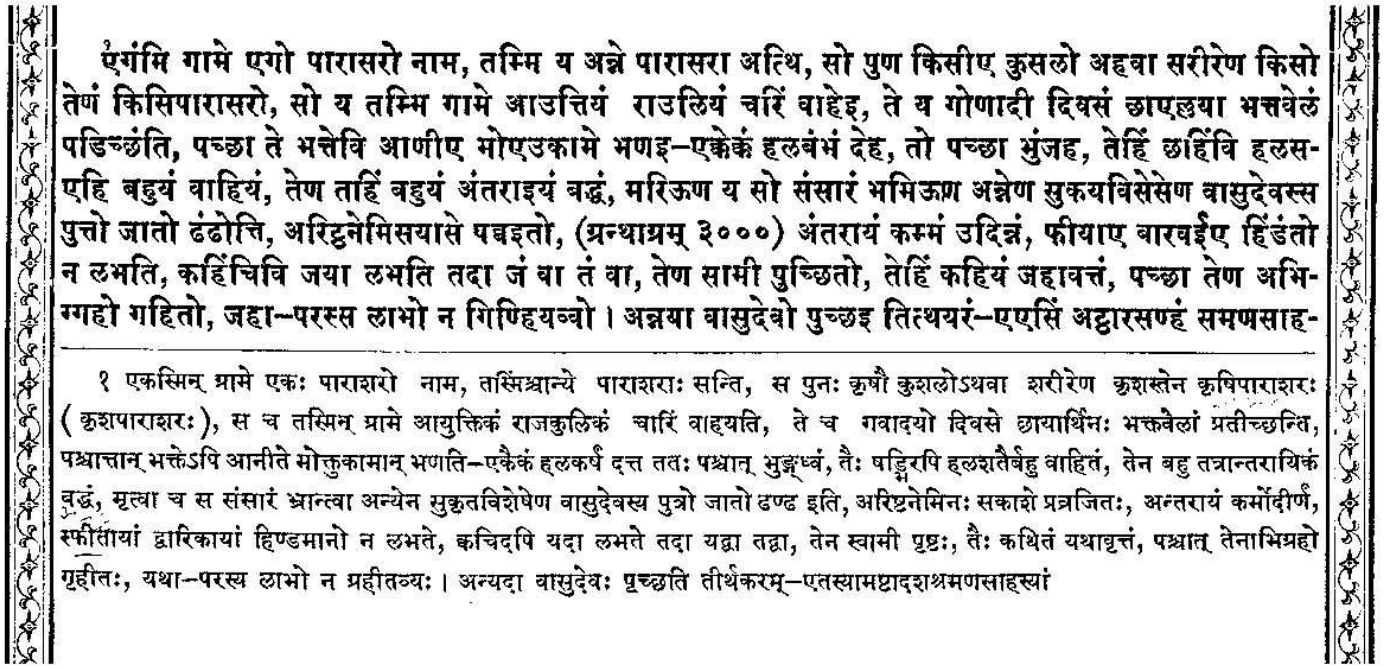
व्याख्या—कृषिप्रधानः पारासरः कृषिपारासरो जन्मान्तरनाम्ना 'ढण्ढ' इति ढण्ढणकुमारः 'अलाभके' अलाभपरीषहे भवत्याहरणमिति गाथापश्चार्द्धाक्षरार्थः । भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः, स चायम्—

१ चतुर्थे यामे वासुदेवमुत्थापयति, वासुदेवस्तेन पिशाचेन तथैव भणितः, वासुदेवो भणति–मामनिर्जित्य कथं मम सहायान् भक्षयिष्यसि ?, युद्धं लग्नं, यथा यथा युध्यते पिशाचस्तथा तथा वासुदेवः अहो बलसंपन्नोऽयं मल्ल इति तुष्यति, यथा यथा तुष्यति तथा तथा पिशाचः परिहीयते, स तेनैवं क्षपितः येन गृहीत्वा कक्ष्यां (जङ्घायां) क्षिप्तः, प्रभाते तान् भिन्नजानुकूर्परान् पश्यति, केनेति पृष्टा भणन्ति–पिशाचेन, वासुदेवो भणति–स एष कोपः पिशाचरूपधारी मया प्रशान्ततया जितः, जङ्घाया निष्काश्य दर्शितः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३१॥

दीप अनुक्रम [८०]



एगंमि गामे एगो पारासरो नाम, तम्मि य अन्ने पारासरा अत्थि, सो पुण किसीए कुसलो अहवा सरीरेण किसो तेणं किसिपारासरो, सो य तम्मि गामे आउत्तियं राउलियं चारिं वाहेइ, ते य गोणादी दिवसं छाएल्लया भत्तवेलं पडिच्छंति, पच्छा ते भत्तेवि आणीए मोएउकामे भणइ–एक्केकं हलबंभं देह, तो पच्छा भुंजह, तेहिं छहिंवि हलसएहि बहुयं वाहियं, तेण तहिं बहुयं अंतराइयं बद्धं, मरिऊण य सो संसारं भमिऊण अन्नेण सुकयविसेसेण वासुदेवस्स पुत्तो जातो ढंढोत्ति, अरिट्ठनेमिसयासे पव्वइतो, (ग्रन्थाग्रम् ३०००) अंतरायं कम्मं उदिन्नं, फीयाए बारवईए हिंडंतो न लभति, कहिंचिवि जया लभति तदा जं वा तं वा, तेण सामी पुच्छितो, तेहिं कहियं जहावत्तं, पच्छा तेण अभिग्गहो गहितो, जहा–परस्स लाभो न गिण्हियव्वो। अन्नया वासुदेवो पुच्छइ तित्थयरं–एएसिं अट्ठारसण्हं समणसाह-

१ एकस्मिन् ग्रामे एकः पाराशरो नाम, तस्मिंश्चान्ये पाराशराः सन्ति, स पुनः कृषौ कुशलोऽथवा शरीरेण कृशस्तेन कृषिपाराशरः (कृशपाराशरः), स च तस्मिन् ग्रामे आयुक्तिकं राजकुलिकं चारिं वाहयति, ते च गवादयो दिवसे छायार्थिनः भक्तवेलां प्रतीच्छन्ति, पश्चात्तान् भक्तेऽपि आनीते मोक्तुकामान् भणति–एकैकं हलकर्षं दत्त ततः पश्चात् भुङ्क्ष्वं, तैः षड्भिरपि हलशतैर्बहु वाहितं, तेन बहु तत्रान्तरायिकं बद्धं, मृत्वा च स संसारं भ्रान्त्वा अन्येन सुकृतविशेषेण वासुदेवस्य पुत्रो जातो ढण्ढ इति, अरिष्टनेमिनः सकाशे प्रव्रजितः, अन्तरायं कर्मोदीर्णं, स्फीतायां द्वारिकायां हिण्डमानो न लभते, क्वचिदपि यदा लभते तदा यद्वा तद्वा, तेन स्वामी पृष्टः, तैः कथितं यथावृत्तं, पश्चात् तेनाभिग्रहो गृहीतः, यथा–परस्य लाभो न ग्रहीतव्यः। अन्यदा वासुदेवः पृच्छति तीर्थकरम्–एतस्यामष्टादशश्रमणसाहस्र्यां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३१॥

दीप अनुक्रम [८०]

स्सीणं को दुक्करकारतो ?, तेहिं भणियं, जहा–ढंढो अणगारो, अलाभपरीसहो कहिओ, सो कहिं?, सामी भणइ–णगरिं पविसंतो पेच्छिहिसि, दिट्ठो पविसंतेणं, हत्थिखंधाओ ओवरिऊण वंदिओ, सो य इक्केण इब्भेण दिट्ठो, जहा महप्पा एस जो वासुदेवेण वंदितो, सो य तं चेव घरं पविट्ठो, तेण परमाए सद्धाए मोयगेहिं पडिलाभितो, भमिऊण सामिस्स दावइ पुच्छइ य–जहा मम अलाभपरीसहो खीणो ?, पच्छा सामिणा भण्णति–ण खीणो, एस वासुदेवस्स लाभो, तेण परलाभं न उवजीवामित्तिकाउं अमुच्छियस्स परिट्ठवितस्स केवलणाणं समुप्पण्णं । एवं अहियासियव्वो अलाभपरीसहो जहा ढंढेण अणगारेण ॥ अलाभाद्यान्तप्रान्ताशिनां कदाचिद्रोगाः समुत्पद्येरन्निति रोगपरीषहमाह—

णच्चा उप्पइयं दुक्खं, वेदणाए दुहट्टिए । अदीणो ठावए पण्णं, पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥३२॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'ज्ञात्वा' अधिगम्य 'उत्पत्तिकम्' उद्भूतं, दुःखयति इति दुःखः प्रस्तावात् ज्वरादिरोगस्तं 'वेदनया'

---

१ को दुष्करकारकः !, तैर्भणितं यथा–ढण्ढणोऽनगारः, अलाभपरीषहः कथितः, स क ?, स्वामी भणति–नगरीं प्रविशन् प्रेक्षयिष्यसे, दृष्टः प्रविशता, हस्तिस्कन्धादवतीर्य वन्दितः, स चैकेनेभ्येन दृष्टो, यथा महात्मैष यो वासुदेवेन वन्दितः, स च तदेव गृहं प्रविष्टः, तेन परमया श्रद्धया मोदकैः प्रतिलम्भितः, भ्रान्त्वा स्वामिने दर्शयति, पृच्छति च–यथा ममालाभपरीषहः क्षीणः ?, पश्चात् स्वामिना भण्यते–न क्षीणः, एष वासुदेवस्य लाभः, तेन परलाभं नोपजीवामीतिकृत्वाऽमूर्छितस्य परिष्ठापयतः केवलज्ञानं समुत्पन्नम्। एवमध्यासितव्योऽलाभपरीषहो यथा ढण्ढेनानगारेण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [८१]

स्फोटपृष्ठग्रहाद्यनुभवरूपया दुःखेनार्त्तः–पीडितः क्रियते स्म दुःखार्त्तितः, एवंविधोऽपि 'अदीनः' अविक्लवः 'स्थापयेत्' दुःखार्त्तितत्वेन चलन्तीं स्थिरीकुर्यात् 'प्रज्ञां' स्वकर्म्मफलमेवैतदिति तत्त्वधियं, 'स्पृष्ट' इत्यपेर्लुप्तनिर्दिष्टत्वात् व्यासोऽपि राजमन्दादिभिः, यद्वा पुष्ट इव पुष्टो व्याधिभिरविक्लवतया 'तत्रेति' प्रज्ञास्थापने सति रोगोत्पाते वा'अध्यासीत' अधिसहेत, प्रक्रमाद्रोगजनितदुःखमिति सूत्रार्थः ॥ ३२ ॥ स्यादेतत्–चिकित्सया किं न तदपनोदः क्रियते ? इत्याह—

तेगिच्छं नाभिनंदिज्जा, संचिक्खऽत्तगवेसए। एयं खु तस्स सामण्णं, जं न कुज्जा न कारवे ॥३३॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'चिकित्सां' रोगप्रतिकाररूपां 'नाभिनन्देत्' नानुमन्येत, अनुमतिनिषेधाच्च दूरापास्ते करणकारणे, 'समीक्ष्य' स्वकर्मफलमेवैतत् भुज्यत इति पर्यालोच्य, यद्वा 'संचिक्ख'त्ति 'अचां सन्धि लोपौ बहुलमि'त्येकारलोपे 'संचिक्खे' समाधिना तिष्ठेत्, न कूजनकर्करायतादि कुर्यात्, आत्मानं–चारित्रात्मानं गवेषयति–मार्गयति कथमयं मम स्यादित्यात्मगवेषकः, किमित्येवमत आह—'एतद्' अनन्तरमभिधास्यमानं 'खु'त्ति खलु, स च यस्मादर्थः, ततो यस्मादेतत् 'तस्य' श्रमणस्य 'श्रामण्यं' श्रमणभावो यन्न कुर्यान्न कारयेत्, उपलक्षणत्वान्नानुमन्येत, प्रक्रमात् चिकित्सां, जिनकल्पिकाद्यपेक्षं चैतत्, स्थविरकल्पापेक्षया तु 'जं न कुज्जा' इत्यादौ सावद्यमिति गम्यते, अयमत्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३३॥

दीप अनुक्रम [८२]

भावः—यस्मात्करणादिभिः सावद्यपरिहार एव श्रामण्यं, सावद्या च प्रायश्चित्तिका, ततस्तां नाभिनन्देद्, एतदप्यौत्सर्गिकम्, अपवादतस्तु सावद्याऽप्येषामियमनुमतैव, यदुक्तम्—"काहं अछित्तिं अदुवा अहीहं, तवोविहाणेण य उज्जमिस्सं। गणं व णीतीइ वि सारविस्सं, सालंबसेवी समुवेति मोक्खं ॥ १ ॥" इति सूत्रार्थः ॥ ३३ ॥ इदानीं भिक्षेति द्वारं, तत्र च 'तिगिच्छं णाभिणंदिज्जा' इति सूत्रावयवमर्थतः स्पृशन्नुदाहरणमाह—

महुराइ कालवेसिय जंबुय अहिउत्थ मुग्गसेलपुरं। राया पडिसेहेइ जंबुयरूवेण उवसग्गं ॥ ११५ ॥

व्याख्या—मथुरायां कालवेसिको जम्बुकोऽभ्युषितो मुद्गसेलं पुरं राजा प्रतिषेधयति जम्बुकरूपेण उपसर्गमिति गाथाक्षरार्थः। भावार्थस्तु सम्प्रदायावगम्यः, स चायम्—

मेंहुराए जियसत्तुणा रण्णा काला नाम वेसाऽपडिरूवंति काउं ओरोहे छूढा, तीसे पुत्तो कालाए कालवेसिओ कुमारो, सो तहारूवाणं थेराणं अंतिए धम्मं सोऊण पव्वतितो, एगल्लविहारपडिमं पडिवण्णो, गतो मुग्गसेलपुरं,

१ करिष्याम्यच्छित्तिमथवाऽध्येष्ये तपोवि (पउप) धानेषु चोद्यंस्यामि। गणं वा नीत्या अपि सारयिष्यामि, सालम्बसेवी समुपैति मोक्षम् (शुद्धिम्) ॥ १ ॥ २ मथुरायां जितशत्रुणा राज्ञा कालानाम्नी वेश्याऽप्रतिरूपेतिकृत्वाऽवरोधे क्षिप्ता, तस्याः पुत्रः कालायाः कालवेशिकः कुमारः, स तथारूपाणां स्थविराणामन्तिके प्रव्रजितः, एकाकिविहारप्रतिमां प्रतिपन्नः, गतो मुद्गशैलपुरं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३३॥

दीप अनुक्रम [८२]

तहिं तस्स भगिणी हयसत्तुस्स रण्णो महिला, तस्स साहुस्स अरसिया, ततो तीए भिक्खाए सह ओसहं दिन्नं, सो य अहिगरणंति भत्तं पच्चक्खाति। तेण य कुमारत्ते सियालाणं सद्दं सोऊण पुच्छिया ओलग्गिया–केसिं एस सद्दो सुचति ?, ते भणंति–एए सियाला अडविवासिणो, तेण भण्णति–एए बंधिऊण मम आणेह, तेहिं सियालो बंधिऊण आणितो, सो तं हणइ, सो हम्मंतो खिंखिएइ, ततो सो रतिं विंदइ, सो सियालो हम्मंतो मतो, अकामणिज्जराए वाणमंतरो जाओ, तेण वाणमंतरेण सो भत्तपच्चक्खातो दिट्ठो, ओहिणा आभोइओ, इमो सोत्ति आगंतूण सपिल्लियं सियालिं विरचिऊण खिंखियंतो खाइ, राया तं साधुं भत्तपच्चक्खायथंतिकाउं रक्खावेति पुरिसेहिंति, मा कोइ से उवसग्गं करिस्सइत्ति, जाव ते पुरिसा तं थाणं ऐंति ताव तीए सीआलीए खइतो, जाहे ते पुरिसा

१ तत्र तस्य भगिनी हतशत्रो राज्ञो महिला, तस्य साधोरर्शांसि, ततस्तया भिक्षया सहौषधं दत्तं, स चाधिकरणमिति भक्तं प्रत्याख्याति। तेन च कुमारत्वे शृगालानां शब्दं श्रुत्वा पृष्टा अवलगकाः–केषामेष शब्दः श्रूयते ?, ते भणन्ति–एते शृगाला अटवीवासिनः, तेन भण्यते–एतान् बद्ध्वा मम (पार्श्वे) आनयत, तैः शृगालो बद्ध्वाऽऽनीतः, स तं हन्ति, स हन्यमानः खिङ्खिङ्करोति, ततः स रतिं विन्दति, स शृगालो हन्यमानो मृतः, अकामनिर्जरया व्यन्तरो जातः, तेन व्यन्तरेण स प्रत्याख्यातभक्तो दृष्टः, अवधिनाऽऽभोगितः, अयं स इत्यागत्य सबालकां शृगालीं विकुर्व्य (विरच्य, खिङ्खिङ्कुर्वन् खादति, राजा तं साधुं प्रत्याख्यातभक्त इतिकृत्वा रक्षयति पुरुषैः, मा कश्चित्तस्योपसर्गं करिष्यतीति (कार्षीदिति), यावत्ते पुरुषास्तत् स्थानमायान्ति तावत्तया शृगाल्या खादितः, यदा ते पुरुषाः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३४॥

दीप अनुक्रम [८३]

ओस्सरिआ ताहे सद्दं करेंती खाति, जाहे आगया ताहे न दीसति, सोऽवि उवसग्गं सम्मं सहति खमति, एवं अहियासेयव्वं ॥ रोगपीडितस्य शयनादिषु दुःसहतर(ः)तृणस्पर्श इत्येतदनन्तरं तत्परीषहमाह—

अचेलगस्स लूहस्स, संजयस्स तवस्सिणो । तणेसु सुयमाणस्स, हुज्जा गायविराहणा ॥३४॥(सूत्रम्)

व्याख्या— अचेलकस्य रूक्षस्य संयतस्य तपस्विन इति प्राग्वत्, तरन्तीति तृणानि– दर्भादीनि तेषु शयानस्योपलक्षणत्वात् आसीनस्य वा भवेत् गात्रस्य–शरीरस्य विराधना–विदारणा गात्रविराधना, अचेलकत्वादीनि तु तपस्विविशेषणानि मा भूत्सचेलस्य तृणस्पर्शासम्भवेनारूक्षस्य तत्सम्भवेऽपि स्निग्धत्वेनासंयतस्य च शुषिरहरिततृणोपादानेन तथाविधगात्रविराधनाया असम्भव इति ॥ ३४ ॥ ततः किमित्याह—

आयवस्स निवाएणं, तिदुला हवइ वेयणा । एयं णच्चा न सेवंति, तंतुजं तणतज्जिया ॥३५॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'आतपस्य' घर्मस्य नितरां पातो निपातस्तेन 'तिउल' त्ति सूत्रत्वात्तौदिका, यद्वा त्रीन्–प्रस्तावात् मनोवाक्कायान् विभाषितण्यन्तत्वात् चुरादीनां दोलतीव स्वरूपचलनेन त्रिदुला, पाठान्तरेस्तु–'अतुला विपुला वा' भवति वेदना, एवं च किमित्याह–'एतद्' अनन्तरोक्तं पाठान्तरतः 'एवं' ज्ञात्वा 'न सेवन्ते' न भजन्ते, आस्तर-

१ अपसृतास्तदा शब्दं कुर्वती खादति, यदा आगताः तदा न दृश्यते, सोऽप्युपसर्गं सम्यक् सहते क्षमते, एवमध्यासितव्यम् ।

॥१२१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३५॥

दीप अनुक्रम [८४]

णायेति गम्यते, तन्तुभ्यो जातं तन्तुजं, पठ्यते च–'तंतयं'ति तत्र तन्त्रं–वेमविलेखन्यांछनिकादि तस्माज्जातं तन्त्रजम् , उभयत्र वस्त्रं कम्बलो वा, तृणैस्तर्जिताः–निर्भर्त्सिताः तृणतर्जिताः, किमुक्तं भवति ?–यद्यपि तृणैरत्यन्तविलिखितशरीरस्य रविकिरणसम्पर्कसमुत्पन्नस्वेदवशतः क्षतक्षारनिक्षेपरूपैव पीडोपजायते तथाऽपि–'प्रदीप्ताङ्गारकल्पेषु, वज्रकुण्डेष्वसन्धिषु । कूजन्तः करुणं केचित् , दह्यन्ते नरकाग्निना ॥१॥ अग्निभीताः प्रधावन्तो, गत्वा वैतरणीं नदीम् । शीततोयामिमां ज्ञात्वा, क्षाराम्भसि पतन्ति ते ॥ २ ॥ क्षारदग्धशरीराश्च, मृगवेगोत्थिताः पुनः । असिपत्रवनं यान्ति, च्छायायां कृतबुद्धयः ॥ ३ ॥ शक्त्यष्टिप्रासकुन्तैश्च, खड्गतोमरपट्टिशैः । छिद्यन्ते कृपणास्तत्र, पतद्भिर्घातकम्पितैः ॥ ४ ॥' इत्यादिका रौद्रतरा नरकेषु परवशेन मयाऽनुभूता वेदनास्तत्कियतीयं ?, भूयांश्च लाभः स्ववशस्य सम्यक् सहन इति परिभावनातो न तत्परिजिहीर्षया वस्त्रं कम्बलादिकमुपाददते, जिनकल्पिकापेक्षं चैतत् , स्थविरकल्पिकाश्च सापेक्षसंयमत्वात्सेवन्तेऽपीति सूत्रार्थः ॥ ३५ ॥ अत्र संस्तारद्वारमनुसरन् 'तिउला हवइ वेयण'त्ति सूत्रसूचितमुदाहरणमाह—

सावत्थीइ कुमारो भद्दो सो चारिओत्ति वेरज्जे । खारेण तच्छियंगो तणफासपरीसहं विसहे ॥११६॥

व्याख्या—श्रावस्त्यां कुमारो भद्रः स 'चारिकः' चर इति वैराज्ये क्षारेण तक्षिताङ्गः तृणस्पर्शपरीषहं 'विसहे'त्ति विषहते, स्वेति विशेष इति गाथार्थः ॥ ११७ ॥ भावार्थस्तु सम्प्रदायावसेयः, स चायम्—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र सूत्रान्ते यत् "॥११७॥" मुद्रितं तत् मुद्रणदोषः, अत्र ॥११६॥ एव वर्तते

प्रत सूत्रांक ॥३५॥

दीप अनुक्रम [८४]

सावत्थीए नयरीए जियसत्तू रण्णो पुत्तो भद्दो नाम, सो निविण्णकामभोगो तहारूवाणं थेराणमंतिते पव्वतितो, कालेण य एगल्लविहारपडिमं पडिवण्णो, सो विहरंतो वेरज्जे चारिउत्तिकाऊण गहिओ, सो य पंतावेऊण खारेण तच्छिओ, सो दब्भेहिं वेढिऊण मुक्को, सो दब्भेहिं लोहियसंमीलिएहिं दुक्खाविज्जंतो सम्मं सहइ॥ एवं शेषसाधुभिरपि सम्यक् सोढव्यः तृणस्पर्शपरीषहः ॥ तृणानि च मलिनान्यपि कानिचित् स्युरिति तत्सम्पर्कात् स्वेदतो विशेषेण जल्लसम्भव इत्यनन्तरं तत्परीषहमाह—

किलिन्नगाए पंकेणं, मेहावी व रएण वा। घिंसु वा परितावेणं, सायं नो परिदेवए ॥३६॥ (सूत्रम्)

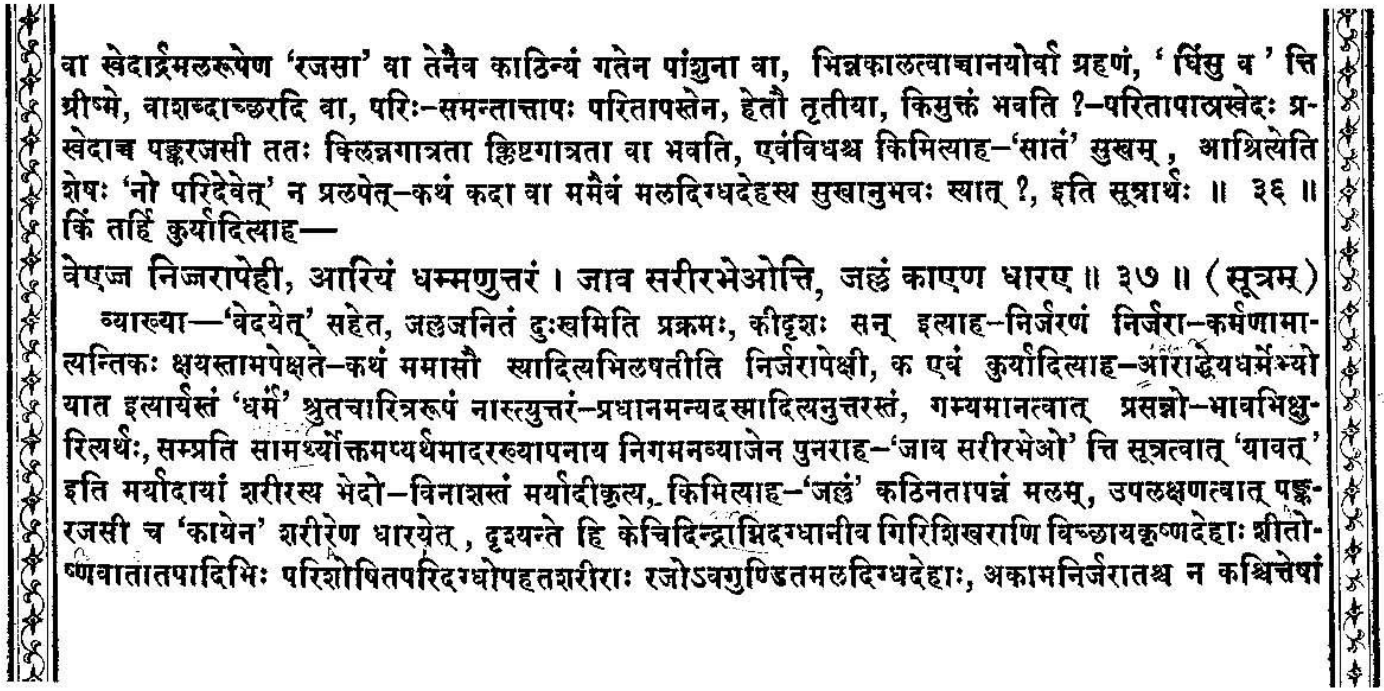
व्याख्या—क्लिन्नमनेकार्थत्वाद्धातूनां निचितं पाठान्तरतः क्लिष्टं वा–बाधितं गात्रं–शरीरमस्येति क्लिन्नगात्रः क्लिष्टगात्रो वा, मेधावी–'वाहितो वा अरोगी वा, सिणाणं जो उ पत्थइ। वोकंतो होइ आयारो, जढो हवइ संजमो ॥ १ ॥' इत्यागममनुस्मरन् न स्नानरूपमर्यादानतिवर्ती, केन पुनः क्लिन्नगात्रः क्लिष्टगात्रो वेत्याह–' पङ्केन '

१ श्रावस्त्यां नगर्यां जितशत्रो राज्ञः पुत्रो भद्रो नाम, स निर्विण्णकामभोगः तथारूपाणां स्थविराणामन्तिके प्रव्रजितः, कालेन चैकाकिविहारप्रतिमां पतिपन्नः, स विहरन् वैराज्ये चारिक इतिकृत्वा गृहीतः, स च पीडयित्वा (पिट्टयित्वा) तक्षितः (सिक्तः) क्षारेण, स दर्भैर्वेष्टयित्वा मुक्तः, स दर्भै रुधिरसंमिलितैर्दुःख्यमानः सम्यक् सहते। २ व्याधिमान् वाऽरोगो वा स्नानं यस्तु प्रार्थयते। व्युत्क्रान्तो भवत्याचारस्त्यक्तो भवति संयमः ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३६॥

दीप अनुक्रम [८५]



वा खेदार्द्रमलरूपेण 'रजसा' वा तेनैव काठिन्यं गतेन पांशुना वा, भिन्नकालत्वाच्चानयोर्वा ग्रहणं, 'घिंसु व' त्ति ग्रीष्मे, वाशब्दाच्छरदि वा, परिः–समन्तात्तापः परितापस्तेन, हेतौ तृतीया, किमुक्तं भवति ?–परितापाज्जखेदः प्रस्वेदाच्च पङ्करजसी ततः क्लिन्नगात्रता क्लिष्टगात्रता वा भवति, एवंविधश्च किमित्याह–'सातं' सुखम्, आश्रित्येति शेषः 'नो परिदेवेत्' न प्रलपेत्–कथं कदा वा ममैवं मलदिग्धदेहस्य सुखानुभवः स्यात् ?, इति सूत्रार्थः ॥ ३६ ॥

किं तर्हि कुर्यादित्याह—

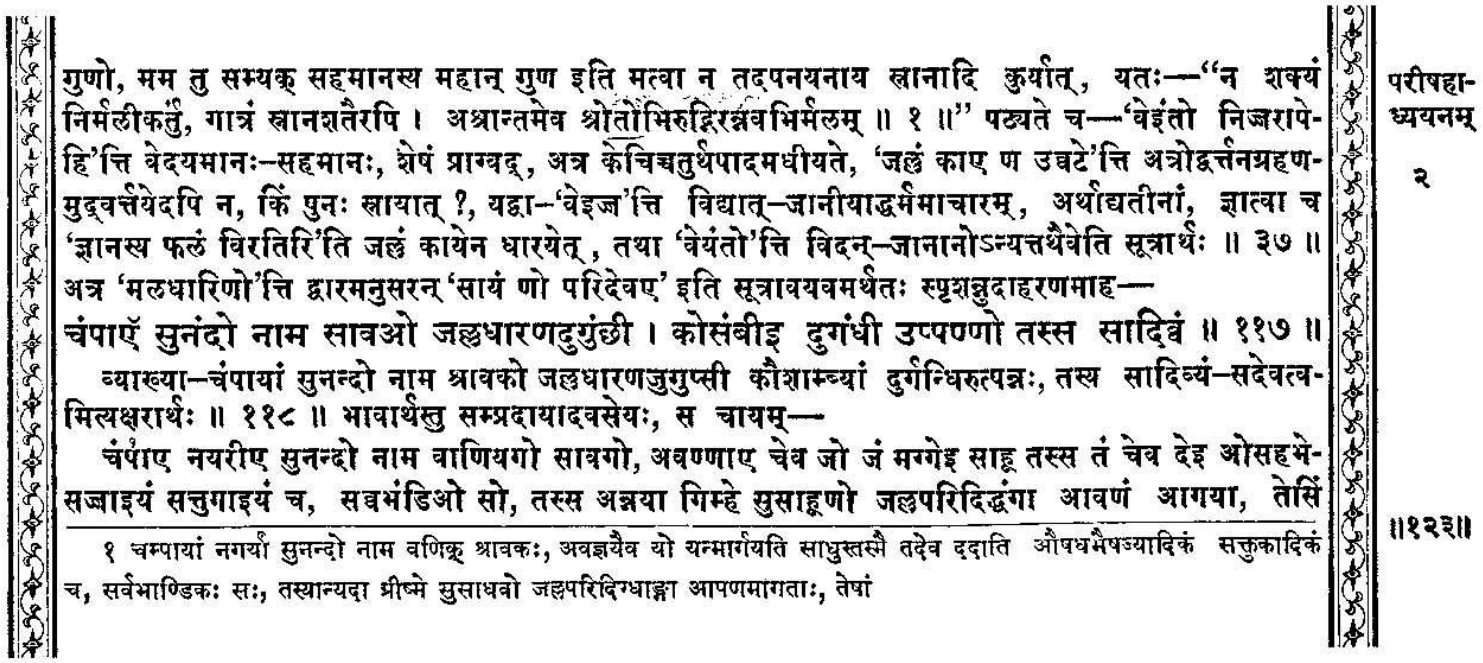
वेएज्ज निज्जरापेही, आरियं धम्मणुत्तरं । जाव सरीरभेओत्ति, जल्लं काएण धारए ॥ ३७ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'वेदयेत्' सहेत, जल्लजनितं दुःखमिति प्रक्रमः, कीदृशः सन् इत्याह–निर्जरणं निर्जरा–कर्मणामात्यन्तिकः क्षयस्तामपेक्षते–कथं ममासौ स्यादित्यभिलषतीति निर्जरापेक्षी, क एवं कुर्यादित्याह–आराद्धेयधर्मेभ्यो यात इत्यार्यस्तं 'धर्मं' श्रुतचारित्ररूपं नास्त्युत्तरं–प्रधानमन्यदस्मादित्यनुत्तरस्तं, गम्यमानत्वात् प्रसन्नो–भावभिक्षुरित्यर्थः, सम्प्रति सामर्थ्योक्तमप्यर्थमादरख्यापनाय निगमनव्याजेन पुनराह–'जाव सरीरभेओ' त्ति सूत्रत्वात् 'यावत्' इति मर्यादायां शरीरस्य भेदो–विनाशस्तं मर्यादीकृत्य, किमित्याह–'जल्लं' कठिनतापन्नं मलम्, उपलक्षणत्वात् पङ्करजसी च 'कायेन' शरीरेण धारयेत्, दृश्यन्ते हि केचिदिन्द्राग्निदग्धानीव गिरिशिखराणि विच्छायकृष्णदेहाः शीतोष्णवातातपादिभिः परिशोषितपरिदग्धोपहतशरीराः रजोऽवगुण्डितमलदिग्धदेहाः, अकामनिर्जरातश्च न कश्चित्तेषां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३७॥

दीप अनुक्रम [८६]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥१२३॥

गुणो, मम तु सम्यक् सहमानस्य महान् गुण इति मत्वा न तदपनयनाय स्नानादि कुर्यात्, यतः—"न शक्यं निर्मलीकर्तुं, गात्रं स्नानशतैरपि । अश्रान्तमेव श्रोतोभिरुद्विरन्नवभिर्मलम् ॥ १ ॥" पठ्यते च—'वेइंतो निज्जरापेहि'त्ति वेदयमानः—सहमानः, शेषं प्राग्वद्, अत्र केचिच्चतुर्थपादमधीयते, 'जल्लं काए ण उव्वटे'त्ति अत्रोद्वर्त्तनग्रहणमुद्वर्त्तयेदपि न, किं पुनः स्नायात् ?, यद्वा—'वेइज्ज'त्ति विद्यात्—जानीयाद्धर्माचारम्, अर्थाद्यतीनां, ज्ञात्वा च 'ज्ञानस्य फलं विरतिरि'ति जल्लं कायेन धारयेत्, तथा 'वेयंतो'त्ति विदन्—जानानोऽन्यत्तथैवेति सूत्रार्थः ॥ ३७ ॥ अत्र 'मलधारिणो'त्ति द्वारमनुसरन् 'सायं णो परिदेवए' इति सूत्रावयवमर्थतः स्पृशन्नुदाहरणमाह—

चंपाएँ सुनंदो नाम सावओ जल्लधारणदुगुंछी । कोसंबीइ दुगंधी उप्पण्णो तस्स सादिव्वं ॥ ११७ ॥

व्याख्या—चंपायां सुनन्दो नाम श्रावको जल्लधारणजुगुप्सी कौशाम्ब्यां दुर्गन्धिरुत्पन्नः, तस्य सादिव्यं—सदेवत्वमित्यक्षरार्थः ॥ ११८ ॥ भावार्थस्तु सम्प्रदायादवसेयः, स चायम्—

चंपाए नयरीए सुनन्दो नाम वाणियगो सावगो, अवण्णाए चेव जो जं मग्गेइ साहू तस्स तं चेव देइ ओसहभेसज्जाइयं सत्तुगाइयं च, सव्वभंडिओ सो, तस्स अन्नया गिम्हे सुसाहूणो जल्लपरिदिद्धंगा आवणं आगया, तेसिं

१ चम्पायां नगर्यां सुनन्दो नाम वणिक् श्रावकः, अवज्ञयैव यो यन्मार्गयति साधुस्तस्मै तदेव ददाति औषधभैषज्यादिकं सक्तुकादिकं च, सर्वभाण्डिकः सः, तस्यान्यदा ग्रीष्मे सुसाधवो जल्लपरिदिग्धाङ्गा आपणमागताः, तेषां

परीषहाध्ययनम् २

॥१२३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र सूत्रान्ते यत् "॥११८॥" मुद्रितं तत् मुद्रणदोषः, अत्र ॥११७॥ एव वर्तते

प्रत सूत्रांक ॥३७॥

दीप अनुक्रम [८६]

गंधो जल्लस्स ताण ओसहाणं गंधमभिभविउं उक्कलति, तेण सुगंधदव्वभाविएण चिंतियं–सव्वं लट्ठं साहूण जदिणाम जल्लं उवट्टिंता तो सुंदरं होंतं, एवं सो तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंतो कालगतो कोसंबीए नयरीए इब्भकुले पुत्तत्ताए आगतो, सो निविण्णकामभोगो धम्मं सोऊण पव्वतितो, तस्स तं कम्ममुदिन्नं, दुरभिगंधो जातो, तओ जतो जतो वच्चति तओ तओ उड्डाहो, पच्छा साहूहिं भणितो–तुमं मा णिग्गच्छ उड्डाहो, पडिस्सए अच्छाहि, रत्तिं देवयाए सो काउस्सग्गं करेइ, पच्छा देवयाए सुगंधो कतो, सो जहा नाम कोट्ठपुडाण वा अन्नेसिं वा विसिट्ठदव्वाण जारिसो गंधो तारिसो गंधो जातो, पुणोऽवि उड्डाहो, पुणोऽवि देवयाराहणं, साभावियगंधो जातो। तेण

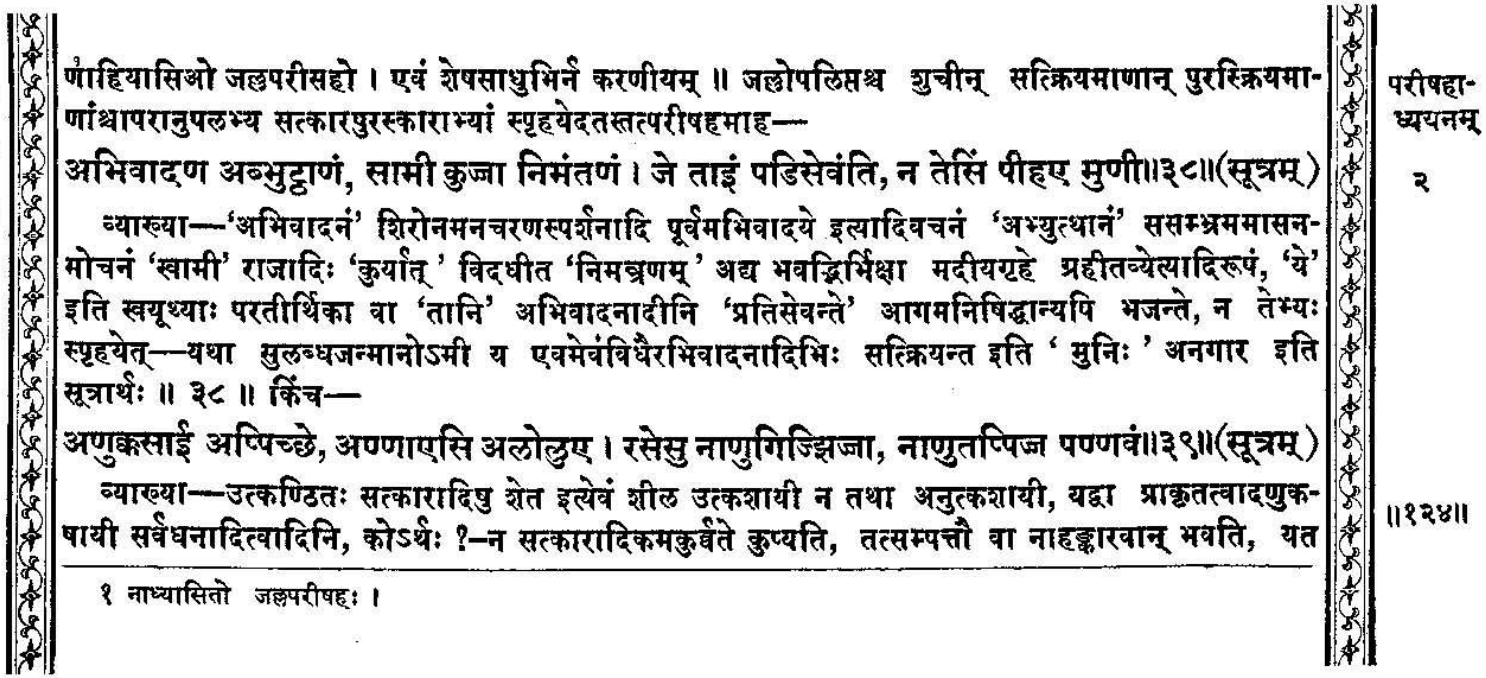
---

१ गन्धो जल्लस्य तेषामौषधानां गन्धमभिभूयोच्छलति, तेन सुगन्धद्रव्यभावितेन चिन्तितं-सर्वं लष्टं साधूनां यदि नाम जल्लमुदवर्त्तिष्यन्त तदा सुन्दरमभविष्यत्, एवं स तस्मात् स्थानादनालोचितप्रतिक्रान्तः कालगतः कौशाम्ब्यां नगर्यामिभ्यकुले पुत्रतया आगतः, स निर्विण्णकामभोगो धर्मं श्रुत्वा प्रव्रजितः, तस्य तत्कर्मोदीर्णं, दुरभिगन्धो जातः, ततो यतो यतो व्रजति ततस्तत उड्डाहः (अपभ्राजना), पश्चात् साधुभिर्भणितः–त्वं मा यासीः उड्डाहः, प्रतिश्रये तिष्ठ, रात्रौ देवतायाः स कायोत्सर्गं करोति, पश्चाद्देवतया सुगन्धीकृतः, स यथा नाम कोष्ठपुटानां वा अन्येषां वा विशिष्टद्रव्याणां यादृशो गन्धस्तादृशो गन्धो जातः, पुनरप्युड्डाहः, पुनरपि देवताराधनं, स्वाभाविकगन्धो जातः। तेन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३८॥

दीप अनुक्रम [८७]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥१२४॥

णाहियासिओ जल्लपरीसहो । एवं शेषसाधुभिर्न करणीयम् ॥ जल्लोपलिप्तश्च शुचीन् सत्क्रियमाणान् पुरस्क्रियमाणांश्चापरानुपलभ्य सत्कारपुरस्काराभ्यां स्पृहयेदतस्तत्परीषहमाह—

अभिवादण अब्भुट्ठाणं, सामी कुज्जा निमंतणं । जे ताइं पडिसेवंति, न तेसिं पीहए मुणी॥३८॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'अभिवादनं' शिरोनमनचरणस्पर्शनादि पूर्वमभिवादये इत्यादिवचनं 'अभ्युत्थानं' ससम्भ्रममासनमोचनं 'स्वामी' राजादिः 'कुर्यात्' विदधीत 'निमन्त्रणम्' अद्य भवद्भिर्भिक्षा मदीयगृहे ग्रहीतव्येत्यादिरूपं, 'ये' इति स्वयूथ्याः परतीर्थिका वा 'तानि' अभिवादनादीनि 'प्रतिसेवन्ते' आगमनिषिद्धान्यपि भजन्ते, न तेभ्यः स्पृहयेत्—यथा सुलब्धजन्मानोऽमी य एवमेवंविधैरभिवादनादिभिः सत्क्रियन्त इति 'मुनिः' अनगार इति सूत्रार्थः ॥ ३८ ॥ किंच—

अणुक्कसाई अप्पिच्छे, अण्णाएसि अलोलुए । रसेसु नाणुगिज्झिज्जा, नाणुतप्पिज्ज पण्णवं॥३९॥(सूत्रम्)

व्याख्या—उत्कण्ठितः सत्कारादिषु शेत इत्येवं शील उत्कशायी न तथा अनुत्कशायी, यद्वा प्राकृतत्वादणुकषायी सर्वधनादित्वादिनि, कोऽर्थः ?—न सत्कारादिकमकुर्वते कुप्यति, तत्सम्पत्तौ वा नाहङ्कारवान् भवति, यत

१ नाध्यासितो जल्लपरीषहः ।

परीषहाध्ययनम् २

॥१२४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३९॥

दीप अनुक्रम [८८]

उक्तम्—"पलिमंथ महं वियाणिया, जावि य वंदण पूयणा इहं। सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे, इति संखाइ मुणी ण मज्जइ ॥१॥" न वा तदर्थं छन्न तत्र वा गृद्धिं विधत्ते, अत एवाल्पा–स्तोका धर्मोपकरणप्राप्तिमात्रविषयत्वेन न तु सत्कारादिकामितया महती अल्पशब्दस्याभाववादित्वेनाविद्यमाना वा इच्छा–वाञ्छा वा यस्येति अल्पेच्छः, इच्छायाश्च कषायान्तर्गतत्वेऽपि पुनरल्पत्वाभिधानं बहुतरदोषत्वोपदर्शनार्थम्, अत एव च अज्ञातो जातिश्रुतादिभिः एषति–उञ्छति अर्थात् पिण्डादीत्यज्ञातैषी, कुतः पुनरेवम्?, यतः 'अलोलुपः' सरसौदनादिषु न लाम्पट्यवान्, एवंविधोऽपि सरसाहारभोजिनोऽपरान् वीक्ष्य कदाचिदन्यथा स्यात् अत आह–सरसेषु–रसवत्खोदनादिषु, पाठान्तरतो–'रसेषु वा' मधुरादिषु 'नानुगृध्येत् नाभिकाङ्क्षां कुर्वीत, रसगृद्धिवर्जनोपदेशश्च तद्गृद्धित एव बालिशानामभिवादनादिस्पृहासम्भवात्, तथा न 'तेभ्यो' रसगृद्धेभ्यः स्पृहयेन्मुनिः, पाठान्तरतश्च नानुतप्येत् तीर्थान्तरीयान्नृपत्यादिभिः सत्क्रियमाणानवेक्ष्य, किमेतत्परित्यागेनाहमत्र प्रव्रजितः? इति, प्रज्ञा–हेयोपादेयविवेचनात्मिका मतिस्तद्वान्, अनेन सत्कारकारिणि तोषं न्यत्कारकारिणि च द्वेषमकुर्वताऽयं परीषहोऽध्यासितव्य इत्युक्तं भवतीति सूत्रार्थः ॥ ३९ ॥ अत्र 'अङ्गविद्ये'ति द्वारमनुसरन् सूत्रोक्तमर्थं व्यतिरेकोदाहरणेन स्पष्टयन्नाह—

महुराइ इंददत्तो पुरोहिओ साहुसेवओ सिट्ठी। पासायविज्जपाडण पायच्छिज्जेंदकीले य ॥ ११८ ॥

१ विघ्नं महत् विजानीयात् याऽपि च वन्दना पूजनेह। सूक्ष्मं शल्यं दुरुद्धरमिति संख्याय मुनिर्न माद्यति ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३९॥

दीप अनुक्रम [८८]

मथुरायामिन्द्रदत्तः पुरोहितः साधुसेवकः श्रेष्ठी प्रासादविद्यापातनं पादच्छेदश्चेन्द्रकीले चस्य भिन्नक्रमत्वादिति गाथासंस्कारः ॥ ११९ ॥ एतदर्थश्च सम्प्रदायादवसेयः, स चायम्—

चिरकालपइट्ठियाए मदुराए इंददत्तेणं पुरोहिएणं पासायगएणं हेट्ठेणं साधुस्स वच्चंतस्स पाओ ओलंबितो सीसे कतोत्तिकाउं, सो य सावएण सिट्ठिणा दिट्ठो, तस्सामरिसो जाओ, दिट्ठं भो ! एएण पावेणं साहुस्स उवरिं पादो कतोत्ति, तेण पइण्णा कया–अवस्स मए एयस्स पादो छिंदेयवो, तस्स छिद्दाणि मग्गइ, अलभमानो अन्नया आयरिआण सगासे गंतूण वंदित्ता परिकहेइ, तेहिं भण्णइ–का पुच्छा ?, अहियासेयवो सक्कारपुरक्कारपरीसहो, तेण भणियं–मए पइण्णा कएलिया, आयरिएहिं भण्णइ–एयस्स पुरोहियस्स किं घरे वट्टइ ?, तेण भण्णइ–एयस्स पुरोहियस्स पासाओ कएल्लतो, तस्स पवेसणे रण्णो भत्तं करेहित्ति, तेहिं भण्णइ–जाहे राया पविसइ तं पासायं

१ चिरकालप्रतिष्ठितायां मथुरायामिन्द्रदत्तेन पुरोहितेन प्रासादगतेन अधस्तात् साधोर्गच्छतः (उपरि) पादोऽवलम्बितः, शीर्षे कृत इतिकृत्वा, स च श्रावकेण श्रेष्ठिना दृष्टः, तस्यामर्षो जातः, दृष्टं भो! एतेन पापेन साधोरुपरि पादः कृत इति, तेन प्रतिज्ञा कृता—अवश्यं मया एतस्य पादश्छेत्तव्यः, तस्य छिद्राणि मार्गयति, अलभमानोऽन्यदा आचार्याणां सकाशे गत्वा वन्दित्वा परिकथयति, तैर्भण्यते–का पृच्छा ?, अध्यासितव्यः सत्कारपुरस्कारपरीषहः, तेन भणितं–मया प्रतिज्ञा कृता, आचार्यैर्भण्यते–एतस्य पुरोहितस्य किं गृहे वर्त्तते ?, तेन भण्यते–एतेन पुरोहितेन प्रासादः कारितः, तस्य प्रवेशने राज्ञो भक्तं करिष्यतीति, तैर्भण्यते–यदा राजा प्रविशति तं प्रासादं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र सूत्रान्ते यत् "॥११९॥" मुद्रितं तत् मुद्रणदोषः, अत्र ॥११८॥ एव वर्तते

प्रत सूत्रांक ॥३९॥

दीप अनुक्रम [८८]

तांहे तुमं रायं हत्थेण गहेऊण अवसारिज्जासि जहा–पासाओ पडति, ताहेऽहं पासायं विज्जाए पाडिस्सं, तेण तहा कयं, सेट्ठिणा राया भणितो–एएण तुब्भे मारिया आसि, रुट्ठेण रण्णा पुरोहितो सावगस्स अप्पितो, तेण तस्स इंदकीले पादो कतो, पच्छा छिन्न(न्नो), एवं काउं इयरो विसज्जितो। तेण णाहियासितो सक्कारपुरक्कारपरीसहो इति॥ यथा तेन श्राद्धेनासौ न सोढो न तथा विधेयं, किन्तु साधुवत्सोढव्यः, इह पूर्वत्र च श्रावकपरीषहाभिधानमाद्यनयचतुष्टय मतेनेति भावनीयम्, उक्तं हि प्राक्–"तिण्हंपि णेगमनतो परीसहो जाव उज्जसुत्तातो"त्ति, अङ्गं चात्र पादो, विद्या च प्रासादपातनविद्या ॥ साम्प्रतमनन्तरोक्तपरीषहान् जयतोऽपि कस्यचिज्ज्ञानावरणापगमात् प्रज्ञाया उत्कर्षे अपरस्य तु तदुदयादपकर्षे उत्सेकवैक्लव्यसम्भव इति प्रज्ञापरीषहमाह—

से नूणं मए पुव्वं, कम्माऽणाणफला कडा। जेणाहं नाभिजाणामि, पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥ ४० ॥
अह पच्छा उइज्जंति, कम्माऽणाणफलाकडा। एवमासासि अप्पाणं, णच्चा कम्मविवागयं ॥४१॥ (सूत्रम्)

१ तदा त्वं राजानं हस्तेन गृहीत्वाऽपसारयेः यथा–प्रासादः पतति, तदाऽहं प्रासादं विद्यया पातयिष्यामि, तेन तथा कृतं, श्रेष्ठिना राजा भणितः–एतेन यूयं मारिता अभविष्यन्, रुष्टेन राज्ञा पुरोहितः श्रावकायार्पितः, तेन तस्येन्द्रकीले पादः कृतः, पश्चात् छिन्नः, एवं कृत्वेतरो विसृष्टः। तेन नाध्यासितः सत्कारपुरस्कारपरीषह इति। २ लोट्टमओ काऊण सो छिन्नो प्र० अधिकम्। ३ त्रयाणामपि नैगमनयः परीषहो यावदृजुसूत्रात् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४०--४१॥

दीप अनुक्रम [८९-९०]

व्याख्या—सेशब्दो मागधप्रसिद्धयाऽथशब्दार्थे उपन्यासे, 'नूनं' निश्चितं 'मये'ति आत्मनिर्देशः 'पूर्वं' प्राक् क्रियन्त इति कर्माणि तानि च मोहनीयादीन्यपि सम्भवन्त्यत आह—अज्ञानम्–अनवबोधस्तत्फलानि ज्ञानावरणरूपाणीत्यर्थः 'कृतानि' ज्ञाननिन्दादिभिरुपार्जितानि, यदुक्तम्–ज्ञानस्य ज्ञानिनां चैव, निन्दाप्रद्वेषमत्सरैः । उपघातैश्च विघ्नैश्च, ज्ञानघ्नं कर्म बध्यते ॥ १ ॥ 'मये'त्यभिधानं च स्वयमकृतस्योपभोगासम्भवाद् , उक्तं च–"शुभाशुभानि कर्माणि, स्वयं कुर्वन्ति देहिनः । स्वयमेवोपभुज्यन्ते, दुःखानि च सुखानि च ॥१॥" कुत एतदित्याह—येन हेतुना अहं 'नाभिजानामि' नाभिमुख्येनावबुद्धये पृष्टः केनचित् स्वयमजानता जानता वा 'कण्हुई'त्ति सूत्रत्वात् कस्मिंश्चित् सूत्रादौ वस्तुनि वा, प्रगुणेऽपीत्यभिप्रायः । न हि स्वयं स्वच्छस्फटिकवदतिनिर्मलस्य प्रकाशरूपस्यात्मनोऽप्रकाशकत्वं किन्तु ज्ञानावृतिवशत एव, उक्तं हि–"तत्र ज्ञानावरणीयं नाम कर्म भवति येनास्य । तत्पञ्चविधं ज्ञानमावृतं रविरिव मेघैस्तथा ॥ १ ॥" अथवा 'से नूणं'ति सेशब्दः प्रतिवचनवाचिनोऽथशब्दस्यार्थे, स हि केनैत्किञ्चित्पर्यनुयुक्तः तथाविधविमर्शाभावेन स्वयमजानन् कुत एतन्ममाज्ञानमिति चिन्तयन् गुरुवचनमनुसृत्यात्मानमात्मनैव प्रति वक्ति, 'से' इत्थ 'नूनं' निश्चितमेतत्, शेषं प्राग्वत् । आह–यदि पूर्वं कृतानि कर्माणि किं न तदैव वेदितानि ?, उच्यते, अथेति वक्तव्यान्तरोपन्यासे 'पश्चाद्' अबाधोत्तरकालम् 'उदीर्यन्ते' विपच्यन्ते कर्माण्यज्ञानफलानि कृतानि, अलर्कमूषिकविषविकारवत् तथाविधद्रव्यसाचिव्यादेव तेषां विपाकदानात्, ततस्तद्विघातायैव यतो विधेयो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४०--४१॥

दीप अनुक्रम [८९-९०]

न तु विषादः, 'एवम्' अमुना प्रकारेण 'आश्वासय' स्वस्थीकुरु, कम् ?–आत्मानं, मा वैक्लव्यं कृथा इत्यर्थः, उक्तमेव हेतुं निगमयन्नाह—ज्ञात्वा कर्मविपाकं, कर्मणां कुत्सितविपाकम्। इत्थं प्रज्ञाऽपकर्षमाश्रित्य सूत्रद्वयं व्याख्यातम्, एतदेव तदुत्कर्षपक्ष एवं व्याख्यायते–प्रज्ञोत्कर्षवतैवं परिभावनीयं–'से' इत्युपन्यासे नूनं मया पूर्वं 'कर्माणि' अनुष्ठानानि ज्ञानप्रशंसादीनि, ज्ञानमिह विमर्शपूर्वको बोधः, तत्फलानि कृतानि येनाहं ना अपिशब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वान्नाऽपि–पुरुषोऽप्यभिजानामि 'पृष्टः' पर्यनुयुक्तः 'केनापि' अविवक्षितविशेषेण, सर्वेणापीत्यर्थः, 'कस्मिंश्चिद्' यत्र तत्रापि वस्तुनि, 'अथे'त्युत्कर्षानन्तरम् 'अपत्थ'त्ति अपथ्यानि आयतिकटुकानि कर्माण्यज्ञानफलानि 'उदिजंति'त्ति सूत्रत्वात्तिङव्यत्ययेनोदेष्यन्ति, वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा(पा० ३–३–१३१)इत्यनेन वर्त्तमानसामीप्ये वा लटि उदीर्यन्ते, सन्निहितकाल एवोदेष्यन्तीत्यर्थः, अयं चाशयः–उत्सेको हि ज्ञानावरणकारणमवश्यवेद्यं च तत्, तदुदये च कुतो ज्ञानम् ?, अनियते वाऽस्मिन्क उत्सेकः ?, इत्येवमालोचयन्नाश्वासय–प्रज्ञावलेपावलुप्तचेतनमात्मानं स्वस्थीकुरु ज्ञात्वा कर्मविपाकम्, इह च तन्त्रन्यायेन युगपदर्थद्वयसम्भवः, तन्त्रं च दैर्घ्यप्रसारिताः तन्तवः, ततो यथा तदेकमनेकस्य तिरश्चीनस्य तन्तोः सङ्ग्राहि तथा यदेकेनानेकार्थस्याभिधानं स तन्त्रन्याय इति सूत्रद्वयार्थः ॥ ४०–४१ ॥

अत्र सूत्रद्वारं, सूत्रं चागमः, अस्मिंश्च प्रस्तुतसूत्रसूचितमुदाहरणमाह—

उज्जेणी कालखमणा सागरखमणा सुवण्णभूमीए । इंदो आउयसेसं पुच्छइ सादिव्वकरणं च ॥१२०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र निर्युक्ति-क्रमे एक क्रमांकस्य मुद्रणदोषात् क्रमांकस्य परिवर्तनं दृश्यते

प्रत सूत्रांक ॥४०--४१॥

दीप अनुक्रम [८९-९०]

व्याख्या—उज्जयणी कालक्षपणाः सागरक्षपणाः सुवर्णभूमौ इन्द्रः आयुष्कशेषं पृच्छति सादिव्यकरणं चेति गाथाक्षरार्थः ॥ १२० ॥ भावार्थस्तु सम्प्रदायात् ज्ञातव्यः, स चायम्—

उज्जेणीए कालगायरिया बहुसुया, तेसिं सीसो न कोइ इच्छइ पढिउं, तस्स सीसस्स सीसो बहुसुओ सागरखमणो णाम सुवण्णभूमीए गच्छेणं विहरइ, पच्छा आयरिआ तत्थ पलाइउं गया सुवण्णभूमिं, सो य सागरखमणो अणुओगं कहइ, पण्णापरीसहं न सहइ, भणइ–खंता ! गयं एयं तुब्भ सुयखंधं ?, तेण भण्णइ–गयंति, तो सुण, सो सुणावेउं पयत्तो । ते य सेज्जायरणिब्बंधे कहिए तस्सिस्सा सुवण्णभूमि जतो चलिया, लोगो पुच्छति विंदं गच्छंतं–को एस आयरिओ गच्छइ ?, तेण भण्णइ–कालगा आयरिया, तं जणपरंपरएण फुसंतं कोइं सागरसमणस्स संपत्तं, जहा–कालगा आयरिआ आगच्छंति, सागरखमणो भणइ–खंतग ! सच्चं मम पितामहो आगच्छति ?, तेण

१ उज्जयिन्यां कालकाचार्या बहुश्रुताः, तेषां शिष्यो न कोऽपि इच्छति पठितुं, तस्य शिष्यस्य शिष्यो बहुश्रुतः सागरक्षपणो नाम सुवर्णभूमौ गच्छेन विहरति, पश्चादाचार्यास्तत्र पलाय्य गताः सुवर्णभूमौ, स च सागरक्षपणोऽनुयोगं कथयति, प्रज्ञापरीषहं न सहते, भणति–वृद्ध! गत एष तव श्रुतस्कन्धः ?, तेन भण्यते–गत इति, ततः शृणु, स श्रावयितुं प्रवृत्तः । ते च शय्यातरेण निर्बन्धेन कथिते तच्छिष्याः सुवर्णभूमिंयेतः(ततः)चलिताः, लोकः पृच्छति वृन्दं गच्छन्तं–क एष आचार्यो गच्छति ?, तेन भण्यते–कालकाचार्याः, तत् जनपरम्परकेण स्पृशत् कर्णयोः(वृत्तान्तं) सागरश्रमणस्य संप्राप्तं, यथा-कालकाचार्या आगच्छन्ति, सागरक्षपणो भणति–वृद्ध! सत्यं (श्रुतं) मम पितामह आगच्छति?, तेन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४०--४१॥

दीप अनुक्रम [८९-९०]

भण्णंति—ण जाणं, मयावि सुयं, आगया य साहुणो, सो अब्भुट्ठिओ, सो तेहिं साधूहिं भण्णति–खमासमणा केइ इहागया ?, पच्छा सो संकिओ भणइ–खंतो परं इको आगओ, न उण जाणामि खमासमणा, सो पच्छा खामेति, भणति–मिच्छामिदुक्कडं जं एत्थ मए आसादिया, पच्छा भणति–खमासमणा ! केरिसं अहं वक्खाणेमि ?, खमासमणेण भण्णति–लट्ठं, किन्तु मा गवं करेहि, को जाणति ?, कस्स को आगमोत्ति ?, पच्छा धूलिणाएण चिक्खिल्लपिंडएण य आहरणं करेंति । न तहा कायवं जहा सागरखमणेण कयं । ताण अज्जकालगाण समीवं सक्को य आगंतुं णिओयजीवे पुच्छति, जहा अज्जरक्खियाणं तहेव जाव सादिवकरणं च ॥ इदं च प्रज्ञासद्भावमङ्गीकृत्योदाहरणमुक्तं, तदभावे तु स्वयमभ्यूह्यमिति ॥ इदानीं प्रज्ञाया ज्ञानविशेषरूपत्वात्तद्विपक्षभूतत्वादज्ञानस्य तत्परीषहमाह, सोऽप्यज्ञानभावाभावाभ्यां द्विधैव, तत्र भावपक्षमङ्गीकृत्येदमुच्यते—

१ भण्यते–न जाने, मयाऽपि श्रुतम्, आगताश्च साधवः, सोऽभ्युत्थितः, स तैः साधुभिर्भण्यते–क्षमाश्रमणाः केचिदिहागताः?, पश्चात् स शङ्कितो भणति–वृद्धः परमेक आगतः, न पुनर्जानामि क्षमाश्रमणा (इति), स पश्चात् क्षमयति, भणति–मिथ्या मे दुष्कृतं यदत्र मया आशातिताः, पश्चात् भणति–क्षमाश्रमणाः ! कीदृशमहं व्याख्यानयामि ?, क्षमाश्रमणेन भण्यते–लष्टं, किन्तु मा गर्वं कार्षीः, को जानाति ? कस्य क आगम इति, पश्चाद्धूलिज्ञातेन कर्दमपिण्डेन च दृष्टान्तं कुर्वन्ति । न तथा कर्त्तव्यं यथा सागरक्षपणेन कृतं । तेषामार्यकालकानां समीपे शक्रश्च आगत्य निगोदजीवान् पृच्छति, यथा आर्यरक्षितानां तथैव यावत् सादिव्यकरणं च ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४२--४३॥

दीप अनुक्रम [९१-९२]

निरट्ठगंमि विरओ, मेहुणाओ सुसंवुडो। जो सक्खं नाभिजाणामि, धम्मं कल्लाण पावगं ॥४२॥(सूत्रम्)
तवोवहाणमायाय, पडिमं पडिवज्जओ । एवंपि मे विहरओ, छउमं ण णियट्टति ॥ ४३ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'णिरट्ठगंमि'त्ति अर्थः–प्रयोजनं तदभावो निरर्थं तदेव निरर्थकं तस्मिन् सति, 'विरतः' निवृत्तः, कस्मात् ?–मिथुनस्य भावः कर्म वा मैथुनम्–अब्रह्म तस्मात्, आश्रवान्तरविरतावपि यदस्योपादानं तदस्यैवातिगृद्धिहेतुतया दुस्त्यजत्वात्, उक्तं हि–"दुप्पच्चया इमे कामा' इत्यादि, सुष्ठु संवृतः सुसंवृतः–इन्द्रियनोइन्द्रियसंवरणेन, यः 'साक्षात्' इति परिस्फुटं नाभिजानामि 'धर्मं' वस्तुस्वभावं 'कल्लाण'त्ति बिन्दुलोपात्कल्याणं शुभं 'पापकं' वा तद्विपरीतं, वेत्यस्य गम्यमानत्वात्, यद्वा धर्मम्–आचारं कल्यः–अत्यन्तनीरुक्तया मोक्षस्तमानयति(अणति)–प्रज्ञापयतीति कल्याणो–मुक्तिहेतुस्तं, पापकं वा नरकादिहेतुम्, अयमाशयः—यदि विरतौ कश्चिदर्थः सिद्धयेत्नैवं ममाज्ञानं भवेत्, कदाचित् सामान्यचर्ययैव न फलावाप्तिरत आह—तपो–भद्रमहाभद्रादि उपधानम्–आगमोपचाररूपमाचाम्लादि 'आदाय' स्वीकृत्य चरित्वेतियावत् 'प्रतिमां' मासिक्यादिभिक्षुप्रतिमां 'पडिवज्जिय'त्ति प्रतिपद्याङ्गीकृत्य, पठ्यते च–'पडिमं पडिवज्जओ'त्ति प्रतिपद्यमानस्य–अभ्युपगच्छतः, 'एवमपि' विशेषचर्ययाऽपि, आस्तां सामान्यचर्ययेत्यपि

१ दुष्प्रत्यजा इमे कामाः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४२--४३॥

दीप अनुक्रम [९१-९२]

शब्दार्थः 'विहरतो'त्ति निष्प्रतिबन्धत्वेनानियतं विचरतः छादयतीति छद्म–ज्ञानावरणादिकर्म 'न निवर्त्तते' नापैतीति भिक्षुः न चिन्तयेदित्युत्तरेण सम्बन्धः । अज्ञानाभावपक्षे तु समस्तशास्त्रार्थनिष्कनिकषोपलकल्पमा(ता)यामपि न दर्प्पाध्मातमानसो भवेत्, किन्तु–'पूर्वपुरुषसिंहानां विज्ञानातिशयसागरानन्त्यम् । श्रुत्वा साम्प्रतपुरुषाः कथं स्वबुद्धया मदं यान्ति ?, ॥१॥' इति परिभावयन् विगलितावलेपः सन्नेवं भावयेत्–'णिरट्ठयं' सूत्रद्वयम्, अक्षरगमनिका सैव, णवरं 'निरट्ठयंमिऽवि' निरर्थकेऽपि प्रक्रमात् प्रज्ञावलेपे रतो, मैथुनात् सुसंवृतः सन्निरुद्धात्मा सन् योऽहं 'साक्षात्' समक्षं नाभिजानामि धर्मं कल्याणं पापकं वा, अयमभिप्रायः–'जे एगं जाणति से सव्वं जाणति (जे सव्वं जाणति) से एगं जाणति'इत्यागमात् छद्मस्थोऽहमेकमपि धर्म्मं वस्तुस्वरूपं न तत्त्वतो वेद्मि, ततः साक्षाद्भावस्वभावावभासि चेन्न विज्ञानमस्ति किमितोऽपि मुकुलितवस्तुस्वरूपपरिज्ञानतोऽवलेपेनेति भावः, तथा तपउपधानादिभिरप्युपक्रमणहेतुभिः उपक्रमयितुमशक्ये छद्मनि दारुणे वैरिणि प्रतपति कः किल ममाहङ्कारावसर इति सूत्रद्वयार्थः ॥ ४२—४३ ॥ साम्प्रतमावृत्त्या पुनः सूत्रद्वारमङ्गीकृत्य प्रकृतसूत्रोपक्षिप्तमज्ञानसद्भाव उदाहरणमाह—

परितंतो वायणाए गंगाकूले पिया असगडाए । संवच्छरेहऽहिज्जइ बारसहि असंखयज्झयणं ॥ १२१ ॥

१ य एकं जानाति स सर्वं जानाति यः सर्वं जानाति स एकं जानाति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४२--४३॥

दीप अनुक्रम [९१-९२]

व्याख्या—'परितान्तः' खिन्नो वाचनया गङ्गाकूले पिताऽशकटायाः संवत्सरैरधीते द्वादशभिरसंस्कृताध्ययनमिति गाथाक्षरार्थः ॥ १२१ ॥ भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः, स चायम्—

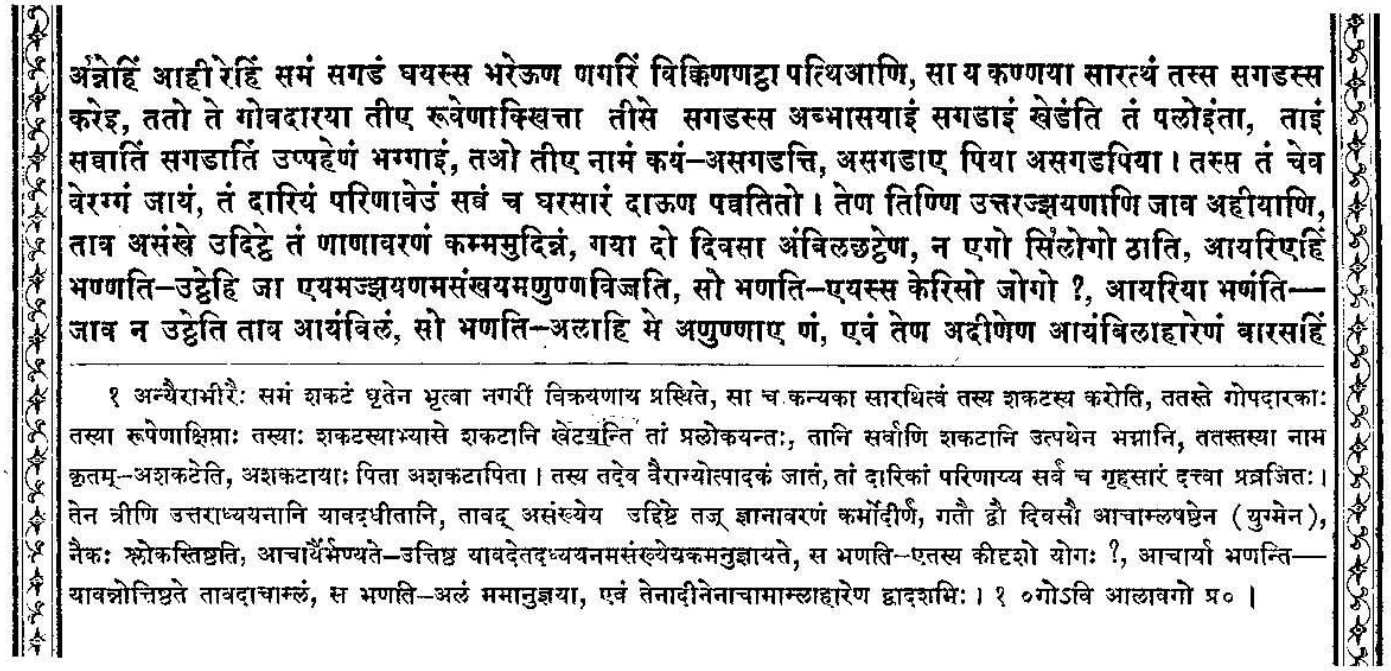
गंगाकूले दोन्नि साहू पव्वइया भायरो, तत्थ एगो बहुसुतो एगो अप्पसुतो, तत्थ जो सो बहुसुतो सो सीसेहिं सुत्तत्थनिमित्तमुवसप्पंतेहिं दिवसतो विरेगो नत्थि, रत्तिंपि पडिपुच्छणसिक्खगाईहिं सुइयं न लहइ, जो सो अप्पसुतो सो रत्तिं सव्वं सुयइ । अन्नया कयाई सो आयरिओ णिद्दापरिखेइतितो चिंतेति—अहो मे भाया पुण्णवंतो जो सुयइ, अम्हं पुण मंदपुण्णाणं सुइउंपि ण लब्भइ, तेण णाणावरणिज्जं कम्मं बद्धं, सो तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंतो कालमासे कालं किच्चा देवलोएसु उववण्णो । तओ चुतो इहेव भारहे वासे आहीरघरे दारतो जातो, कमेण वड्ढितो जोवणत्थो वीवाहितो, दारिया जाया, अतीव रूववती, सा य भद्दकन्नया । कयाइ ताणि पियापुत्ताणि

१ गङ्गाकूले द्वौ साधू प्रव्रजितौ भ्रातरौ, तत्रैको बहुश्रुत एकोऽल्पश्रुतः, तत्र यः स बहुश्रुतः स शिष्यैः सूत्रार्थनिमित्तमुपसर्पद्भिर्दिवसतः क्षणो नास्ति, रात्रावपि प्रतिप्रच्छनाशिक्षणादिभिः स्वपितुं न लभते, यः सोऽल्पश्रुतः स रात्रौ सर्वां स्वपिति । अन्यदा कदाचित्स आचार्यो निद्रापरिखेदितश्चिन्तयति—अहो मम भ्राता पुण्यवान् यः स्वपिति, अस्माभिः पुनर्मन्दपुण्यैः स्वपितुमपि न लभ्यते, तेन ज्ञानावरणीयं कर्म बद्धं, स तस्मात् स्थानात् अनालोचितप्रतिक्रान्तः कालमासे कालं कृत्वा देवलोकेषूत्पन्नः । ततश्च्युतः इहैव भारते वर्षे आभीरगृहे दारको जातः, क्रमेण वृद्धो यौवनस्थो विवाहितः, दारिका जाता, अतीव रूपवती, सा च भद्रकन्यका । कदाचित् ते पितापुत्र्यौ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४२--४३॥

दीप अनुक्रम [९१-९२]



अन्नेहिं आहीरेहिं समं सगडं घयस्स भरेऊण णगरिं विक्किणणट्ठा पत्थिआणि, सा य कण्णया सारत्थं तस्स सगडस्स करेइ, ततो ते गोवदारया तीए रूवेणाक्खित्ता तीसे सगडस्स अब्भासयाइं सगडाइं खेडंति तं पलोइंता, ताइं सव्वातिं सगडातिं उप्पहेणं भग्गाइं, तओ तीए नामं कयं–असगडत्ति, असगडाए पिया असगडपिया। तस्स तं चेव वेरग्गं जायं, तं दारियं परिणावेउं सव्वं च घरसारं दाऊण पव्वतितो। तेण तिण्णि उत्तरज्झयणाणि जाव अहीयाणि, ताव असंखे उद्दिट्ठे तं णाणावरणं कम्ममुदिन्नं, गया दो दिवसा अंबिलछट्ठेण, न एगो सिलोगो ठाति, आयरिएहिं भण्णति–उट्ठेहि जा एयमज्झयणमसंखयमणुण्णविज्जति, सो भणति–एयस्स केरिसो जोगो ?, आयरिया भणंति–जाव न उट्ठेति ताव आयंबिलं, सो भणति–अलाहि मे अणुण्णाए णं, एवं तेण अदीणेण आयंबिलाहारेणं बारसहिं

१ अन्यैराभीरैः समं शकटं घृतेन भृत्वा नगरीं विक्रयणाय प्रस्थिते, सा च कन्यका सारथित्वं तस्य शकटस्य करोति, ततस्ते गोपदारकाः तस्या रूपेणाक्षिप्ताः तस्याः शकटस्याभ्यासे शकटानि खेटयन्ति तां प्रलोकयन्तः, तानि सर्वाणि शकटानि उत्पथेन भग्नानि, ततस्तस्या नाम कृतम्–अशकटेति, अशकटायाः पिता अशकटापिता। तस्य तदेव वैराग्योत्पादकं जातं, तां दारिकां परिणाय्य सर्वं च गृहसारं दत्त्वा प्रव्रजितः। तेन त्रीणि उत्तराध्ययनानि यावदधीतानि, तावद् असंख्येय उद्दिष्टे तज् ज्ञानावरणं कर्मोदीर्णं, गतौ द्वौ दिवसौ आचाम्लषष्ठेन (युग्मेन), नैकः श्लोकस्तिष्ठति, आचार्यैर्भण्यते–उत्तिष्ठ यावदेतदध्ययनमसंख्येयकमनुज्ञायते, स भणति–एतस्य कीदृशो योगः ?, आचार्या भणन्ति–यावन्नोत्तिष्ठते तावदाचाम्लं, स भणति–अलं ममानुज्ञया, एवं तेनादीनेनाचामाम्लाहारेण द्वादशभिः। १ ०गोऽवि आलावगो प्र०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ॥४२--४३॥

दीप अनुक्रम [९१-९२]

संवच्छरेहिमहिज्झियमज्झयणमसंखयं, खवियं तं कम्मं, सेसं लहुं चेव अहिज्जियं ॥ एवमज्ञानपरीषहः सोढव्यः, प्रतिपक्षे च भौमद्वारं, तत्राप्येतत्सूत्रसूचितमिदमुदाहरणं—

इमं च एरिसं तं च तारिसं पिच्छ केरिसं जायं ?। इय भणइ थूलभद्दो सन्नाइघरं गओ संतो ॥१२२॥

व्याख्या—'इदं चे'ति द्रव्यम् 'ईदृशमि'ति स्तम्भमूलस्थितमतिप्रभूतं च, अतिशयज्ञानित्वेन तस्य हृदि विपरिवर्त्तमानतया द्रव्यस्येदमा निर्देशः, 'तच्चे'ति तस्याज्ञानतः परिभ्रमणं 'तादृशमि'ति विप्रकृष्टदुर्गदेशान्तरविषयं, पश्य कीदृशं ? केन सदृशं ? जातं, न केनापि, कश्चिद्गृहे सति द्रव्ये द्रव्यार्थी बहिर्भ्राम्यति ?, इति भावः, 'इती'त्येवं भणति स्थूलभद्रः 'स्वज्ञातिः' अत्यन्तसुहृत्तद्गृहं गतः सन्निति गाथार्थः ॥ १२२ ॥ सम्प्रदायश्चात्र—

थूलभद्दो आयरिओ बहुसुतो, तस्स एगो पुव्विं मित्तो होत्था, सन्नायगोऽवि य। सो सूरी विहरंतो तस्स घरं गतो महिलं पुच्छति–सो अमुको कहिं गतोत्ति ?, सा भणइ–वाणिज्जेणं, तं च घरं पुव्विं लट्ठं आसि, पच्छा सडियपडियं जायं, तस्स पुव्विल्लएहिं एगस्स खंभस्स हेट्ठा भूमीए दव्वं निहेलयं, तं सो आयरितो णाणेण जाणति, पच्छा तेणं

१ संवत्सरैरधीतमध्ययनमसंख्यकं, क्षपितं तत् कर्म, शेषं लघ्वेवाधीतम्। २ स्थूलभद्र आचार्यो बहुश्रुतः, तस्यैकः पूर्वमित्रमभूत्, सज्ञातीयोऽपि च। स सूरिर्विहरन् तस्य गृहं गतो महेलां पृच्छति—सोऽमुकः क गत इति, सा भणति—वाणिज्याय, तच्च गृहं पूर्वं लष्टमासीत्, पश्चाच्छटितपतितं जातं, तस्य पूर्वजैः एकस्य स्तम्भस्याधस्ताद् भूमौ द्रव्यं निहितं, तत्स आचार्यो ज्ञानेन जानाति, पश्चात्तेन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४२--४३॥

दीप अनुक्रम [९१-९२]

तओहुत्तं हत्थं काउं भण्णति–'इमं च एरिसं तं च तारिसमित्यादिगाथा' इमं च एरिसं दव्वजायं, सो अण्णाणेणं भमइ, एवं च भणमाणे जणो जाणति, जहा–घरमेव पुव्विं लट्ठं इयाणिं तु सडियपडियं दट्ठुं अणिच्चयाणिरूवणत्थं भयवं दंसेइ । सो य आगतो, महिलाए सिट्ठं–जहा थूलभद्दो आगतो आसि, सो भणति–थूलभद्देण किंचि भणियं ?, ण किंचि, णवरं खंभहुत्तं हत्थं दायंतो भणियाइओ–'इमं च एरिसमित्यादि,' तेण पंडिएण णायं–जहा एत्थ अवस्सं किंचि अत्थि, तेण खाणियं जाव णाणापगाररयणाण भरियं कलसं पेच्छइ । तेण णाणपरीसहो णाहियासिओ ॥ नैवं शेषसाधुभिः कर्त्तव्यम् । इह च प्रज्ञाज्ञानयोर्भावाभावाभ्यां सूत्रे परीषहत्वेनोपवर्णनं निर्युक्तौ चाज्ञानपरीषहे तथैवोदाहरणद्वयोपवर्णनमन्यत्रापि यथासम्भवमेवं भावनीयमिति ज्ञापनार्थं ॥ साम्प्रतमज्ञानाद्दर्शनेऽपि संशयीत कश्चिदिति तत्परीषहमाह—

१ तत्संमुखं हस्तं कृत्वा भण्यते–इदं चेदृशं तच्च तादृशमित्यादिगाथा, इदं चेदृशं द्रव्यजातं, सोऽज्ञानेन भ्राम्यति, एवं च भणति जनो जानाति, यथा–गृहमेव पूर्वं लष्टमिदानीं तु शटितपतितं दृष्ट्वा अनित्यतानिरूपणार्थं भगवान् दर्शयति । स चागतः, महेलया शिष्टं—यथा स्थूलभद्र आगत आसीत्, स भणति–स्थूलभद्रेण किञ्चित् भणितं ?, न किञ्चित्, नवरं स्तम्भसंमुखं हस्तं दर्शयन् भणितवान्—इदं चेदृशमित्यादि, तेन पण्डितेन ज्ञातं—यथाऽत्रावश्यं किञ्चिदस्ति, तेन खानितं यावन्नानाप्रकाररत्नैर्भृतं कलशं पश्यति । तेन ज्ञानपरीषहो नाध्यासितः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४४॥

दीप अनुक्रम [९३]

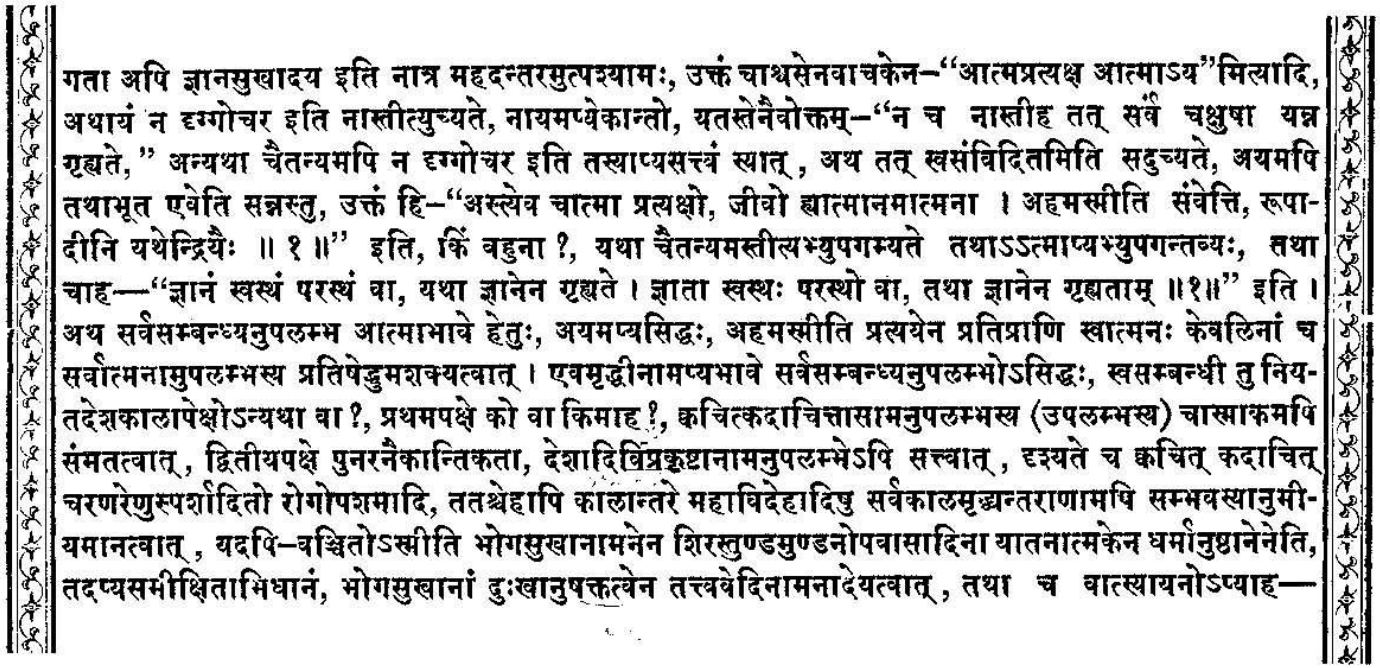
णत्थि णूणं परे लोए, इड्ढी वावि तवस्सिणो । अदुवा वंचिओमित्ति, इइ भिक्खू ण चिंतए॥४४॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'नास्ति' न विद्यते 'नूनं' निश्चितं 'परलोको' जन्मान्तरमित्यर्थः, भूतचतुष्टयात्मकत्वाच्छरीरस्य, तस्य चेहैव पातात्, चैतन्यस्य च भूतधर्मभूतत्वात्, तदतिरिक्तस्य चात्मनः प्रत्यक्षतोऽनुपलभ्यमानत्वाद्, 'ऋद्धिर्वा' तपोमाहात्म्यरूपा, अपिः पूरणे, कस्य ?–तपस्विनः, सा च आमर्शौषध्यादिः–'पादरजसा प्रशमनं सर्वरुजां साधवः क्षणात्कुर्युः । त्रिभुवनविस्मयजननान् दद्युः कामांस्तृणाग्राद्वा ॥ १ ॥ धर्माद्रलोन्मिश्रितकाञ्चनवर्षादिसर्गसामर्थ्यम् । अद्भुतभीमोरुशिलासहस्रसम्पातशक्तिश्च ॥ २ ॥' इत्यादिका च, तस्या अप्यनुपलभ्यमानत्वादिति भावः, 'अदुव'त्ति अथवा, किंबहुना ?–वञ्चितोऽस्मि भोगानामिति गम्यते 'इती'त्यमुना शिरस्तुण्डनोपवासादिना यातनात्मकेन धर्मानुष्ठानेन, उक्तं च—"तपांसि यातनाश्चित्राः, संयमो भोगवञ्चना"इत्यादि, 'इती'त्यनन्तरमुपदर्शितं भिक्षुः 'न चिन्तयेत्' न ध्यायेत्, परिफल्गुरूपत्वादस्य, तथाहि—यत्तावदुक्तं–'भूतचतुष्टयात्मकत्वाच्छरीरस्य जन्मान्तराभाव' इति, तदसत्, न हि शरीरस्य जन्मान्तरानुयायित्वमस्माभिरुच्यते, किन्त्वात्मनः, न च भूतधर्म्म एव चैतन्ये आत्मव्यपदेशः, तस्य तद्धर्मत्वेनोत्तरत्र निषेत्स्यमानत्वात्, यदपि ऋद्धिर्वा तपस्विनो नास्ति, तदपि वचनमात्रमेव, अथात्मन ऋद्धीनां चाभावे अनुपलम्भो हेतुरुक्तः, सोऽपि स्वसम्बन्धी सर्वसम्बन्धी वा ?, तत्र न तावदात्मनोऽभावे स्वसम्बन्ध्यनुपलम्भो हेतुः, स्वयं तस्य घटादिवदुपलभ्यमानत्वात्, यथैव हि घटादिगता रूपादय उपलभ्यन्ते, तथा आत्म-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४४॥

दीप अनुक्रम [९३]



गता अपि ज्ञानसुखादय इति नात्र महदन्तरमुत्पश्यामः, उक्तं चाश्वसेनवाचकेन–"आत्मप्रत्यक्ष आत्माऽय"मित्यादि, अथायं न दृग्गोचर इति नास्तीत्युच्यते, नायमप्येकान्तो, यतस्तेनैवोक्तम्–"न च नास्तीह तत् सर्वं चक्षुषा यन्न गृह्यते," अन्यथा चैतन्यमपि न दृग्गोचर इति तस्याप्यसत्त्वं स्यात्, अथ तत् स्वसंविदितमिति सदुच्यते, अयमपि तथाभूत एवेति सन्नस्तु, उक्तं हि–"अस्त्येव चात्मा प्रत्यक्षो, जीवो ह्यात्मानमात्मना । अहमस्मीति संवेत्ति, रूपादीनि यथेन्द्रियैः ॥ १ ॥" इति, किं बहुना ?, यथा चैतन्यमस्तीत्यभ्युपगम्यते तथाऽऽत्माप्यभ्युपगन्तव्यः, तथा चाह—"ज्ञानं स्वस्थं परस्थं वा, यथा ज्ञानेन गृह्यते । ज्ञाता स्वस्थः परस्थो वा, तथा ज्ञानेन गृह्यताम् ॥१॥" इति । अथ सर्वसम्बन्ध्यनुपलम्भ आत्माभावे हेतुः, अयमप्यसिद्धः, अहमस्मीति प्रत्ययेन प्रतिप्राणि स्वात्मनः केवलिनां च सर्वात्मनामुपलम्भस्य प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात् । एवमृद्धीनामप्यभावे सर्वसम्बन्ध्यनुपलम्भोऽसिद्धः, स्वसम्बन्धी तु नियतदेशकालापेक्षोऽन्यथा वा ?, प्रथमपक्षे को वा किमाह ?, क्वचित्कदाचित्तासामनुपलम्भस्य (उपलम्भस्य) चास्माकमपि संमतत्वात्, द्वितीयपक्षे पुनरनैकान्तिकता, देशादिविप्रकृष्टानामनुपलम्भेऽपि सत्त्वात्, दृश्यते च क्वचित् कदाचित् चरणरेणुस्पर्शादितो रोगोपशमादि, ततश्चेहापि कालान्तरे महाविदेहादिषु सर्वकालमृद्ध्यन्तराणामपि सम्भवस्यानुमीयमानत्वात्, यदपि–वञ्चितोऽस्मीति भोगसुखानामनेन शिरस्तुण्डमुण्डनोपवासादिना यातनात्मकेन धर्मानुष्ठानेनेति, तदप्यसमीक्षिताभिधानं, भोगसुखानां दुःखानुषक्तत्वेन तत्त्ववेदिनामनादेयत्वात्, तथा च वात्स्यायनोऽप्याह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४४॥

दीप अनुक्रम [९३]

"तद्यथा–विषसम्पृक्तमन्नमनादेयमेवं दुःखानुषक्तं सुखमनादेय"मिति, प्रयोगश्च–यद्विपक्षानुविद्धं न तत्तत्त्वतस्तदेव, यथा विषव्यामिश्रमन्नम्, अतृप्तिकाङ्क्षाशोकादिनिमित्तं च वैषयिकं सुखं, न चास्यासिद्धता, कालत्रये यथायोगमतृप्त्यादीनां प्रतिप्राणि स्वसंविदितत्वात्, नापि तपसो यातनात्मकत्वं, मनइन्द्रिययोगानामहान्यैव तत्प्रतिपादनात्, उक्तं हि–"मनइन्द्रिययोगानामहानिश्चोदिता जिनैः। यतोऽत्र तत्कथं तस्य, युक्ता स्यात् दुःखरूपता ? ॥ १ ॥" शिरस्तुण्डमुण्डनादेश्च किञ्चित्पीडात्मकत्वेऽपि समीहितार्थसम्पादकत्वेन न दुःखदायकता, यदुक्तम्–"दृष्टा चेष्टार्थसंसिद्धौ, कायपीडाऽप्यदुःखदा। रत्नादिवणिगादीनां, तद्वदत्रापि भाव्यताम् ॥ १ ॥" प्रयोगश्च–यदिष्टार्थप्रसाधकं न तत्कायपीडात्मकत्वेऽपि दुःखदायि, यथा रत्नवणिजामध्वश्रमादि, इष्टार्थप्रसाधकं च तपः, न चास्याप्यसिद्धता, प्रशमहेतुत्वेन तपसस्तत्परिपक्तितारतम्यात्परमानन्दतारतम्यस्यानुभूयमानत्वेन तत्प्रकर्षे तस्यापि प्रकर्षानुमानात्, प्रयोगश्च–यत्तारतम्येन यस्य तारतम्यं तस्य प्रकर्षे तत्प्रकर्षो, यथाऽग्नितापप्रकर्षे तपनीयविशुद्धिप्रकर्षः, अनुभूयते च प्रशमतारतम्येन परमानन्दतारतम्यं, लोकप्रतीतत्वाच्चेति सूत्रार्थः ॥ ४४ ॥ तथा—

अभू जिणा अत्थि जिणा, अदुवावि भविस्सइ। मुसं ते एवमाहंसु, इति भिक्खू न चिंतए ॥४५॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'अभूवन्' आसन् 'जिनाः' रागादिजेतारः, अस्तीति विभक्तिप्रतिरूपको निपातः, ततश्च विद्यन्ते जिनाः, अस्य कर्मप्रवादपूर्वसप्तदशप्राभृतोद्धततया वस्तुतः सुधर्मस्वामिनैव जम्बुस्वामिनं प्रति प्रणीतत्वात्, तत्काले च

॥१३२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४५॥

दीप अनुक्रम [९४]

जिनसम्भवादित्थमुक्तं, विदेहादिक्षेत्रान्तरापेक्षया वेति भावनीयं, 'अदुवे'ति अथवा, अपिः भिन्नक्रमो 'भविस्सइ'त्ति वचनव्यत्ययाद्भविष्यन्ति, जिना इत्यपि 'मृषा' अलीकं, 'ते' जिनास्तित्ववादिनः, 'एवम्' अनन्तरोक्तन्यायेन 'आहंसु'त्ति आहुः ब्रुवत इति भिक्षुर्न चिन्तयेत्, जिनस्य सर्वज्ञाधिक्षेपप्रतिक्षेपादिषु प्रमाणोपपन्नतया प्रतिपादनात् तदुपदेशमूलत्वाच्च सकलैहिकामुष्मिकव्यवहाराणामिति सूत्रार्थः ॥ ४५ ॥ इदानीं शिष्यागमनद्वारं, तत्र च 'नत्थि नूणं परे लोए' इति सूत्रावयवसूचितमुदाहरणमाह—

ओहाविउकामोऽवि य अज्जासाढो उ पणीयभूमीए। काऊण रायरूवं पच्छा सीसेण अणुसिट्ठो ॥१२३॥

व्याख्या—'अवधावितुकामोऽपि' उन्निष्क्रमितुकामोऽपि, चः पूरणे, आर्याषाढस्तु 'पणितभूमौ' व्यवहारभूमौ हट्टमध्य इत्यर्थः, कृत्वा राजरूपं पश्चाच्छिष्येणानुशिष्ट इति गाथाक्षरार्थः ॥ १२३ ॥ भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः, स चायम्—

अत्थि वच्छाभूमीए अज्जासाढा णामायरिया बहुस्सुया बहुसीसपरिवारा य, तत्थ गच्छे जो कालं करेइ तं निज्जावेंति भत्तपच्चक्खाणाइणा, तो बहवो णिज्जामिया । अन्नया एगो अप्पणतो सीसो आयरतरेण भणितो–देवलो-

१ अस्ति वत्सभूमौ आर्याषाढा नामाचार्या बहुश्रुता बहुशिष्यपरीवाराश्च, तत्र गच्छे यः कालं करोति तं निर्यामयन्ति भक्तप्रत्याख्यानादिना, ततो बहवो निर्यामिताः । अन्यदा एक आत्मीयः शिष्य आदरतरेण भणितः–देवलो-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४५॥

दीप अनुक्रम [९४]

गांतो आगंतूण मम दरिसणं देज्जासु, ण य सो आगतो वक्खित्तचित्तत्तणओ, पच्छा सो चिंतेइ–सुबहुं कालं किलिट्ठोऽहं, सलिंगेणं चेव ओहावइ, पच्छा तेण सीसेण देवलोगगएण आभोईतो, पेच्छइ–ओहावेंतं, पच्छा तेण तस्स पहे गामो विउवितो णडपेच्छा य, सो तत्थ छम्मासे पेक्खंतो अच्छितो, ण छुहं ण तण्हं कालं वा दिवप्पभावेण वेएति, पच्छा तं संहरिउं गामस्स बहिं विजणे उज्जाणे छद्दारए सव्वालंकारविभूसिए विउवति संजमपरिक्खत्थं, दिट्ठा तेण ते, गिण्हामि एसिमाहरणगाणि, वरं सुहं जीवंतोत्ति, सो एगं पुढविदारयं भणइ–आणेहि आभरणगाणि, सो भणइ–भगवं ! एगं ताव मे अक्खाणयं सुणेहि, तओ पच्छा गिण्हिज्जासि, भणइ–सुणेमि, सो भणइ–एगो कुंभकारो, सो मट्टियं खणंतो तडीए अक्कंतो, सो भणइ—

१० कादागत्य मह्यं दर्शनं दद्याः, न च स आगतो व्याक्षिप्तचित्तत्वात्, पश्चात्स चिन्तयति—सुबहुकालं क्लिष्टोऽहं, स्वलिङ्गेनैवावधावति, पश्चात्तेन शिष्येण देवलोकगतेनाभोगितः, पश्यति—अवधावन्तं, पश्चात्तेन तस्य पथि ग्रामो विकुर्वितः नटप्रेक्षणकं च, स तत्र षण्मासान् प्रेक्षमाणः स्थितः, न क्षुधं न तृष्णां कालं वा दिव्यप्रभावेण वेदयति, पश्चात्तत् संहृत्य ग्रामाद्बहिर्विजने उद्याने षड् दारकान् सर्वालङ्कारविभूषितान् विकुर्वति संयमपरीक्षार्थं, दृष्टास्तेन ते, गृह्याम्येषामाभरणानि, वरं सुखं जीवन्निति, स एकं पृथ्वीदारकं भणति–आनय आभरणानि, स भणति–भगवन् ! एकं तावन्ममाख्यानकं शृणु, ततः पश्चात् गृहीयाः, भणति—शृणोमि, स भणति–एकः कुम्भकारः, स मृत्तिकां खनन् तट्याऽऽक्रान्तः, स भणति–

॥१३३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४५॥

दीप अनुक्रम [९४]

जेण भिक्खं बलिं देमि, जेण पोसेमि नायए । सा मे मही अक्कमइ, जायं सरणओ भयं ॥ १२४ ॥

व्याख्या—'जेण'त्ति प्राकृतशैल्या यया भिक्षां बलिं ददामि, यथाक्रमं भिक्षुदेवेभ्य इति गम्यते, 'जेण'त्ति यया पोषयामि 'नायए'त्ति ज्ञातीन्, सा 'मे'त्ति मां मही 'आक्रामति' अवष्टभ्नाति 'जातम्' उत्पन्नं, शरणतो भयम् इति श्लोकार्थः ॥ १२४ ॥ अयमिहोपनयः–चौरभयादहं भवन्तं शरणमागतः, त्वं च एवं विलुम्पसि, ततो ममापि जातं शरणतो भयम्, एवमुत्तरत्राप्युपनया भावनीयाः, तेणं भण्णइ–अइपंडियवाइतोऽसित्ति घेत्तूण आभरणगाणि पडिग्गहे छूढाणि । गओ पुढविकाइतो, इयाणिं आउक्काओ बीओ, सोऽवि अक्खाणयं कहेइ–जहा एगो तालायरो कहाकहओ पाडलओ णाम, सो अन्नया गंगं उत्तरंतो उवरि वुट्ठोदएण हीरति, तं पासिऊण जणो भणइ–

बहुस्सुयं चित्तकहं, गंगा वहइ पाडलं । वुज्झमाणग ! भद्दं ते, लव ता किंचि सुहासियं ॥ १२५ ॥

व्याख्या—'बहुश्रुतं' बहुविधं 'चित्रकथं' नानाकथाकथकं गङ्गा वहति 'पाडलं' पाटलनामकम्, उह्यमानक !

१ तेन भण्यते–अतिपण्डितवादिकोऽसीति गृहीत्वाऽऽभरणानि प्रतिग्रहे क्षिप्तानि । गतः पृथ्वीकायिकः, इदानीमप्कायो द्वितीयः, सोऽप्याख्यानकं कथयति—यथैकस्तालाचरः कथाकथकः पाटलो नाम, सोऽन्यदा गङ्गामुत्तरन् उपरि वृष्टोदकेन ह्रियते, तं दृष्ट्वा जनो भणति–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४५॥

दीप अनुक्रम [९४]

भद्रं ते, 'लप' ब्रूहि 'ता' इति तावद्यावदद्यापि दूरं न नीयस इति भावः, 'किञ्चित्' अल्पं 'सुभाषितं' सूक्तमिति श्लोकार्थः ॥ १२५ ॥ सोऽवादीत्—

जेण रोहंति बीयाणि, जेण जीयंति कासया । तस्स मज्झे विवज्जामि, जा० ॥ १२६ ॥

व्याख्या—'येन' जलेन 'रोहन्ति' प्रादुर्भवन्ति बीजानि, येन 'जीवन्ति' प्राणधारणं कुर्वन्ति 'कर्षकाः' कृषीवलाः तस्य मध्ये 'विवज्जामि'त्ति विपद्ये म्रिये, जातं शरणतो भयमिति श्लोकार्थः ॥ १२६ ॥ तस्सवि तहेव गिण्हति । एस आउक्कातो गतो, इयाणिं तेउक्कातो तइतो, तहेव अक्खाणयं कहेइ–एगस्स तावसस्स अग्गिणा उडओ दड्ढो, पच्छा सो भणति—

जमहं दिया य राओ य, तप्पेमि महुसप्पिसा । तेण मे उडओ दड्ढो, जा० ॥ १२७ ॥

व्याख्या—यमहं दिवा च रात्रौ च 'तर्पयामि' प्रीणयामि मधुसर्पिषा, तेनार्थादग्निना मे 'ओटजः' तापसाश्रमो दग्धो, जातं शरणतो भयमिति श्लोकार्थः ॥ १२७ ॥ अथवा—

१ तस्यापि तथैव गृह्णाति । एषोऽप्कायो गतः, इदानीं तेजस्कायस्तृतीयः, तथैव आख्यानकं कथयति–एकस्य तापसस्य अग्निना उटजो दग्धः, पश्चात् स भणति–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४५॥

दीप अनुक्रम [९४]

वग्घस्स मए भीएणं, पावगो सरणं कओ। तेण दड्ढं ममं अंगं, जा० ॥ १२८ ॥

व्याख्या—'वग्घस्स'त्ति सुव्व्यत्ययात् 'व्याघ्रात्' पुण्डरीकात् मया भीतेन 'पावकः' अग्निः शरणीकृतः, तेनाङ्ग-शरीरं मम दग्धं, जातं शरणतो भयमिति श्लोकार्थः ॥ १२८ ॥ तस्सवि तहेव गिण्हइ। एस तेउक्काओ, इयाणिं वाउक्काओ चउत्थो, तहेव अक्खाणयं कहेति–जहा एगो जुवाणो घणनिचियसरीरो, सो पच्छा वाएहिं गहितो, अन्नेण भण्णति—

लंघणपवणसमत्थो पुवं होऊण संपइं कीस?। दंडयगहियग्गहत्थो वयंस! को नामओ वाही?॥१२९॥

व्याख्या—लङ्घनम्–उत्प्लुत्य गमनं प्लवनं–धावनं तत्समर्थः पूर्वं भूत्वा साम्प्रतं 'कीस'त्ति कस्मात् 'दण्डयगहि-यग्गहत्थो'त्ति प्राकृतत्वात् गृहीतदण्डाग्रहस्तो, गच्छसीति गम्यते, तदयं ते वयस्य! किंनामको व्याधिरिति गाथार्थः ॥ १२९ ॥ स प्राह—

जिट्ठासाढेसु मासेसु, जो सुहो वाइ मारुओ। तेण मे भज्जए अंगं, जा० ॥ १३० ॥

१ तस्यापि तथैव गृह्णाति। एष तेजस्कायः, इदानीं वायुकायश्चतुर्थः, तथैव आख्यानकं कथयति–यथैको युवा घननिचितशरीरः, स पश्चाद्वातेन गृहीतः, अन्येन भण्यते–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४५॥

दीप अनुक्रम [९४]

व्याख्या—ज्येष्ठाषाढयोर्मासयोर्यः शुभशैत्यादिगुणान्वितत्वेन शोभनो वाति 'मारुतो' वायुः, तेन (मे मम) भज्यतेऽङ्गं, तस्य मेघोन्नतिसम्भवत्वेन वातप्रकोपादिति भावः, एवं च जातं शरणतो भयं, धर्म्मार्हितानां हि शरणमयमिति श्लोकार्थः ॥ १३० ॥ अथवा—

जेण जीवंति सत्ताणि, निरोहंमि अणंतए। तेण मे भज्जए अंगं, जायं० ॥ १३१ ॥

व्याख्या—'जेण' इत्यादि, येन वातेन जीवन्ति सत्त्वानि 'निरोधे' प्रक्रमाद्वातस्य 'अनन्तके' अपरिमिते, तेन मे भज्यतेऽङ्गं जातं शरणतो भयमिति श्लोकार्थः ॥१३१॥ तस्संवि तहेव गिण्हइ। एस वाउक्काओ गतो, इयाणिं वणस्सइकाइतो पंचमो, तहेव अक्खाणं कहेति, जहा एगंमि रुक्खे केसिंपि सउणाण आवासो, तहियं पिल्लगाणि जायाणि, पच्छा रुक्खब्भासाओ वल्ली उट्ठिया, रुक्खं वेढंती उवरिं विलग्गा, वेल्लीअणुसारेण सप्पेण विलग्गिऊण ते पिल्लगा खइया, पच्छा सेसगा भणन्ति—

जाव वुच्छं सुहं वुच्छं, पादवे निरुवद्दवे। मूलाउ उट्ठिया वल्ली, जा० ॥ १३२ ॥

१ तस्यापि तथैव गृह्णाति। एष वायुकायो गतः, इदानीं वनस्पतिकायिकः पञ्चमः, तथैवाख्यानं कथयति—यथा एकस्मिन् वृक्षे केषाञ्चिदपि शकुनानामावासः, तत्रापत्यानि जातानि, पश्चात् वृक्षाभ्यासात् वल्ली उत्थिता, वृक्षं वेष्टयन्ती उपरि विलग्ना, वल्ल्यनुसारेण सर्पेण विलग्य तान्यपत्यानि खादितानि, पश्चात् शेषा भणन्ति—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४५॥

दीप अनुक्रम [९४]

व्याख्या—यावदुषितं सुखमुषितं पादपे निरुपद्रवे, इदानीं मूलादुत्थिता वल्ली ततो वृक्षादेव तत्त्वतो भयं, स चोक्तनीत्या शरणमिति जातं शरणतो भयमिति श्लोकार्थः ॥ १३२ ॥

तस्संवि तहेव गिण्हइ । एस वणस्सतिकातो गतो, इयाणिं तसकाओ छट्ठो, तहेव अक्खाणयं कहेइ–जहा एकं नगरं परचक्केण रोहियं, तत्थ य बाहरियाए मायंगा, ते अब्भिंतरएहिं णीणिज्जंति, बाहिं परचक्केण घेप्पंति, पच्छा केणवि अन्नेण भण्णति—

अब्भिंतरया खुभिया, पिल्लंति (य) बाहिरा जणा। दिसं भयह मायंगा !, जा० ॥ १३३ ॥

व्याख्या—'अभ्यन्तरकाः' नगरमध्यवर्त्तिनः 'क्षुभिताः' परचक्रात्रस्ताः 'प्रेरयन्ति' निष्काशयन्ति, मा भूदन्नादिक्षय एभ्यो वा भेदः, चशब्दो भिन्नक्रमः, ततो 'बाह्याश्च' परचक्रलोका उपद्रवन्ति, भवत इति गम्यते, नगरसत्का एत इति, अतो दिशं भजत मातङ्गाः !, यतो जातं शरणतो भयं, नगरं हि भवतां शरणं, तत एव भयमिति श्लोकार्थः ॥ १३३ ॥ अथवा–एगत्थ नयरे सयमेव राया चोरो पुरोहिओ भंडिति (डओत्ति), ततो दोवि विहरंति, पच्छा लोओ अन्नमन्नं भणति—

---

१ तस्यापि तथैव गृह्णाति । एष वनस्पतिकायिको गतः, इदानीं त्रसकायः षष्ठः, तथैवाख्यानकं कथयति–यथैकं नगरं परचक्रेण रुद्धं, तत्र च बाहिरिकायां मातङ्गाः, तेऽभ्यन्तरैर्निष्काश्यन्ते, बहिः परचक्रेण गृह्यन्ते, पश्चात्केनाप्यन्येन भण्यन्ते– २ एकत्र नगरे स्वयमेव राजा चौरः पुरोहितो भण्डकः, ततो द्वावपि विहरतः, पश्चाल्लोकोऽन्योऽन्यं भणति–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४५॥

दीप अनुक्रम [९४]

जत्थ राया सयं चोरो, भंडिओ य पुरोहिओ । दिसं भयह नायरिया !, जायं० ॥ १३४ ॥

व्याख्या—यत्र राजा स्वयं चौरः–स्वपुरं मुष्णाति, भण्डकश्च पुरोहितः, अतो दिशं भजत नागरका ! जातं शरणतो भयमिति श्लोकार्थः ॥ १३४ ॥

अहवा एगस्स धिज्जातियस्स धूया, सा य जोव्वणत्था, पडिरूवदंसणिज्जा, सो धिज्जातितो तं पासिऊण अज्झोववण्णो, तीसे कएण अतीव दुब्बलीभूतो, बंभणीए पुच्छितो–णिब्बंधे कए कहियं, ताए भण्णति–मा अधिइं करेसु, तहा करेमि जहा केणइ पओएण संपत्ती हवति, पच्छा धूयं भणइ–अम्ह पुव्विं दारियं जक्खा भुंजंति, पच्छा वरस्स दिज्जइ, तो तव कालपक्खचउद्दसीए जक्खो एही, मा तं विमाणेसु, मा य तत्थ तुमं उज्जोयं काहिसि, तीएवि जक्खकोउहल्लेण दीवओ सरावेण ठवितो नीतो, सो य आगतो, सो तं परिभुंजिऊण रत्तिं किलंतो पासुत्तो,

१ अथवा एकस्य धिग्जातीयस्य दुहिता, सा च यौवनस्था, अप्रतिरूपदर्शनीया, स धिग्जातीयस्तां दृष्ट्वाऽध्युपपन्नः, तस्याः कृते अतीव दुर्बलीभूतः, ब्राह्मण्या पृष्टः–निर्बन्धे कृते कथितं, तया भण्यते–माऽधृतिं कार्षीः, तथा करिष्यामि यथा केनचित्प्रयोजनेन संपत्तिर्भविष्यति, पश्चाद्दुहितरं भणति–अस्माकं पूर्वं दारिकां यक्षा भुञ्जते, पश्चाद्वराय दीयते, ततस्त्वां कृष्णपक्षचतुर्दश्यां यक्ष एष्यति, मा तं विमंस्थाः, मा च तत्र त्वमुद्योतं कार्षीः, तयाऽपि यक्षकौतूहलेन दीपः शरावेण स्थगितो नीतः, स चागतः, स तां परिभुज्य रात्रौ क्लान्तः प्रसुप्तः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४५॥

दीप अनुक्रम [९४]

इमीए कोउएण सरावं फेडियं, नवरं पेच्छइ पियरं, ताए नायं–जं होइ तं होउ, इच्छाए भुंजामि भोए, पच्छा ताइं रइकिलंताइं उग्गए सूरे न पडिबुज्झंति, पच्छा बंभणी मागहियं भणइ––

अइरुग्गयए य सूरिए, चेइयथूभगए य वायसे। भित्तीगयए य आयवे, सहि! सुहिओ हु जणो न बुज्झइ॥

व्याख्या—अचिरोद्गतके च सूर्ये, कोऽभिप्रायः ?–प्रथमोदिते रवौ, चैत्यस्तूपगते च वायसे, अनेनोच्चे विवस्वतीत्याह, भित्तिगते चातपे, अनेन चोच्चतर इति, सखि ! सुखितो हुर्वाक्यालङ्कारे जनो 'न बुध्यते' न निद्रां जहाति, अनेनात्मनो दुःखितत्वं प्रकटयति, सा हि भर्तृविरहदुःखिता रात्रौ न निद्रां लब्धवतीति मागधिकार्थः ॥ १३५ ॥ पच्छा सा तीसे धूया पडिसुणित्ता पडिभणति मागहियं—

तुम एव य अम्म हे! लवे, मा हु विमाणय जक्खमागयं।जक्खहडए हु तायए, अन्नं दाणि विमग्ग तायं ॥

व्याख्या–त्वमेव चाम्ब !–मातः हे इत्यामन्त्रणे 'अलापीः' उक्तवती शिक्षासमये यथा–'मा हु'त्ति मैव 'विमाणय'त्ति

१ अनया कौतुकेन शरावं स्फेटितं, नवरं पश्यति तातं, तया ज्ञातं–यद्भवति तद्भवतु, इच्छया भुञ्जे भोगान्, पश्चात्तौ रतिक्लान्तौ उद्गते सूर्ये (अपि) न प्रतिबुध्येते, पश्चाद् ब्राह्मणी मागधिकां भणति–। २ पश्चात्तस्याः सा दुहिता प्रतिश्रुत्य प्रतिभणति मागधिकाम्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४५॥

दीप अनुक्रम [९४]

विमंस्था विमुखं कृथा यक्षमागतं, यक्षाहृतको'हु'त्ति खलु तातकोऽन्यमिदानीं 'विमार्गय' अन्वेषय तातकमिति मागधिकार्थः ॥ १३६ ॥ पच्छा सा धिज्जाइणी भणइ—

नवमास कुच्छीइ धालिया, पासवणे पुलिसे य मद्दिए।
धूया मे गेहिए हडे, सलणए असलणए य मे जायए ॥ १३७ ॥

व्याख्या—नव मासान् कुक्षौ धारिता या, प्रश्रवणं पुरीषं च मर्दितं यस्या इति गम्यते, 'धूय'त्ति दुहिता च, गम्यमानत्वात्तया, 'मे' मम 'गेहको' भर्त्ता 'हृतः' चौरितोऽतो हेतोः, शरणकमशरणकम् , अपकारित्वान्मे जातमिति मागधिकार्थः ॥ १३७ ॥ अहवा एगेण धिज्जाइएण तलायं खणावियं, तत्थेव पालीए देसे देउलमारामो कतो, तत्थ तेण जन्नो पवत्तिओ, छगलका जत्थ मारिज्जंति। अन्नया कयाइ सो धिज्जाइतो मरिऊण छगलको चेवायाओ, सो य घित्तूण अप्पणिज्जेहिं पुत्तेहिं तस्स चेव तलाए जन्ने मारिउं णिज्जति, सो य जाईस्सरो णिज्जमाणो अप्पणिज्जियाए

१ पश्चात् सा धिग्जातीया भणति—। २ अथवैकेन धिग्जातीयेन तटाकं खानितं, तत्रैव पाल्यां देशे देवकुलमारामः (च) कृतः, तत्र तेन यज्ञः प्रवर्त्तितः, अजा यत्र मार्यन्ते। अन्यदा कदाचित् स धिग्जातीयो मृत्वा छगलकश्चैवायातः, स च गृहीत्वाऽऽत्मीयैः पुत्रैः तस्यैव तटाके यज्ञे मारयितुं नीयते, स च जातिस्मरो नीयमान आत्मीयया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४५॥

दीप अनुक्रम [९४]

भाषाए वुब्बुयइ अप्पणा चेव सोयमाणो, जहा मम चेव मए पवत्तियं, एवं सो वेवमाणो साहुणा अतिसयणाणिणा एगेण दीसति, तेण भणियं—

सयमेव य लुक्ख लोविया, अप्पणिआ य वियडि खाणिया ।
ओवाइयलद्धओ य सि, किं छेला ! वेवेति वाससी ? ॥ १३८ ॥

व्याख्या—स्वयमेव च–आत्मनैव च 'रुक्ख'त्ति सुल्लोपाद्वृक्षा रोपिताः, भवतेति गम्यते, आत्मीया च 'वियडि'त्ति देशीवचनतः तडागिका खानिता, याचितस्य–प्रार्थितस्य प्रासेरुपरि देवेभ्यो देयमुपयाचितं तेनैव लब्धः–अवसरः दुरापत्वेनोपयाचितलब्धः स एवोपयाचितलब्धकोऽसि त्वमिति, किं छगलक ! 'वेवेति वाससि ?–आरससीति मागधिकार्यः॥१३८॥ततो सो छगलको तेण पढिएणं तुण्हिक्को ठिओ, तेण धिज्जाइएण चिंतियं–किंपि पव्वइयगेण पढियं, तेण एस तुण्हिक्को ठिओ, तओ सो तवस्सिं भणति–किं भगवं! एस छगलको तुब्भेहिं पढियमेत्ते चेव तुण्हिक्को

१ भाषया वुबुत्करोति आत्मनैव शोचन्, यथा ममैव मया प्रवर्त्तितम्, एवं स वेपमानः साधुना अतिशयज्ञानिना एकेन दृश्यते, तेन भणितं—। २ ततः स छगलकस्तेन पठितेन तूष्णीकः स्थितः, तेन धिग्जातीयेन चिन्तितं–किमपि प्रव्रजितकेन पठितं, तेनैव तूष्णीकः स्थितः, ततः स तपस्विनं भणति—किं भगवन् ! एष छगलको युष्माभिः पठितमात्रे एव तूष्णीकः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४५॥

दीप अनुक्रम [९४]

ठिओ, तेण साहुणा तस्स कहियं–जहा एस तुब्भ पिया, किमभिण्णाणं ?, तेण भणियं–अहंपि जाणामि, किं पुण एसो कहिहिइ, तेण छगलगेण पुव्वभवे पुत्तेण समं निहाणगं निहियं, तं गंतूण पाएहिं खडखडेइ, एयमभिन्नाणं, पच्छा तेण मुक्को, साहुसमीवे धम्मं सोउण भत्तं पच्चक्खाएऊण देवलोयं गतो। एवं तेण सरणमिति काउं तडागारामे जण्णो य पवत्तिओ, तमेव असरणं जायं। एवंविधोऽत्र समवतारः–एवं तुम्हं अम्हे गया सरणं। इह च पूर्वकं मनुष्यजातेस्तस्य स्मरणार्थमुदाहरणत्रयमिदं तु तिर्यग्जातेरिति भावनीयम्। सो तहेव तस्स आहरणगाणि घित्तूण सिग्घं गंतुं समाढत्तो पंथे, णवरिं संजइं पासति मंडियंटिविडिक्कियं, तेण सा भण्णइ—

कडए ते कुंडले य ते, अंजियक्खि! तिलयते य ते।
पवयणस्स उड्डाहकारिए! दुट्ठा सेहि! कतोऽसि आगया? ॥ १३९ ॥

१ स्थितः, तेन साधुना तस्मै कथितं—यथैष तव पिता, किमभिज्ञानम् ?, तेन भणितम्—अहमपि जानामि, किं पुनरेष कथयिष्यति, तेन छगलकेन पूर्वभवे पुत्रेण समं निधानं निहितं, तद्गत्वा पादाभ्यां खटत्कारयति, एतदभिज्ञानं, पश्चात् तेन मुक्तः, साधुसमीपे धर्मं श्रुत्वा भक्तं प्रत्याख्याय देवलोकं गतः। एवं तेन शरणमितिकृत्वा तटाकारामो यज्ञश्च प्रवर्त्तितौ, त एवाशरणं जातम्। एवं युष्मान् वयं गताः शरणं। स तथैव तस्याभरणानि गृहीत्वा शीघ्रं गन्तुं समारब्धः पथि, नवरं संयतीं पश्यति अलङ्कारोद्भटां, तेन सा भण्यते–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४५॥

दीप अनुक्रम [९४]

व्याख्या—कटके च 'ते' तव कुण्डले च ते अजिताक्षि ! तिलकश्च 'ते' त्वया कृतः, प्रवचनस्य उड्डाहकारिके ! दुष्टशिक्षिते कुतोऽस्यागतेति मागधिकार्थः ॥ १३९ ॥ दर्शनपरीक्षार्थं च साध्वीविकरणं । सैवमुक्ता सतीदमाह—

राईसरिसवमित्ताणि, परछिद्दाणि पाससि । अप्पणो बिल्लमित्ताणि, पासंतोऽवि न पाससि ॥ १४० ॥

व्याख्या—राजिकासर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यस्यात्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यसीति श्लोकार्थः ॥ १४० ॥ तथा—

समणोऽसि संजओ असि, बंभयारी समलेट्ठुकंचणे। वेहारियवाअओ य ते, जिट्ठज्ज! किं ते पडिग्गहे? १४१

व्याख्या—श्रमणोऽसि संयतोऽसि बहिर्वृत्त्या ब्रह्मचारी समलोष्ठकाञ्चनो विहारिकवातकश्च ते—यथाऽहं वैहारिक इत्यादिरूपो ज्येष्ठार्य ! किं 'ते' तव पतद्ग्रहक इति श्लोकार्थः ॥ १४१ ॥ एवं ताए उड्डाहितो समाणो पुणोऽवि गच्छति, णवरं पेच्छति खंधावारमिंतं, तस्स किर णीवट्टमाणो दंडियस्सेव सवडहुत्तो गतो, तेण हत्थिखंधा ओरुहित्ता वंदितो भणिओ य—भयवं ! अहो परमं मंगलं निमित्तं च जं साहू अज्ज मए दिट्ठो, भयवं ! ममाणुग्गहत्थं

१ एवं तया निर्भर्त्सितः सन् पुनरपि गच्छति, नवरं पश्यति स्कन्धावारमायान्तं, तस्मात् किल निवर्तमानो दण्डिकस्यैव सपक्षं गतः, तेन हस्तिस्कन्धादवतीर्य वन्दितः भणितश्च—भगवन् ! अहो परमं मङ्गलं निमित्तं च यत्साधुरद्य मया दृष्टः, भगवन् ! ममानुग्रहार्थं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४५॥

दीप अनुक्रम [९४]

फासुयएसणिज्जं इमं मोयगादि संबलो घेप्पति, सो णिच्छइ, भायणे आभरणगाणि छूढाणि मा दीसिहिंति, तेण दंडिएण बला मोडिऊण पडिग्गहो गहिओ, जाव मोयगे छुहति ताव पेच्छइ आभरणयाणि, तेण सो खरंटिओ उवालद्धो य, पुणोऽवि संबोहिओ–जहा न जुज्जइ तुम्हं एवं विपरिणामो, मज्झं च अणागमणकारणं सुणेसु–संकंतदिव्वपेमा विसयपसत्ताऽसमत्तकत्तव्वा । अणहीणमणुयकज्जा नरभवमसुहं न इंति सुरा ॥ १ ॥ पच्छा दिव्वं देवरूवं काऊण पडिगतो । तेण पुव्विं दंसणपरीसहो नाहियासितो, पच्छा अहियासितो ॥ एवं शेषसाधुभिरपि सहनीयो दर्शनपरीषहः ॥ इहोदाहरणोपदर्शकत्वात् प्रकृतनिर्युक्तेः कथं सूत्रस्पर्शकत्वमिति यत्कैश्चिदुच्यते, तदयुक्तं, सूत्रसूचितार्थाभिधायित्वात् तस्याः, तदभिधानस्य तत्त्वतः सूत्रव्याख्यानरूपत्वेन सूत्रस्पर्शकत्वादिति । किं च—'काली-पवंगसंकासे'इत्यादिना क्षुदादिभिरत्यन्तपीडितस्यापि यत्परीषहणमुक्तं, तत्र मन्दसत्त्वस्य कस्यचिदश्रद्धानात् सम्यक्त्वविचलितमपि सम्भवेदिति तद्दृढीकारार्थं दृष्टान्ताभिधानमर्थतः सूत्रस्पर्शकमिति व्यक्तमेवैतत्, न च केषाञ्चि-

१ प्रासुकैषणीयमिदं मोदकादि शम्बलो गृह्यतां, स नेच्छति, भाजने आभरणानि क्षिप्तानि मा दर्शीति, तेन दण्डिकेन बलादामोट्य प्रतिग्रहो गृहीतः, यावन्मोदकान् क्षिपति तावत्पश्यति आभरणानि, तेन स तिरस्कृतः उपालब्धश्च, पुनरपि संबोधितः–यथा न युज्यते युष्माकमेवं विपरिणामः, मम चानागमनकारणं शृणु–संक्रान्तदिव्यप्रेमाणो विषयप्रसक्ताः असमाप्तकर्त्तव्याः । अनधीनमनुजकार्या नरभवमशुभं नायान्ति सुराः ॥ १ ॥ पश्चाद्दिव्यं देवरूपं कृत्वा प्रतिगतः । तेन पूर्वं दर्शनपरीषहो नाध्यासितः पश्चात् अध्यासितः ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

दिहोदाहरणानां निर्युक्तिकालादर्वाकालभावितेत्यन्योक्तत्वमाशङ्कनीयं, स हि भगवांश्चतुर्दशपूर्ववित् श्रुतकेवली काल-त्रयविषयं वस्तु पश्यत्येवेति कथमन्यकृतत्वाशङ्केति ॥ सम्प्रत्यध्ययनार्थोपसंहारमाह–

एए परीसहा सव्वे, कासवेण पवेइया। जे भिक्खू ण विहण्णिज्जा, पुट्ठो केणइ कण्हुइ ॥ ४६ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'एते' अनन्तरमुपदर्शितस्वरूपाः, 'परीषहाः' क्षुदादयः 'सर्वे' द्वाविंशतिसंख्या अपि न तु कियन्त एव 'काश्यपेन' श्रीमन्महावीरेण 'प्रवेदिताः' प्ररूपिताः, 'जे'त्ति यानुक्तन्यायेन ज्ञात्वेति शेषः, 'भिक्षुः' यतिर्न चैव 'विहन्येत' पराजीयेत, कोऽर्थः ?–संयमात्पात्येत, 'स्पृष्टो' बाधितः केनापि प्रक्रमाद्द्वाविंशतेरेकतरेण दुर्जयेनापि परीषहेण 'कण्हुइ'त्ति कुत्रचित् देशे काले वा इति सूत्रार्थः ॥ ४६ ॥ इतिः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमाह । नयाः पूर्ववत् । इति श्रीशान्तिसूरिविरचितायां शिष्यहितायामुत्तराध्ययनटीकायां द्वितीयम-ध्ययनं समाप्तमिति ॥

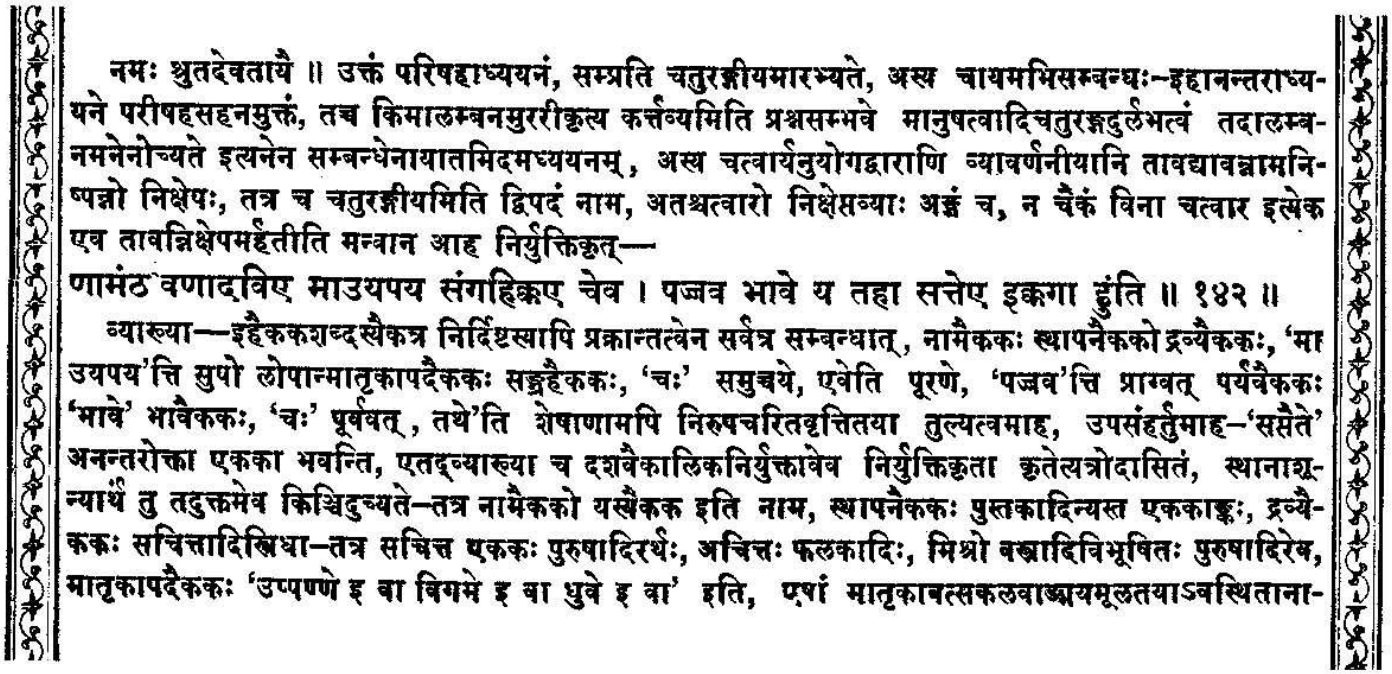
द्वितीयमध्ययनं समाप्तम् ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं - २ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]



नमः श्रुतदेवतायै ॥ उक्तं परिषहाध्ययनं, सम्प्रति चतुरङ्गीयमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तराध्ययने परीषहसहनमुक्तं, तच्च किमालम्बनमुररीकृत्य कर्त्तव्यमिति प्रश्नसम्भवे मानुषत्वादिचतुरङ्गदुर्लभत्वं तदालम्बनमनेनोच्यते इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम्, अस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि व्यावर्णनीयानि तावद्यावन्नामनिष्पन्नो निक्षेपः, तत्र च चतुरङ्गीयमिति द्विपदं नाम, अतश्चत्वारो निक्षेप्तव्याः अङ्गं च, न चैकं विना चत्वार इत्येक एव तावन्निक्षेपमर्हतीति मन्वान आह निर्युक्तिकृत्—

णामंठवणादविए माउयपय संगहिक्कए चेव । पज्जव भावे य तहा सत्तेए इक्कगा हुंति ॥ १४२ ॥

व्याख्या—इहैककशब्दस्यैकत्र निर्दिष्टस्यापि प्रक्रान्तत्वेन सर्वत्र सम्बन्धात्, नामैककः स्थापनैकको द्रव्यैककः, 'मा उयपय'त्ति सुपो लोपान्मातृकापदैककः सङ्ग्रहैककः, 'चः' समुच्चये, एवेति पूरणे, 'पज्जव'त्ति प्राग्वत् पर्यवैककः 'भावे' भावैककः, 'चः' पूर्ववत्, तथे'ति शेषाणामपि निरुपचरितवृत्तितया तुल्यत्वमाह, उपसंहर्तुमाह–'सत्तेते' अनन्तरोक्ता एकका भवन्ति, एतद्व्याख्या च दशवैकालिकनिर्युक्तावेव निर्युक्तिकृता कृतेत्यत्रोदासितं, स्थानाशून्यार्थं तु तदुक्तमेव किञ्चिदुच्यते–तत्र नामैकको यस्यैकक इति नाम, स्थापनैककः पुस्तकादिन्यस्त एककाङ्कः, द्रव्यैककः सचित्तादिभिधा–तत्र सचित्त एककः पुरुषादिरर्थः, अचित्तः फलकादिः, मिश्रो वस्त्रादिविभूषितः पुरुषादिरेव, मातृकापदैककः 'उप्पण्णे इ वा विगमे इ वा धुवे इ वा' इति, एषां मातृकावत्सकलवाङ्मयमूलतयाऽवस्थितानां-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – ३ "चतुरंगिय" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

मन्यतरद्विवक्षितम्, अकाराद्यक्षरात्मिकाया वा मातृकाया एकतरोऽकारादिः, सङ्ग्रहैककः येनैकेनापि ध्वनिना बहवः संगृह्यन्ते, यथा जातिप्राधान्ये व्रीहिरिति, पर्यायैककः शिवकादिरेककः पर्यायो, भावैककः औदयिकादिभावानामन्यतमो भाव इति गाथार्थः ॥ १४२ ॥ इत्थमविनाभावितोऽक्षिप्तमेककं निक्षिप्य प्रस्तुतमेव चतुष्कं निक्षेप्तुमाह—

णामं ठवणा दविए खित्ते काले य गणण भावे य । निक्खेवो य चउण्हं गणणसंखाइ अहिगारो ॥१४३॥

व्याख्या—तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, 'द्रव्ये' विचार्ये सचित्ताचित्तमिश्राणि द्रव्याणि चतुःसङ्ख्यतया विवक्षितानि, 'क्षेत्रे' चतुःसङ्ख्यापरिच्छिन्ना आकाशप्रदेशा यत्र वा चत्वारो विचार्यन्ते, 'काले च' चत्वारः समयावलिकादयः कालभेदाः यदा वा अमी व्याख्यायन्ते, गणनायां चत्वार एको द्वौ त्रयश्चत्वार इत्यादिगणनान्तःपातिनो, भावे च चत्वारो मानुषत्वादयोऽभिधास्यमाना भावाः, एषां मध्ये केनाधिकारः ?, उच्यते, गणनासङ्ख्ययाऽधिकारः, किमुक्तं भवति ?—गणनाचतुर्भिरधिकारः, तैरेव वक्ष्यमाणानामङ्गानां गण्यमानतया तेषामेवोपयोगित्वादिति गाथार्थः॥१४३॥ इदानीमङ्गनिक्षेपमाह—

णामंगं ठवणंगं दव्वंगं चेव होइ भावंगं । एसो खलु अंगस्सा णिक्खेवो चउव्विहो होइ ॥ १४४ ॥

॥१४१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

व्याख्या—नामाङ्गं स्थापनाङ्गं द्रव्याङ्गं चैव भवति भावाङ्गम्, एतत् खलु 'अङ्गस्सा' इति प्राकृतत्वात् अङ्गस्य निक्षेपश्चतुर्विधो भवतीति गाथासमासार्थः ॥ १४४ ॥ अत्र च नामस्थापने प्रसिद्धत्वादनादृत्य द्रव्याङ्गमभिधित्सुराह—

गंधंगमोसहंगं मज्जाउज्जंसरीरजुद्धंगं। एत्तो इक्किक्कंपि य णेगविहं होइ णायव्वं ॥ १४५ ॥

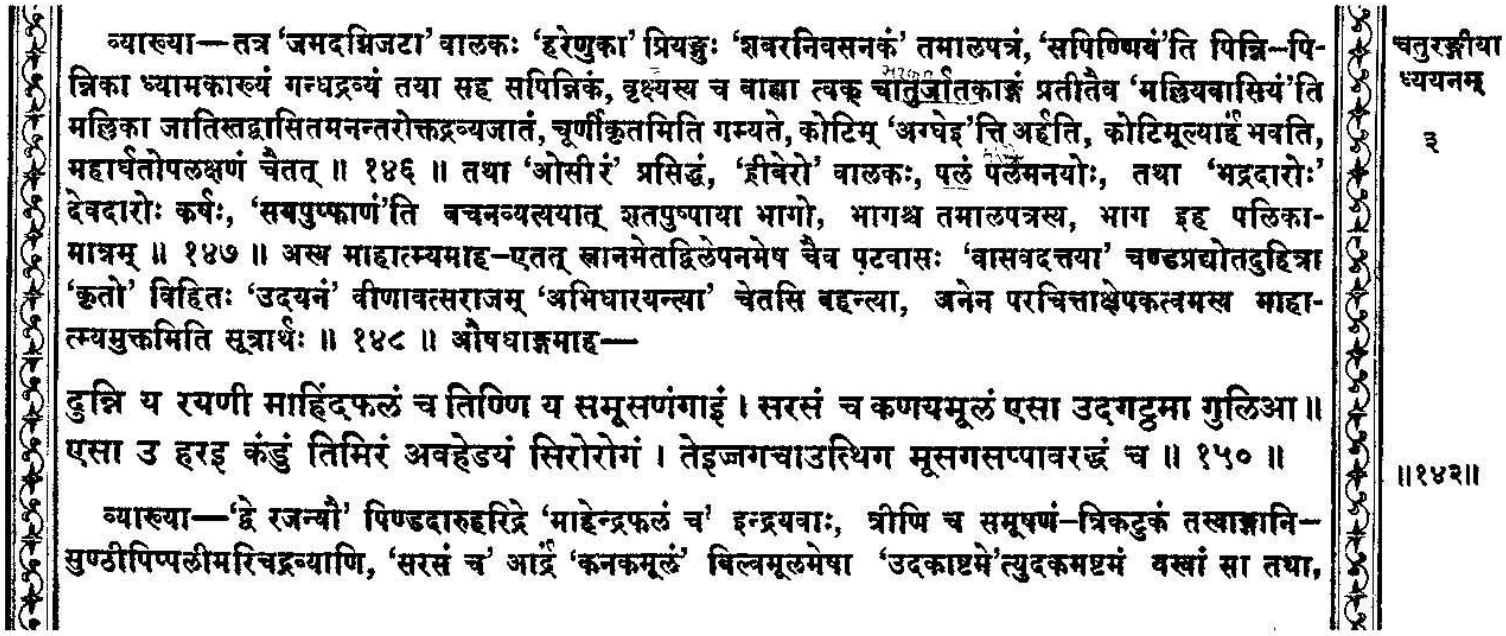
व्याख्या—'गन्धाङ्गम्' औषधाङ्गम्, 'मज्जाउज्जंसरीरजुद्धंगं'ति बिन्दोरलाक्षणिकत्वादङ्गशब्दस्य च प्रत्येकमभिसम्बन्धात् मद्याङ्गमातोद्याङ्गं शरीराङ्गं युद्धाङ्गमिति षड्विधं द्रव्याङ्गम्, 'एत्तो'त्ति सुव्व्यत्ययादेषु–गन्धाङ्गादिषु मध्ये एकैकमपि च अनेकविधं भवति ज्ञातव्यमिति गाथाक्षरार्थः ॥ १४५ ॥ भावार्थं तु विवक्षुराचार्यो 'यथोद्देशं निर्देश' इति न्यायमाश्रित्य गन्धाङ्गं प्रतिपादयन्नाह—

जमदग्गिजडा हरेणुअ सबरनियंसणियं सपिण्णियं। रुक्खस्स य बाहिंतया मल्लियवासिय कोडी अग्घइ ओसीरहरिबेराणं पलं पलं भद्ददारुणो करिसो। सयपुप्फाणं भागो भागो य तमालपत्तस्स ॥ १४७ ॥ एयं पहाणं एयं विलेवणं एस चेव पडवासो। वासवदत्ताइ कओ उदयणमभिधारयंतीए ॥ १४८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥१४२॥

व्याख्या—तत्र 'जमदग्निजटा' बालकः 'हरेणुका' प्रियङ्गुः 'शबरनिवसनकं' तमालपत्रं, 'सपिण्णियं'ति पिन्नि–पिन्निका श्यामकाख्यं गन्धद्रव्यं तया सह सपिन्निकं, वृक्षस्य च बाह्या त्वक् चातुर्जातकाङ्गं प्रतीतैव 'मल्लियवासियं'ति मल्लिका जातिस्तद्वासितमनन्तरोक्तद्रव्यजातं, चूर्णीकृतमिति गम्यते, कोटिम् 'अग्घेइ'त्ति अर्हति, कोटिमूल्यार्हं भवति, महार्घतोपलक्षणं चैतत् ॥ १४६ ॥ तथा 'ओसीरं' प्रसिद्धं, 'हीबेरो' बालकः, पलं पलमनयोः, तथा 'भद्रदारोः' देवदारोः कर्षः, 'सवपुप्फाणं'ति वचनव्यत्ययात् शतपुष्पाया भागो, भागश्च तमालपत्रस्य, भाग इह पलिकामात्रम् ॥ १४७ ॥ अस्य माहात्म्यमाह–एतत् स्नानमेतद्विलेपनमेष चैव पटवासः 'वासवदत्तया' चण्डप्रद्योतदुहित्रा 'कृतो' विहितः 'उदयनं' वीणावत्सराजम् 'अभिधारयन्त्या' चेतसि वहन्त्या, अनेन परचित्ताक्षेपकत्वमस्य माहात्म्यमुक्तमिति सूत्रार्थः ॥ १४८ ॥ औषधाङ्गमाह—

दुन्नि य रयणी माहिंदफलं च तिण्णि य समूसणंगाइं । सरसं च कणयमूलं एसा उदगट्ठमा गुलिआ ॥
एसा उ हरइ कंडुं तिमिरं अवहेडयं सिरोरोगं । तेइज्जगचाउत्थिग मूसगसप्पावरद्धं च ॥ १५० ॥

व्याख्या—'द्वे रजन्यौ' पिण्डदारुहरिद्रे 'माहेन्द्रफलं च' इन्द्रयवाः, त्रीणि च समूषणं–त्रिकटुकं तस्याङ्गानि–सुण्ठीपिप्पलीमरिचद्रव्याणि, 'सरसं च' आर्द्रं 'कनकमूलं' बिल्वमूलमेषा 'उदकाष्टमे'त्युदकमष्टमं वस्यां सा तथा,

चतुरङ्गीया ध्ययनम् ३

॥१४२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]

'गुटिका' वटिका, अस्याः फलमाह–एषा तु हन्ति कण्डुं तिमिरम् 'अवहेडय'न्ति अर्द्धशिरोरोगं समस्तशिरोव्यथं, 'तेइज्जगचाउत्थिग'त्ति सुब्लोपे तार्त्तीयीकचातुर्थिकौ, रूढ्या ज्वरौ, 'मूषकसर्प्पापराद्धम्' उन्दरादिदष्टं, चः समुच्चय इति गाथाद्वयार्थः ॥ १४९–१५० ॥ मद्याङ्गमाह—

सोलस दक्खा भागा चउरो भागा य धाउगीपुप्फे । आढगमो उच्छुरसे मागहमाणेण मज्जंगं ॥१५१॥

व्याख्या—षोडश द्राक्षा भागाश्चत्वारो भागाश्च 'धातकीपुष्पे' धातकीपुष्पविषयाः 'आढगमो'त्ति आर्षत्वादाऽऽढककः 'इक्षुरसे' इक्षुरसविषये, आढकः इह केन मानेनेत्याह—'मागधमानेन' दो असती पसती उ' इत्यादिरूपेण 'मद्याङ्गं' मदिराकारणं भवतीति गाथार्थः ॥ १५१ ॥ आतोद्याङ्गमाह—

एग मुगुंदा तूरं एगं अहिमारुदारुयं अग्गी । एगं सामलीपुंडं बद्धं आमेलओ होइ ॥ १५२ ॥

व्याख्या—'एकमुकुन्दा तूर्यम्' इति एकैव मुकुन्दा वादित्रविशेषो गम्भीरस्वरत्वादिना तूर्यकार्यकारित्वात् तूर्यम्, अनेनास्याविशिष्टमातोद्याङ्गत्वमेवाह, किमेवैकैव मुकुन्दा तूर्यम् ?, सोपस्कारत्वाद्यथैकमभिमारस्य वृक्षविशेषस्य दारुकं-काष्ठमभिमारदारुकम् 'अग्निः' विशेषतोऽग्निजनकत्वाद्, यथा वा 'एकं शाल्मलीपोण्डं' शाल्मलीपुष्पं बद्धमामोडको

१ द्वे असत्यौ प्रसृतिस्तु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

भवति, आमोडकः पुष्पोन्मिश्रो वालबन्धविशेषः, स्फारत्वादस्य, इत्थं दृष्टान्ताभिधायितयेदं व्याख्यायते, प्रसङ्गतो वाऽश्यङ्गामोडकाङ्गयोरप्यभिधानमिति सूत्रार्थः ॥ १५२ ॥ शरीराङ्गमाह—

सीसं उरो य उदरं पिट्ठी बाहा य दुन्नि ऊरू य । एए खलु अट्ठंगा अंगोवंगाइ सेसाइं ॥ १५३ ॥

व्याख्या—'शिरश्च उरः, चः प्राग्वद्, उदरं 'पिट्ठि'त्ति प्राकृतत्वात्पृष्ठं बाहू द्वौ उरू च एतान्यष्टाङ्गानि, प्राग्वल्लिङ्गव्यत्ययः, 'खलुः' अवधारणे, एतान्येवाङ्गानि, अङ्गोपाङ्गानि 'शेषाणि' नखादीनि, उपलक्षणत्वादुपाङ्गानि च कर्णादीनि, यत उक्तम्—"होंति उवंगा कण्णा णासच्छी जंघ हत्थ पाया य । णह केस मंसु अंगुलि ओट्ठा खलु अंगुवंगाइं ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ १५३ ॥ साम्प्रतं युद्धाङ्गमाह—

जाणावरणपहरणे जुद्धे कुसलत्तणं च नीई अ । दक्खत्तं ववसाओ सरीरमारोग्गया चेव ॥ १५४ ॥

व्याख्या—'जाणावरणपहरणे'त्ति यानं च–हस्त्यादि, तत्र सत्यपि न शक्नोत्यभिभवितुं शत्रुम् अत आवरणं–कवचादि, सत्यप्यावरणे प्रहरणं विना किं करोतीति प्रहरणं च–खड्गादि, यानावरणप्रहरणानि, यदि युद्धे कुशलत्वं नास्ति किं यानादिना ? इति 'युद्धे' सङ्ग्रामे 'कुशलत्वं च' प्रावीण्यरूपं, सत्यप्यस्मिन्नीतिं विना न शत्रुजयनम्

१ भवन्त्युपाङ्गानि कर्णौ नासाऽक्षिणी जङ्घे हस्तौ पादौ च । नखाः केशाः श्मश्रूणि अङ्गुलय ओष्ठौ खल्वङ्गोपाङ्गानि ॥ १ ॥

॥१४३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]

अतो 'नीतिश्च' अपक्रमादिलक्षणा, सत्यामपि चास्यां दक्षत्वाधीनो जयः ततो 'दक्षत्वम्' आशुकारित्वं, सत्यप्यस्मिन्निर्व्यवसायस्य कुतो जय इति 'व्यवसायो' व्यापारः, तत्रापि यदि न शरीरमहीनाङ्गं ततो न जय इति शरीरम्–अर्थात् परिपूर्णाङ्गं, तत्राप्यारोग्यमेव जयायेति 'आरोग्गय'त्ति अरोगता, चः समुच्चये, एवोऽवधारणे, ततः समुदितानामेवैषां युद्धाङ्गत्वमिति सूत्रार्थः ॥ १५४ ॥ भावाङ्गमाह—

भावंगंपि य दुविहं सुअमंगं चेव नोसुयंगं च । सुयमंगं बारसहा चउविहं नोसुअंगं च ॥ १५५ ॥

व्याख्या—भावाङ्गमपि च द्विविधं 'सुयमङ्गं चेव'त्ति श्रुताङ्गं चैव नोश्रुताङ्गं च, श्रुताङ्गं द्वादशधा–आचारादि, भावाङ्गता चास्य क्षायोपशमिकभावान्तर्गतत्वात्, उक्तं–हि–"भावे खओवसमिए दुवालसंगंपि होइ सुयणाणं'ति, 'चतुर्विधम्' चतुष्प्रकारं नोश्रुताङ्गं तु, नोशब्दस्य सर्वनिषेधार्थत्वात् अश्रुताङ्गं पुनः, मकारश्च सर्वत्रालाक्षणिक इति गाथार्थः ॥ १५५ ॥ एतदेवाह—

माणुस्सं धम्मसुई सद्धा तवसंजमंमि विरिअं च । एए भावंगा खलु दुल्लभगा हुंति संसारे ॥ १५६ ॥

व्याख्या—'मानुष्यम्' मनुजत्वम्, अस्य चादावुपन्यास एतद्भाव एव शेषाङ्गभावात्, 'धर्मश्रुतिः' अर्हत्प्रणीत-

१ भावे क्षायोपशमिके द्वादशाङ्गमपि भवति श्रुतज्ञानमिति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

धर्माकर्णनं, 'श्रद्धा' धर्मकरणाभिलाषः, तपः–अनशनादिः तत्प्रधानः संयमः–पञ्चाश्रवविरमणादिस्तपःसंयमः, मध्यपदलोपी समासः, तपश्च संयमश्च तपःसंयममिति समाहारो वा तस्मिन्, 'वीर्यं च' वीर्यान्तरायक्षयोपशमसमुत्थाशक्तिः, अस्य च द्विष्ठस्याप्येकत्वेन विवक्षितत्वान्नोक्तसङ्ख्याविरोधः, एतानि भावाङ्गानि, 'खलु' निश्चितम् दुर्लभकानि भवन्ति संसारे, लिङ्गव्यत्ययश्च प्राकृतत्वाद्, एतच्चानुक्तावपि सर्वत्र भावनीयमिति गाथार्थः ॥१५६॥ इह द्रव्याङ्गेषु शरीराङ्गं भावाङ्गेषु च संयमः प्रधानमिति तदेकार्थिकान्याह—

अंग दसभाग भेए अवयवाऽसगल चुण्ण खंडे अ। देस पएसे पव्वे साह पडल पज्जवखिले अ ॥ १५७ ॥
दया य संजमे लज्जा, दुगुञ्छाऽछलणा इअ। तितिक्खा य अहिंसा य, हिरि एगट्ठिया पया ॥१५८ ॥

व्याख्या—अङ्गं दशभागो भेदोऽवयवोऽसकलश्चूर्णः खण्डो देशः प्रदेशः पर्व शाखा पटलं पर्यवखिलं चेति शरीराङ्गपर्याया इति वृद्धाः। व्याख्यानिकस्तु अविशेषतोऽमी अङ्गपर्यायाः, तथा दशभाग इति दशा भाग इति च भिन्नावेव पर्यायावित्याह। चः समुच्चये, सूत्रत्वाच्च सुपः क्वचिदश्रवणमिति ॥ संयमपर्यायानाह—दया च संयमो लज्जा जुगुप्साऽछलना, इतिशब्दः स्वरूपपरामर्शकः पर्यन्ते योक्ष्यते, तितिक्षा चाहिंसा च ह्रीश्चेत्येकार्थिकानि–अभिन्नाभिधेयानि पदानि सुबन्तशब्दरूपाणि, पर्यायाभिधानं च नानादेशजविनेयानुग्रहार्थमिति गाथाद्वयार्थः ॥१५७–१५८॥ क्षेत्रादिदुर्लभत्वोपलक्षणं चेह मानुष्यत्वादिदुर्लभत्वाभिधानमित्यभिप्रायेणाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]

माणुस्स खित्त जाई कुल रूवारोग्ग आउयं बुद्धी। सवणुग्गह सद्धा संजमो अ लोगंमि दुलहाइं ॥१५९॥

व्याख्या—'मानुष्यम्' मनुष्यभावः 'क्षेत्रम्' आर्यं 'जातिः' मातृसमुत्था 'कुलं' पितृसमुत्थम् 'रूपम्' अन्यूनाङ्गता 'आरोग्यं' रोगाभावः 'आयुष्यं' जीवितं 'बुद्धिः' परलोकप्रवणा 'श्रवणं' धर्म्मसम्बद्धम् 'अवग्रहः' तदवधारणम्, अथवा श्रवणाः–तपस्विनः तेषामवग्रहः–सुन्दरा एत इत्यवधारणं श्रवणावग्रहः, श्रद्धा संयमश्च प्राग्वत्, एतानि लोके दुर्लभानि, प्राक् चतुर्णां दुर्लभत्वमुक्तम्, इह तु मानुषत्वं क्षेत्रादीनामायुष्कपर्यन्तानामुपलक्षणं, श्रवणं च बुद्ध्यवग्रहयोः, पुनश्च मानुषत्वादीनामिहाभिधानं विशिष्टक्षेत्रादियुक्तानामेवैषां मुक्त्यङ्गत्वमिति ख्यापनार्थम्, केचिदेतत्स्थाने पठन्ति "इन्दियलद्धी निवत्तणा य पज्जत्ति निरुवहय खेमं । धाणारोग्गं सद्धा गाहग उवओग अट्ठो य ॥ १ ॥" 'इन्द्रियलब्धिः' पञ्चेन्द्रियप्राप्तिः 'निर्वर्त्तना च' इन्द्रियाणामेव निष्पादना 'पर्याप्तिः' समस्तपर्याप्तिता 'णिरुवहय'त्ति निरुपहतम्, उपहतेरभावात्, सा च गर्भस्थस्य कुब्जत्वादिभिर्जातस्य च भित्त्यादिभिः, 'क्षेमम्' देशसौस्थ्यम् 'भाणम्' सुभिक्षं विभवो वा 'आरोग्यम्' नीरोगता 'श्रद्धा' उक्तरूपा 'ग्राहकः' शिक्षयिता गुरुः 'उपयोगः' स्वाध्यायाद्युपयुक्तता 'अर्थः' धर्म्मविषयमर्थित्वम्, एतानि दुर्लभानीति गम्यते, इह च पुनः श्रद्धाग्रहणं तन्मूलत्वादशेषकल्याणानां तस्या दुर्लभतरत्वख्यापनार्थमिति गाथार्थः ॥ १५९ ॥ यदुक्तं–'मनुष्यादिभावाङ्गानि दुर्लभानि' इति, तत्र मानुष्याङ्गदुर्लभत्वसमर्थनाय दृष्टान्तमा(ताना)ह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

चुल्लग पासग धन्ने जूए रयणे अ सुमिण चक्के य। चम्म जुगे परमाणू दस दिट्ठंता मणुअलंभे ॥१६०॥

व्याख्या—'चोल्लगं' परिपाटीभोजनम्, पाशको धान्यं द्यूतं रत्नं च 'सुमिण'त्ति स्वप्नः चक्रं च चर्म युगं परमाणुर्दश दृष्टान्ता 'मणुयलम्भे'त्ति भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य मनुजत्वप्राप्ताविति गाथासमासार्थः ॥ १६० ॥ व्यासार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः, स चायम्—

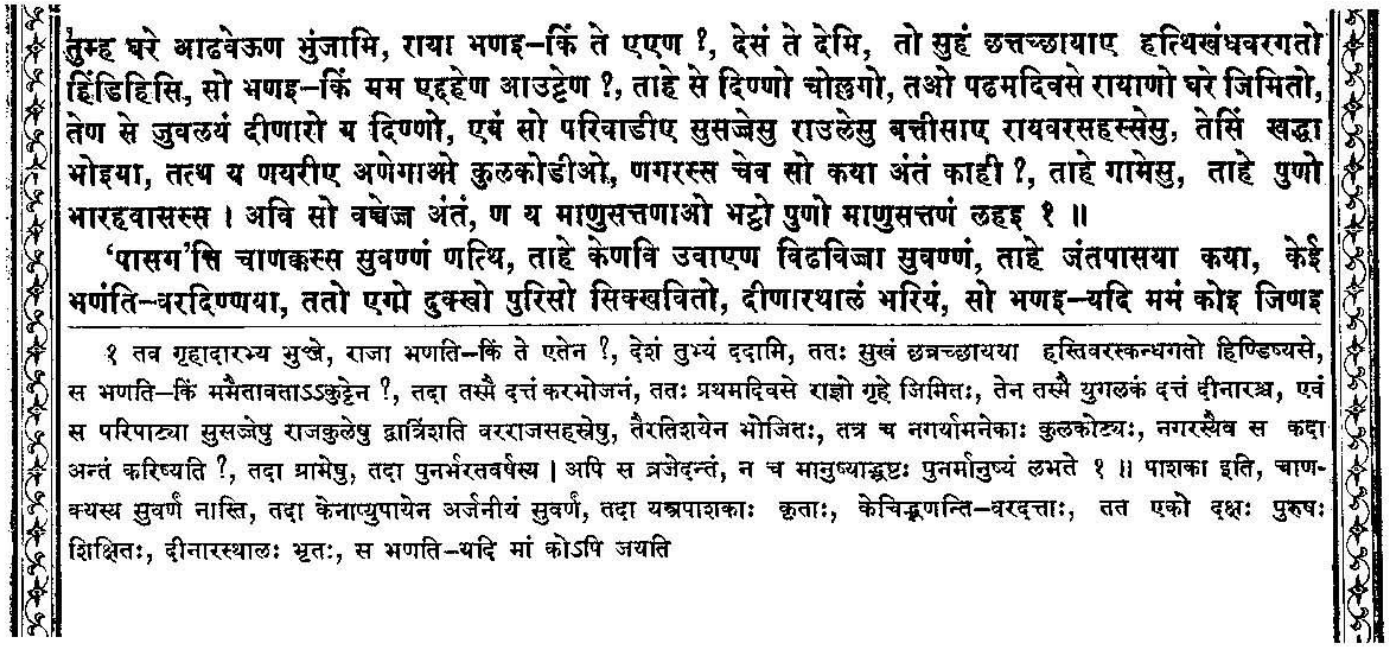
"बंभदत्तस्स एगो कप्पडितो ओल [य] ग्गतो बहुसु आवईसु अवत्थासु य सवत्थ सहातो आसि, सो य रज्जं पत्तो, बारससंवच्छरितो अहिसेतो, कप्पडिओ तत्थ अल्लियावंपि न लहइ, ततो अणेण उवातो चिंतितो–उवाहणाउ पबंधेऊण धयवाहेहिं समं पहाविओ, रण्णा दिट्ठो, उड्डेणेणं अवगूहितो, अन्ने भणंति–तेण दारपालं सेवमाणेण बारसमे संवच्छरे राया दिट्ठो, ताहे राया तं दट्ठूणं संभंतो, इमो सो वराओ मम सुहदुक्खसहायगो, एत्ताहे करेमि वित्तिं, ताहे भणइ–किं देमित्ति ?, सोऽवि भणति–देहि करचोल्लए घरे घरे जाव सवंमि भरहे णिट्ठियं, ताहे पुणोऽवि

१ ब्रह्मदत्तस्यैकः कार्पटिकोऽवलगको बह्वीष्वापत्सु अवस्थासु च सर्वत्र सहाय आसीत्, स च राज्यं प्राप्तः, द्वादशसांवत्सरिकोऽभिषेकः, कार्पटिकस्तत्राश्रयणमपि न लभते, ततोऽनेनोपायश्चिन्तितः–उपानहः प्रबध्य ध्वजवाहकैः समं प्रधावितः, राज्ञा दृष्टः, अवतीर्णेनावगूढः अन्ये भणन्ति–तेन द्वारपालं सेवमानेन द्वादशे वर्षे राजा दृष्टः, तदा राजा तं दृष्ट्वा संभ्रान्तः, अयं स वराकः मम सुखदुःखसहायः, अधुना करोमि वृत्तिं, तदा भणति–किं ददामीति ?, सोऽपि भणति–देहि करभोजनं गृहे गृहे यावत्सर्वस्मिन् भरते निष्ठितं (भवति), तदा पुनरपि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]



तुम्ह घरे आढवेऊण भुंजामि, राया भणइ–किं ते एएण ?, देसं ते देमि, तो सुहं छत्तच्छायाए हत्थिखंधवरगतो हिंडिहिसि, सो भणइ–किं मम एद्दहेण आउट्टेण ?, ताहे से दिण्णो चोल्लगो, तओ पढमदिवसे रायाणो घरे जिमितो, तेण से जुवलयं दीणारो य दिण्णो, एवं सो परिवाडीए सुसज्जेसु राउलेसु बत्तीसाए रायवरसहस्सेसु, तेसिं खद्धा भोइया, तत्थ य णयरीए अणेगाओ कुलकोडीओ, णगरस्स चेव सो कया अंतं काही ?, ताहे गामेसु, ताहे पुणो भारहवासस्स । अवि सो वचेज्ज अंतं, ण य माणुसत्तणाओ भट्ठो पुणो माणुसत्तणं लहइ १ ॥

'पासग'त्ति चाणक्कस्स सुवण्णं णत्थि, ताहे केणवि उवाएण विढविज्जा सुवण्णं, ताहे जंतपासया कया, केई भणंति–वरदिण्णया, ततो एगो दुक्खो पुरिसो सिक्खवितो, दीणारथालं भरियं, सो भणइ–यदि ममं कोइ जिणइ

१ तव गृहादारभ्य भुञ्जे, राजा भणति–किं ते एतेन ?, देशं तुभ्यं ददामि, ततः सुखं छत्रच्छायया हस्तिवरस्कन्धगतो हिण्डिष्यसे, स भणति–किं ममैतावताऽऽकुट्टेन ?, तदा तस्मै दत्तं करभोजनं, ततः प्रथमदिवसे राज्ञो गृहे जिमितः, तेन तस्मै युगलकं दत्तं दीनारश्च, एवं स परिपाट्या सुसज्जेषु राजकुलेषु द्वात्रिंशति वरराजसहस्रेषु, तैरतिशयेन भोजितः, तत्र च नगर्यामनेकाः कुलकोट्यः, नगरस्यैव स कदा अन्तं करिष्यति ?, तदा ग्रामेषु, तदा पुनर्भरतवर्षस्य । अपि स व्रजेदन्तं, न च मानुष्याद्भ्रष्टः पुनर्मानुष्यं लभते १ ॥ पाशका इति, चाणक्यस्य सुवर्णं नास्ति, तदा केनाप्युपायेन अर्जनीयं सुवर्णं, तदा यन्त्रपाशकाः कृताः, केचिद्भणन्ति–वरदत्ताः, तत एको दक्षः पुरुषः शिक्षितः, दीनारस्थालः भृतः, स भणति–यदि मां कोऽपि जयति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

तो थालं गिण्हउ, नो अह अहं जिणामि तो एगं दीणारं जिणामि, तस्स इच्छाए जंतं पडति अतो न तीरइ जिणिउं, जह सो ण जिप्पइ एवं माणुसलंभोऽवि । अवि णाम सो जिप्पेज्ज ण य माणुसाओ भट्ठो पुणो माणुसत्तणं २ ॥

'धण्णे'त्ति जत्तियाणि भरहे धण्णाणि ताणि सव्वाणि पिंडियाणि, एत्थ पत्थो सरिसवाण छूढो, ताणि सव्वाणि अदूयालियाणि, तत्थेगा जुण्णा थेरी सुप्पं गहाय ते विणेज्जा, पुणोऽवि पत्थं पूरेज्जा ?, अवि सा दिव्वपसाएण पूरेज्ज न वि माणुसत्तणं ३ ॥

'जूए' जहा एगो राया, तस्स सभा अट्ठोत्तरखंभसयसन्निविट्ठा, जत्थ अत्थाणियं देइ, एक्केको य खंभो अट्ठसयंसितो, तस्स रण्णो पुत्तो रज्जकंखी चिंतेइ–थेरो राया, मारेऊणं रज्जं गेण्हामि, तं चामचेण णायं, तेण रण्णो सिट्ठं, तओ

१ तदा स्थालं गृह्णातु, अथ अहं जयामि तदा दीनारमेकं जयामि, तस्येच्छया यन्त्रं पतति, अतो न शक्यते जेतुं, यथा स न जीयते एवं मानुष्यलाभोऽपि । अपि नाम स जीयेत न च मानुष्याद्भ्रष्टः पुनर्मानुष्यम् २ ॥ धान्यानीति, यावन्ति भरते धान्यानि तानि सर्वाणि पिण्डितानि, अत्र प्रस्थः सर्षपाणां निक्षिप्तः, तानि सर्वाणि मिश्रितानि, तत्रैका वृद्धा स्थविरा सूर्पं गृहीत्वा तानि पृथक्कुर्यात्, पुनरपि प्रस्थं पूरयेत् ?, अपि सा दिव्यप्रसादेन पूरयेत् नैव मानुष्यम् ३ ॥ द्यूतम्–यथैको राजा, तस्य सभा अष्टोत्तरस्तम्भशतसन्निविष्टा, यत्र आस्थानिकां करोति, एकैकश्च स्तम्भोऽष्टशतांशिकः, तस्य राज्ञः पुत्रो राज्यकाङ्क्षी चिन्तयति–स्थविरो राजा, मारयित्वा राज्यं गृह्णामि, तच्चामात्येन ज्ञातं, तेन राज्ञे शिष्टं, ततो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

रायां तं पुत्तं भणति–अम्हं जो ण सहइ अणुक्कमं सो जूयं खेलइ, जो जिणइ रज्जं से दिज्जइ, कहं पुण जिणियव्वं ?, उब्भं एगो आतो, अवसेसा अम्हं आया, जइ तुमं एगेण आएण अट्ठसयस्स खंभाणं एक्केकं अंसियं अट्ठसयवारा जिणसि तो तुज्झ रज्जं, अवि देवया विभासा ४ ॥

'रयणे' जहा एगो वाणियओ वुड्ढो, रयणाणि से अत्थि, तत्थ य महे अन्ने वाणिययो कोडिपडागातो उब्भेंति, सो ण उब्भवेति, तस्स पुत्तेहिं थेरे पउत्थे ताणि रयणाणि विदेसीवणियाण हत्थे विक्कीयाणि, वरं अम्हेऽवि कोडिपडागाओ उब्भवेंता, तेऽवि वाणियगा समंततो पडिगया पारसकूलाईणि, थेरो आगतो, सुयं जहा विक्कीयाणि, ते अंबाडेइ, लहुं रयणाणि आणेह, ताहे ते सव्वतो हिंडिउमाढत्ता, किं ते सव्वरयणाणि पिंडिज्जा ?, अवि य देवप्पभावेणऽवि य विभासा ५ ॥

१ राजा तं पुत्रं भणति–अस्माकं (वंशे) यो न सहते अनुक्रमं स द्यूतं क्रीडति, यो जयति राज्यं तस्मै दीयते, कथं पुनर्जेतव्यं ?, तवैक आयः अवशेषा अस्माकं आयाः, यदि त्वमेकेनायेन अष्टशतस्य स्तम्भानामेकैकमस्रिमष्टशतवारान् जयसि ततस्तव राज्यम् । अपि देवता विभाषा ४ ॥ रत्नानीति, यथैको वणिक् वृद्धः, रत्नानि तस्य सन्ति, तत्र च महे अन्ये वणिजः कोटीपताका ऊर्ध्वयन्ति, स नोर्ध्वयति, तस्य पुत्रैः स्थविरे प्रोषिते तानि रत्नानि विदेशवणिजां हस्ते विक्रीतानि, वरं वयमपि कोटीपताका ऊर्ध्वयन्तः, तेऽपि वणिजः समन्ततः प्रतिगताः पारसकूलादीनि, स्थविर आगतः, श्रुतं यथा विक्रीतानि, तान् तिरस्कुरुते लघु रत्नानि आनयत, तदा ते सर्वतो हिण्डितुमारब्धाः, किं ते सर्वरत्नानि पिण्डयेयुः ? अपि च देवप्रभावेणापि च विभाषा ५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

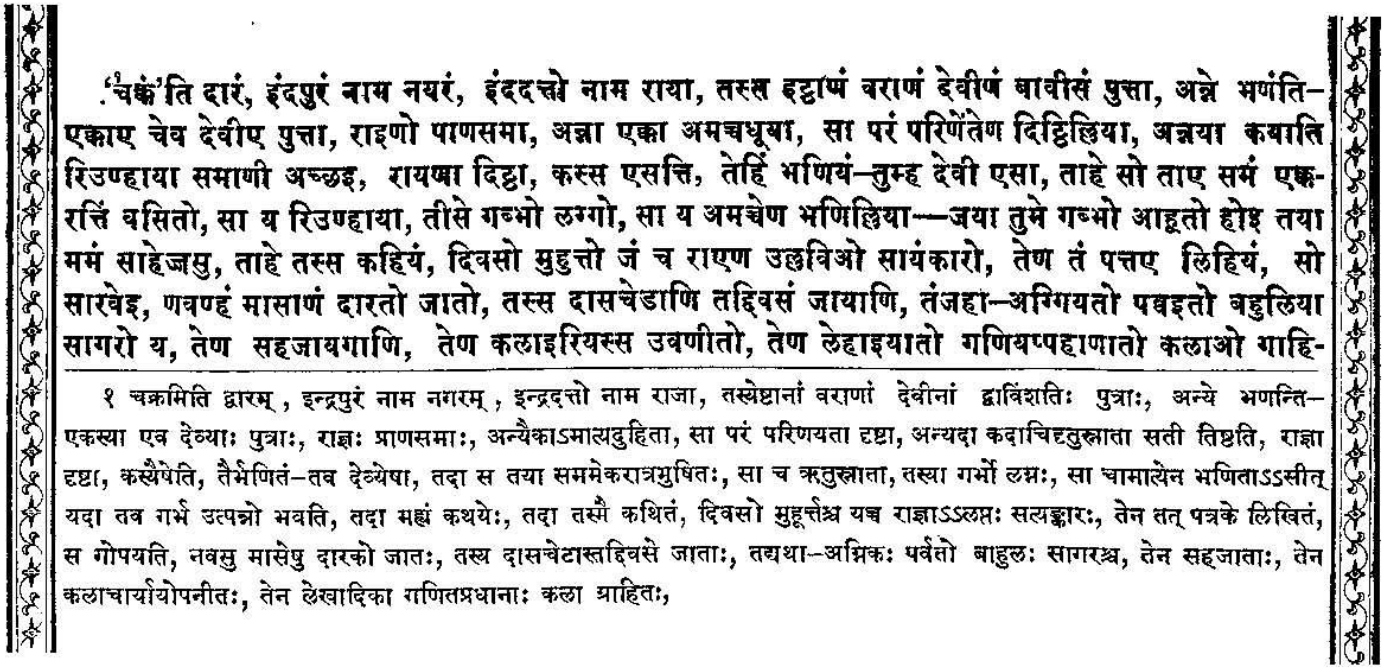
'सुविणए'त्ति एयेण कप्पडिएण सुविणते चंदो गिलितो, कप्पडियाण य कहियं, ते भणंति–संपुण्णचंदमंडलसरिसं पोलियं लहेसि, लद्धा घरछाइणियाए, अण्णेणावि दिट्ठो, सो ण्हाऊण पुप्फफलाणि गहाय सुविणयपाढयस्स कहेइ, तेण भणियं–राया भविस्ससि। इओ य सत्तमे दिवसे तत्थ राया मतो अपुत्तो, सो य निव्विण्णो अच्छइ जाव आसो अहिवासितो आगतो, तेण तं दट्ठूणं हिसियं पयक्खिणीकतो य, तओ य विलइओ पट्ठे, एवं सो राया जातो। ताहे सो कप्पडिओ सुणेइ, जहा तेणवि दिट्ठो एरिसो सुविणतो, सो आएसफलेण किर राया जातो, सो चिंतेइ—वच्चामि जत्थ गोरसो, तं पिबेत्ता सुयामि, जाव पुणोऽवि तं सुमिणं पेच्छामि, अवि पुणो सो पेच्छेज्जा ण माणुसातो ६ ॥

१ स्वप्न इति, एकेन कार्पटिकेन स्वप्ने चन्द्रो गिलितः, कार्पटिकेभ्यश्च कथितं, ते भणन्ति–संपूर्णचन्द्रमण्डलसदृशीं पोलिकां लप्स्यसे, लब्धा गृहच्छादनिकया, अन्येनापि दृष्टः, स स्नात्वा पुष्पफलानि गृहीत्वा स्वप्नपाठकाय कथयति, तेन भणितं–राजा भविष्यसि। इतश्च सप्तमे दिवसे तत्र राजा मृतोऽपुत्रः, स च निर्विण्णस्तिष्ठति यावदश्वोऽधिवासित आगतः, तेन तं दृष्ट्वा हेषितं प्रदक्षिणीकृतश्च, ततश्च विलगितः पृष्ठे, एवं स राजा जातः। तदा स कार्पटिकः शृणोति, यथा तेनापि दृष्ट ईदृशः स्वप्नः, स आदेशफलेन किल राजा जातः, स चिन्तयति–व्रजामि यत्र गोरसम्, तत् पीत्वा स्वपिमि, यावत्पुनरपि स्वप्नं तं पश्यामि, अपि पुनः स पश्येत् न मानुषात् ६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]



'चक्कं'ति दारं, इंदपुरं नाम नयरं, इंददत्तो नाम राया, तस्स इट्ठाणं वराणं देवीणं बावीसं पुत्ता, अन्ने भणंति– एकाए चेव देवीए पुत्ता, राइणो पाणसमा, अन्ना एक्का अमचधूया, सा परं परिणेंतेण दिट्ठिल्लिया, अन्नया कयाति रिउण्हाया समाणी अच्छइ, रायणा दिट्ठा, कस्स एसत्ति, तेहिं भणियं–तुम्ह देवी एसा, ताहे सो ताए समं एक्करत्तिं वसितो, सा य रिउण्हाया, तीसे गब्भो लग्गो, सा य अमचेण भणिल्लिया—जया तुमे गब्भो आहूतो होइ तया ममं साहेज्जसु, ताहे तस्स कहियं, दिवसो मुहुत्तो जं च राएण उल्लविओ सायंकारो, तेण तं पत्तए लिहियं, सो सारवेइ, णवण्हं मासाणं दारतो जातो, तस्स दासचेडाणि तद्दिवसं जायाणि, तंजहा–अग्गियतो पव्वइतो बहुलिया सागरो य, तेण सहजायगाणि, तेण कलाइरियस्स उवणीतो, तेण लेहाइयातो गणियप्पहाणातो कलाओ गाहि-

१ चक्रमिति द्वारम्, इन्द्रपुरं नाम नगरम्, इन्द्रदत्तो नाम राजा, तस्येष्टानां वराणां देवीनां द्वाविंशतिः पुत्राः, अन्ये भणन्ति– एकस्या एव देव्याः पुत्राः, राज्ञः प्राणसमाः, अन्यैकाऽमात्यदुहिता, सा परं परिणयता दृष्टा, अन्यदा कदाचिदृतुस्नाता सती तिष्ठति, राज्ञा दृष्टा, कस्यैषेति, तैर्भणितं–तव देव्येषा, तदा स तया सममेकरात्रमुषितः, सा च ऋतुस्नाता, तस्या गर्भो लग्नः, सा चामात्येन भणिताऽऽसीत् यदा तव गर्भ उत्पन्नो भवति, तदा मह्यं कथयेः, तदा तस्मै कथितं, दिवसो मुहूर्त्तश्च यत्र राज्ञाऽऽलग्नः सत्यङ्कारः, तेन तत् पत्रके लिखितं, स गोपयति, नवसु मासेषु दारको जातः, तस्य दासचेटास्तद्दिवसे जाताः, तद्यथा–अग्निकः पर्वतो बाहुलः सागरश्च, तेन सहजाताः, तेन कलाचार्योपनीतः, तेन लेखादिका गणितप्रधानाः कला ग्राहिताः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

तो, जाहे ताओ गाहेंति आयरिया ताहे ताणि कड्ढेंति विउलेंति य, पुव्वपरिचएणं ताणि रोलिंति, तेण ताणि चेव ण गणियाणि, गहियातो कलातो। ते अन्ने बावीसं कुमारा गाहिज्जंता आयरियं पिट्टंति, अवयणाणि य भणंति, जति सो आइरितो पिट्टेति ताहे गंतूण माऊणं साहिंति, ताहे ताओ आयरियं खिंसंति–कीस आहणसि ?, किं सुलभाणि पुत्तजम्माणि ?, अतो ते ण सिक्खिया। इओ य महुराए जियसत्तू राया, तस्स सुया निव्वुईनाम दारिया, सा रण्णो अलंकिया उवणीया, राया भणइ–जो ते रोयइ भत्तारो, तो ताए णायं–जो सूरो वीरो विक्कंतो सो मम भत्तारो होइ, सो पुण रज्जं दिज्जा, ताहे सा बलं वाहणं गहाय गया इंदपुरं नयरं, तस्स इंददत्तस्स रण्णो बहवे पुत्ता, इंददत्तो तुट्ठो चिंतेइ–णूणं अन्नेहिंतो राईहिं लट्ठयरो, आगया, ततो तेण ऊसियपडायं नयरं कारियं, तत्थ एगंमि

१ यदा तान् ग्राहयति आचार्यस्तदा ते कर्षयन्ति व्याकुलयन्ति च, पूर्वपरिचयेन ते लुठन्ति, तेन ते नैव गणिताः, (न) गृहीताः कलाः। तेऽन्ये द्वाविंशतिः कुमारा ग्राह्यमाणा आचार्यं पिट्टयन्ति, अवचनानि च भणन्ति, यदि स आचार्यः पिट्टयति तदा गत्वा मातृभ्यः कथयन्ति, तदा ता आचार्यं खिंसन्ति–कथमाहंसि ?, किं पुत्रजन्मानि सुलभानि ?, अतस्ते न शिक्षिताः। इतश्च मथुरायां जितशत्रू राजा, तस्य सुता निर्वृतिनाम्नी दारिका, सा राज्ञोऽलङ्कृतोपनीता, राजा भणति–यस्तुभ्यं रोचते (स) भर्त्ता, ततस्तया ज्ञापितं—यः शूरो वीरो विक्रान्तः स मम भर्त्ता भवति, स पुना राज्यं दद्यात्, तदा सा बलं वाहनं (च) गृहीत्वा गता इन्द्रपुरं नगरं, तस्येन्द्रदत्तस्य राज्ञो बहवः पुत्राः, इन्द्रदत्तस्तुष्टश्चिन्तयति–नूनमन्येभ्यो राजभ्यो लष्टतरः, आगता, ततस्तेनोच्छ्रितपताकं नगरं कारितं। तत्रैकस्मि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]

अक्खे अट्ठ चक्काणि, तेसिं पुरओ ठिया धीउलिया, सा अच्छिमि विंधियव्वा, तओ इंददत्तो राया संनद्धो निग्गओ सह पुत्तेहिं, सावि कण्णा सव्वालंकारविभूसिया एगंमि पासे अच्छइ, सो रंगो रायाणो ते य दंडभडभोइया जारिसो दोवईए, तत्थ रण्णो जेट्ठपुत्तो सिरिमाली नाम कुमारो, सो भणिओ–पुत्त ! एसा दारिया रज्जं च घेत्तव्वं, अतो विंधेहि पुत्तलियंति, ताहे सो अकयकरणो तस्स समूहस्स मज्झे धणुं चेव गिण्हउं न तरइ, कहवि णेण गहियं, तेण जओ वच्चउ तओ वच्चउ त्ति मुक्को सरो, सो चक्के अब्भिडिऊण भग्गो, एवं कस्सति एगं अरगं वोलीणो कस्सति दोण्णि, अन्नेसिं बाहिरेण चेव णीइ, ताहे राया अद्धितिं पकतो–अहो! अहं एएहिं धरिसितोत्ति, ततो अमच्चेण भणितो–कीस अधिइं करेसि ?, राया भणइ–एएहिं अहं अप्पहाणो कतो, अमच्चो भणइ—अत्थि अन्नो तुम्ह पुत्तो मम धूयाए

१. नक्षेऽष्ट चक्राणि, तेषां पुरतः स्थिता शालभञ्जिका, सा अक्षि वेधव्या, तत इन्द्रदत्तो राजा सन्नद्धो निर्गतः सह पुत्रैः, साऽपि कन्या सर्वालङ्कारविभूषिता एकस्मिन् पार्श्वे तिष्ठति, स रङ्गो राजानः ते च दण्डभटभोजिका यादृशो द्रौपद्याः, तत्र राज्ञो ज्येष्ठपुत्रः श्रीमाली नाम कुमारः, स भणितः—पुत्र ! एषा दारिका राज्यं च ग्रहितव्यम् , अतो विध्य पुत्तलिकामिति, तदा सोऽकृतकरणस्तस्य समूहस्य मध्ये धनुरेव ग्रहीतुं न शक्नोति, कथमपि अनेन गृहीतं, तेन यतो व्रजतु ततो व्रजत्विति मुक्तः शरः, स चक्रे आस्फाल्य भग्नः, एवं कस्यचित् एकमरकं व्यतिक्रान्तः, कस्यचिद्द्वौ, अन्येषां बाह्य एव निरेति, तदा राजाऽधृतिं प्रगतः—अहो अहमेतैः धर्षित इति, ततोऽमात्येन भणितः– कथमधृतिं करोषि ?, राजा भणति— एतैरहं अप्रधानः कृतः, अमात्यो भणति—अस्ति अन्यस्तव पुत्रो मम दुहितु–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]

तणतो, सुरिंददत्तो नाम, सो समत्थो विंधिउं, अभिण्णाणाणि य से कहियाणि, कहिं ?, सो दरसितो, ततो राइणा अवगूहितो भण्णति–जुत्तं तव अट्ठ रहचक्के भेत्तूण पुत्तलियं अच्छिमि विंधेत्ता रज्जं सुकलत्तं निव्वुइं दारियं संपावित्तए, तओ कुमारो जहा आणवेहित्ति भणिऊण ठाणं ठाइऊणं धणुं गेण्हति, ताणिऽवि दासरूवाणि चाउद्दिसिं ठियाणि रोडंति, अन्ने य उभयपासिं गहियखग्गा दो जणा, जइ कहवि लक्खस्स चुक्कइ ततो सीसं छिंदेयवंति, सोऽवि उज्झातो पासे ठितो भयं देइ—मारिज्जसि जइ चुक्कसि, ते बावीसंपि कुमारा मा एसो विंधिस्सइत्ति ते विसेसलुंठणाणि विग्घाणि करेंति, तओ ताणि चत्तारि ते य दो पुरिसे बावीसं च कुमारे अगणिंतो ताणं अट्ठण्हं रहचक्काणं अंतरं जाणिऊण तंमि लक्खे निरुद्धाए दिट्ठीए अन्नं मयं अकुणमाणेण सा धीउल्लिया वामे अच्छिमि विद्धा,

१. स्तनयः सुरेन्द्रदत्तो नाम, स समर्थो व्यद्धुम्, अभिज्ञानानि च तस्मै कथितानि, क ?, स दर्शितः, ततो राज्ञाऽवगूढो भण्यते—युक्तं तवाष्ट रथचक्राणि भित्त्वा पुत्तलिकामक्षिणि विद्ध्वा राज्यं सुकलत्रं निर्वृतिं दारिकां संप्राप्तुं, ततः कुमारो यथाऽऽज्ञापयतीति भणित्वा स्थानं स्थित्वा धनुर्गृह्णाति, तेऽपि दासाश्चतसृषु दिक्षु स्थिता विघ्नं कुर्वन्ति, अन्यौ चोभयपार्श्वयोः गृहीतखड्गौ द्वौ जनौ, यदि कथमपि लक्षात् स्खलति ततः शीर्षं छेत्तव्यमिति, सोऽप्युपाध्यायः पार्श्वे स्थितो भयं ददाति–मारयिष्यसे यदि स्खलसि, ते द्वाविंशतिरपि कुमारा मा एष व्यत्स्यतीति ते विशेषलुण्ठनानि विघ्नान् (च) कुर्वन्ति, ततस्ते चत्वारः तौ च द्वौ पुरुषौ द्वाविंशतिं च कुमारानगणयन् तेषामष्टानां रथचक्राणामन्तरं ज्ञात्वा तस्मिन् लक्ष्ये निरुद्धया दृष्ट्या अन्यत् मतं (मनः) अकुर्वता सा पुत्तलिका वामेऽक्षिणि विद्धा,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]

तओ लोगेण ओक्किट्ठिकलणायकलयलोम्मिस्सो साहुक्कारो कतो, जहा तं चक्कं दुक्खं भेत्तुं एवं माणुस्सत्तणंति ७ ॥

'चम्मे'त्ति एगो दहो जोयणसयसहस्सविच्छिन्नो चम्मावणद्धो, एगं से मज्झे छिद्दं, जत्थ कच्छभस्स गीवा माएइ, तत्थ कच्छभो वाससए गए गीवं पसारेइ, तेण कहवि गीवा पसारिया, जाव तेण छिद्देण गीवा निग्गया, तेण जोइसं दिट्ठं कोमुईए पुप्फफलाणि य, सो गतो, सयणिज्जगाणं दाएमि, आणित्ता सव्वओ घुलति, णवि पेच्छति, अवि सो माणुसातो ८ ॥

'जुगे'त्ति पुव्वंते होज्ज जुगं अवरंते तस्स होज्ज समिला उ। जुगछिद्दंमि पवेसो इय संसइओ मणुयलंभो ॥ १ ॥

---

१ ततो लोकेनोत्कृष्टिकलनादकलकलोन्मिश्रः साधुकारः कृतः । यथा तच्चक्रं दुःखं भेत्तुमेवं मानुषत्वमिति ७ ॥ चर्मेति, एको ह्रदो योजनशतसहस्रविस्तीर्णश्चर्मावनद्धः, एकं तस्य मध्ये छिद्रं, यत्र कच्छपस्य ग्रीवा माति, तत्र कच्छपो वर्षशते गते ग्रीवां प्रसारयति, तेन कथमपि ग्रीवा प्रसारिता, यावत्तेन छिद्रेण ग्रीवा निर्गता, तेन ज्योतिर्दृष्टं कौमुद्यां पुष्पफलानि च, स गतः, स्वजनान् दर्शयामि, आनीय सर्वतो भ्राम्यति, नैव प्रेक्षते, अपि स मानुषात् ८ ॥ युगमिति, पूर्वान्ते भवेद् युगमपरान्ते तस्य भवेत् समिला तु । युगच्छिद्रे प्रवेश इति संशयितो मानुष्यलाभः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

जेहि समिला पब्भट्ठा सागरसलिले अणोरपारंमि । पविसेज्जा जुगछिद्दं कहवि भमंती भमंतम्मि ॥ २ ॥ सा चंडवायवीईपणोल्लिया अवि लभेज्ज जुगछिद्दं । ण य माणुसाउ भट्ठो जीवो पडिमाणुसं लहइ ॥ ३ ॥ इति गाथाभ्यो जुगोदाहरणमवसेयम् ॥

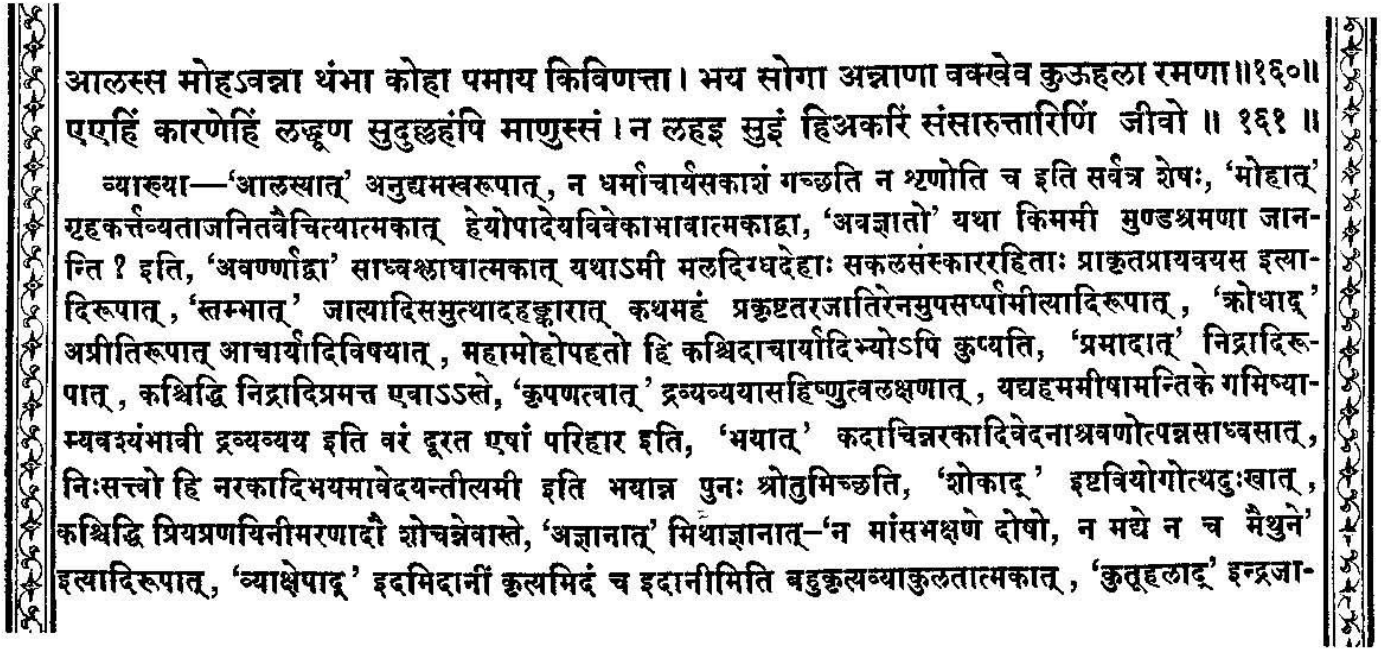
इयाणिं परमाणू, जहा एगो खंभो महप्पमाणो, सो देवेण चुण्णेऊणं अविभागिमाणि खंडाणि काऊण णलियाए पक्खित्तो, पच्छा मंदरचूलियाए ठाऊण फूमितो, ताणि णट्ठाणि, अत्थि कोऽवि ?, तेहिं चेव पुग्गलेहिं तमेव खंभं णिवत्तेज्ज ? णो इणमट्ठे समट्ठे, एस अभावो, एवं भट्ठो माणुसातो ण पुणो । अहवा सभा अणेगखंभसयसंनिविट्ठा, सा कालंतरेण झामिया पडिया, अत्थि पुण कोऽवि ?, तेहिं चेव पोग्गलेहिं करेज्जा ?, णोत्ति, एवं माणुस्सं दुल्लभं ॥ लद्धेऽवि मानुष्यत्वे श्रुतिरपि दुर्लभेति दर्शयन्नाह—

१ यत्र (दि) समिला प्रभ्रष्टा सागरसलिलेऽनर्वाक्पारे । प्रविशेद्युगच्छिद्रं कथमपि भ्राम्यति भ्राम्यन्ती ॥२॥ सा चण्डवातवीचिप्रणोदिताऽपि लभेत युगच्छिद्रम् । न च मानुषाद्भ्रष्टो जीवः प्रतिमानुषं लभते ॥ ३ ॥ इदानीं परमाणुः—यथैकः स्तम्भो महाप्रमाणः, स देवेन चूर्णयित्वा अविभागान् खण्डान् कृत्वा नलिकायां प्रक्षिप्तः, पश्चान्मन्दरचूलिकायां स्थित्वा फूत्कृतः, ते नष्टाः, अस्ति कोऽपि ?, तैरेव पुद्गलैस्तमेव स्तम्भं निर्वर्त्तयेत् , न एषोऽर्थः समर्थः, एषोऽभावः, एवं भ्रष्टो मानुषान्न पुनः । अथवा सभा अनेकस्तम्भशतसन्निविष्टा, सा कालान्तरे ध्माता पतिता (च), अस्ति पुनः कोऽपि ?, तैरेव पुद्गलैः कुर्यात् ? नेति, एवं मानुषं दुर्लभं ॥ लब्धेऽपि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]



आलस्स मोहऽवन्ना थंभा कोहा पमाय किविणत्ता। भय सोगा अन्नाणा वक्खेव कुऊहला रमणा॥१६०॥
एएहिं कारणेहिं लद्धूण सुदुल्लहंपि माणुस्सं। न लहइ सुइं हिअकरिं संसारुत्तारिणिं जीवो ॥ १६१ ॥

व्याख्या—'आलस्यात्' अनुद्यमस्वरूपात्, न धर्माचार्यसकाशं गच्छति न शृणोति च इति सर्वत्र शेषः, 'मोहात्' गृहकर्त्तव्यताजनितवैचित्यात्मकात् हेयोपादेयविवेकाभावात्मकाद्वा, 'अवज्ञातो' यथा किममी मुण्डश्रमणा जानन्ति ? इति, 'अवर्णाद्वा' साध्वश्लाघात्मकात् यथाऽमी मलदिग्धदेहाः सकलसंस्काररहिताः प्राकृतप्रायवयस इत्यादिरूपात्, 'स्तम्भात्' जात्यादिसमुत्थादहङ्कारात् कथमहं प्रकृष्टतरजातिरेनमुपसर्प्पामीत्यादिरूपात्, 'क्रोधाद्' अप्रीतिरूपात् आचार्यादिविषयात्, महामोहोपहतो हि कश्चिदाचार्यादिभ्योऽपि कुप्यति, 'प्रमादात्' निद्रादिरूपात्, कश्चिद्धि निद्रादिप्रमत्त एवाऽऽस्ते, 'कृपणत्वात्' द्रव्यव्ययासहिष्णुत्वलक्षणात्, यद्यहममीषामन्तिके गमिष्यामि व्यवश्यंभावी द्रव्यव्यय इति वरं दूरत एषां परिहार इति, 'भयात्' कदाचिन्नरकादिवेदनाश्रवणोत्पन्नसाध्वसात्, निःसत्त्वो हि नरकादिभयमावेदयन्तीत्यमी इति भयान्न पुनः श्रोतुमिच्छति, 'शोकाद्' इष्टवियोगोत्थदुःखात्, कश्चिद्धि प्रियप्रणयिनीमरणादौ शोचन्नेवास्ते, 'अज्ञानात्' मिथ्याज्ञानात्–'न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने' इत्यादिरूपात्, 'व्याक्षेपाद्' इदमिदानीं कृत्यमिदं च इदानीमिति बहुकृत्यव्याकुलतात्मकात्, 'कुतूहलाद्' इन्द्रजा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्ति:

मूल संपादने अत्र मुद्रण अशुद्धित्वात् निर्युक्ति=क्रम "१६०" द्वीवारान् लिखितं

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

लाद्यवलोकनगोचरात्, 'रमणात्' कुर्कुटादिक्रीडात्मकात्, क्वचित्सुपोऽश्रवणं प्राग्वत्, प्रक्रान्तार्थनिगमनायाह– 'एभिः' अनन्तरोक्तस्वरूपैः 'कारणैः' आलस्यादिहेतुभिः 'लद्धूण सुदुल्लहंपि' त्ति अपेर्भिन्नक्रमत्वाल्लब्ध्वाऽपि 'सुदुर्लभम्' अतिशयदुरापं 'मानुष्यं' मनुजत्वं 'न लभते' न प्राप्नोति' श्रुतिं' धर्माकर्णनात्मिकां, कीदृशीम् ?–'हितकरीम्' इह परत्र च तथ्यपथ्यविधायिनीम्, अत एव संसारादुत्तारयति—मुक्तिप्रापकत्वेन निस्तारयति इति संसारोत्तारणी तां 'जीवः' जन्तुः इति गाथार्थः ॥१६०–१६१॥ इत्थं धर्मश्रुतिदुर्लभत्वमभिधाय तल्लाभेऽपि श्रद्धादुर्लभत्वमाह—

मिच्छादिट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं न सद्दहइ । सद्दहइ असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥ १६२ ॥
सम्मद्दिट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहइ । सद्दहइ असब्भावं अणभोगा गुरुनिओगा वा ॥१६३॥

व्याख्या—मिथ्या इति–विपरीता दृष्टिः–बुद्धिरस्येति मिथ्यादृष्टिः, जीवः 'उपदिष्टं' गुरुभिराख्यातं 'प्रवचनम्' आगमं 'न श्रद्धत्ते' इदमित्थमिति न प्रतिपद्यते, कदाचित्तद्विपरीतमपि न श्रद्दधातीत्याह–'श्रद्धत्ते' तथेति प्रतिपद्यते, किं तदित्याह–अविद्यमानाः सन्तः–परमार्थसन्तो भावा–जीवादयोऽभिधेयभूता यस्मिन् तदसद्भावम्, सर्वव्याप्यादिरूपात्मादिप्रतिपादकं कुप्रवचनमिति गम्यते, 'उपदिष्टं' परेण कथितं, वाशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात् अनुपदिष्टं वा–स्वयमभ्यूहितमिति गाथार्थः ॥ १६२ ॥ इत्थं श्रद्धादुर्लभत्वमभिधाय साम्प्रतं लब्धाया अप्युपघातसम्भवमाह–'संम' गाहा, तथा सम्यक् इति–प्रशंसार्थोऽपि निपातः, यद्वा समञ्चति—जीवादीनवैपरीत्येनाव-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]

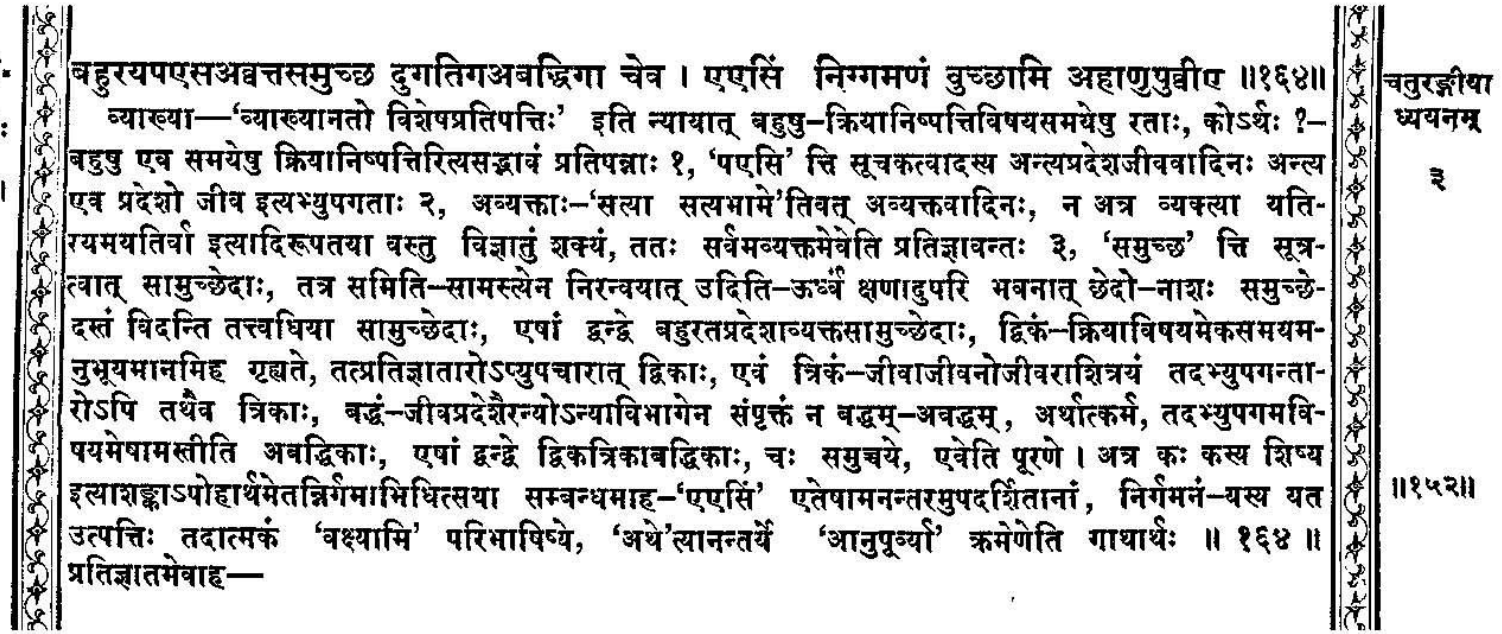
गच्छति इति सम्यक् तथा दृष्टिः अस्येति सम्यग्दृष्टिः जीव उपदिष्टं प्रवचनं, तुशब्दो मिथ्यादृष्टितः सम्यग्दृष्टेर्विशेषमाह,'श्रद्धत्ते' निःशङ्कं प्रतिपद्यते, तत्किमसौ प्रवचनमेव श्रद्धत्ते इत्याह–श्रद्धत्ते 'असद्भावम्' उक्तस्वरूपम् 'अनाभोगात्' अज्ञानात्, तथा 'गुरवः' धर्माचार्यास्तेषां नियोगः–व्यापारणं गुरुनियोगस्तस्माद्वा, कश्चिद्धि सम्यग्दृष्टिर्विशेषतो जीवादिस्वरूपानवगमाद् गुरुप्रत्ययाच्चातत्त्वमपि तत्त्वमिति प्रतिपद्यते। तदेवं प्रथमगाथया मिथ्यात्वहेतुकत्वमश्रद्धानस्योक्तम्, द्वितीयगाथया पुनस्तदभावेऽप्यनाभोगगुरुनियोगहेतुकत्वं, तथा च मिथ्यात्वादितद्धेतूनां व्यापित्वादश्रद्धानभूयस्त्वेन श्रद्धानदुर्लभतोक्ता भवतीति गाथाद्वयपरमार्थः ॥ १६३ ॥ ननु किमेवंविधा अपि केचिदत्यन्तमृजवः सम्भवेयुः ? ये स्वयमागमानुसारिमतयोऽपि गुरूपदेशतोऽन्यथापि प्रतिपद्येरन्, एवमेतत्, तथाहि–जमालिप्रभृतीनां निह्नवानां शिष्यास्तद्भक्तियुक्ततया स्वयमागमानुसारिमतयोऽपि गुरुप्रत्ययाद्विपरीतमर्थं प्रतिपन्नाः, उक्तं हि–"तए णं तस्स जमालिस्स अणगारस्स एवमाइक्खमाणस्स एवं भासंतस्स एवं पण्णवेमाणस्स एवं परूवेमाणस्स अत्थि एगयया समणा णिग्गंथा एयमट्ठं सद्दहंति पत्तियंति रोयंति" इत्यादि। के पुनरमी असद्भावं प्रतिपन्ना इत्याह—

१ ततस्तस्य जमालेरनगारस्य एवमाख्यायत एवं भाषमाणस्य एवं प्रज्ञापयत एवं प्ररूपयतः सन्त्येके श्रमणा निर्ग्रन्थाः (ये) एनमर्थं श्रद्दधति प्रतियन्ति रोचन्ते।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥१५२॥

बहुरयपएसअवत्तसमुच्छ दुगतिगअबद्धिगा चेव । एएसिं निग्गमणं वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥१६४॥

व्याख्या—'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः' इति न्यायात् बहुषु–क्रियानिष्पत्तिविषयसमयेषु रताः, कोऽर्थः ?–बहुषु एव समयेषु क्रियानिष्पत्तिरित्यसद्भावं प्रतिपन्नाः १, 'पएसि' त्ति सूचकत्वादस्य अन्त्यप्रदेशजीववादिनः अन्त्य एव प्रदेशो जीव इत्यभ्युपगताः २, अव्यक्ताः–'सत्या सत्यभामे'तिवत् अव्यक्तवादिनः, न अत्र व्यक्त्या यतिरयमयतिर्वा इत्यादिरूपतया वस्तु विज्ञातुं शक्यं, ततः सर्वमव्यक्तमेवेति प्रतिज्ञावन्तः ३, 'समुच्छ' त्ति सूत्रत्वात् सामुच्छेदाः, तत्र समिति–सामस्त्येन निरन्वयात् उदिति–ऊर्ध्वं क्षणादुपरि भवनात् छेदो–नाशः समुच्छेदस्तं विदन्ति तत्त्वधिया सामुच्छेदाः, एषां द्वन्द्वे बहुरतप्रदेशाव्यक्तसामुच्छेदाः, द्विकं–क्रियाविषयमेकसमयमनुभूयमानमिह गृह्यते, तत्प्रतिज्ञातारोऽप्युपचारात् द्विकाः, एवं त्रिकं–जीवाजीवनोजीवराशित्रयं तदभ्युपगन्तारोऽपि तथैव त्रिकाः, बद्धं–जीवप्रदेशैरन्योऽन्याविभागेन संपृक्तं न बद्धम्–अबद्धम्, अर्थात्कर्म, तदभ्युपगमविषयमेषामस्तीति अबद्धिकाः, एषां द्वन्द्वे द्विकत्रिकाबद्धिकाः, चः समुच्चये, एवेति पूरणे । अत्र कः कस्य शिष्य इत्याशङ्काऽपोहार्थमेतन्निर्गमाभिधित्सया सम्बन्धमाह–'एएसिं' एतेषामनन्तरमुपदर्शितानां, निर्गमनं–यस्य यत उत्पत्तिः तदात्मकं 'वक्ष्यामि' परिभाषिष्ये, 'अथे'त्यानन्तर्ये 'आनुपूर्व्या' क्रमेणेति गाथार्थः ॥ १६४ ॥ प्रतिज्ञातमेवाह—

चतुरङ्गीयाध्ययनम् ३

॥१५२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

बहुरय जमालिपभवा जीवपएसा य तीसगुत्ताओ। अव्वत्ताऽऽसाढाओ सामुच्छेयाऽऽसमित्ताओ ॥१६५॥
गंगाए दोकिरिया छलुगा तेरासिआण उप्पत्ती। थेरा य गुट्ठमाहिल पुट्ठमबद्धं परूविंति ॥ १६६ ॥

व्याख्या—'बहुरताः' उक्तरूपाः, जमालेः प्रभवः–एतत्तीर्थापेक्षया प्रथमतः उपलब्धिरेषां, न पुनः सर्वथोत्पत्तिरेव, प्रागप्येवंविधाभिधायिसम्भवात्, ते अमी जमालिप्रभवाः, 'जीवपएसा य' त्ति प्रस्तावात्प्रदेश इत्यन्त्यप्रदेशो जीवो येषां ते प्रदेशजीवाः, प्राकृतत्वाच्च व्यत्ययः, ते च तिष्यगुप्तात्, 'अव्यक्ताः' अव्यक्तवादिनः आषाढात्, सामुच्छेदा अश्वमित्रात्, 'गङ्गात्' इति गङ्गाचार्यात्, द्वे क्रिये वदन्ति द्वेक्रियाः, 'छलुग' त्ति षट्पदार्थप्रणयनादुलूकगोत्रत्वाच्च षडुलूकस्तस्मात्, त्रिभी राशिभिर्दीव्यन्ति–जिगीषन्तीति त्रैराशिकास्तेषामुत्पत्तिः, 'स्थविराश्च' स्थिरीकरणकारिणः 'गोट्ठामाहिल'त्ति गोष्ठमाहिलाः 'स्पृष्टम्' कञ्चुकवत् छुप्तम् 'अबद्धम्' न क्षीरनीरवदन्योऽन्यानुगतं, कर्मेति गम्यते, 'परूपयन्ति' प्रज्ञापयन्ति, तत्कालापेक्षया लट्, बहुवचनं च पूज्यत्वात्, तच्च स्थविरत्वं च पूर्वपर्यायापेक्षया, अनेन च गोष्ठमाहिलादवद्धिकानामुत्पत्तिरित्युक्तं भवति इति गाथाद्वयार्थः ॥ १६५–१६६ ॥ यथा बहुरता जमालिप्रभवाः तथा चाह—

जिट्ठा सुदंसण जमालि अणुज्ज सावत्थि तिंदुगुज्जाणे। पंच सया य सहस्सं ढंकेण जमालि मुत्तूणं ॥१६७॥

व्याख्या—अक्षरार्थः सुगमः, नवरम्, 'अणुज्ज' त्ति अनवद्याङ्गी ॥१६७॥ भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः, स चायम्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

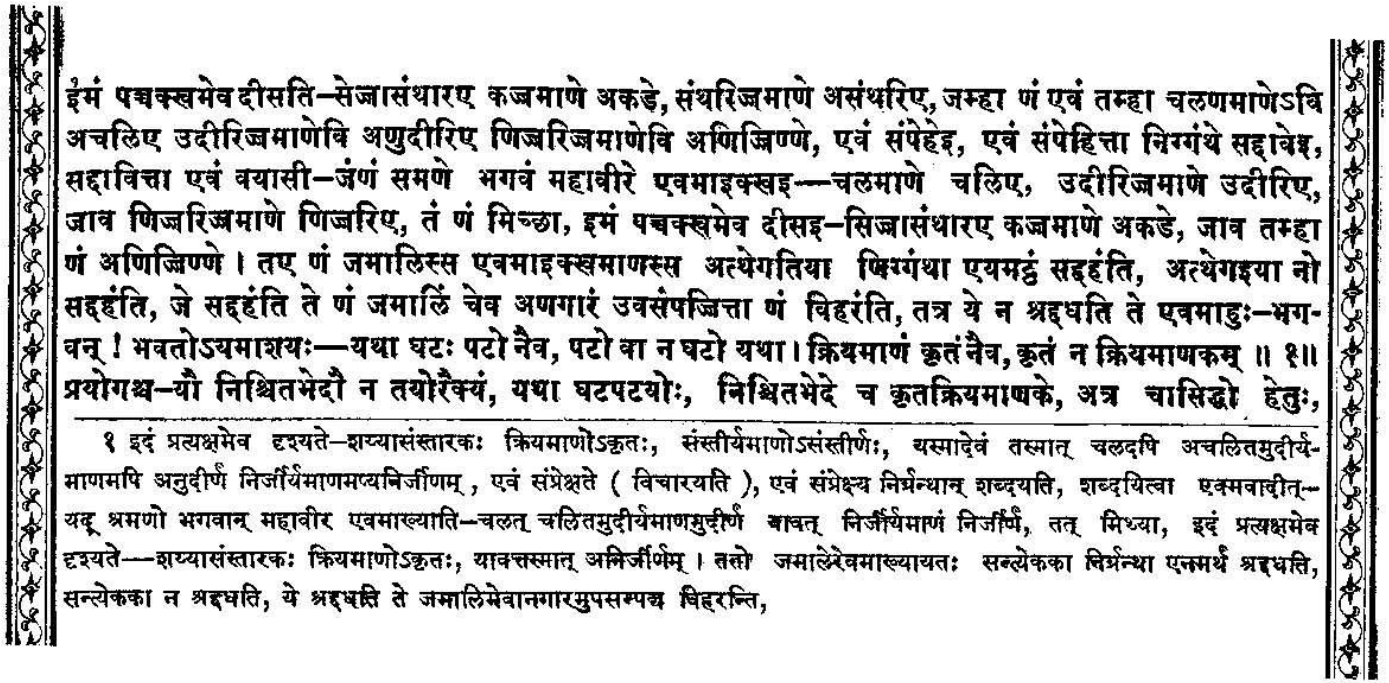
तेणं कालेणं तेणं समएणं कुंडपुरं नयरं, तत्थ सामिस्स जेट्ठा भगिणी सुदंसणा नाम, तीए पुत्तो जमाली, सो सामिस्स मूले पव्वइओ पंचहिं सएहिं समं, तस्स य भज्जा सामिणो धूया अणुज्जंगीनामा बीयं णामं पियदंसणा, सावि तमणु पव्वतिया सहस्सपरिवारा, तहा भाणियव्वं जहा पण्णत्तीए, एक्कारस अंगा अहीया, सामिणा अणुण्णातो सावत्थिं गतो पंचसयपरिवारो, तत्थ य तिंदुगुज्जाणे कोट्ठगे चेतिते समोसढो, तत्थ से अंतपंतेहिं रोगो उप्पण्णो, ण तरइ वइट्ठतो अच्छिउं, ताहे सो समणे भणइ–मम सेज्जासंथारगं करेह, तेहिं काउमारद्धो, पुणो अधरो भणति–कतो ? कज्जति ?, ते भणंति–न कओ, अज्जवि कज्जति, ताहे तस्स चिंता जाया—जण्णं समणे भगवं० आइक्खति 'चलमाणे चलिए उदीरिज्जमाणे उदीरिए जाव निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे' तं च मिच्छा,

१ तस्मिन् काले तस्मिन् समये कुण्डपुरं नगरं, तत्र स्वामिनो ज्येष्ठा भगिनी सुदर्शना नाम, तस्याः पुत्रो जमालिः, स स्वामिनो मूले प्रव्रजितः पञ्चभिः शतैः समं, तस्य च भार्या स्वामिनो दुहिताऽनवद्याङ्गीनाम्नी द्वितीयं नाम प्रियदर्शना, साऽपि तमनु प्रव्रजिता सहस्रपरिवारा, तथा भणितव्यं यथा प्रज्ञप्तौ, एकादशाङ्गान्यधीतानि, स्वामिनाऽनुज्ञातः श्रावस्तीं गतः पञ्चशतपरीवारः, तत्र च तिन्दुकोद्याने कोष्ठके चैत्ये समवसृतः, तत्र तस्य अन्तप्रान्तै रोग उत्पन्नः, न शक्नोति उपविष्टः स्थातुं, तदा स श्रमणान् भणति–मम शय्यासंस्तारकं कुरुत, तैः कर्तुमारब्धः, पुनरधीरो भणति–कृतः ? क्रियते ?, ते भणन्ति–न कृतः, अद्यापि क्रियते, तदा तस्य चिन्ता जाता–यत् श्रमणो भगवान् आख्याति–चलत् चलितमुदीर्यमाणमुदीर्णं यावन्निर्जीर्यमाणं निर्जीर्णं, तच्च मिथ्या,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]



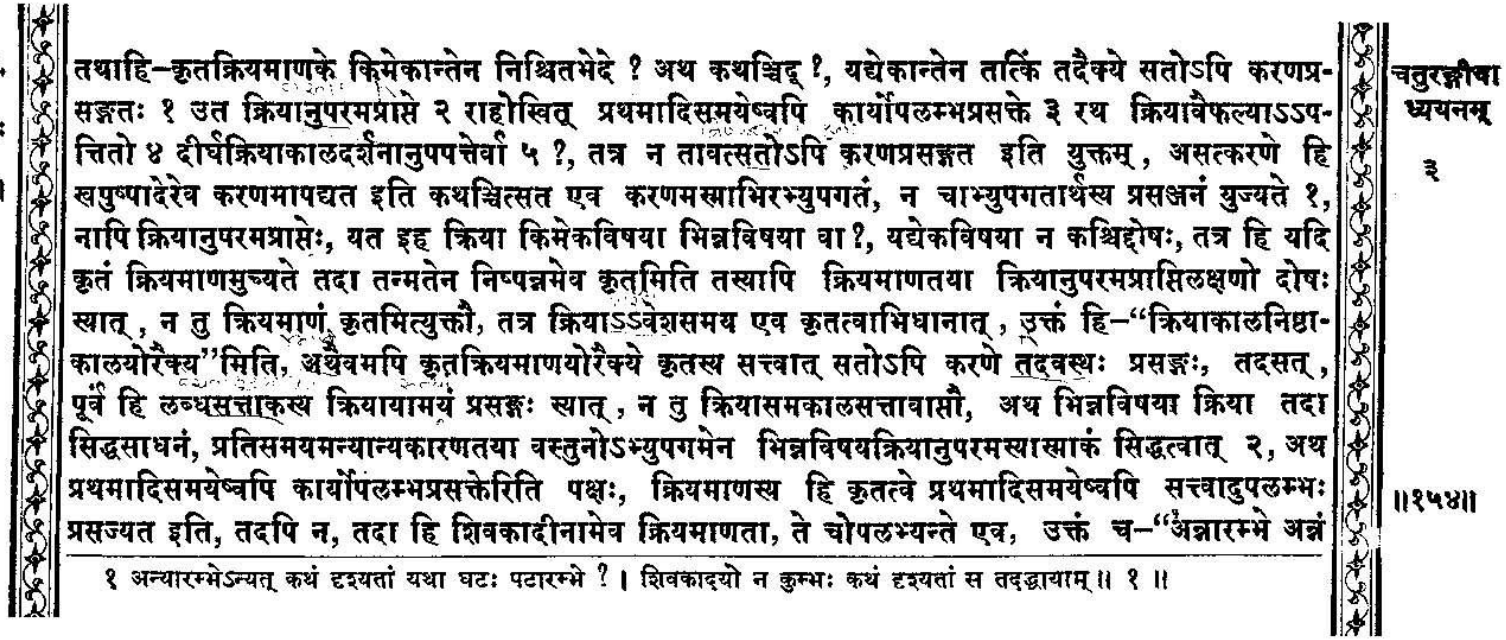
इमं पचक्खमेव दीसति–सेज्जासंथारए कज्जमाणे अकडे, संथरिज्जमाणे असंथरिए, जम्हा णं एवं तम्हा चलणमाणेऽवि अचलिए उदीरिज्जमाणेवि अणुदीरिए णिज्जरिज्जमाणेवि अणिज्जिण्णे, एवं संपेहेइ, एवं संपेहित्ता निग्गंथे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी–जंणं समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ—चलमाणे चलिए, उदीरिज्जमाणे उदीरिए, जाव णिज्जरिज्जमाणे णिज्जरिए, तं णं मिच्छा, इमं पचक्खमेव दीसइ–सिज्जासंथारए कज्जमाणे अकडे, जाव तम्हा णं अणिज्जिण्णे। तए णं जमालिस्स एवमाइक्खमाणस्स अत्थेगतिया णिग्गंथा एयमट्ठं सद्दहंति, अत्थेगइया नो सद्दहंति, जे सद्दहंति ते णं जमालिं चेव अणगारं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति, तत्र ये न श्रद्दधति ते एवमाहुः–भगवन्! भवतोऽयमाशयः—यथा घटः पटो नैव, पटो वा न घटो यथा। क्रियमाणं कृतं नैव, कृतं न क्रियमाणकम् ॥ १॥ प्रयोगश्च–यौ निश्चितभेदौ न तयोरैक्यं, यथा घटपटयोः, निश्चितभेदे च कृतक्रियमाणके, अत्र चासिद्धो हेतुः,

१ इदं प्रत्यक्षमेव दृश्यते–शय्यासंस्तारकः क्रियमाणोऽकृतः, संस्तीर्यमाणोऽसंस्तीर्णः, यस्मादेवं तस्मात् चलदपि अचलितमुदीर्यमाणमपि अनुदीर्णं निर्जीर्यमाणमप्यनिर्जीणम्, एवं संप्रेक्षते (विचारयति), एवं संप्रेक्ष्य निर्ग्रन्थान् शब्दयति, शब्दयित्वा एवमवादीत्–यद् श्रमणो भगवान् महावीर एवमाख्याति–चलत् चलितमुदीर्यमाणमुदीर्णं यावत् निर्जीर्यमाणं निर्जीर्णं, तत् मिथ्या, इदं प्रत्यक्षमेव दृश्यते—शय्यासंस्तारकः क्रियमाणोऽकृतः, यावत्तस्मात् अनिर्जीर्णम्। ततो जमालेरेवमाख्यायतः सन्त्येकका निर्ग्रन्था एतमर्थं श्रद्दधति, सन्त्येकका न श्रद्दधति, ये श्रद्दधति ते जमालिमेवानगारमुपसम्पद्य विहरन्ति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥१५४॥

तथाहि–कृतक्रियमाणके किमेकान्तेन निश्चितभेदे ? अथ कथञ्चिद् ?, यद्येकान्तेन तर्किं तदैक्ये सतोऽपि करणप्रसङ्गतः १ उत क्रियानुपरमप्राप्तेः २ राहोस्वित् प्रथमादिसमयेष्वपि कार्योपलम्भप्रसक्तेः ३ रथ क्रियावैफल्याऽऽपत्तितो ४ दीर्घक्रियाकालदर्शनानुपपत्तेर्वा ५ ?, तत्र न तावत्सतोऽपि करणप्रसङ्गत इति युक्तम्, असत्करणे हि खपुष्पादेरेव करणमापद्यत इति कथञ्चित्सत एव करणमस्माभिरभ्युपगतं, न चाभ्युपगतार्थस्य प्रसञ्जनं युज्यते १, नापि क्रियानुपरमप्राप्तेः, यत इह क्रिया किमेकविषया भिन्नविषया वा ?, यद्येकविषया न कश्चिद्दोषः, तत्र हि यदि कृतं क्रियमाणमुच्यते तदा तन्मतेन निष्पन्नमेव कृतमिति तस्यापि क्रियमाणतया क्रियानुपरमप्राप्तिलक्षणो दोषः स्यात्, न तु क्रियमाणं कृतमित्युक्तौ, तत्र क्रियाऽऽवेशसमय एव कृतत्वाभिधानात्, उक्तं हि–"क्रियाकालनिष्ठाकालयोरैक्य"मिति, अथैवमपि कृतक्रियमाणयोरैक्ये कृतस्य सत्त्वात् सतोऽपि करणे तदवस्थः प्रसङ्गः, तदसत्, पूर्वं हि लब्धसत्ताकस्य क्रियायामयं प्रसङ्गः स्यात्, न तु क्रियासमकालसत्तावासौ, अथ भिन्नविषया क्रिया तदा सिद्धसाधनं, प्रतिसमयमन्यान्यकारणतया वस्तुनोऽभ्युपगमेन भिन्नविषयक्रियानुपरमस्यास्माकं सिद्धत्वात् २, अथ प्रथमादिसमयेष्वपि कार्योपलम्भप्रसक्तेरिति पक्षः, क्रियमाणस्य हि कृतत्वे प्रथमादिसमयेष्वपि सत्त्वादुपलम्भः प्रसज्यत इति, तदपि न, तदा हि शिवकादीनामेव क्रियमाणता, ते चोपलभ्यन्ते एव, उक्तं च–"अन्नारम्भे अन्नं

१ अन्यारम्भेऽन्यत् कथं दृश्यतां यथा घटः पटारम्भे ? । शिवकादयो न कुम्भः कथं दृश्यतां स तदद्धायाम् ॥ १ ॥

चतुरङ्गीया ध्ययनम् ३

॥१५४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]

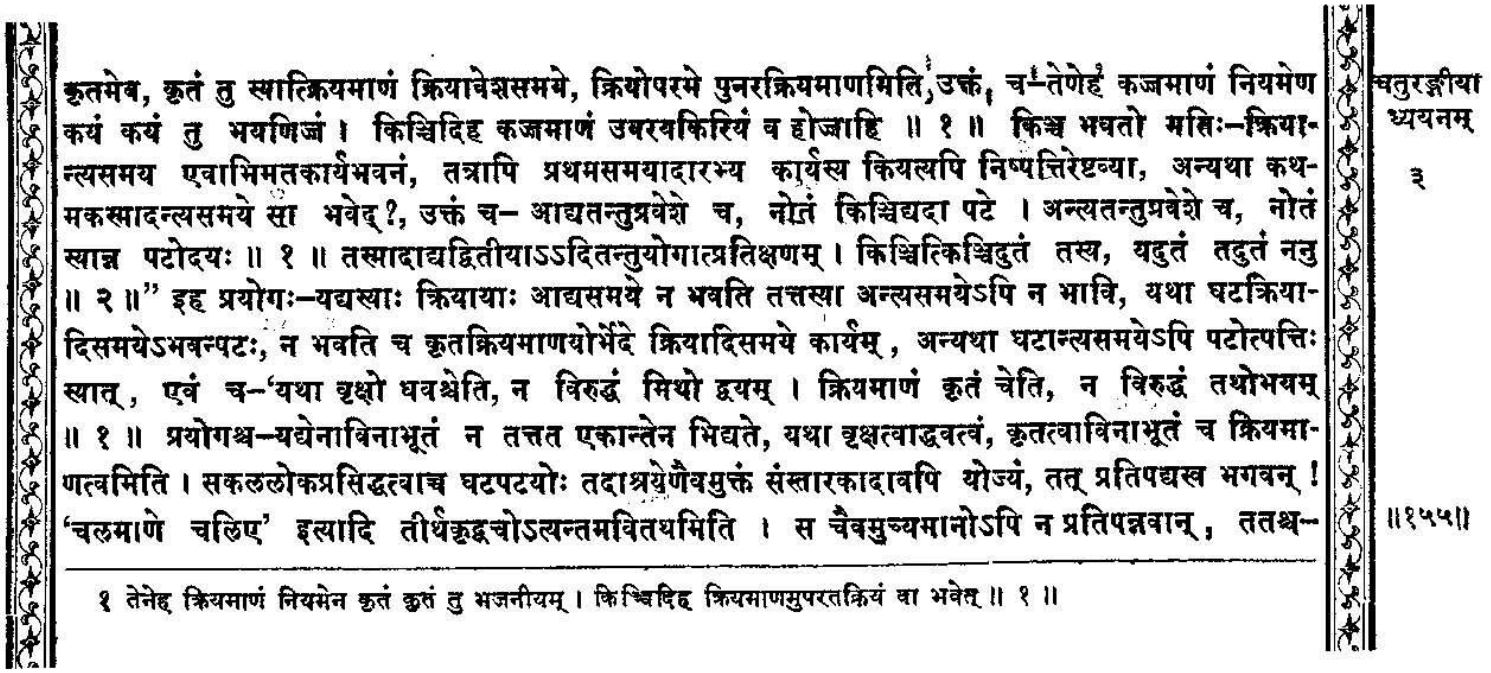
कह दीसउ? जह घडो पडारम्भे। सिवकादतो ण कुम्भो कह दीसउ सो तदद्धाए ॥ १ ॥" घटगताभिलाषतया च मूढः शिवकादिकरणेऽपि घटमहं करोमीति मन्यते, तथा चाह–"पइसमयकज्जकोडीनिरवेक्खो घडगयाभिलासोऽसि। पइसमयकज्जकालं थूलमइ घडं मिलाएसि ॥ १ ॥" ३, नापि क्रियावैफल्याऽऽपत्तितो, यतः प्रागेव प्राप्तसत्ताकस्य करणे क्रियावैफल्यं स्यात्, न तु क्रियमाणकृतत्वे, तत्र हि क्रियमाणं क्रियापेक्षमिति तस्याः साफल्यमेव, अनेकान्तवादिनां च केनचिद्रूपेण प्राक् सत्त्वेऽपि रूपान्तरेण करणं न दोषाय ४, दीर्घक्रियाकालदर्शनानुपपत्तेरित्यपि न युक्तं, यतः शिवकाद्युत्तरोत्तरपरिणामविशेषविषय एव दीर्घक्रियाकालोपलम्भो न तु घटक्रियाविषयः, उक्तं हि– "पइसमउप्पण्णाणं परोप्परविलक्खणाण सुबहूणं। दीहो किरियाकालो जइ दीसइ किंथ कुंभस्स ? ॥ १ ॥" ५। अथ कथञ्चिन्निश्चितभेदे कृतक्रियमाणे, तत्तीर्थकृदुक्तमेव, निश्चयव्यवहारानुगतत्वात् तद्वचसः, तत्र च निश्चयनयाऽऽश्रयेण कृतक्रियमाणयोरभेदो, यदुक्तम्—"क्रियमाणं कृतं दग्धं, दह्यमानं स्थितं गतम्। तिष्ठच्च गम्यमानं च, निष्ठितत्वात् प्रतिक्षणम् ॥ १ ॥" व्यवहारनयमतेन तु नानात्वमप्यनयोः, तथा च क्रियमाणं

१ प्रतिसमयकार्यकोटीनिरपेक्षो घटगताभिलाषोऽसि। प्रतिसमयकार्यकालं स्थूलमतिर्घटं मेलयसि (घटे गृह्णासि) ॥१॥ २ प्रतिसमयोत्पन्नानां परस्परविलक्षणानां सुबहूनाम्। दीर्घः क्रियाकालो यदि दृश्यते किमथ कुम्भस्य ? ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥१५५॥

कृतमेव, कृतं तु स्यात्क्रियमाणं क्रियावेशसमये, क्रियोपरमे पुनरक्रियमाणमिति, उक्तं च–तेणेह कज्जमाणं नियमेण कयं कयं तु भयणिज्जं । किञ्चिदिह कज्जमाणं उवरयकिरियं व होज्जाहि ॥ १ ॥ किञ्च भवतो मतिः–क्रियान्त्यसमय एवाभिमतकार्यभवनं, तत्रापि प्रथमसमयादारभ्य कार्यस्य कियत्यपि निष्पत्तिरेष्टव्या, अन्यथा कथमकस्मादन्त्यसमये सा भवेद्?, उक्तं च– आद्यतन्तुप्रवेशे च, नोतं किञ्चिद्यदा पटे । अन्त्यतन्तुप्रवेशे च, नोतं स्यान्न पटोदयः ॥ १ ॥ तस्मादाद्यद्वितीयाऽऽदितन्तुयोगात्प्रतिक्षणम् । किञ्चित्किञ्चिदुतं तस्य, यदुतं तदुतं ननु ॥ २ ॥" इह प्रयोगः–यद्यस्याः क्रियायाः आद्यसमये न भवति तत्तस्या अन्त्यसमयेऽपि न भावि, यथा घटक्रियादिसमयेऽभवन्पटः, न भवति च कृतक्रियमाणयोर्भेदे क्रियादिसमये कार्यम्, अन्यथा घटान्त्यसमयेऽपि पटोत्पत्तिः स्यात्, एवं च–'यथा वृक्षो धवश्चेति, न विरुद्धं मिथो द्वयम् । क्रियमाणं कृतं चेति, न विरुद्धं तथोभयम् ॥ १ ॥ प्रयोगश्च–यद्येनाविनाभूतं न तत्तत एकान्तेन भिद्यते, यथा वृक्षत्वाद्धवत्वं, कृतत्वाविनाभूतं च क्रियमाणत्वमिति । सकललोकप्रसिद्धत्वाच्च घटपटयोः तदाश्रयेणैवमुक्तं संस्तारकादावपि योज्यं, तत् प्रतिपद्यस्व भगवन्! 'चलमाणे चलिए' इत्यादि तीर्थकृद्वचोऽत्यन्तमवितथमिति । स चैवमुच्यमानोऽपि न प्रतिपन्नवान्, ततश्च–

१ तेनेह क्रियमाणं नियमेन कृतं कृतं तु भजनीयम् । किञ्चिदिह क्रियमाणमुपरतक्रियं वा भवेत् ॥ १ ॥

चतुरङ्गीयाध्ययनम् ३

॥१५५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

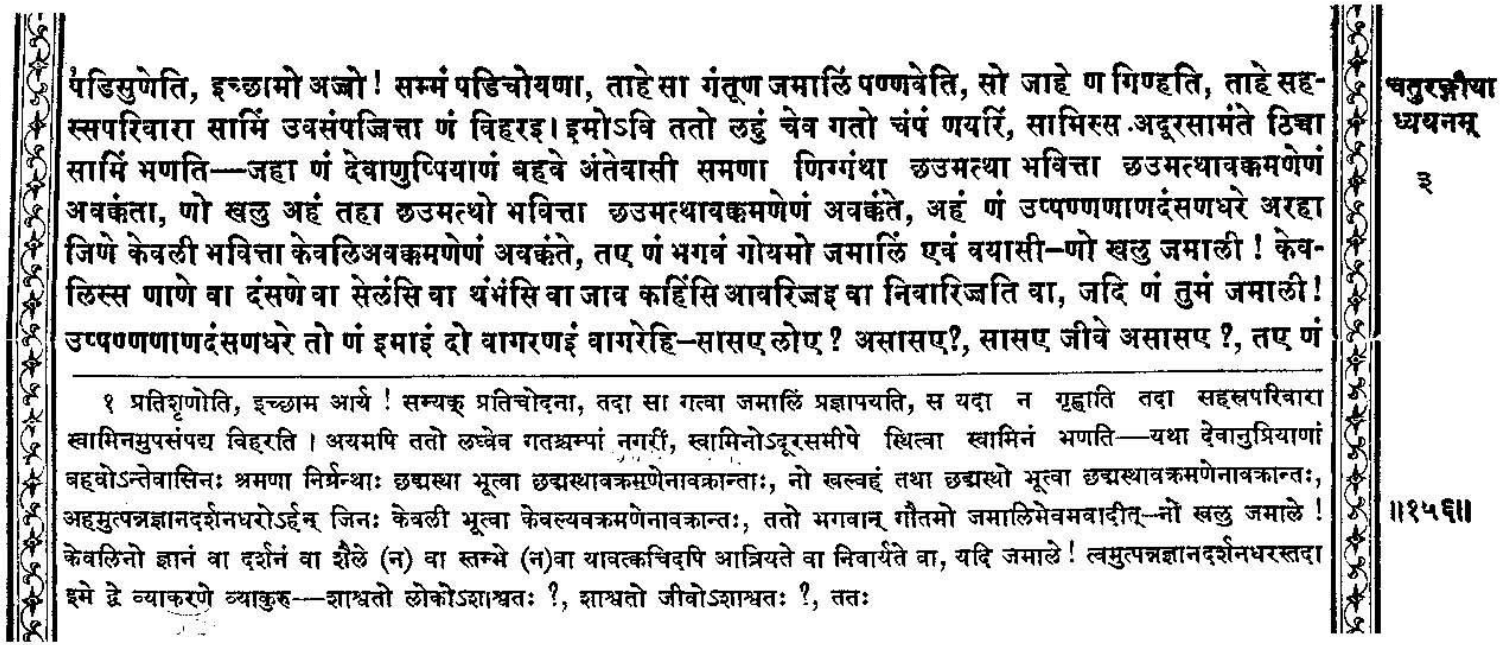
जाहे ण ट्ठाति ताहे ते णिग्गंथा जमालिस्स अंतिआतो जहा पण्णत्तीए जाव सामिं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति। साऽवि य णं पियदंसणा ढंकस्स कुम्भकारस्स घरे ठिया, सा आगया चेइयवंदिया ताहे पवंदिया, तंपि पण्णवेइ, साऽवि विप्पडिवण्णा तस्स नेहाणुरागेण, पच्छा आगया अज्जाणं परिकहेइ, तं च ढंकं भणति, सो जाणइ–जहा एसा विप्पडिवन्ना नाहच्चतेणं, ताधे सो भणति–अहं ण याणामि एयं विसेसयरं, एवं तीसे अन्नया कयाइ सज्झाय-पोरिसिं करेंतीए तेणं भायणाणि उव्वत्तंतेणं ततो हुत्तो इंगालो छूढो, जहा तीसे संघाडी एगदेसंमि दड्ढा, सा भणइ–इमा अज्ज ! संघाडी दड्ढा, ताहे सो भणति–तुब्भे चेव पण्णवेह–जह डज्झमाणमडज्झं, केण तुज्झं संघाडी दड्ढा ?, जतो उज्जुसुयणयमयातो वीरजिणिंदवयणावलंबीणं जुज्जेज्ज डज्झमाणं डज्झं वोत्तुं ण तुज्झंति, ततो तहत्ति

१ यदा न तिष्ठति तदा ते निर्ग्रन्था जमालेरन्तिकात् यथा प्रज्ञप्तौ यावत् स्वामिनमुपसंपद्य विहरन्ति। साऽपि च प्रियदर्शना ढङ्कस्य कुम्भकारस्य गृहे स्थिता, सा आगता चैत्यवन्दिका तदा प्रवन्दिका, तामपि प्रज्ञापयति, साऽपि विप्रतिपन्ना तस्य स्नेहानुरागेण, पश्चादागता आर्याभ्यः परिकथयति, तं च ढङ्कं भणति, स जानाति–यथैषा विप्रतिपन्ना नाथत्वेन, तदा स भणति–अहं न जानामि एनं विशेषतिकरम्, एवं तस्या अन्यदा कदाचित् स्वाध्यायपौरुषीं कुर्वन्त्यास्तेन भाजनान्युद्वर्तयता ततः सकाशात् अङ्गारः क्षिप्तः, यथा तस्याः संघाटी एकदेशे दग्धा, सा भणति–इयमार्ये ! संघाटी दग्धा, तदा स भणति–यूयमेव प्रज्ञापयत–अथ दह्यमानमदग्धं, केन युष्माकं संघाटी दग्धा, यत ऋजुसूत्रनयमतात् वीरजिनेन्द्रवचनावलम्बिनां युज्येत दह्यमानं दग्धं वक्तुं न युष्माकमिति, ततस्तथेति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥१५६॥

पडिसुणेति, इच्छामो अज्जो! सम्मं पडिचोयणा, ताहे सा गंतूण जमालिं पण्णवेति, सो जाहे ण गिण्हति, ताहे सहस्सपरिवारा सामिं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ। इमोऽवि ततो लहुं चेव गतो चंपं णयरिं, सामिस्स अदूरसामंते ठिच्चा सामिं भणति—जहा णं देवाणुप्पियाणं बहवे अंतेवासी समणा णिग्गंथा छउमत्था भवित्ता छउमत्थावक्कमणेणं अवक्कंता, णो खलु अहं तहा छउमत्थो भवित्ता छउमत्थावक्कमणेणं अवक्कंते, अहं णं उप्पण्णणाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली भवित्ता केवलिअवक्कमणेणं अवक्कंते, तए णं भगवं गोयमो जमालिं एवं वयासी–णो खलु जमाली! केवलिस्स णाणे वा दंसणे वा सेलंसि वा थंभंसि वा जाव कहिंसि आवरिज्जइ वा निवारिज्जति वा, जदि णं तुमं जमाली! उप्पण्णणाणदंसणधरे तो णं इमाइं दो वागरणाइं वागरेहि–सासए लोए? असासए?, सासए जीवे असासए?, तए णं

१ प्रतिशृणोति, इच्छाम आर्य! सम्यक् प्रतिचोदना, तदा सा गत्वा जमालिं प्रज्ञापयति, स यदा न गृह्णाति तदा सहस्रपरिवारा स्वामिनमुपसंपद्य विहरति। अयमपि ततो लघ्वेव गतश्चम्पां नगरीं, स्वामिनोऽदूरसमीपे स्थित्वा स्वामिनं भणति—यथा देवानुप्रियाणां बहवोऽन्तेवासिनः श्रमणा निर्ग्रन्थाः छद्मस्था भूत्वा छद्मस्थावक्रमणेनावक्रान्ताः, नो खल्वहं तथा छद्मस्थो भूत्वा छद्मस्थावक्रमणेनावक्रान्तः, अहमुत्पन्नज्ञानदर्शनधरोऽर्हन् जिनः केवली भूत्वा केवल्यवक्रमणेनावक्रान्तः, ततो भगवान् गौतमो जमालिमेवमवादीत्–नो खलु जमाले! केवलिनो ज्ञानं वा दर्शनं वा शैले (न) वा स्तम्भे (न)वा यावत्कचिदपि आव्रियते वा निवार्यते वा, यदि जमाले! त्वमुत्पन्नज्ञानदर्शनधरस्तदा इमे द्वे व्याकरणे व्याकुरु—शाश्वतो लोकोऽशाश्वतः?, शाश्वतो जीवोऽशाश्वतः?, ततः

चतुरङ्गीया ध्ययनम् ३ ॥१५६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]

से जमाली भगवया गोयमेणं एवं वुत्ते समाणे संकिए कंखिए जाव णो संचाएति भगवतो गोयमस्स किंचिवि पमोक्खमक्खाइत्तएत्ति तुसिणीए संचिट्ठति, जमालित्ति समणे भगवं महावीरे जमालिं एवं वयासी–अत्थि णं जमाली ! मम बहवे अंतेवासी छउमत्था जे णं पहू एयं वागरणं वागरित्तए, जहा णं अहं, नो चेव णं एयप्पयारं भासं भासित्तए, जहा णं तुमं, सासए लोए जमाली !, जन्न कयाइ णासी न कयाइ ण भवइ न कयाइ न भविस्सइ भुवं च भवइ भविस्सइ य धुवे जाव णिचे, असासए लोए जमाली !, जं णं उस्सप्पिणी भवित्ता ओसप्पिणी भवइ ओसप्पिणी भवित्ता उस्सप्पिणी भवइ, सासए जीवे जमाली !, जं ण कयाइ नासी जाव णिचे, असासए, जण्णं णेरतिते भवित्ता तिरिक्खजोणिए भवति, तिरिक्खजोणिए भवित्ता मणुस्से भवति, मणुस्से भवित्ता जोणीए देवे

१ स जमालिर्भगवता गौतमेनैवमुक्तः सन् शङ्कितः काङ्क्षितो यावन्न शक्नोति भगवतो गौतमस्य किञ्चिदपि प्रमोक्षमाख्यातुमिति तूष्णीकः संतिष्ठते, जमाले ! इति श्रमणो भगवान् महावीरो जमालिमेवमवादीत्–सन्ति जमाले ! मम बहवोऽन्तेवासिनश्छद्मस्था ये प्रभव एतद्व्याकरणं व्याकर्तुं, यथाऽहं, नो चैव एतत्प्रकारां भाषां भाषितुं, यथा त्वं, शाश्वतो लोको जमाले !, यत् न कदाचिन्नासीत् न कदाचिन्न भवति न कदाचिन्न भविष्यति, बभूव च भवति भविष्यति च ध्रुवो यावन्नित्यः, अशाश्वतो लोको जमाले !, यत् उत्सर्पिणी भूत्वा अवसर्पिणी भवति अवसर्पिणी भूत्वा उत्सर्पिणी भवति, शाश्वतो जीवो जमाले !, यत् न कदाचिन्नासीत् यावन्नित्यः, अशाश्वतो, यत् नैरयिको भूत्वा तिर्यग्योनिको भवति, तिर्यग्योनिको भूत्वा मनुष्यो भवति, मनुष्यो भूत्वा योन्या देवो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

भवति, तते णं से जमाली सामिस्स एवं आइक्खमाणस्स एयमट्ठं णो सद्दहति, असद्दहंते सामिस्स अंतियातो अवक्कमति, अवक्कमेत्ता बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहि य अप्पाणं च परं च तदुभयं च वुग्गाहेमाणे उप्पाएमाणे बहूइं वासाइं सामण्णपरियायं पाउणति, बहूहिं छट्ठट्ठमादीहिं भावेति, भावित्ता अद्धमासियाए संलेहणाए अप्पाणं झोसेइ, झोसित्ता तीसं भत्ताइं अणसणयाए छेदेति, छेदित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंतो कालमासे कालं किच्चा लंतए कप्पे तेरससागरोवमट्ठितिकेसु देवेसु देवकिब्विसेसु देवेसु देवत्ताए उववण्णे । एवं जहा पण्णत्तीए, जाव अंतं काहिति । एयाए दिट्ठीए बहुए जीवे रया तेण बहुरयत्ति भण्णति, अहवा बहुसु समयेसु कज्जसिद्धिं पडुच्च रया–सत्ता बहुरया इति । यथा जीवप्रदेशास्तिष्यगुप्तात् तथाऽऽह—

१ भवति, ततः स जमालिः स्वामिन एवमाख्यायत एनमर्थं न श्रद्धत्ते, अश्रद्दधत् स्वामिनोऽन्तिकात् अपक्राम्यति, अपक्रम्य बहुभिरसद्भावोद्भावनाभिर्मिथ्यात्वाभिनिवेशैश्चात्मानं च परं च तदुभयं च व्युद्ग्राहयन् व्युत्पादयन् बहूनि वर्षाणि श्रामण्यपर्यायं पालयति, बहुभिः षष्ठाष्टमादिभिर्भावयति, भावयित्वा अर्धमासिक्या संलेखनया आत्मानं क्षपयति, क्षपयित्वा त्रिंशतं भक्तानि अनशनितया छेदयति, छित्त्वा तस्य स्थानस्य अनालोचिताप्रतिक्रान्तः कालमासे कालं कृत्वा लान्तके कल्पे त्रयोदशसागरोपमस्थितिकेषु देवेषु देवकिल्विकेषु देवेषु देवतयोत्पन्नः । एवं यथा प्रज्ञप्तौ यावदन्तं करिष्यति । एतस्यां दृष्टौ बहवो जीवा रतास्तेन बहुरत इति भण्यते, अथवा बहुषु समयेषु कार्यसिद्धिं प्रतीत्य रताः–सक्ता बहुरता इति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

रायगिहे गुणसिलए वसु चउदसपुवि तीसगुत्ताओ । आमलकप्पा नयरि मित्तसिरी कूरपिंडादि ॥१६८॥

व्याख्या—अक्षरार्थः क्षुण्णो ॥ १६८ ॥ भावार्थस्तु सम्प्रदायादवसेयः, स चायम्—

वीतो सामिणो सोलसवासातिं उप्पाडियणाणस्स तो उप्पण्णो । तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे गुणसिले चेतिए वसू णाम भगवंतो आयरिया चोद्दसपुवी समोसढा, तस्स सीसो तीसगुत्तो णाम, सो आयप्पवायपुव्वे इमं आलावगं अज्झाएइ–'एगे भंते ! जीवपएसे जीवेत्ति वत्तवं सिया ?, णो इणमट्ठे समट्ठे, एवं दो जीवप्पएसा तिण्णि संखेज्जा असंखेज्जा वा जाव एगपएसूणेऽवि य णं जीवे णो जीवेत्ति वत्तवं सिया, जम्हा कसिणे पडिपुण्णलोगागासप्पएससमतुल्लप्पएसे जीवेत्ति वत्तव्व'मित्यादि, एत्थ सो विपडिवन्नो, जदि सव्वे जीवप्पएसा एगप्पएसहीणा जीवव्ववएसं ण लहंति तो णं सो चेव एगे जीवप्पएसे जीवत्ति, तद्भावभावित्वात् जीवव्ववएसस्सत्ति, स चैवं विवदमानः

१ द्वितीयः स्वामिन उत्पादितज्ञानात् षोडशवर्षाणि तदोत्पन्नः । तस्मिन् काले तस्मिन् समये राजगृहे गुणशीले चैत्ये वसवो नाम भगवन्त आचार्याश्चतुर्दशपूर्विणः समवसृताः, तेषां शिष्यस्तिष्यगुप्तो नाम, स आत्मप्रवादपूर्वे इममालापकमध्येति 'एको भदन्त ! जीवप्रदेशो जीव इति वक्तव्यं स्यात् ?, नैषोऽर्थः समर्थः, एवं द्वौ जीवप्रदेशौ त्रयः संख्येया असंख्येया वा, यावदेकप्रदेशोनोऽपि च जीवो नो जीव इति वक्तव्यं स्यात्, यस्मात् कृत्स्नः प्रतिपूर्णलोकाकाशप्रदेशसमतुल्यप्रदेशो जीव इति वक्तव्यमित्यादि, अत्र स विप्रतिपन्नः, यदि सर्वे जीवप्रदेशा एकप्रदेशहीना जीवव्यपदेशं न लभन्ते तदा स चैव एको जीवप्रदेशो जीव इति, जीवव्यपदेशस्येति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

स्थविरैरभाणि–भद्र ! भवतोऽयमाशयः–यथा संस्थान एवास्ति, घटस्तेन तदात्मकः । तदन्यदेश एवास्ति, जीवस्तेन तदात्मकः ॥ १ ॥ प्रयोगश्च–यस्मिन्नेव सति यद्भवति तत्तदात्मकं, यथा संस्थान एव सति भवन् घटस्तदात्मकः, अन्यदेश एव च सति भवत्यात्मा, अत्रासिद्धो हेतुः, तथाहि–कथमात्मनोऽन्यप्रदेशे एव सति भावः ?, अथ शेषप्रदेशेषु सत्सु अप्यसौ नास्तीति, तत्किमस्य शेषप्रदेशानां च कश्चिद्विशेषोऽस्ति न वा ?, नास्ति चेत्किं न शेषप्रदेशभावेऽप्यस्य सद्भावः, अथास्ति चेत् , स किं पूरणत्व १ मुपकारित्व २ मागमाभिहितत्वं ३ वा ?, यदि पूरणत्वं तत्किं वस्तुतो विवक्षातो वा ?, वस्तुतश्चेत्किमस्यैव पूरणत्वं ? न शेषप्रदेशानाम् । अथास्यैव अन्त्यत्वाद् , अन्त्यत्वमप्यात्मप्रदेशापेक्षं तदवष्टब्धाकाशप्रदेशापेक्षं वा ?, न तावदात्मप्रदेशापेक्षम् , आत्मप्रदेशानां कथञ्चित्पार्श्वोदावर्त्तमानत्वेनानवस्थितानामयमन्त्योऽनन्त्यश्चायमिति विभागाभावात् , ये पुनरष्टौ स्थिराः ते मध्यवर्त्तिन एव, नापि तदवष्टब्धाकाशप्रदेशापेक्षं, तेषामशेषदिक्षु पर्यन्तसम्भवेनैकस्यैवान्त्यत्वाभावात् , देशान्तरसंचारे चानवस्थितत्वात् , न च वस्तुतोऽन्त्यस्यैव पूरणत्वं, द्वितीयादीनामपि पूरणत्वाद् , अन्यथा तथा तथा व्यपदेशानुपपत्तेः, विवक्षातोऽपि न, यतोऽसौ स्वस्याशेषपुरुषाणां वा ?, यद्यशेषपुरुषाणां नेयं नियता, न हि सर्वे एव भवदभिमतमेकं पूरणमाचक्षते, नापि स्वस्य, यतोऽस्या अपि कुतो नियतत्वम् ?, अथान्त्यत्वाद् एतदपि कुतो नियतम् ?, 'एगे भन्ते ! जीवप्पएसे जीवत्ति वत्तव्वं सिया ! इत्यादिनिरूपणायां पर्यन्तभवनात् , तन्नियमोऽपि कुतो ?, विवक्षानियमात् , एवं सति चक्रकाख्यो दोषः, तथाहि–विवक्षानैयत्य-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

मन्त्यत्वात्, तन्नैयत्यं च निरूपणायां पर्यन्तभवनात्, तन्नियमोऽपि विवक्षानियमादिति, एवं सति चक्रवत् पुनः पुनरावर्त्तते इति, यदि च पूरणत्वमन्त्यस्य विशेषः तदा तच्छेषप्रदेशापेक्षमेवेत्यन्त्याविनाभावित्वे तदविनाभावित्वमपि बलादापततीति सकलप्रदेशाविनाभावित्वात्तद्वात्मकत्वसिद्धिः, नाप्युपकारित्वं विशेषः, यतस्तदन्येषामपि कथं न ?, किमात्मप्रदेशा एव न ते ?, यद्वाऽऽत्मप्रदेशत्वेऽप्येककेति ?, न तावदाद्यः पक्षः, अशेषाणामात्मप्रदेशत्वेन वादिप्रतिवादिनोरिष्टत्वात्, अथात्मप्रदेशत्वेऽप्येककेति, एकत्वं त्वन्मतान्त्यप्रदेशसहायकाभावात् परस्परसाहायकविरहतो वा ?, यदि त्वन्मतान्त्यप्रदेशसहायकाभावात् शेषप्रदेशानामनुपकारित्वं, त्वन्मतस्यान्त्यस्यापि तत्साहायकासत्त्वात् तदस्तु, युक्तं च बहूनामुपकारित्वम्, एकस्य तु तदभावो, यदुक्तम्—"जुत्तो य तदुवयारो देसूणे ण उ पएसमेत्तंमि। जह तंतूणंमि पडे पडोवयारो न तंतुंमि ॥१॥" नापि परस्परसहायकासत्त्वात्, यतस्तत्किं त्वत्कल्पितान्त्यप्रदेशतो न्यूनत्वे तदभावे वा ?, यदि न्यूनत्वे तत्किं शक्तितोऽवगाहनातो वा ?, न तावच्छक्तितः, एकपटतन्तूनामिवैकात्मप्रदेशानां तच्न्यूनत्वायोगात्, नाप्यवगाहनातः, सर्वेषामप्यमीषामेकैकाकाशप्रदेशावगाहित्वेन तुल्यत्वात्, तदभावपक्षे चान्त्यप्रदेशस्येव शेषप्रदेशानामप्यात्मोपकारित्वं सिद्धमेव, आगमाभिहितत्वं च विशेषकमुच्यमानं तदन्यतामेव सूचयति, यतः स्फुटमेवागमवचनं "कसिणे पडिपुण्णे लोगागासपएसतुल्लपएसे जीवत्ति वत्तव्वं सिय" त्ति, ततश्च—

१ युक्तश्च तदुपचारो देशोने न तु प्रदेशमात्रे। यथा तन्तूने पटे पटोपचारो न तन्तौ ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

भवन्सर्वस्वदेशेषु, पटो यद्वत्तदात्मकः । भवन्सर्वस्वदेशेषु, तद्वदात्मा तदात्मकः ॥ १ ॥ प्रयोगश्च–यो यावत्स्वप्रदेशाविनाभावी स तदात्मको, यथा घटः, सकलस्वप्रदेशाविनाभावी च जीव इति, एवं च प्रज्ञाप्यमानोऽपि जाहे न ठाइ, ताहे से काउस्सग्गो कतो, एवं सो बहूहिं असब्भावभावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहि य अप्पाणं परं उभयं च वुग्गाहेमाणो गतो आमलकप्पं नयरिं, तत्थ अंबसालवणे ठितो, तत्थ मित्तसिरीनाम समणोवासतो, तप्पमुहा य अण्णेऽवि णिग्गया आगया साहुणोत्ति, सोऽवि जाणति–जहा एए णिण्हगत्ति, पच्छा सो पण्णवेति, सोऽवि जाणति, तथावि माइट्ठाणेणं गतो धम्मं सुणति, सो ते ण विरोहेति पण्णवेहामि णं, एवं सो कम्मं पडिच्छंतो जाव तस्स संखडी विउला विच्छिण्णा जाया, ताहे ते निमंतिया, तुब्भे चेव मम घरे पादाद्याक्रमणं करेह, एवं ते आगया, ताहे तस्स णिविट्ठस्स तं विउलं खज्जयं णीणियं, ताहे सो एक्केकातो खंडं खंडं च देति, क्रूरस्स

१ यदा न तिष्ठति, तदा तस्य कायोत्सर्गः कृतः, एवं स बहुभिरसद्भावभावनाभिर्मिथ्यात्वाभिनिवेशैश्चात्मानं परमुभयं च व्युद्ग्राहयन् गत आमलकल्पां नगरीं, तत्राम्रशालवने स्थितः, तत्र मित्रश्रीर्नाम श्रमणोपासकः, तत्प्रमुखाश्चान्येऽपि निर्गता आगताः साधव इति, सोऽपि जानाति–यथा एते निह्नवा इति, पश्चात्स प्रज्ञापयति, सोऽपि जानाति, तथापि मातृस्थानेन (मायया) गतो धर्मं शृणोति, स तान् न विरोधयति प्रज्ञापयिष्यामि एतान्, एवं स कर्म प्रतीच्छन् यावत्तस्य संखण्डी विपुला विस्तीर्णा जाता, तदा ते निमन्त्रिताः, यूयमेव मम गृहे पादावधारणं कुरुत, एवं ते आगताः, तदा तेभ्यो निविष्टेभ्यः तद्विपुलं खाद्यमानीतं, तदा स एकैकस्मात् खण्डं खण्डं च ददाति, क्रूरस्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

कुसणस्स वत्थस्स, ते जाणंति–एस पच्छा पुणो दाहिति, पच्छा पाएसु पडितो, सयणं च भणति–वंदेह, साहू पडिलाभिया, अहो अहं धन्नो ! जं तुब्भे ममं चेव घरमागया, ताहे भणंति–किह धरिसिया ? अम्हे, ताहे सो भणति–णणु तुब्भं सिद्धंतो पज्जंतवयवमेत्ततोऽवयवी, यदि सच्चमिणं तो का विहंसणा ? मिच्छमिहरा उ, तुब्भे मए ससिद्धंतेण पडिलाभिया, जदि णवरि वद्धमाणसामिस्स तणएण सिद्धंतेण तो पडिलाभेमि, एत्थ संबुद्धा, इच्छामो अज्जो ! समं पडिचोयणा, ताहे पच्छा सावएण पडिलाभिया, मिच्छादुक्कडं च णं कयं, एवं ते सव्वे संबोहिया आलोइयपडिक्कंता विहरंति ॥ यथा अव्यक्ता आषाढात्तथाऽऽह—

सियविरपोलासाढे जोगे तद्दिवसहिययसूले य । सोहम्मि नलिणगुम्मे रायगिहे पुरि य बलभद्दे १६९

व्याख्या—अक्षरार्थः सुगमः ॥ १६९ ॥ भावार्थस्तु सम्प्रदायादवसेयः, स चायम्—

१ सूपस्य वस्त्रस्य, ते जानन्ति–एष पश्चात् पुनर्दास्यति, पश्चात् पादयोः पतितः, स्वजनं च भणति–वन्दध्वं, साधवः प्रतिलम्भिताः, अहो अहं धन्यो यद्यूयं ममैव गृहमागताः, तदा भणन्ति—किं धर्षिता वयं ?, तदा स भणति–ननु युष्माकं सिद्धान्तः पर्यन्तावयवमात्रोऽवयवी, यदि सत्यमिदं तदा का विधर्षणा ?, मिथ्यादुष्कृतमितरथा तु, यूयं मया स्वसिद्धान्तेन प्रतिलम्भिताः, यदि नवरं वर्धमानस्वामिनः सत्केन सिद्धान्तेन तदा (युष्मान्) प्रतिलम्भयामि, अत्र संबुद्धाः, इच्छाम आर्य! सम्यक् प्रतिचोदना, तदा पश्चात् श्रावकेण प्रतिलम्भिताः, मिथ्यादुष्कृतं च कृतम्, एवं ते सर्वे संबोधिता आलोचितप्रतिक्रान्ता विहरन्ति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवतो दो वाससयाणि चोद्दसुत्तराणि सिद्धिं गयस्स, ततो ततितो उप्पन्नो। सेयविया णयरी, पोलासं उज्जाणं, तत्थ अज्जासाढा णाम आयरिया वायणायरिया य, तेसिं च बहवे सीसा आगाढजोगपडिवन्नया अज्झायंति, तेसिं रत्तिं विसूइया जाया, णिरुद्धा वाएण, ण दे(चे)व कोइ उवट्ठवितो जाव कालगया, सोहम्मे णलिणिगुम्मे विमाणे उववण्णा, ओहिं पउंजंति, जाव पेच्छंति तं सरीरगं, ते य साहुणो आगाढजोगपडिवण्णगा, एएऽवि ण जाणंति, ताहे तं चेव सरीरं अणुपविट्ठो, पच्छा उट्ठवेन्ति, वेरत्तियं पकरेह, एवं तेण तेसिं दिव्वप्पभावेणं लद्धं चेव समाणियं, पच्छा णिप्फण्णेसु तेसु भणंति–खमह भंते ! जमेत्थ मए असंजएण वंदाविया, अहं अमुगदिवसं कालगतिल्लतो, एवं सो खामेत्ता गतो, तेऽवि तं सरीरगं छड्डेऊण इमे एयारूवे अब्भत्थिए

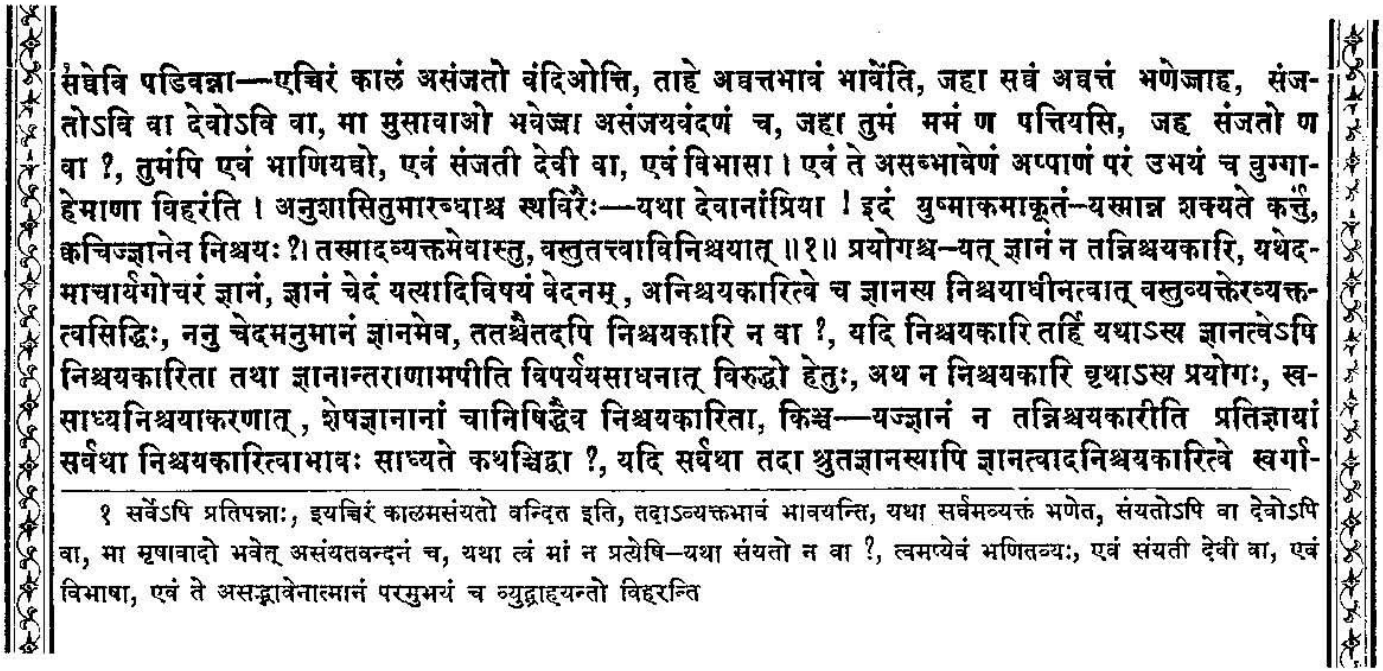
१ तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणाद्भगवतः द्वे वर्षशते चतुर्दशोत्तरे सिद्धिं गतात्, तदा तृतीय उत्पन्नः। श्वेताम्बी नगरी, पोलासमुद्यानं, तत्र आर्याषाढा नाम आचार्या वाचनाचार्याश्च, तेषां च बहवः शिष्या आगाढयोगप्रतिपन्ना अधीयन्ते, तेषां रात्रौ विसूचिका जाता, निरुद्धा (निरुद्धचेष्टा) वातेन, नैव कोऽप्युत्थापितः यावत्कालगताः, सौधर्मे नलिनीगुल्मे विमाने उत्पन्नाः, अवधिं प्रयुञ्जन्ति, यावत्प्रेक्षन्ते तच्छरीरकं, तांश्च साधून् आगाढयोगप्रतिपन्नान्, एतेऽपि न जानन्ति, तदा तदेव शरीरमनुप्रविष्टाः, पश्चादुत्थापयन्ति, वैरात्रिकं प्रकुरुत, एवं तेन तेषां दिव्यप्रभावेण लब्धेव समापितं, पश्चात् निष्पन्नेषु तेषु भणन्ति–क्षमध्वं भगवन्तः ! यदत्र मयाऽसंयतेन वन्दनं दापिताः, अहममुकस्मिन् दिने कालगतः (आसीत्), एवं स क्षमयित्वा गतः, तेऽपि तच्छरीरकं त्यक्त्वा इमान् एतद्रूपान् अभ्यर्थितवन्तः (संकल्पान्)

॥१६०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]



सर्वेऽपि प्रतिपन्नाः—एचिरं कालं असंजतो वंदिओत्ति, ताहे अवत्तभावं भावेंति, जहा सव्वं अवत्तं भणेज्जाह, संजतोऽवि वा देवोऽवि वा, मा मुसावाओ भवेज्जा असंजयवंदणं च, जहा तुमं ममं ण पत्तियसि, जह संजतो ण वा ?, तुमंपि एवं भाणियव्वो, एवं संजती देवी वा, एवं विभासा। एवं ते असब्भावेणं अप्पाणं परं उभयं च वुग्गाहेमाणा विहरंति। अनुशासितुमारब्धाश्च स्थविरैः—यथा देवानांप्रिया ! इदं युष्माकमाकूतं—यस्मान्न शक्यते कर्तुं, क्वचिज्ज्ञानेन निश्चयः ?। तस्मादव्यक्तमेवास्तु, वस्तुतत्त्वाविनिश्चयात् ॥१॥ प्रयोगश्च—यत् ज्ञानं न तन्निश्चयकारि, यथेदमाचार्यगोचरं ज्ञानं, ज्ञानं चेदं यत्सादिविषयं वेदनम्, अनिश्चयकारित्वे च ज्ञानस्य निश्चयाधीनत्वात् वस्तुव्यक्तेरव्यक्तत्वसिद्धिः, ननु चेदमनुमानं ज्ञानमेव, ततश्चैतदपि निश्चयकारि न वा ?, यदि निश्चयकारि तर्हि यथाऽस्य ज्ञानत्वेऽपि निश्चयकारिता तथा ज्ञानान्तराणामपीति विपर्ययसाधनात् विरुद्धो हेतुः, अथ न निश्चयकारि वृथाऽस्य प्रयोगः, स्वसाध्यनिश्चयाकरणात्, शेषज्ञानानां चानिषिद्धैव निश्चयकारिता, किञ्च—यज्ज्ञानं न तन्निश्चयकारीति प्रतिज्ञायां सर्वथा निश्चयकारित्वाभावः साध्यते कथञ्चिद्वा ?, यदि सर्वथा तदा श्रुतज्ञानस्यापि ज्ञानत्वादनिश्चयकारित्वे स्वर्गा-

१ सर्वेऽपि प्रतिपन्नाः, इयचिरं कालमसंयतो वन्दित इति, तदाऽव्यक्तभावं भावयन्ति, यथा सर्वमव्यक्तं भणेत, संयतोऽपि वा देवोऽपि वा, मा मृषावादो भवेत् असंयतवन्दनं च, यथा त्वं मां न प्रत्येषि—यथा संयतो न वा ?, त्वमप्येवं भणितव्यः, एवं संयती देवी वा, एवं विभाषा, एवं ते असद्भावेनात्मानं परमुभयं च व्युद्ग्राहयन्तो विहरन्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]

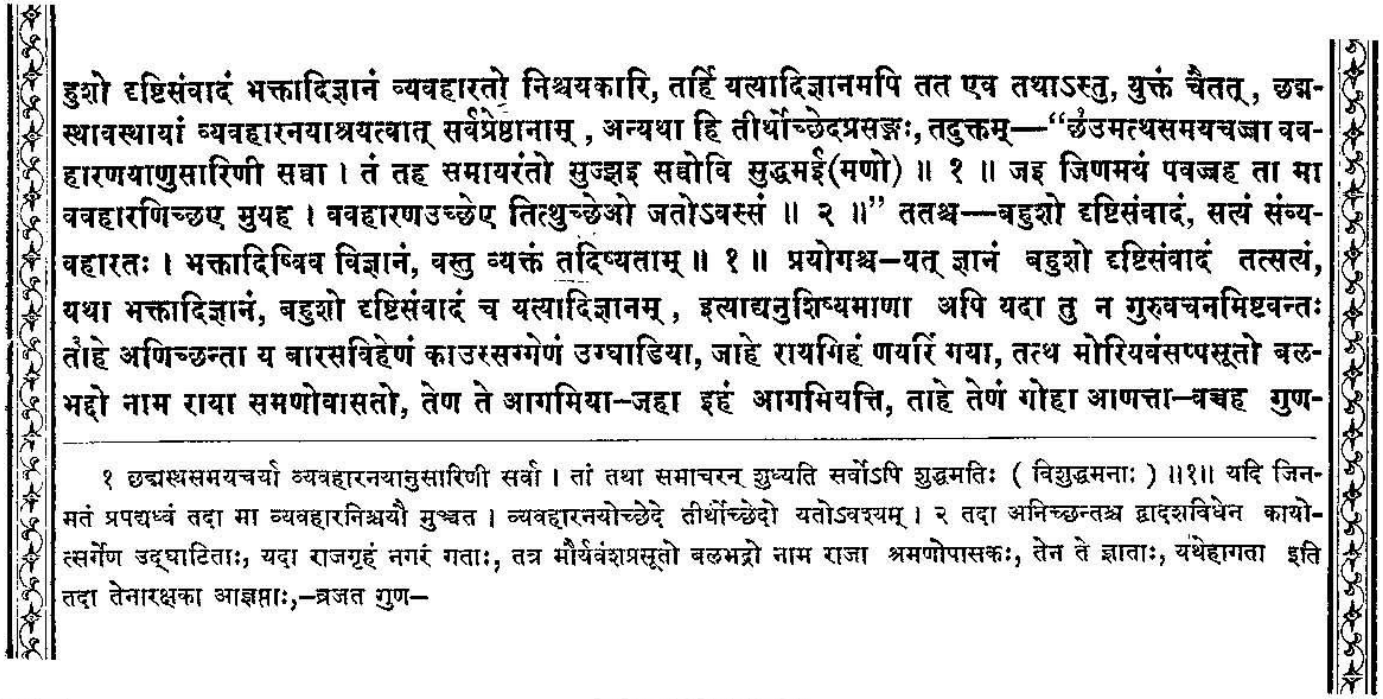
पवर्गसाधकत्वेन तदुपदर्शितेषु तपःप्रभृतिष्वप्यनिश्चयात् कथं न शिरोलुञ्चनादेरानर्थक्यम् ?, अथ तस्य स्वयमनिश्चयकारित्वेऽपि तद्वक्तरि तीर्थकृति प्रत्ययात्तस्यापि निश्चयकारितेति न दोषः, तर्हि किं न तत एवालयविहारादिदर्शनेन यत्यादिष्वपि तद्भावनिश्चयाद्वन्दनाविधिः, उक्तं च—"जइ जिणमयं पमाणं मुणित्ति ता वज्झकरणसंसुद्धं । देवंपि वंदमाणो विसुद्धभावो विसुद्धो उ ॥ १ ॥" सर्वथा निश्चयकारित्वाभावे च ज्ञानस्य प्रतिदिनोपयोगिनि भक्तपानादावपि भक्ष्याभक्ष्यादिविभागाभाव एव प्राप्तो, यत उक्तम्–'को जाणइ किं भत्तं किमतो किं पाणयं जलं मज्जं ? । किमलाबुं माणिक्कं किं सप्पो चीवरं हारो ?' ॥ १ ॥ को जाणति किं सुद्धं किमसुद्धं किं सजीवमजीवं ? । किं भक्खं किमभक्खं ? पत्तमभक्खं ततो सव्वं ॥ २ ॥" अथ कथञ्चिदेव निश्चयकारित्वाभावः साध्यते, यतः प्रतिसमयमन्यान्यसूक्ष्मपरिणामरूपेण भक्तादि न निश्चेतुं शक्यं, स्थिरस्थूलरूपतया च निश्चीयत एवेति नोक्तदोषः, एवं सति यत्यादिष्वप्यान्तरपरिणामरूपेणानिश्चयो बहिर्वेषादिरूपेण तु निश्चय एवास्तु, अथ यत्यादिषु प्रकृताचार्यवत् अन्यथात्वमपि सम्भवति, एतदरिष्टाऽऽदिवशतो भक्तादिष्वपि समानम् , यदि च निश्चयनयेन निश्चयस्य कर्तुमशक्यत्वाद्व-

१ यदि जिनमतं प्रमाणं मुनिरिति ताद्वाह्यकरणसंशुद्धम् । देवमपि वन्दमानो विशुद्धभावो विशुद्ध एव ॥१॥ २ को जानाति किं भक्तं कुमयः किं जलं पानकं मद्यम् । किमलाबु माणिक्यं किं सर्पश्चीवरं हारः ? ॥ १ ॥ को जानाति किं शुद्धं किमशुद्धं किं सजीवमजीवम् । किं भक्ष्यं किमभक्ष्यं ? प्राप्तमभक्ष्यं ततः सर्वम् ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]



हुशो दृष्टिसंवादं भक्तादिज्ञानं व्यवहारतो निश्चयकारि, तर्हि यत्यादिज्ञानमपि तत एव तथाऽस्तु, युक्तं चैतत्, छद्मस्थावस्थायां व्यवहारनयाश्रयत्वात् सर्वप्रेष्ठानाम्, अन्यथा हि तीर्थोच्छेदप्रसङ्गः, तदुक्तम्—"छउमत्थसमयचज्जा ववहारणयाणुसारिणी सव्वा। तं तह समायरंतो सुज्झइ सव्वोवि सुद्धमई(मणो) ॥ १ ॥ जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह। ववहारणउच्छेए तित्थुच्छेओ जतोऽवस्सं ॥ २ ॥" ततश्च—बहुशो दृष्टिसंवादं, सत्यं संव्यवहारतः। भक्तादिष्विव विज्ञानं, वस्तु व्यक्तं तदिष्यताम् ॥ १ ॥ प्रयोगश्च—यत् ज्ञानं बहुशो दृष्टिसंवादं तत्सत्यं, यथा भक्तादिज्ञानं, बहुशो दृष्टिसंवादं च यत्यादिज्ञानम्, इत्याद्यनुशिष्यमाणा अपि यदा तु न गुरुवचनमिष्टवन्तः ताहे अणिच्छन्ता य बारसविहेणं काउस्सग्गेणं उग्घाडिया, जाहे रायगिहं णयरिं गया, तत्थ मोरियवंसप्पसूतो बलभद्दो नाम राया समणोवासतो, तेण ते आगमिया–जहा इहं आगमियत्ति, ताहे तेणं गोहा आणत्ता–वच्चह गुण-

१ छद्मस्थसमयचर्या व्यवहारनयानुसारिणी सर्वा। तां तथा समाचरन् शुध्यति सर्वोऽपि शुद्धमतिः (विशुद्धमनाः) ॥१॥ यदि जिनमतं प्रपद्यध्वं तदा मा व्यवहारनिश्चयौ मुञ्चत। व्यवहारनयोच्छेदे तीर्थोच्छेदो यतोऽवश्यम्। २ तदा अनिच्छन्तश्च द्वादशविधेन कायोत्सर्गेण उद्घाटिताः, यदा राजगृहं नगरं गताः, तत्र मौर्यवंशप्रसूतो बलभद्रो नाम राजा श्रमणोपासकः, तेन ते ज्ञाताः, यथेहागता इति तदा तेनारक्षका आज्ञप्ताः,–व्रजत गुण–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

सिलए पवतियगा, ते इहं आणेह, ता तेहिं आणीया भणिया य–लहुं कडगमद्देण मद्दह, ताहे हत्थीहिं कडएहि य आणिएहिं भणंति–अम्हे जाणामो जहा तुमं सावतो, सो भणति–कहिंथ सावतो ?, तुब्भेऽत्थ केऽवि चोरा णु चारिगा णु अभिमरा णु ?, ते भणंति–अम्हे समणा निग्गंथा, सो भणति–किह तुब्भे समणा ?, तुब्भे अवत्ता, तुब्भे समणा वा चारिगा वा, अहंपि समणोवासतो वा ण वा, तम्हा पडिवज्जह ववहारणयं, ततो ते संबुद्धा लज्जिया पडिवण्णा–णिस्संकिया समणा णिग्गंथा मोत्ति, ताहे अंवाडिया, खरेहि य मउएहि य मए तुम्ह संबोहणट्ठा कयं, मुक्का खामिया य ॥ यथा सामुच्छेदा अश्वमित्रात्तथाऽऽह—

मिहिलाए लच्छिघरे महगिरि कोडिन्न आसमित्तो अ । णेउणमणुप्पवाए रायगिहे खंडरक्खा य ॥१७०॥

व्याख्या—सुगमा ॥ १७० ॥ एतद्भावार्थाभिव्यञ्जकस्तु सम्प्रदायोऽयम्—'सामिस्स दो वाससयाणि वीसुत्तराणि

१ शीले प्रव्रजिताः, तानिहानयत, ततस्तैरानीता भणिताश्च—लघु कटकमर्देन मर्दयत, तदा हस्तिषु कटकेषु चानीतेषु भणन्ति–वयं जानीमो यथा त्वं श्रावकः, स भणति–कुत्रात्र श्रावकः ?, यूयमत्र केऽपि चौरा नु चारिका नु अभिमरा नु ?, ते भणन्ति–वयं श्रमणा निर्ग्रन्थाः, स भणति—कथं यूयं श्रमणाः ?, यूयमव्यक्ताः, यूयं श्रमणा वा चारिका वा ?, अहमपि श्रमणोपासको वा न वा, तस्मात् प्रतिपद्यध्वं व्यवहारनयं, ततस्ते संबुद्धा लज्जिताः प्रतिपन्नाः–निश्शङ्किताः श्रमणा निर्ग्रन्थाः स्म इति, तदा तिरस्कृताः, खरैश्च मृदुभिश्च मया युष्माकं संबोधनार्थाय कृतं, मुक्ताः क्षामिताश्च । २–स्वामिनः द्वे वर्षशते विंशत्युत्तरे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]

सिद्धिं गयस्स, तो चउत्थो उप्पण्णो, मिहिलानयरीए लच्छीगिहं चेइयं, महागिरी आयरिया, तत्थ तेसिं सीसो कोडिन्नो, तस्सवि आसमित्तो सीसो, सो पुण अणुप्पवाए पुव्वे णेउणियवत्थुं, तत्थ छिण्णछेयणयवत्तव्वयाए आलावतो जहा—सव्वे पडुप्पन्नसमयणेरइया वोच्छिज्जिस्संति, एवं जाव वेमाणियत्ति,' एवं तस्स तंमि वितिगिच्छा जाया–जहा सव्वे संजया वोच्छिज्जिस्संति, एवं सव्वेसिं समुच्छेदो भविस्सइत्ति, ताहे तस्स तत्थ थिरं चित्तं जायं, भण्यते चाचार्यैर्यथा—भद्र! तवायमाशयः—अस्ति कारणमुत्पादे, विनाशे नास्ति कारणम् । उत्पत्तिमन्तः सर्वेऽपि, विनाशे नियतास्ततः ॥ १ ॥ प्रयोगश्च—ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षास्ते तद्भावनियताः, यथा अन्त्या कारणसामग्री स्वकार्यजनने, अनपेक्षाश्च विनाशं प्रति भावाः, अत्र च विनाशनैयत्यं भावानां किं वैश्रसिकं विनाशमाश्रित्य साध्यते प्रायोगिकं वा ?, यदि वैश्रसिकं किं सर्वथा कथञ्चिद्वा ?, कथञ्चित्पक्षे सिद्धसाधनं, सरस्तरङ्गवत्सततमुदयव्ययवत्त्वेन केषाञ्चित्पर्यायाणां तद्रूपेण वस्तुषु वैश्रसिकविनाशनैयत्यस्य सिद्धत्वाद्, अथ सर्वथा विनाशः साध्यते

१ सिद्धिगतात्, तदा चतुर्थ उत्पन्नः, मिथिलानगर्यां लक्ष्मीगृहं चैत्यं, महागिरेय आचार्याः, तत्र तेषां शिष्यः कोण्डिन्यः, तस्याप्यश्वमित्रः शिष्यः, स पुनरनुप्रवादे पूर्वे निपुणं वस्तु, तत्र छिन्नच्छेदनकवक्तव्यताया आलापको यथा–सर्वे प्रत्युत्पन्नसमयनैरयिका व्युच्छेत्स्यन्ति, एवं यावद्वैमानिका इति, एवं तस्य तस्मिन् विचिकित्सा जाता–यथा सर्वे संयता व्युच्छेत्स्यन्ति, एवं सर्वेषां समुच्छेदो भविष्यतीति, तदा तस्य तत्र स्थिरं चित्तं जातं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

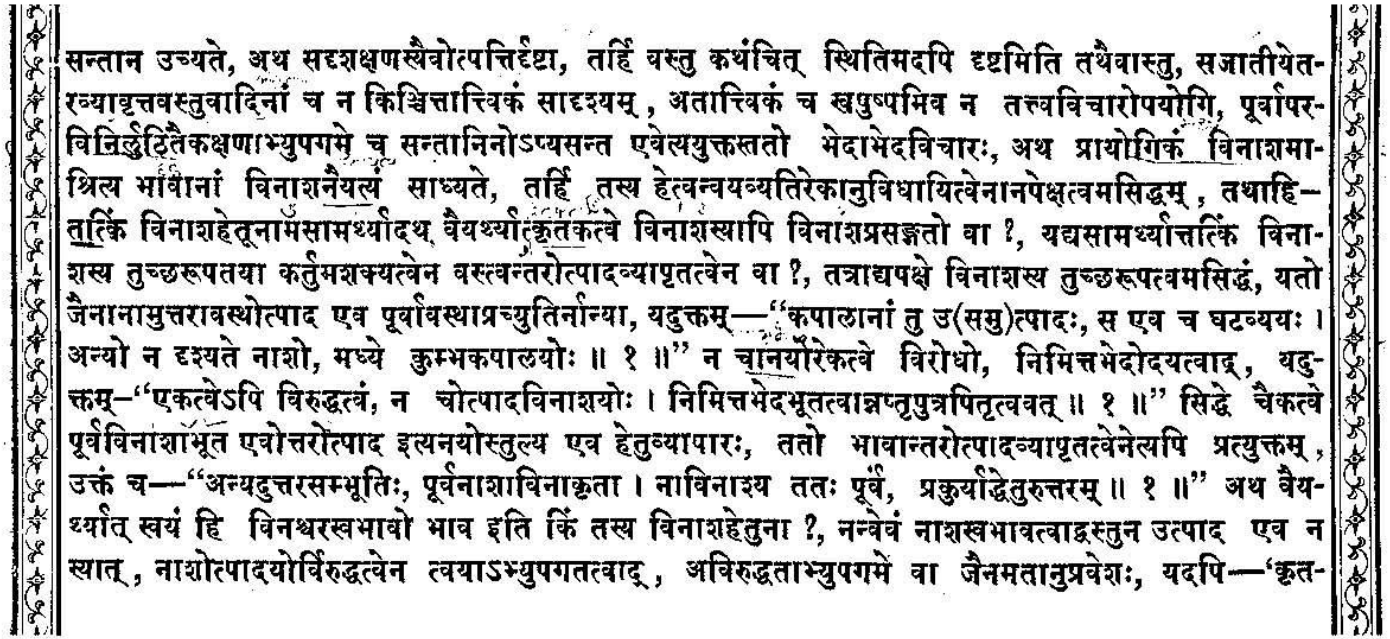
तर्हि प्रत्यक्षनिराकृतः पक्षो, द्रव्यरूपेणावस्थितस्यैव वस्तुनो दर्शनात्, अन्यथा द्वितीयादिसमयेषु वस्तुनोऽभावप्रसङ्गः, वस्त्वन्तरोत्पत्तेरदोष इति चेत् किं न तद्भेदेन प्रतिभाति ?, अथ मायागोलकवत्सादृश्यात्, तन्न, प्रत्यक्षेणैकत्वग्रहादेव भेदाप्रतिभासात्, अथ भ्रान्तमेवैकत्वग्राहि प्रत्यक्षम्, एवं च सति चक्रकाख्यो दोषः, एकत्वग्राहिणो हि प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वं प्रकृतानुमानप्रामाण्ये, तच्च सादृश्याद्भेदाप्रतिभासे, स चैकत्वग्राहिणः प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वे, तदपि प्रकृतानुमानप्रामाण्ये इति तदेवावर्त्तते, ऐहिकामुष्मिकव्यवहारविलुप्तिश्च सर्वथा नाशे, तथा चाह–"तित्ती समो किलामो सारिक्ख विपक्खपचयाईणि। अज्झयणं झाणं भावणा य का सव्वणासम्मि ? ॥१॥ अन्नन्नो पइगासं भोत्ता अन्नोन्नसोऽवि का तित्ती ?। गन्तादओवि एवं इय संववहारवोच्छित्ती ॥२॥" अथ सन्तानाश्रयो व्यवहारः, सन्तानोऽपि सन्तानिभ्यः किं भिन्नो न वा ?, यदि भिन्नो वस्तुसन्न वा ?, यदि न वस्तुसन्, किं तेन शशविषाणेनेव कल्पितेन ?, वस्तुसत्त्वेऽपि क्षणिकोऽक्षणिको वा ?, यद्यक्षणिकस्तेनैव प्रकृतानुमानव्यभिचारः, क्षणिकत्वे च तदवस्थैव व्यवहारविलुप्तिः, अथाभिन्नः, तथाहि–सदृशापरापरक्षणप्रबन्धः सन्तानः, स च सन्तानिन एव, तदसत्, यतः सर्वथोच्छेदे प्राग्भावित्वमेव कारणस्य कारणत्वं, तच्च विसदृशक्षणापेक्षयाऽपि समानमिति कथं सदृशक्षणस्यैवोत्पत्तिः ? येन तत्प्रबन्धः

१ तृप्तिः श्रमः क्लमः सादृश्यं विपक्षः प्रत्ययादीनि। अध्ययनं ध्यानं भावना च का सर्वनाशे ? ॥१॥ अन्योऽन्यः प्रतिग्रासं भोक्ताऽन्योऽन्यः का तृप्तिः ?। गन्त्रादयोऽप्येवमिति संव्यवहारव्युच्छित्तिः ॥ २ ॥ २ अन्ते न सोऽवि (वि०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]



सन्तान उच्यते, अथ सदृशक्षणस्यैवोत्पत्तिर्दृष्टा, तर्हि वस्तु कथंचित् स्थितिमदपि दृष्टमिति तथैवास्तु, सजातीयेतरव्यावृत्तवस्तुवादिनां च न किञ्चित्तात्त्विकं सादृश्यम्, अतात्त्विकं च खपुष्पमिव न तत्त्वविचारोपयोगि, पूर्वापरविनिर्लुठितैकक्षणाभ्युपगमे च सन्तानिनोऽप्यसन्त एवेत्ययुक्तस्ततो भेदाभेदविचारः, अथ प्रायोगिकं विनाशमाश्रित्य भावानां विनाशनैयत्यं साध्यते, तर्हि तस्य हेत्वन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेनानपेक्षत्वमसिद्धम्, तथाहि–तत्किं विनाशहेतूनामसामर्थ्यादथ वैयर्थ्यात्कृतकत्वे विनाशस्यापि विनाशप्रसङ्गतो वा ?, यद्यसामर्थ्यात्तत्किं विनाशस्य तुच्छरूपतया कर्तुमशक्यत्वेन वस्त्वन्तरोत्पादव्यापृतत्वेन वा ?, तत्राद्यपक्षे विनाशस्य तुच्छरूपत्वमसिद्धं, यतो जैनानामुत्तरावस्थोत्पाद एव पूर्वावस्थाप्रच्युतिर्नान्या, यदुक्तम्—"कपालानां तु उ(समु)त्पादः, स एव च घटव्ययः। अन्यो न दृश्यते नाशो, मध्ये कुम्भकपालयोः ॥ १ ॥" न चानयोरेकत्वे विरोधो, निमित्तभेदोदयत्वाद्, यदुक्तम्–"एकत्वेऽपि विरुद्धत्वं, न चोत्पादविनाशयोः। निमित्तभेदभूतत्वान्नप्तृपुत्रपितृत्ववत् ॥ १ ॥" सिद्धे चैकत्वे पूर्वविनाशभूत एवोत्तरोत्पाद इत्यनयोस्तुल्य एव हेतुव्यापारः, ततो भावान्तरोत्पादव्यापृतत्वेनेत्यपि प्रत्युक्तम्, उक्तं च—"अन्यदुत्तरसम्भूतिः, पूर्वनाशविनाकृता। नाविनाश्य ततः पूर्वं, प्रकुर्याद्धेतुरुत्तरम् ॥ १ ॥" अथ वैयर्थ्यात् स्वयं हि विनश्वरस्वभावो भाव इति किं तस्य विनाशहेतुना ?, नन्वेवं नाशस्वभावत्वाद्वस्तुन उत्पाद एव न स्यात्, नाशोत्पादयोर्विरुद्धत्वेन त्वयाऽभ्युपगतत्वाद्, अविरुद्धताभ्युपगमे वा जैनमतानुप्रवेशः, यदपि—'कृत-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

कत्वे विनाशस्यापि विनाशप्रसङ्ग' इति, तदप्यत एव न दोषाय, तथाहि–कपालोत्पादस्यैव कपालत्वं, कपालोत्पादश्च कपालेभ्यो नान्य इति तेषामेव विनाशः, स चोभयसम्मत एव, न च कृतकेनावश्यं विनष्टव्यं, सम्यग्दर्शनादिकृतत्वे सिद्धत्वादिपर्यायाणामविनाशित्वाद्, अविनाशित्वं च साद्यपर्यवसितत्वात्तेषाम्, उभये हि पर्यायाः-स्थिरा अस्थिराश्च, यदुक्तम्—"स्थिरः कालान्तरस्थायी, पर्यायोऽक्षणभङ्गुरः। क्षणिकश्च क्षणादूर्द्धमतिष्ठन्नस्थिरो मतः ॥ १ ॥" ततश्च—यस्मान्नाशोऽपि जन्मैव, कादाचित्कः सहेतुकः। तस्मान्न सर्वथैवामी, भावाः क्षणविनश्वराः ॥ १ ॥ प्रयोगश्च—यत्कादाचित्कं तत्सहेतुकं, यथोत्पादः, कादाचित्कत्वं च विनाशस्य उत्पत्तिक्षणानन्तरमेव भावात्, समकालभावित्वे च विनाशाघातत्वेनोत्पादाभावे सर्वशून्यतापत्तेः, इह विनाशस्य कादाचित्कत्वमापाद्य तद्बलेन सहेतुकत्वमापादितं, तच्च परप्रसिद्धानेव हेतूनपेक्ष्य, स्वप्रसिद्ध्या तु न किञ्चिदहेतुकं नाम, द्रव्यादिचतुष्टयापेक्षत्वेन सर्वस्य तद्धेतुकत्वात्, तत् प्रतिपद्यस्व पर्यायनयाङ्गीकारतः कथञ्चिदुच्छेदि वस्तु, द्रव्यार्थिकनयाश्रयणाच्च कथञ्चिन्नित्यमिति, तथा च पूज्याः—"[1]जमणंतपज्जवमयं वत्थुं भवणं च चित्तपरिणामं। ठीतिभवभंगरूवं णिचाणिच्चाइं तोऽभिमतं ॥१॥ सुखदुक्खबंधमोक्खा उभयनयमयाणुवत्तिणो जुत्ता। एगयरपरिच्चाए इय (ह) संवव-

१ यदनन्तपर्यायमयं वस्तु भवनं च चित्रपरिणामम्। स्थितिभवभङ्गरूपं नित्यानित्यानि ततोऽभिमतानि ॥ १ ॥ सुखदुःखबन्धमोक्षा उभयनयमतानुवृत्तेर्युक्ताः। एकतरपरित्यागे इति (ह) संव्यवहारव्युच्छित्तिः ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]

हारवोच्छित्ती ॥ २ ॥" एवं प्रज्ञाप्यमानोऽपि यतो नेच्छति ततोऽसौ निह्नवोत्ति णाऊण उग्घाडितो, सो समुच्छेयणवायं वागरंतो हिंडेति जहा—सुण्णो लोगो भविस्सति, असब्भावभावणाहिं भावेंतो रायगिहं गतो, तत्थ खंडरक्खा आरक्खिया समणोवासया, ते य सुंकवाला, ते य आगमिल्लिया, तेहिं मारिउमारद्धा, ताहे ते भीया भणंति–अम्हेहिं सुयं जहा तुम्मे सद्दहा तहावि एत्तिए असंजए संजए मारेह, ते भणंति–जे ते पव्वइगा ते वोच्छिण्णा अन्ने चोरा वा चारिया वा जाव सयमेव विणस्सिहिह, को तुब्भे विणासेति ?, तुब्भं चेव सिद्धंतो, जइ परं सामिस्स सिद्धंतेण ते चेव तुब्भे, तेहिं चेव अम्हेहिं विणासेज्जह, जतो तं चेव वत्थु कालादिसामग्गिं पप्प पढमसमयिकत्तेण वोच्छिज्जइ दुसमयकत्तेण उप्पज्जति, एवमाइ, तिसमयणेरइया वोच्छिज्जंति चउसमया उप्पज्जंति, एवं पंचसमयग-

१ निह्नव इति ज्ञात्वोद्घाटितः, स सामुच्छेदनवादं व्याकुर्वन् हिण्डते, यथा-शून्यो लोको भविष्यति, असद्भावभावनाभिर्भावयन् राजगृहं गतः, तत्र खण्डरक्षा आरक्षकाः श्रमणोपासकाः, ते च शुल्कपालाः, ते च ज्ञातवन्तः, तैर्मारयितुमारब्धाः, तदा ते भीता भणन्ति—अस्माभिः श्रुतं यथा यूयं श्राद्धास्तथापीयतः असंयतान् (इव) संयतान् मारयत, ते भणन्ति—ये ते प्रव्रजितास्ते व्युच्छिन्ना अन्ये चौरा वा चारिका वा, यावत् स्वयमेव विनङ्क्ष्यथ, को युष्मान् विनाशयति ?, युष्माकमेव सिद्धान्तः, यदि परं स्वामिनः सिद्धान्तेन त एव यूयं तैश्चैवास्माभिर्विनाश्यन्ते, यतस्तदेव वस्तु कालादिसामग्रीं प्राप्य प्रथमसामयिकत्वेन व्युच्छिद्यते द्वितीयसामयित्वेनोत्पद्यते, एवमादि, त्रिसमयनैरयिका व्युच्छिद्यन्ते चतुःसामयिका उत्पद्यन्ते, एवं पञ्चसमयगता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

यावि, एत्थं सो वितिगिच्छंतो खणिगवायं पण्णवेइ, एत्थ ते संबुद्धा भणंति–इच्छामो अज्जो ! सम्मं पडिचोयणा एवमेवं तहत्ति, एवं ते संबोहिया मुक्का खामिया पडिवण्णा य ॥ यथा गङ्गाद् द्विक्रियास्तथा चाह—

नइखेडजणव उल्लग महगिरि धणगुत्त अज्जगंगे य। किरिया दो रायगिहे महातवो तीरमणिनाए ॥१७१॥

व्याख्या—क्षुण्णा ॥ १७१ ॥ सम्प्रदायश्चायम्—

सामिस्स अट्ठवीसाइं दोवाससयाइं सिद्धिं गयस्स तो पंचमतो उप्पण्णो, उल्लुगा नाम णई, तीसे तीरे उल्लुगतीरं नगरं, बीए तीरे खेडत्थाम, (ग्रन्थाग्रम् ४०००) तत्थ महागिरीणं आयरियाणं सीसो धणगुत्तो नाम, तस्स सीसो गंगदेवो णाम आयरितो, सो पुविमे तडे उल्लुगतीरे णयरे, आयरिया से अवरिमे तडे, ताहे सो सरदकाले आयरियं वंदतो उच्चलितो, सो य उवरितो खलीडो, तस्स उल्लुगं णइं उत्तरंतस्स सा खली उण्हेण डज्झति, हेट्ठा य सीयलेण पाणिएण

१ अपि, अत्र स विचिकित्सयन् क्षणिकवादं प्रज्ञापयति, अत्र ते संबुद्धा भणन्ति—इच्छाम आर्य ! सम्यक् प्रतिचोदना, एवमेवं तथेति, एवं ते संबुद्धा मुक्ताः क्षामिताः प्रतिपन्नाश्च । २ स्वामिनोऽष्टाविंशतिर्द्वे वर्षशते च सिद्धिगतात् तदा पञ्चम उत्पन्नः, उल्लुकानाम्नी नदी, तस्यास्तीर उल्लुकतीरं नगरं, द्वितीये तीरे खेटस्थाम, तत्र महागिरीणामाचार्याणां शिष्यो धनगुप्तो नाम, तस्य शिष्यो गङ्गदेवो नामाचार्यः, स पौरस्त्ये तटे उल्लुकतीरे नगरे, आचार्यास्तस्य पाश्चात्ये तटे, तदा स शरत्काले आचार्याणां वन्दनाय उच्चलितः, स चोपरि खल्वाटः, तस्योल्लुकनदीमुत्तरतः सा खलतिरुष्णेन दह्यते, अधस्ताच्च शीतलेन पानीयेन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]

सीयं, ताहे सो चिंतेति–जहा सुत्ते भणियं–एगा किरिया वेइज्जति–सीया उसिणा वा, अहं दो किरियातो वेएमि, तो दो किरिआओ एगसमएण वेइज्जंति, ताहे आयरियाण साहइ, तेहिं भणियं—मा अज्जो ! पण्णवेहि, णत्थि एयं जं एगसमएण दो किरिआओ वेइज्जंति, तथाहि तवाशयः—तथा प्रतीयमानत्वात्श्वेतं श्वेततया यथा । यौगपद्येन किं नेष्टमुपयोगद्वयं तथा ? ॥१॥ प्रयोगश्च—यद्यथा प्रतीयते तत्तथाऽस्ति, यथा श्वेतं श्वेततया, प्रतीयते च यौगपद्येनोपयोगद्वयं, नन्वत्र यौगपद्येनोपयोगद्वयप्रतीतिः किं क्रमानुपलक्षणमात्रेण यद्वैकत्रोपयुक्तस्यान्यत्राप्युपयोगनिश्चयेन ?, यदि क्रमानुपलक्षणमात्रेण, तदाऽनैकान्तिको हेतुः, उत्पलपत्रशतव्यतिभेदादिषु प्रतीयमानस्यापि यौगपद्यस्याभावात् , अथ तत्र सूच्याः सूक्ष्मत्वेनाशुसञ्चारित्वेन च समयादिगत एव क्रमः, स च समयादिसौक्ष्म्यान्न लक्ष्यत इति यौगपद्याभिमानः, एवं सत्यत्रापि मनसोऽतीन्द्रियत्वेन सूक्ष्मत्वादत्यन्तास्थिरतयाऽऽशुसञ्चारित्वाच्च शिरश्चरणगतत्वगिन्द्रियदेशयोः सञ्चरणक्रमः समयादिसौक्ष्म्यान्न लक्ष्यते, तत उपयोगयौगपद्याभिमान इत्यस्तु, उक्तं च—"सुहुमासुचलं चित्तं"ति, तथा "समयादिसुहुमयातो मन्नसि जुगवंपि भिण्णकालंपि । उप्पलदलसयवेहं व जह व तमलायचक्कंति ॥ १ ॥"

१ शीतं, तदा स चिन्तयति—यथा सूत्रे भणितम्–एका क्रिया वेद्यते–शीता उष्णा वा, अहं द्वे क्रिये वेदयामि, ततो द्वे क्रिये एकसमयेन वेद्येते, तदा आचार्यान् कथयति, तैर्भणितं–मा आर्य ! प्रज्ञापय, नास्त्येतत् यत् एकसमयेन द्वे क्रिये वेद्येते । २ सूक्ष्ममाशुचलं चित्तमिति । ३ समयादिसौक्ष्म्यात् मन्यसे युगपदपि भिन्नकालमपि । उत्पलदलशतवेधमिव यथा वा तदलातचक्रमिति ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

किञ्च—यत्रेन्द्रियपञ्चकमपि सञ्चरन्मनोदुर्लक्षं, अत एव दीर्घां शुष्कां तिलशष्कुलिका भक्षयतो बुद्धस्य पञ्च ज्ञानानि समुत्पन्नानीति कैश्चिदुच्यते, तत्रैकेन्द्रियस्य देशान्मनः सञ्चरंलक्षिष्यत इति दुराशयम्, इह च सञ्चरणमुपयोगगमनम्, अन्यथा शरीरव्यापिनः तस्य सञ्चारायोगात्, अथात्रानुमानसिद्धः क्रम इति यौगपद्याभावः, तथाहि—यत् क्रियावत् तत् क्रमेणैव देशान्तरस्कन्दि, यथाऽऽदित्यः, क्रियावच्च सूच्यादि, इदमपि समानमत्रापि, यौ दूरदेशौ न तयोर्युगपदेकस्य सञ्चारो यथा हिमवद्विन्ध्यशिखरयोर्देवदत्तस्य, दूरदेशौ च शिरश्चरणगतत्वगिन्द्रियदेशावित्यनुमानेन मनसः क्रमसञ्चारसिद्धेः, स्यादेतद्—आगमसिद्धमुपयोगयौगपद्यं, न च तद् युगपन्मनसः सञ्चारं विनेति न मनसः क्रमसञ्चारसाधकानुमानोत्थानम्, आगमसिद्धता चास्य बहुबहुविधादिग्राहित्वाभिधानेनावग्रहादीनामनेकग्रहणस्य तत्रोक्तत्वात्, तदभिधानाच्च युगपदनेकोपयोगताऽप्युक्तैवेति, नन्वत्रानेकग्रहणं किं सामान्यविशेषाणां ग्रहणमपेक्ष्य केवलविशेषाणां वा ?, न तावदाद्यः पक्षो यतोऽनुवृत्तिव्यावृत्तिरूपेण विलक्षणत्वं सामान्यविशेषाणां, तथा चाह–'य एकत्र ग्रहणपरिणामः स नान्यत्रे'ति कथं युगपत्सामान्यविशेषग्रहणम् ?, अथ द्वितीयः पक्षः, उक्तं हि–"विशेषाणां व्यावृत्तिरूपेणाविलक्षणत्वात् युगपद्बहूनामपि ग्रहणम्,' तन्न, विरुद्धत्वादस्य, तथाहि–विशेषाश्चाविलक्षणाश्चेति परस्परविरुद्धं वचः, अथ भिन्नेष्वपि विशेषेष्वभिन्नं सामान्यमिति तद्रूपेण तेषां ग्रहणम्, इदमस्मदिष्टमेव, उक्तं च–"उसिणेयं सीयेयं, ण विभागेणोवओगदुगमिट्ठं। होज्जा समदुगगहणं सामन्नं वेयणामेत्तं ॥ १ ॥" न चैवमनेकग्रहणं युगपदनेकोपयो-

१ उष्णेयं शीतेयं न विभागेनोपयोगद्वयमिष्टम्। भवेत् समकं द्विकग्रहणं सामान्यं वेदनामात्रम् ॥ १ ॥

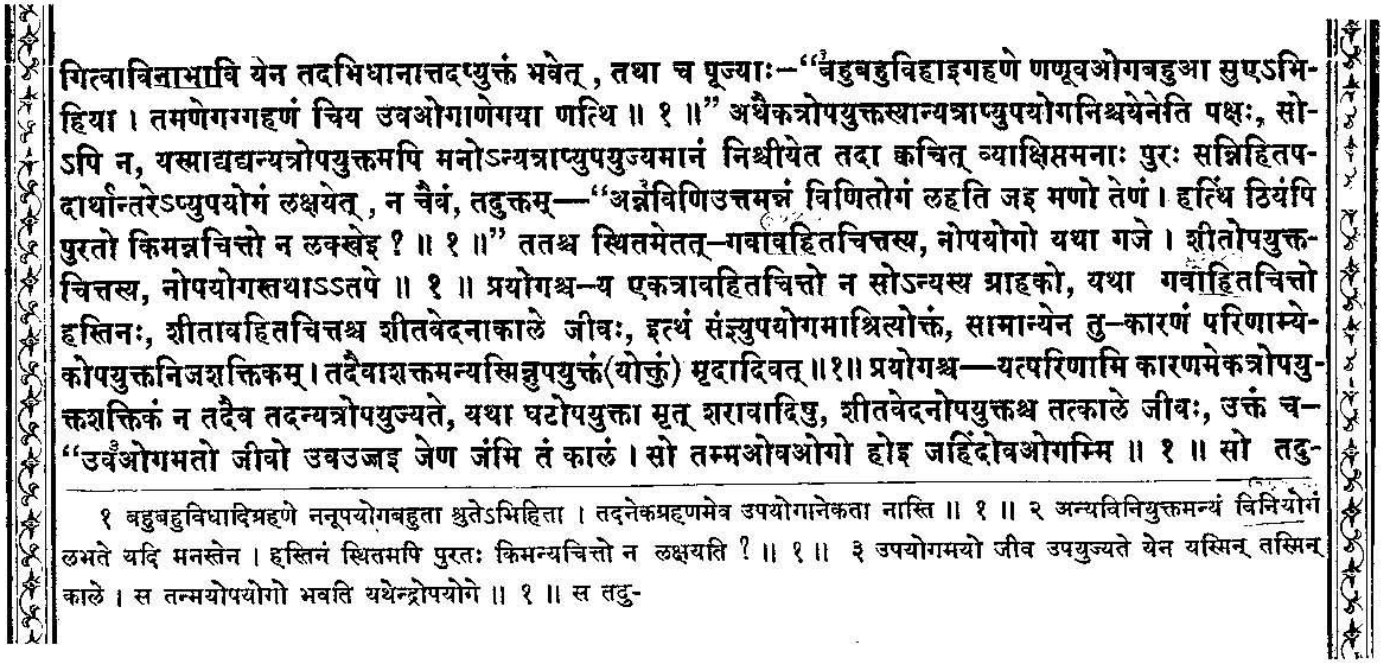
॥१६६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]



गित्वाविनाभावि येन तदभिधानात्तदप्युक्तं भवेत् , तथा च पूज्याः–"[1]बहुबहुविहाइगहणे णणूवओगबहुआ सुएऽभिहिया । तमणेगग्गहणं चिय उवओगाणेगया णत्थि ॥ १ ॥" अथैकत्रोपयुक्तस्यान्यत्राप्युपयोगनिश्चयेनेति पक्षः, सोऽपि न, यस्माद्यद्यन्यत्रोपयुक्तमपि मनोऽन्यत्राप्युपयुज्यमानं निश्चीयेत तदा क्वचित् व्याक्षिप्तमनाः पुरः सन्निहितपदार्थान्तरेऽप्युपयोगं लक्षयेत् , न चैवं, तदुक्तम्—"[2]अन्नंविणिउत्तमन्नं विणितोगं लहति जइ मणो तेणं । हत्थिं ठियंपि पुरतो किमन्नचित्तो न लक्खेइ ? ॥ १ ॥" ततश्च स्थितमेतत्–गवावहितचित्तस्य, नोपयोगो यथा गजे । शीतोपयुक्तचित्तस्य, नोपयोगस्तथाऽऽतपे ॥ १ ॥ प्रयोगश्च–य एकत्रावहितचित्तो न सोऽन्यस्य ग्राहको, यथा गवावहितचित्तो हस्तिनः, शीतावहितचित्तश्च शीतवेदनाकाले जीवः, इत्थं संज्ञ्युपयोगमाश्रित्योक्तं, सामान्येन तु–कारणं परिणाम्येकोपयुक्तनिजशक्तिकम्। तदैवाशक्तमन्यस्मिन्नुपयुक्तं(योक्तुं) मृदादिवत् ॥१॥ प्रयोगश्च—यत्परिणामि कारणमेकत्रोपयुक्तशक्तिकं न तदैव तदन्यत्रोपयुज्यते, यथा घटोपयुक्ता मृत् शरावादिषु, शीतवेदनोपयुक्तश्च तत्काले जीवः, उक्तं च–"[3]उवओगमतो जीवो उवउज्जइ जेण जंमि तं कालं । सो तम्मओवओगो होइ जहिंदोवओगम्मि ॥ १ ॥ सो तदु-

१ बहुबहुविधादिग्रहणे ननूपयोगबहुता श्रुतेऽभिहिता । तदनेकग्रहणमेव उपयोगानेकता नास्ति ॥ १ ॥ २ अन्यविनियुक्तमन्यं विनियोगं लभते यदि मनस्तेन । हस्तिनं स्थितमपि पुरतः किमन्यचित्तो न लक्षयति ? ॥ १ ॥ ३ उपयोगमयो जीव उपयुज्यते येन यस्मिन् तस्मिन् काले । स तन्मयोपयोगो भवति यथेन्द्रोपयोगे ॥ १ ॥ स तदु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

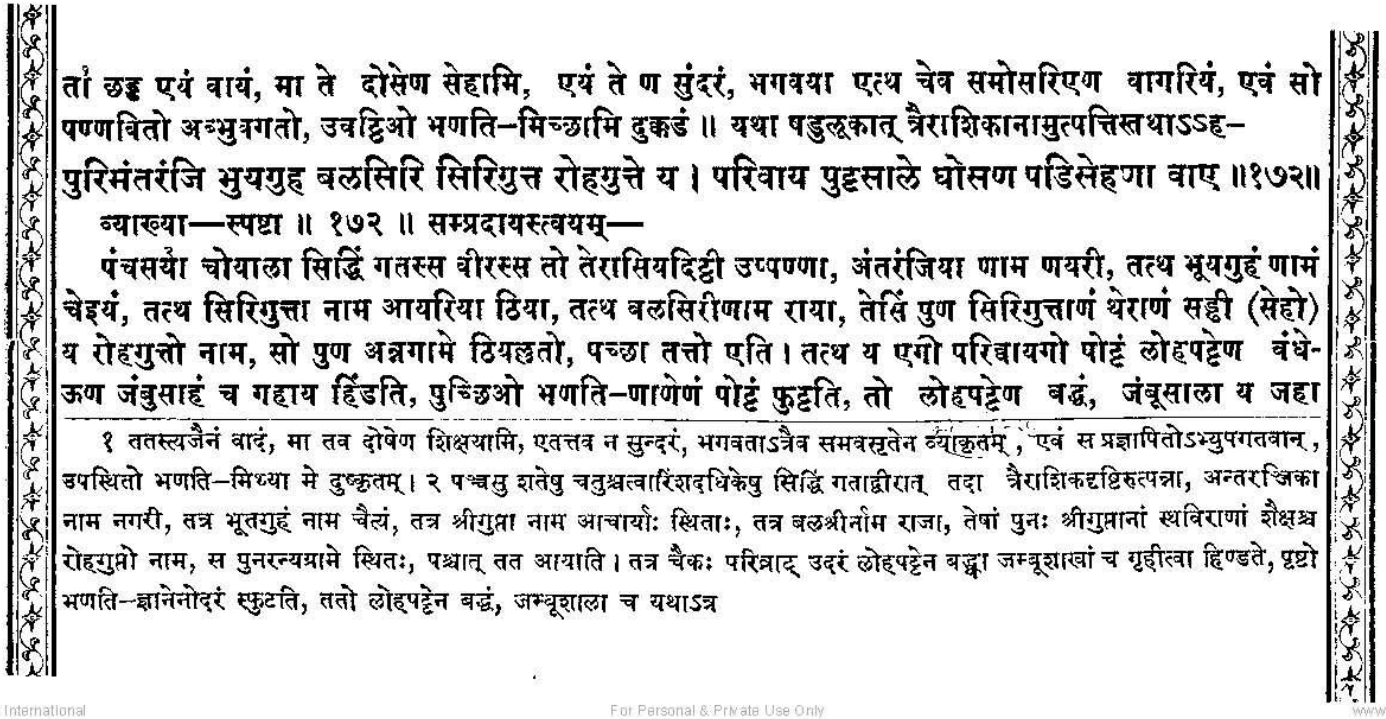
वंओगमेत्तोवउत्तसत्तित्ति तस्समंत्तो य। अत्थंतरोवओगं जाउ कहं केण वंसेण ? ॥२॥" एवं प्रज्ञाप्यमानोऽपि असंद्दहंतो असब्भावभावणाए अप्पाणं परं उभयं च वुग्गाहेति, साहुणो पण्णवेति, परंपरेण सुयं आयरिएहिं, वारिओ, जाहे ण ठाइ ताहे उग्घाडितो, सो हिंडंतो रायगिहं गतो, महातवोतीरप्पभे पासवणे, तत्थ मणिणागो णाम णागो, तस्स चेइए ठाइ सो, तत्थ य परिसामज्झे कहेति–जहा एवं खलु जीवा एगसमएण दो किरिया वेएंति, ताहे तेण णागेण तीसे चेव परिसाए मज्झे भणितो—मा एयं पण्णवणं पण्णवेहि, ण एसा पण्णवणा सुट्ठु दुट्ठु सेहा !, अहं एचिरं कालं वद्धमाणसामिस्स मूले सुणामि–जहा एगा किरिया वेदिज्जइ, तुमं विसिट्ठतरातो जातो?,

१. पयोगमात्रोपयुक्तशक्तिरिति तत्समाप्तश्च। अर्थान्तरोपयोगं यातु कथं केन वांऽशेन ? ॥ २ ॥ २ तस्समं चेव (वि)। ३ अश्रद्दधत् असद्भावभावनया आत्मानं परमुभयं च व्युद्ग्राहयति, साधून् प्रज्ञापयति, परम्परकेण श्रुतमाचार्यैः, वारितः, यदा न तिष्ठति तदोद्घाटितः, स हिण्डमानो राजगृहं गतः, महातपस्तीरप्रभं प्रस्रवणं, तत्र मणिनागो नाम नागः, तस्य चैत्ये तिष्ठति सः, तत्र च पर्षन्मध्ये कथयति–यथैवं खलु जीवा एकसमयेन द्वे क्रिये वेदयन्ति, तदा तेन नागेन तस्या एव पर्षदो मध्ये भणितः—मा एतां प्रज्ञापनां प्रजिघ्नपः, नैषा प्रज्ञापना सुन्दरा दुष्टशैक्ष !, अहमियच्चिरं कालं वर्धमानस्वामिनः मूलेऽशृणवं–यथैका क्रिया वेद्यते, त्वं विशिष्टतरको जातः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]



तां छड्ड एयं वायं, मा ते दोसेण सेहामि, एयं ते ण सुंदरं, भगवया एत्थ चेव समोसरिएण वागरियं, एवं सो पण्णवितो अब्भुवगतो, उवट्ठिओ भणति–मिच्छामि दुक्कडं ॥ यथा षडुलूकात् त्रैराशिकानामुत्पत्तिस्तथाऽऽह–

पुरिमंतरंजि भुयगुह बलसिरि सिरिगुत्त रोहगुत्ते य । परिवाय पुट्टसाले घोसण पडिसेहणा वाए ॥१७२॥

व्याख्या—स्पष्टा ॥ १७२ ॥ सम्प्रदायस्त्वयम्—

पंचसया चोयाला सिद्धिं गतस्स वीरस्स तो तेरासियदिट्ठी उप्पण्णा, अंतरंजिया णाम णयरी, तत्थ भूयगुहं णामं चेइयं, तत्थ सिरिगुत्ता नाम आयरिया ठिया, तत्थ बलसिरीणाम राया, तेसिं पुण सिरिगुत्ताणं थेराणं सद्धी (सेहो) य रोहगुत्तो नाम, सो पुण अन्नगामे ठियउतो, पच्छा तत्तो एति । तत्थ य एगो परिव्वायगो पोट्टं लोहपट्टेण बंधेऊण जंबुसाहं च गहाय हिंडति, पुच्छिओ भणति–णाणेणं पोट्टं फुट्टति, तो लोहपट्टेण बद्धं, जंबूसाला य जहा

१ ततस्त्यजैनं वादं, मा तव दोषेण शिक्षयामि, एतत्तव न सुन्दरं, भगवताऽत्रैव समवसृतेन व्याकृतम्, एवं स प्रज्ञापितोऽभ्युपगतवान्, उपस्थितो भणति–मिथ्या मे दुष्कृतम्। २ पञ्चसु शतेषु चतुश्चत्वारिंशदधिकेषु सिद्धिं गताद्वीरात् तदा त्रैराशिकदृष्टिरुत्पन्ना, अन्तरञ्जिका नाम नगरी, तत्र भूतगुहं नाम चैत्यं, तत्र श्रीगुप्ता नाम आचार्याः स्थिताः, तत्र बलश्रीर्नाम राजा, तेषां पुनः श्रीगुप्तानां स्थविराणां शैक्षश्च रोहगुप्तो नाम, स पुनरन्यग्रामे स्थितः, पश्चात् तत आयाति। तत्र चैकः परिव्राद् उदरं लोहपट्टेन बद्ध्वा जम्बूशाखां च गृहीत्वा हिण्डते, पृष्टो भणति–ज्ञानेनोदरं स्फुटति, ततो लोहपट्टेन बद्धं, जम्बूशाला च यथाऽत्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]

एत्थं जंबूदीवे णत्थि मम पडिवादी, ताहे तेण पडहतो णीणावितो, जहा सुण्णा परप्पवाया, तस्स य लोगेणं पोट्टसालो णामं कयं, पच्छा तेण रोहगुत्तेण वारियं–मा वाएह पडहयं, अहं से वायं देमि, एवं सो पडिसेहित्ता गतो आयरियाणं आलोएति, एवं मे पडहगो खोभितो, आयरिया भणंति–दुट्ठु कयं, सो विज्जाबलिओ वाए पराजिओऽवि विज्जाहिं उट्ठेति, आह च—

विच्छुय सप्पे मूसग मिगी वराही य कागि पोयाइं । एयाहिं विज्जाहिं सो उ परिव्वायगो कुसलो ॥१७३॥

व्याख्या—सुगमा ॥ १७३ ॥ सो भणइ–किं सक्का एत्ताहे णिलोक्किउं ?, ताहे तस्स आयरिया इमातो विज्जातो सिद्धिलियातो दिंति तस्स पडिवक्खा—

मोरिय नउलि बिराली वग्घी सीही य उलुगि ओवाइ । एयाओ विज्जाओ गिण्ह परिव्वायमहणीओ॥१७४॥

१ जम्बूद्वीपे नास्ति मम प्रतिवादी, तदा तेन पटहो दापितः–यथा शून्याः परप्रवादाः, तस्य च लोकेन पोट्टशालो नाम कृतं, पश्चात्तेन रोहगुप्तेन वारितं, मा वीवदः पटहम् , अहमेतस्मै वादं ददामि, एवं स प्रतिषिध्य गत आचार्येभ्य आलोचयति, एवं मया पटहः क्षोभितः, आचार्या भणन्ति–दुष्ठु कृतं, स विद्यावलिको वादे पराजितोऽपि विद्याभिरुत्तिष्ठते, स भणति—किं शक्यमधुना निलातुं, तदा तस्मै आचार्या इमा विद्याः सिद्धा ददति तस्य प्रतिपक्षाः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

व्याख्या—सुगमा ॥ १७४ ॥ रयहरणं च से अभिमंतिऊण दिन्नं, जइ अन्नंपि उट्ठेति ततो रयहरणं भमाडेज्जाहि, अजज्जो होहिसि, इंदेणऽवि ण सक्का जेउं, तो एयातो विज्जातो गहाय गतो सभं, भाणियं चणेणं–एस किं जाणति ?, एयस्सेव पुव्वपक्खो होउ, परिवायतो चिंतेति—एए णिउणा, अतो एयाण चेव सिद्धंतं गेण्हामि, जहा मम दो रासी–जीवरासी अजीवरासी य, ताहे इयरेण तिन्नि रासी कया, सो जाणइ—जहा एएण मम सिद्धंतो गहितो, तेण तस्स बुद्धिं परिभूय तिन्नि रासी ठविया–जीवा अजीवा णोजीवा य, जीवा–संसारत्थाई अजीवा –घडाई णोजीवा–घरकोलियाच्छिन्नपुच्छाई, दिट्ठंतो दंडो, जहा दंडस्स आदि मज्झो अग्गं च, एवं सव्वभावावि तिविहा, एवं सो तेण णिप्पिट्ठपसिणवागरणो कतो, ताहे सो परिवायगो रुट्ठो विच्छुए मुयति, ताहे पडिमल्ले मोरे

१ रजोहरणं च तस्मै अभिमन्त्र्य दत्तं, यद्यन्यदप्युत्तिष्ठते ततो रजोहरणं भ्रामयेः, अजय्यो भविष्यसि, इन्द्रेणापि न शक्यो जेतुं, तत एता विद्या गृहीत्वा गतः सभां, भाणितं चानेन—एष किं जानाति ?, एतस्यैव पूर्वपक्षो भवतु, परिव्राट् चिन्तयति—एते निपुणाः, अत एतेषामेव सिद्धान्तं गृह्णामि, यथा मम द्वौ राशी–जीवराशिरजीवराशिश्च, तदा इतरेण त्रयो राशयः कृताः, स जानाति–यथैतेन मम सिद्धान्तो गृहीतः, तेन तस्य बुद्धिं परिभूय त्रयो राशयः स्थापिताः–जीवा अजीवा नोजीवाश्च, जीवाः–संसारस्थादयः अजीवाः–घटादयः नोजीवाः–गृहकोकिलाच्छिन्नपुच्छादयः, दृष्टान्तो दण्डो, यथा दण्डस्य आदिर्मध्यमग्रं च, एवं सर्वभावा अपि त्रिविधाः, एवं स तेन निष्पृष्टप्रश्नव्याकरणः कृतः, तदा स परिव्राट् रुष्टो वृश्चिकान् मुञ्चति, तदा प्रतिमल्लान् मयूरान्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

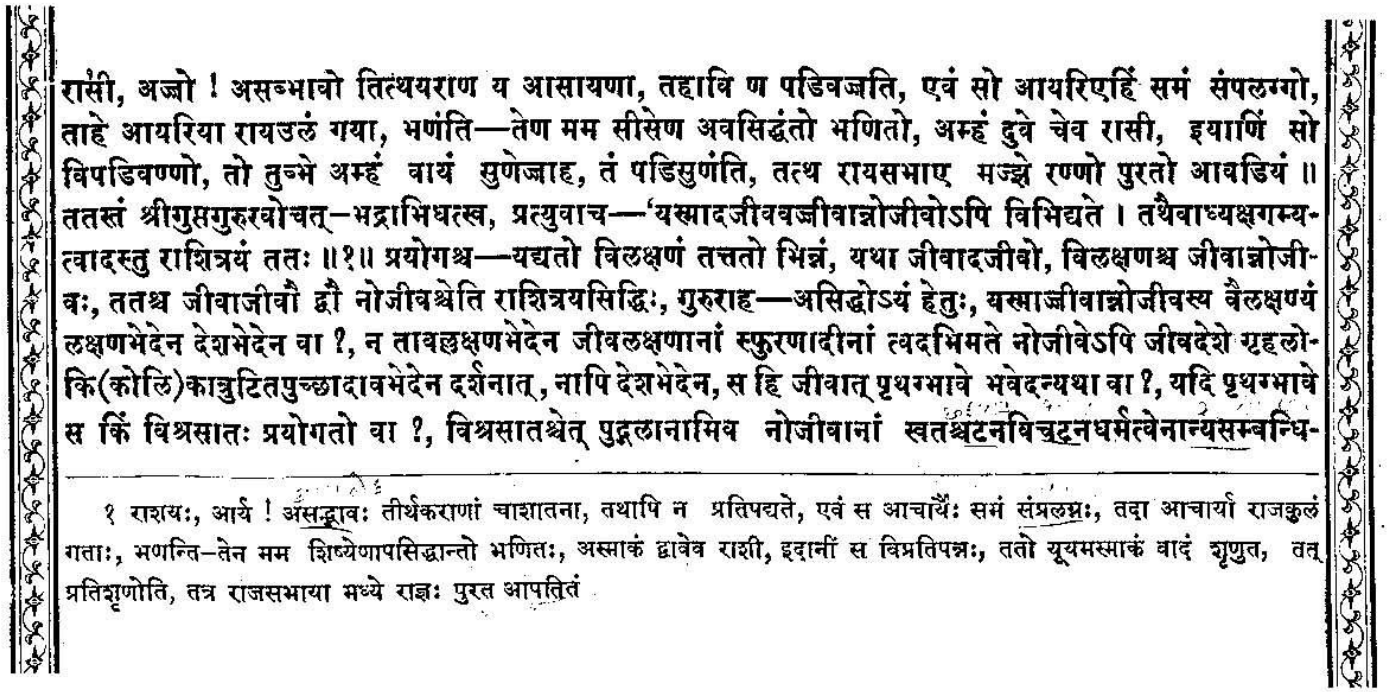
मुयंइ, तेहिं विच्छुएहिं हएहिं पच्छा सप्पे मुयइ, ताहे तेसिं पडिघायए णउले मुयति, ताहे उंदरे तेसिं मज्जारे, ताहे मिगे तेसिं वग्घे, ताहे सूयरे तेसिं सिंहे, ताहे कागे तेसिं उल्लूगे, ताहे पोयागिं, पोयागी सउलिया, तीसे संपाती–ओलावी, एवं जाहे ण तरइ ताहे गद्दभी मुक्का, तेण य सा रयहरणेण आहया, ताहे तस्सेव परिव्वायगस्स उवरिं छेरित्ता गया, ताहे सो परिव्वायगो हीलिज्जंतो णिच्छूढो, एवं सो तेणं परिव्वायगो पराजितो, ताहे आगतो आयरियस्स सगासे, आलोएइ, ताहे आयरिएहिं भणियं–कीस ते उट्ठिएण ण भणियं ?—णत्थि तिन्नि रासी, एयस्स बुद्धिं परिभूय मए पण्णविया, ता इयाणिंपि गंतुं भणाहि, सो णेच्छति, मा उब्भावणा होहित्ति ण पडिसुणेइ, पुणो पुणो भणिओ भणइ–को व एत्थ दोसो ?, किं च जायं ? जइ तिण्णि रासी भणिया, अत्थि चेव तिन्नि

१ मुच्चति, तैर्वृश्चिकेषु हतेषु पश्चात् सर्पान् मुञ्चति, तदा तेषां प्रतिघाताय नकुलान् मुञ्चति, तदा मूषकान् तेषां मार्जारान्, तदा मृगान् तेषां व्याघ्रान्, तदा शूकरान् तेषां सिंहान्, तदा काकान् तेषामुलूकान्, तदा शकुनिकाः, (पोताक्यः शकुनिकाः) तासां उल्ला-(उला)वकान्, एवं यदा न शक्नोति तदा गर्दभी मुक्ता, तेन च सा रजोहरणेनाहता, तदा तस्यैव परिव्राजकस्योपरि हृदित्वा गता, तदा स परिव्राट् हील्यमानो निष्काशितः, एवं स तेन परिव्राट् पराजितः, तदा आगत आचार्यस्य सकाशे, आलोचयति, तदा आचार्यैर्भणितं–कथं त्वयोत्तिष्ठता न भणितं–न सन्ति त्रयो राशयः, एतस्य बुद्धिं परिभूय मया प्रज्ञापिताः, तत् इदानीमपि गत्वा भण, स नेच्छति, मा अपभ्राजना भूदिति न प्रतिशृणोति, पुनः पुनर्भणितो भणति–को वाऽत्र दोषः ?, किं च जातं ? यदि त्रयो राशयो भणिताः, सन्त्येव त्रयो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]



रासी, अज्जो ! असब्भावो तित्थयराण य आसायणा, तहावि ण पडिवज्जति, एवं सो आयरिएहिं समं संपलग्गो, ताहे आयरिया रायउलं गया, भणंति—तेण मम सीसेण अवसिद्धंतो भणितो, अम्हं दुवे चेव रासी, इयाणिं सो विपडिवण्णो, तो तुब्भे अम्हं वायं सुणेज्जाह, तं पडिसुणंति, तत्थ रायसभाए मज्झे रण्णो पुरतो आवडियं ॥ ततस्तं श्रीगुप्तगुरुरवोचत्—भद्राभिधत्स्व, प्रत्युवाच—'यस्मादजीववज्जीवान्नोजीवोऽपि विभिद्यते । तथैवाध्यक्षगम्यत्वादस्तु राशित्रयं ततः ॥१॥ प्रयोगश्च—यद्यतो विलक्षणं तत्ततो भिन्नं, यथा जीवादजीवो, विलक्षणश्च जीवान्नोजीवः, ततश्च जीवाजीवौ द्वौ नोजीवश्चेति राशित्रयसिद्धिः, गुरुराह—असिद्धोऽयं हेतुः, यस्माज्जीवान्नोजीवस्य वैलक्षण्यं लक्षणभेदेन देशभेदेन वा ?, न तावल्लक्षणभेदेन जीवलक्षणानां स्फुरणादीनां त्वदभिमते नोजीवेऽपि जीवदेशे गृहलोकि(कोलि)कात्रुटितपुच्छादावभेदेन दर्शनात्, नापि देशभेदेन, स हि जीवात् पृथग्भावे भवेदन्यथा वा ?, यदि पृथग्भावे स किं विश्रसातः प्रयोगतो वा ?, विश्रसातश्चेत् पुद्गलानामिव नोजीवानां स्वतश्चटनविचटनधर्मत्वेनान्यसम्बन्धि-

१ राशयः, आर्य ! असद्भावः तीर्थकराणां चाशातना, तथापि न प्रतिपद्यते, एवं स आचार्यैः समं संप्रलग्नः, तदा आचार्या राजकुलं गताः, भणन्ति–तेन मम शिष्येणापसिद्धान्तो भणितः, अस्माकं द्वावेव राशी, इदानीं स विप्रतिपन्नः, ततो यूयमस्माकं वादं शृणुत, तत् प्रतिशृणोति, तत्र राजसभाया मध्ये राज्ञः पुरस आपतितं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

नामन्यत्र सञ्चारतः सुखदुःखाद्यात्मधर्मसङ्कीर्णतापत्तिः, तदुक्तम्–"अह खंधो इव संघायभेयधम्मा स तोऽवि सव्वेसिं । अवरोप्परसंचारे सुहाइगुणसंकरो पत्तो ॥ १ ॥" तथात्वे च कृतनाशाकृताभ्यागमौ, अथ प्रयोगतस्तन्न, अमूर्त्तद्रव्यत्वादिभिर्नभस इव जीवस्य खण्डशो विनाशयितुमशक्यत्वात्, तथात्वे वा सर्वनाशादिदोषप्रसङ्गः, उक्तं च– "[२]देवामुत्तत्ता कयभावादविकारदरिसणातो य । अविणासकारणेहिं नभसोव्व न खंडसो णासो ॥१॥ णासे य सव्वनासो जीवस्स ण सो य जिणमयच्चातो । तत्तो य अणिम्मोक्खो दिक्खावेफल्लदोसो य ॥२॥" किञ्च–अयं कुतो निश्चीयते ?, अथ गृहकोलिकाच्छिन्नपुच्छशरीरान्तराले जीवस्यासत्त्वात्, तदसत्त्वं च तदग्रहणात्, तर्हि तत्तदग्रहणमौदारिकशरीररूपेण सर्वथा वा ?, न तावदाद्यः पक्षो, यतो न जीवस्यौदारिकमेवैकं शरीरं येन तदग्रहणेन तदसत्त्वनिश्चयः स्यात्, द्वितीयपक्षे पुनरनैकान्तिकमग्रहणं, दीपरश्मीनामिव भित्त्यादिकमन्तरेण विनौदारिकशरीरमशरीरस्य सूक्ष्मशरीरस्य वा सतोऽपि जीवस्याग्रहणात्, तथा चोक्तम्–"[३]गंज्झामोत्तिगयातो णागासे जह पदीवरस्सीतो । तह जीवलक्ख-

१ अथ स्कन्ध इव संघातभेदधर्मा स तदापि सर्वेषाम् । अपरापरसंचारे सुखादिगुणसांकर्यं प्राप्तम् ॥ १ ॥ २ अमूर्त्तद्रव्यत्वात् अकृतकत्वात् अविकारदर्शनाच्च । अविनाशकारणत्वाच्च नभस इव न खण्डशो नाशः ॥ १ ॥ नाशे च सर्वनाशो जीवस्य न स च जिनमतत्यागः । ततश्चानिर्मोक्षो दीक्षावैफल्यदोषश्च ॥ २ ॥ ३ ग्राह्या मूर्त्तिगतत्वात् न आकाशे यथा प्रदीपरश्मयः । तथा जीवलक्ष-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

णाइं देहे ण तयंतरालंमि ॥ १ ॥ देहरहियं न गिण्हइ णिरतिसतो णातिसुहुमदेहं च। ण य से होइ विवाहा जीवस्स भवंतराले व ॥ २ ॥" अथान्यथेति पक्षः, तत्र चापृथग्भूतोऽपि भिन्नदेश इति पुच्छादि नोजीवो जीवाद्विलक्षणः, उच्यते, इहापि पुच्छादेर्नोजीवत्वं स्वल्पतरप्रदेशत्वेन समभिरूढनयाश्रयणेन वा?, यद्यल्पतरप्रदेशत्वेन तदा पुच्छवत् शेषावयवानामेकैकशो नोजीवता अजीवावयवानां च नोअजीवतेति राशिबहुत्वम्, अथ यथा जीवाजीवानां बहुत्वेऽपि जात्याश्रयणात् न राशिबहुत्वं तथा तदेकदेशानामपि, तथापि राशिचतुष्टयापत्तिः, उक्तं च—"एवं च रासतो ते ण तिण्णि चत्तारि संपसज्जंति। जीवा तहा अजीवा णोजीवा णोअजीवा य ॥१॥" अथाभिन्नलक्षणत्वादजीवान्नोअजीवो न भिद्यते इति न दोषः, तर्हि तद्वदेव जीवान्नोजीवोऽपि न भेत्स्यतीति राशिद्वयसिद्धिः, यत्तु समभिरूढनयाश्रयणेनेति त(त्त)न्मतानभिज्ञेनोक्तं, स हि जीवदेशं नोजीवमिच्छन्नपि न राशिभेदमिच्छति, सर्वनयानामपि चैकमत्यमत्रार्थे, सर्वनयमतत्वे च जिनमतस्य किमेकतरनयमतेन?, तदुक्तम्,—"णैं य रासिभेयमिच्छति तुमं व णोजीवमिच्छमाणोऽवि। अन्नोवि णतो णेच्छइ जीवाजीवाहियं किंचि ॥१॥ इच्छउ व समभिरूढो देसं णोजीवमेगण-

१ णानि देहे न तदन्तराले ॥१॥ देहरहितं न गृह्णाति निरतिशयः नातिसूक्ष्मदेहं च। न च तस्य भवति विबाधा जीवस्य भवान्तराल इव ॥२॥ २ एवं च राशयस्ते न त्रयश्चत्वारः संप्रसज्यन्ते। जीवास्तथा अजीवा नोजीवा नोअजीवाश्च ॥ १ ॥ ३ न च राशिभेदमिच्छति त्वमिव नोजीवमिच्छन्नपि। अन्योऽपि नयो नेच्छति जीवाजीवाधिकं किञ्चित् ॥ १ ॥ इच्छतु वा समभिरूढो देशं नोजीवमेकन-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

इयं तु । मिच्छत्तं संमत्तं सव्वनयमयावरोहेणं ॥२॥" ततश्च—सहाजीवेन तद्देशो, यथैको लक्षणैक्यतः । सह जीवेन तद्देशः, तथैको लक्षणैक्यतः ॥१॥ प्रयोगश्च—यद्येनैकलक्षणं न तत्ततो भिन्नं, यथा अजीवाज्जोअजीवः, एकलक्षणश्च नोजीवो जीवेनेति, एवं सम्यग् गुरुभिः सहोक्तिप्रत्युक्तिकया, जहा एगदिवसं तहा छम्मासा गया, ताहे राया भणइ –मम रज्जं सीयति, ताहे आयरिएहिं भणियं–इच्छाए मए एचिरं कालं धरितो, इत्ताहे णं पासह कलं दिवसे आगते समाणे णिग्गहामि, ताहे पभाए भणइ–कुत्तियावणे परिक्खिजउ, तत्थ सव्वदव्वाणि अत्थि, आणेह–जीवे अजीवे नोजीवे, ताहे देवयाए जीवा अजीवा दिन्ना, नोजीवे णत्थित्ति भणति, अजीवे वा पुणो देति, एवमादिगाणं चोयालसएण पुच्छाण णिग्गहितो, णयरे य घोसियं–जयइ महइ महा वद्धमाणसामित्ति, सो य निव्विसओ कओ, पच्छा णिण्हतोत्ति काऊण उग्घाडितो, छट्ठतो एसो, तेण वेसेसियसुत्ता कया, छलूओ य गोत्तेणं, तेण छलूओत्ति

१ यिकं तु। मिथ्यात्वं सम्यक्त्वं सर्वनयमतावरोधेन ॥२॥ २ यथैको दिवसस्तथा षण्मासा गताः, तदा राजा भणति–मम राज्यं सीदति, तदाऽऽचार्यैर्भणितम्–इच्छया मयैतावच्चिरं कालं धृतः, अधुना पश्यत कल्ये दिवस आगते सति निगृह्णामि, तदा प्रभाते भणति–कुत्रिकापणे परीक्ष्यतां, तत्र सर्वद्रव्याणि सन्ति, आनय—जीवान् अजीवान् नोजीवान्, तदा देवतया जीवा अजीवा दत्ताः, नोजीवा न सन्तीति भणति, अजीवान्वा पुनर्ददाति, एवमादिभिश्चतुश्चत्वारिंशदधिकशतेन पृच्छाभिर्निगृहीतः, नगरे च घोषितं—जयति महातिमहान् वर्धमानस्वामीति, स च निर्विषयः कृतः, पश्चान्निह्नव इतिकृत्वा उद्घाटितः, षष्ठ एषः, तेन वैशेषिकसूत्राणि कृतानि, षड्लूकश्च गोत्रेण, तेन षड्लूक इति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

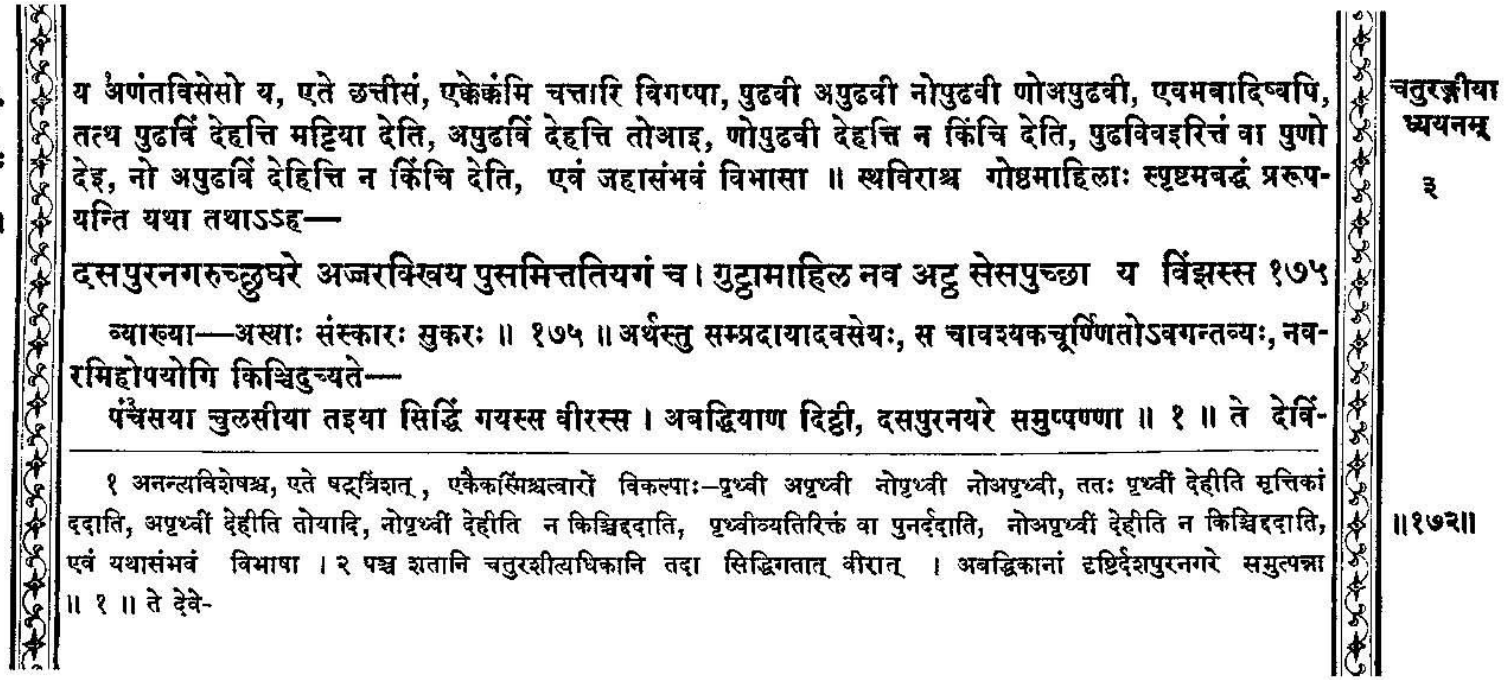
जातो, चोयालसयं पुण इमं–तेण छ मूलपयत्था गहिया, तंजहा–दव्वगुणकम्मसामण्णविसेससमवाया, तत्थ दव्वं णवहा, तंजहा–पुढवी आऊ तेऊ वाऊ आगासं कालो दिसा जीवो मणं, गुणा सत्तरस, तंजहा–रूवं रसो गंधो फासो संखा परिमाणं पुहुत्तं संजोगो विभागो परत्तं अपरत्तं बुद्धी सुहं दुक्खं इच्छा दोसो पयत्तो, कम्मं पंचहा–उक्खेवणं वक्खेवणं आउंटणं पसारणं गमणं च, सामण्णं तिविहं –महासामन्नं सत्तासामन्नं, सामन्नविसेससामण्णं। तत्र महासामान्यं षट्स्वपि पदार्थेषु पदार्थत्वबुद्धिकारि, सत्ता सामान्यं त्रिपदार्थसद्बुद्धिविधायि, सामान्यविशेष-सामान्यं द्रव्यत्वादि, अन्ये तु व्याचक्षते–त्रिपदार्थसत्करी सत्ता, सामान्यं द्रव्यत्वादि, सामान्यविशेषः पृथिवी-त्वादिः, विसेसो एगविहो, एवं समवाओऽवि, अन्ने भणंति–सामन्नं दुविहं–परमपरं च, विसेसो दुविहो–अंतविसेसो

१ जातः, चतुश्चत्वारिंशदधिकं शतं पुनरिदम्—तेन षट् मूलपदार्था गृहीताः, तद्यथा–द्रव्यं गुणः कर्म सामान्यं विशेषाः समवायः, तत्र द्रव्यं नवधा, तद्यथा—पृथ्वी आपः तेजो वायुराकाशं कालो दिग् जीवो मनः, गुणाः सप्तदश, तद्यथा–रूपं रसो गन्धः स्पर्शः सङ्ख्या परिमाणं पृथक्त्वं संयोग विभागः परत्वमपरत्वं बुद्धिः सुखं दुःखमिच्छा द्वेषः प्रयत्नः, कर्म पञ्चधा–उत्क्षेपणमपक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनं च, सामान्यं त्रिविधं—महासामान्यं सत्तासामान्यं सामान्यविशेषसामान्यं (च), विशेष एकविधः, एवं समवायोऽपि। अन्ये भणन्ति–सामान्यं द्विविधं–परमपरं च, विशेषो द्विविधः—अन्त्यविशेषश्च

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥१७२॥

य अणंतविसेसो य, एते छत्तीसं, एक्केक्कंमि चत्तारि विगप्पा, पुढवी अपुढवी नोपुढवी णोअपुढवी, एवमबादिष्वपि, तत्थ पुढविं देहत्ति मट्टिया देति, अपुढविं देहत्ति तोआइ, णोपुढवी देहत्ति न किंचि देति, पुढविवइरित्तं वा पुणो देइ, नो अपुढविं देहित्ति न किंचि देति, एवं जहासंभवं विभासा ॥ स्थविराश्च गोष्ठमाहिलाः स्पृष्टमबद्धं प्ररूपयन्ति यथा तथाऽऽह—

दसपुरनगरुच्छुघरे अज्जरक्खिय पुसमित्ततियगं च। गुट्ठामाहिल नव अट्ठ सेसपुच्छा य विंझस्स १७५

व्याख्या—अस्याः संस्कारः सुकरः ॥ १७५ ॥ अर्थस्तु सम्प्रदायादवसेयः, स चावश्यकचूर्णितोऽवगन्तव्यः, नवरमिहोपयोगि किञ्चिदुच्यते—

पंचसया चुलसीया तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स। अबद्धियाण दिट्ठी, दसपुरनयरे समुप्पण्णा ॥ १ ॥ ते देविं-

---

१ अनन्त्यविशेषश्च, एते षट्त्रिंशत्, एकैकस्मिंश्चत्वारो विकल्पाः—पृथ्वी अपृथ्वी नोपृथ्वी नोअपृथ्वी, ततः पृथ्वीं देहीति मृत्तिकां ददाति, अपृथ्वीं देहीति तोयादि, नोपृथ्वीं देहीति न किञ्चिद्ददाति, पृथ्वीव्यतिरिक्तं वा पुनर्ददाति, नोअपृथ्वीं देहीति न किञ्चिद्ददाति, एवं यथासंभवं विभाषा । २ पञ्च शतानि चतुरशीत्यधिकानि तदा सिद्धिगतात् वीरात् । अबद्धिकानां दृष्टिर्दशपुरनगरे समुत्पन्ना ॥ १ ॥ ते देवे-

चतुरङ्गीया ध्ययनम् ३

॥१७२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

दंवंदिया रक्खिज्जा दसपुरं गया, मथुराए अकिरियवाई उट्ठितो, जहा णत्थि माया णत्थि पिया एवमादिणाहि-
यवादी, तत्थ संघसमवातो कतो, तत्थ पुण वादी णत्थि, ताहे इमेसिं पयट्टियं, इमे य जुगप्पहाणा, ताहे आगया,
तेसिं साहेति, ते य महल्ला, ताहे तेहिं गोट्ठामाहिलो पयट्टिओ, तस्स य वायलद्धी अत्थि, सो गतो, सो तेण
वाए पराजितो, सोऽवि ताव तत्थ सड्ढेहिं आभट्ठो वरिसारत्ते ठितो अच्छति, ततो आयरिया समिक्खंति, को
गणहरो हवेज्जा ?, ताहे दुब्बलियापूस्समित्तो समिक्खितो, जो पुण तेसिं सयणवग्गो सो बहुओ, तेसिं गोट्ठामा-
हिलो वा फग्गुरक्खितो वा अणुमतो, गोट्ठामाहिलो आयरियाण माउलओ, तत्थ आयरिया सवे सद्दावित्ता दिट्ठं-
तं करेंति—णिप्फावकुडो तेलकुडो घयकुडो य, ते पुण हेट्ठाहोत्ता कया णिप्फावा सवे णेंति, तेलमवि णेति

१ न्द्रवन्दिता रक्षितार्या दशपुरं गताः, मथुरायामक्रियावादी उत्थितः—यथा नास्ति माता नास्ति पिता एवमादिनास्तिकवादी, तत्र सङ्घसम-
वायः कृतः, तत्र पुनर्वादी नास्ति, तदाऽमीभ्यः प्रवर्त्तितम्, इमे च युगप्रधानाः, तदा आगताः, तेभ्यः कथयति, ते च महान्तः, तदा तैर्गोष्ठ-
माहिलः प्रेषितः, तस्य च वादलब्धिरस्ति, स गतः, तेन स वादे पराजितः, सोऽपि तावत्तत्र श्राद्धैर्विज्ञप्तः वर्षारात्रे स्थितोऽभूत्, तत
आचार्याः समीक्षन्ते—को गणधरो भवेत् ?, तदा दुर्बलिकापुष्पमित्रः समीक्षितः, यः पुनस्तेषां स्वजनवर्गः स बहुः, तेषां गोष्ठमा-
हिलो वा फल्गुरक्षितो वाऽनुमतः, गोष्ठमाहिल आचार्याणां मातुलः, तत्राचार्याः सर्वान् शब्दयित्वा दृष्टान्तं कुर्वन्ति—निष्पावकुटः तैलकुटो
घृतकुटश्च, ते पुनरवाङ्मुखीकृता निष्पावाः सर्वे निर्यन्ति, तैलमपि निरेति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

तत्थ पुण अवयवा लग्गंति, घयकुडे बहुं चेव लग्गति, एवमेवाहमज्जो ! दुब्बलियापूसमित्तं पइ सुत्तत्थतदुभएसु णिप्फावकुडसमाणो जातो, फग्गुरक्खियं पति तेल्लकुडसमाणो, गोट्ठामाहिलं पइ घयकुडसमाणो, एवमेस सुत्तेण अत्थेण य उववेतो तुब्भं आयरितो होउ, तेहिं सव्वं पडिच्छियं, इयरोऽवि भणितो—जहाऽहं वट्टितो फग्गुरक्खियस्स गोट्ठामाहिलस्स तहा तुब्भेहिवि वट्टियव्वं, ताणिवि भणियाणि—जहा तुब्भे मम वट्टियाइं तहा एयस्सवि वट्टेज्जाह, अविय–अहं कए वा अकए वा ण रूसामि एस ण खमिहित्ति, एवं दोवि वग्गे अप्पाहेत्ता भत्तं पच्चक्खाय कालगया देवलोगं गया, इयरेणऽवि सुयं–जहा आयरिया कालगया, ताहे आगतो पुच्छइ—को गणहरो ठवितो ?, कुडगदिट्ठंतो य सुतो, ताहे वीसुं पडिस्सए ठाइऊण पच्छा आगतो, ताहे तेहिं सव्वेहिं अब्भु-

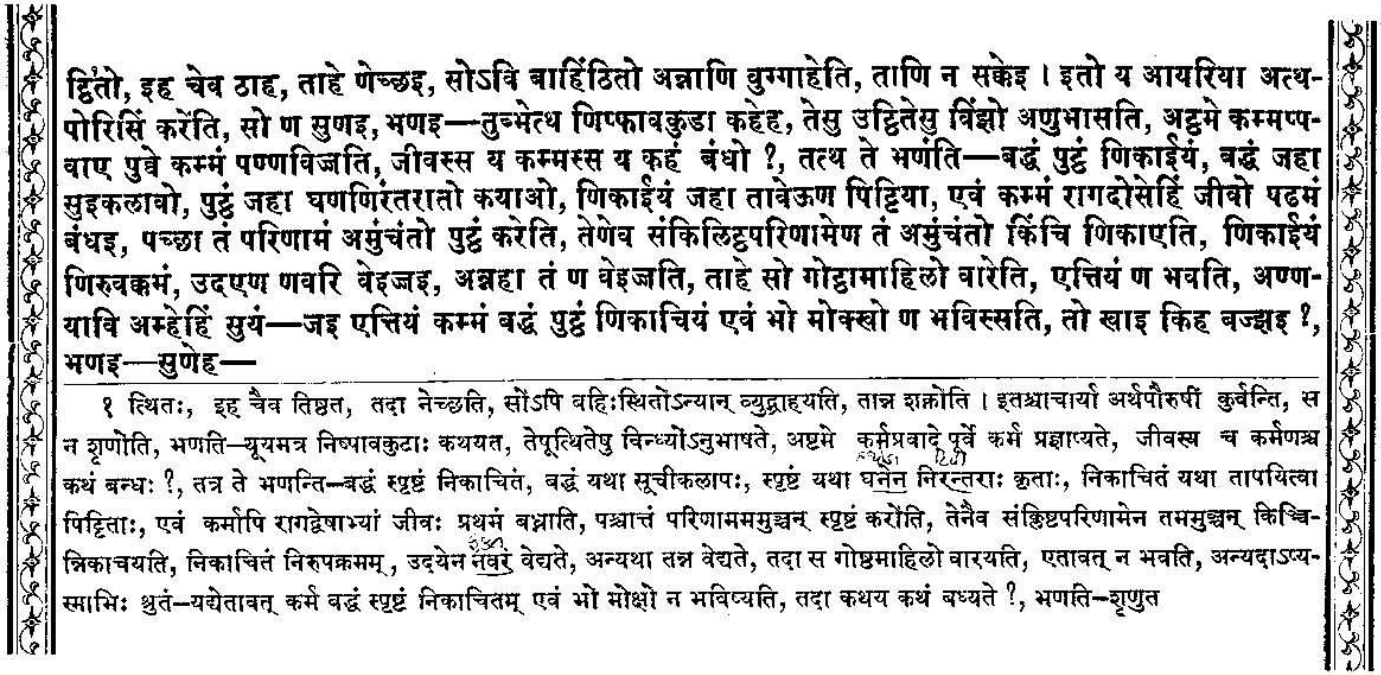
१ तत्र पुनरवयवा लगन्ति, घृतकुटे बह्वेव लगति, एवमेवाहमार्या ! दुर्बलिकापुष्पमित्रं प्रति सूत्रार्थतदुभयेषु निष्पावकुटसमानो जातः, फल्गुरक्षितं प्रति तैलकुटसमानः, गोष्ठमाहिलं प्रति घृतकुटसमानः, एवमेष सूत्रेणार्थेन चोपपेतो युष्माकमाचार्यो भवतु, तैः सर्वं प्रतीप्सितम् , इतरोऽपि भणितो—यथाऽहं वृत्तः फल्गुरक्षिते गोष्ठमाहिले तथा युष्माभिरपि वर्त्तितव्यं, तेऽपि च भणिताः—यथा यूयं मयि वृत्तास्तथैतस्मिन्नपि वर्त्तेयेत, अपि च–अहं कृते वा अकृते वा नारुषमेष न क्षमिष्यते इति, एवं द्वावपि वर्गौ संदिश्य भक्तं प्रत्याख्याय कालगता देवलोकं गताः, इतरेणापि श्रुतं–यथाऽऽचार्याः कालगताः, तदाऽऽगतः पृच्छति–कों गणधरः स्थापितः ?,कुटदृष्टान्तश्च श्रुतः, तदा विष्वक्प्रतिश्रये स्थित्वा पश्चादागतः, तदा तैः सर्वैरभ्यु-

॥१७३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]



ट्ठितो, इह चेव ठाह, ताहे णेच्छइ, सोऽवि बाहिंठितो अन्नाणि वुग्गाहेति, ताणि न सक्केइ । इतो य आयरिया अत्थपोरिसिं करेंति, सो ण सुणइ, भणइ—तुब्भेत्थ णिप्फावकुडा कहेह, तेसु उट्ठितेसु विंझो अणुभासति, अट्ठमे कम्मप्पवाए पुव्वे कम्मं पण्णविज्जति, जीवस्स य कम्मस्स य कहं बंधो ?, तत्थ ते भणंति—बद्धं पुट्ठं णिकाईयं, बद्धं जहा सुइकलावो, पुट्ठं जहा घणणिरंतरातो कयाओ, णिकाईयं जहा तावेऊण पिट्टिया, एवं कम्मं रागदोसेहिं जीवो पढमं बंधइ, पच्छा तं परिणामं असुंचंतो पुट्ठं करेति, तेणेव संकिलिट्ठपरिणामेण तं असुंचंतो किंचि णिकाएति, णिकाईयं णिरुवक्कमं, उदएण णवरि वेइज्जइ, अन्नहा तं ण वेइज्जति, ताहे सो गोट्ठामाहिलो वारेति, एत्तियं ण भवति, अण्णयावि अम्हेहिं सुयं—जइ एत्तियं कम्मं बद्धं पुट्ठं णिकाचियं एवं भो मोक्खो ण भविस्सति, तो खाइ किह वज्झइ ?, भणइ—सुणेह—

१ स्थितः, इह चैव तिष्ठत, तदा नेच्छति, सोऽपि बहिःस्थितोऽन्यान् व्युद्ग्राहयति, तान्न शक्नोति । इतश्चाचार्या अर्थपौरुषीं कुर्वन्ति, स न शृणोति, भणति—यूयमत्र निष्पावकुटाः कथयत, तेषूत्थितेषु विन्ध्योऽनुभाषते, अष्टमे कर्मप्रवादे पूर्वे कर्म प्रज्ञाप्यते, जीवस्य च कर्मणश्च कथं बन्धः ?, तत्र ते भणन्ति—बद्धं स्पृष्टं निकाचितं, बद्धं यथा सूचीकलापः, स्पृष्टं यथा घनेन निरन्तराः कृताः, निकाचितं यथा तापयित्वा पिट्टिताः, एवं कर्मापि रागद्वेषाभ्यां जीवः प्रथमं बध्नाति, पश्चात्तं परिणाममुञ्चन् स्पृष्टं करोति, तेनैव संक्लिष्टपरिणामेन तमसुञ्चन् किञ्चिन्निकाचयति, निकाचितं निरुपक्रमम्, उदयेन नवरं वेद्यते, अन्यथा तन्न वेद्यते, तदा स गोष्ठमाहिलो वारयति, एतावत् न भवति, अन्यदाऽप्यस्माभिः श्रुतं—यद्येतावत् कर्म बद्धं स्पृष्टं निकाचितम् एवं भो मोक्षो न भविष्यति, तदा कथय कथं बध्यते ?, भणति—शृणुत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]

पुट्ठो जहा अबद्धो कंचुइणं कंचुओ समन्नेइ। एवं पुट्ठमबद्धं जीवं कम्मं समन्नेइ ॥ १७६ ॥

व्याख्या—जहा सो कंचुकिणं पुरिसं फुसति, ण उण सो कंचुओ सरीरेण समं बद्धो, एवं चेव कम्मंपि पुट्ठं, ण उण बद्धं जीवपएसेहिं समं, जस्स बद्धं तस्स कम्मसंसारवुच्छित्ती ण भविस्सति, ताहे सो भणति—एत्तियं आयरिएहिं अम्हं भणियं, एसो ण याणति, ताहे सो संकितो समाणो पुच्छतो गतो, मा मए अन्नहा गहियं हवेज्जा, ताहे पुच्छिया आयरिया, तैरुक्तम्—यथा तस्यायमाशयः—यतो यद्धेत्स्यते तेन, स्पृष्टमात्रं तदिष्यताम्। कञ्चुकी कञ्चुकेनेव, कर्म भेत्स्यति चात्मनः ॥१॥ प्रयोगः—यद्येन भविष्यत्पृथग्भावं तत्तेन स्पृष्टमात्रं, यथा कञ्चुकः कञ्चुकिना, भविष्यत्पृथग्भावं च कर्म्म जीवेन, अत्र प्रष्टव्योऽयम्—कञ्चुकवत्स्पृष्टमात्रता कर्म्मणः किमेकैकजीवप्रदेशपरिवेष्टनेन सकलजीवप्रदेशप्रचयपरिवेष्टनेन वा ?, यद्येकैकजीवप्रदेशपरिवेष्टनेन तत्किमिदं परिवेष्टनं मुख्यमौपचारिकं वा ?, यदि मुख्यं सिद्धान्तविरोधः, मुख्यं हि परिक्षेपणमेव परिवेष्टनम्, एवं च भिन्नदेशस्य कर्मणो ग्रहणं, सिद्धान्ते तु यत्राकाशदेशे

१ यथा स कञ्चुकिनं पुरुषं स्पृशति, न पुनः स कञ्चुकः शरीरेण समं बद्धः, एवमेव कर्मापि स्पृष्टं न पुनर्बद्धं जीवप्रदेशैः समं, यस्य बद्धं तस्य कर्मसंसारव्युच्छित्ती न भविष्यतः, तदा स भणति–एतावदाचार्यैरस्मभ्यं भणितम्, एष न जानाति, तदा स शङ्कितः सन् प्रच्छको गतः, मा मयाऽन्यथा गृहीतमभविष्यत् (भूत्), तदा पृष्टा आचार्याः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]

य आत्मप्रदेशोऽवगाढः तेनं तत्रैवावगाढं कर्म्म गृह्णते इत्युक्तम्, अत एवाह शिवशर्माचार्यः–"एगंपएसोगाढं सव्वपएसेहि कम्मुणो जोगं । गेण्हइ जहुत्तहेऊ साईयमणाइयं वावि ॥ १ ॥" अथौपचारिकं यथा हि कञ्चुकी कञ्चुकेनेवावष्टब्धश्चावृतश्च, एवं जीवप्रदेशा अपि कर्म्मप्रदेशैरिति मुख्यपरिवेष्टनाभावेऽपि तेषां तत्परिवेष्टनमुच्यते, तर्हि स्फुटैवास्यदिष्टबन्धसिद्धिः, अस्माकमप्यनन्तकर्म्माणुवर्गणाभिरात्मप्रदेशानामुक्तरूपपरिवेष्टनस्यैव बन्धत्वेनेष्टत्वात्, आगमश्चात्र–"एगमेगे आयपएसे अणंताणंताहिं कम्मवग्गूहिं आवेढियपरिवेढियत्ति,' ततश्च विपर्ययसाधनाद्विरुद्धो हेतुः। सकलजीवप्रदेशप्रचयपरिवेष्टनेनेत्यस्मिन्नपि पक्षे भिन्नदेशकर्म्मग्रहणेन तथैव सिद्धान्तविरोधः, तथा तत्र बहिः प्रदेशबन्ध एव कर्म्मणः सम्भवति, ततश्च मलस्येव न तस्य भवान्तरानुवृत्तिः, एवं च पुनर्भवाभावः, सिद्धानां वा पुनर्भवाऽऽपत्तिः, न च मलस्य शरीरेण स्पृष्टतया दृष्टान्तवैषम्यं, शरीरात्मप्रदेशानामन्योऽन्यमविभागेनावस्थानाद्, अन्यथा हि मृणालस्पर्शाद्यनुभवाभावप्रसङ्गः, किञ्च—इयं देहान्तः सातादिवेदना सनिबन्धना निर्निबन्धना वा ?, निर्निबन्धना चेत्किं न सिद्धानामपि ?, सनिबन्धनत्वे च किं पयःपानादिदृष्टहेतुकैव यद्वा कर्म्मनिबन्धनाऽपि ?, यदाऽऽद्यः पक्षस्तर्हि बहिर्वेदनापि दृष्टा बाह्यहेतुकैवेति किं कर्म्मकल्पनया ?, अथ कर्म्महेतुकाऽपि तर्हि

१ एकप्रदेशावगाढं सर्वप्रदेशैः कर्मणो योग्यम्। गृह्णाति यथोक्तहेतोः सादिकमनादिकं वाऽपि ॥१॥ २ एकैक आत्मप्रदेशोऽन्तानन्ताभिः कर्मवर्गणाभिरावेष्टितपरिवेष्टित इति ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

तत्किं यत्रैव स्थितं तत्रैव वेदनानिबन्धनमुतान्यत्रापि ?, यदि तत्रैव तर्हि त्वन्मतेन बहिरेवैतदवस्थितमित्यन्तः सातादिवेदनोच्छेदप्रसङ्गः, अथान्यत्रापि तद्वेदनानिबन्धनं तर्हि किं नैकात्मस्थितं सर्वात्मस्वपि ?, उक्तं च—"जइ वावि भिन्नदेसंपि वेयणं कुणइ कम्ममेवं ते । कह अन्नसरीरगयं ण वेयणं कुणति अन्नस्स ? ॥१॥" तथा च कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गः, अथ येनैव कृतं तस्यैव तन्निबन्धनं, तथापि पादवेदनायां शिरोवेदनाऽऽपत्तिः, अथ सञ्चारित्वात्तस्यान्तरप्यवस्थानमिति नान्तः सातादिवेदनोच्छेदप्रसङ्गः, एवं तर्हि न कञ्चुकतुल्यता, तस्य बहिरेव नियतत्वात्, युगपदुभयत्र वेदनाऽभावप्रसङ्गश्च, यथा च बहिःस्थमन्तःसञ्चारितया वेदनाहेतुरेवमन्तःस्थितं बहिःसञ्चारितया तद्धेतुरिति विपर्ययकल्पनाऽपि किं न ?, नियामकाभावात्, सञ्चारित्वे च कर्म्मणो वायोरिव न भवान्तरानुवृत्तिः, तदुक्तम्—"णं भवंतरमण्णेई सरीरसंचारतो तदणिलो व"त्ति, किञ्च—काञ्चनोपलयोरपि पृथग्भावोऽस्ति वा न वा ?, न तावन्नास्ति प्रत्यक्षतस्तद्दर्शनात्, अस्तित्वे च यथा भविष्यत्पृथग्भावित्वेऽपि तयोरविभागावस्थानेन स्पृष्टमात्रता तथा जीवकर्म्मणोरपि स्यात्, न च काञ्चनसत्त्वैव तत्र पूर्वं नास्ति, चाकचिक्यदर्शनात्प्रत्यक्षतः, तथा यत्र यन्नास्ति न तस्य तत उत्पादः, सिकताभ्य इव तैलस्येत्यनुमानतश्च तत्सिद्धेः, ततश्च—'यत्र यद्वेदनाहेतुः, कर्म्म

१ यदि वाऽपि भिन्नदेशमपि वेदनां करोति कर्म एवं ते । कथमन्यशरीरगतं न वेदनां करोत्यन्यस्य ? ॥ १ ॥ २ न भवान्तरमन्वेति शरीरसञ्चारतस्तदनिल इव ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]

तत्रस्थमेव तत् । सर्वत्र वेदनाहेतुः, कर्म सर्वत्रगं ततः ॥ १ ॥ प्रयोगश्च—यत्र यद्वेदनानिमित्तं कर्म तत्रस्थमेव तद्, अन्यथा दर्शितन्यायेनातिप्रसङ्गाद्, वेदनाहेतुश्च सर्वत्रात्मप्रदेशेषु कर्म इत्याद्याचार्योक्तं तेणं गंतूण सिट्ठं, एत्तियं भणियं आयरिएहिं, एवं पुणरवि सो संलीणो अच्छइ, समप्पउ ततो खोभेहामि । अन्नया णवमे पुव्वे पच्चक्खाणे साहूणं जावज्जीवाए तिविहं तिविहेण पाणातिवायं पच्चक्खामि, एयं पच्चक्खाणं वण्णिज्जइ, ताहे सो भणति—अवसिद्धंतो, ण होति एवं पुण, कहं कायव्वं ?, सुणेह—

पच्चक्खाणं सेयं अपरिमाणेण होइ कायव्वं । जेसिं तु परीमाणं तं दुट्ठं होइ आसंसा ॥ १७७ ॥

व्याख्या—सव्वं पच्चक्खामि पाणाइवायं अपरिमाणाए तिविहं तिविहेणं, एवं सव्वं आवकहियं, किं निमित्तं परिमाणं न कीरति ?, जो सो आसंसादोसो सो णियत्तितो भवति, जावज्जीवाए पुण भणंतेण परिमाणेण अब्भुवगयं भवति, जहाऽहं हणिस्सामि पाणाई, एतन्निमित्तं अपरिमाणाए कायव्वं ॥ स चैवं वदन्विन्ध्येनाभिदधे—यथाऽयं

१ तेन गत्वा शिष्टम्—एतावत् भणितमाचार्यैः, एवं पुनरपि स संलीनस्तिष्ठति, समाप्यतां ततः क्षोभयिष्यामि । अन्यदा नवमे पूर्वे प्रत्याख्याने साधूनां यावज्जीवतया त्रिविधं त्रिविधेन प्राणातिपातं प्रत्याख्यामि, एतत् प्रत्याख्यानं वर्ण्यते, तदा स भणति—अपसिद्धान्तः, न भवत्येवं पुनः, कथं कर्त्तव्यं ?, शृणुत । सर्वं प्रत्याख्यामि प्राणातिपातमपरिमाणतया त्रिविधं त्रिविधेन, एवं सर्वं यावत्कथिकं, किं निमित्तं परिमाणं न क्रियते ?, यः स आशंसादोषः स निवर्त्तितो भवति, यावज्जीवतया पुनर्भणता परिमाणेनाभ्युपगतं भवति, यथाऽहं हनिष्यामि प्राणादीन्, एतन्निमित्तमपरिमाणेन कर्त्तव्यं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

भवदाशयः—सावधि स्यादभिष्वङ्गः, गृहिणामित्वरं यथा । प्रत्याख्यानं तथा चेदं, यावज्जीवं यतेरपि ॥ १ ॥ प्रयोगः—यत्परिमाणवत् प्रत्याख्यानं तत्साभिष्वङ्गं, यथा गृहिणामित्वरप्रत्याख्यानं, परिमाणवच्च यतेरपि यावज्जीवं सर्वसावद्यप्रत्याख्यानमित्ययमनैकान्तिको हेतुः, तथाहि—किमत्र परिमाणवत्त्वमात्रेण साभिष्वङ्गता साध्यते उत आशंसयाऽपि ?, प्रथमपक्षे किं यतेरद्धाप्रत्याख्यानमस्ति न वा ?, यद्यस्ति किं पौरुष्यादिपदोपेतमितरथा वा ?, यदि पौरुष्यादिपदोपेतं किं न परिणामवत्त्वेन साभिष्वङ्गता ?, अथ न समतास्थितत्वात् तर्हि परिमाणवत्त्वमनैकान्तिकम्, अथानभिमतमेव तत्र पौरुष्यादिपदोपादानम्, एवं सति प्रव्रज्यादिन एवानशनापत्तिः, तथा च—"णिप्फादिया य सीसा दीहो परिवालितो य परियातो[1]' इत्याद्यागमविरोधः, न चाद्धाप्रत्याख्यानं नास्त्येव यतेरिति पक्षः, 'अणागतमइक्कंतं[2]' इत्यागमेन तस्याभिधानात्, द्वितीयपक्षे तु नैवमस्याशंसा—यथा भवान्तरे सावद्यमहं सेविष्ये, येन साभिष्वङ्गता स्यात्, यदपि यावज्जीवेति पदोच्चारणं तदपि व्रतभङ्गभयादेव, तदुक्तम्—"वयभंगभयाउ चिय जावजीवंति णिद्दिट्ठं[3]" किञ्च—परिणामवत्त्वेन साभिष्वङ्गतां साधयतस्त्वयाकूतमपरिमाणं प्रत्याख्यानमिति, तत्र च नञा परिमाणाभावमात्रमुच्यते वस्त्वन्तरविधिर्वा ?, यदि परिमाणाभावमात्रं तदा तस्याभिष्वङ्गहेतुत्वेनैव निषेधः, तद्धेतुत्वं

१ निष्पादिताश्च शिष्याः दीर्घः परिपालितश्च पर्यायः । २ अनागतमतिक्रान्तं । ३ व्रतभङ्गभयादेव यावज्जीवमिति निर्दिष्टम् ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]

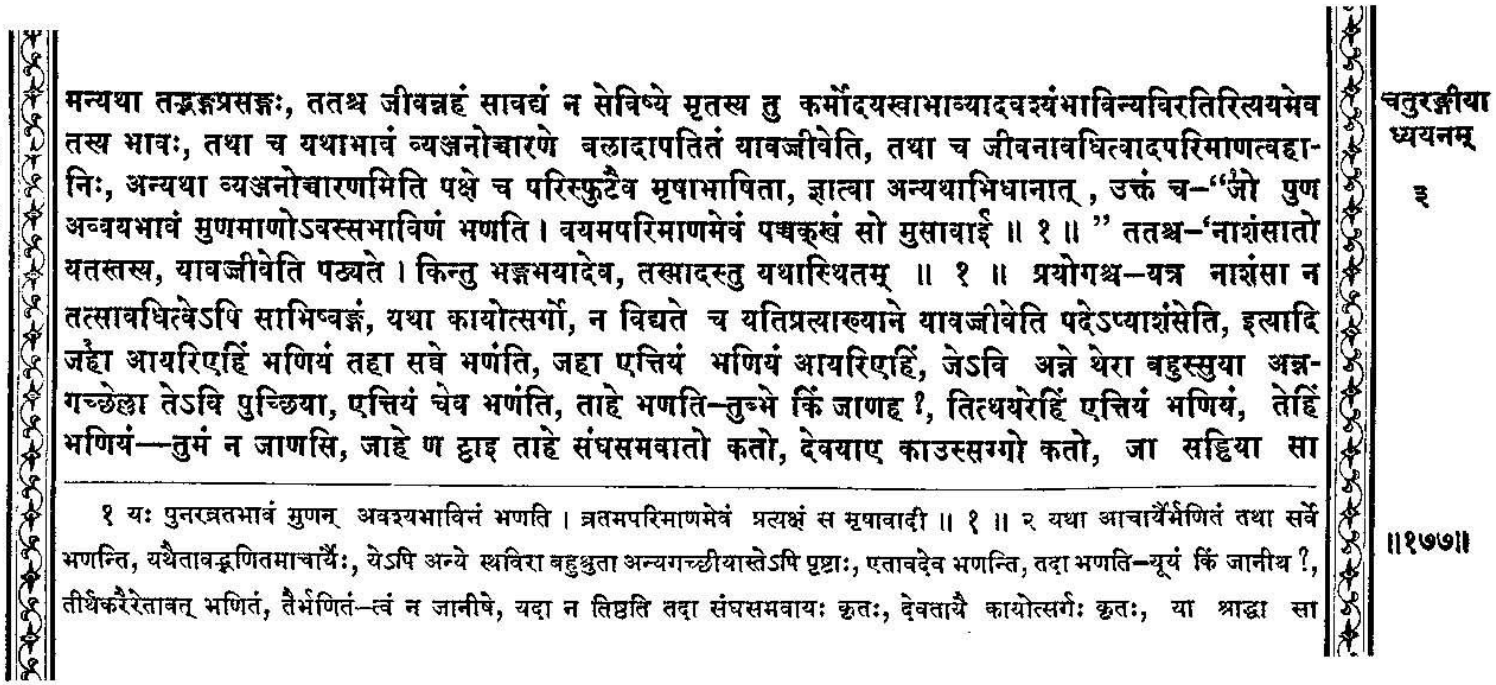
च तस्यानैकान्तिकमनन्तरमेवोक्तमिति किं तन्निषेधेन ?, अथ वस्त्वन्तरविधिस्तत्र वस्त्वन्तरं शक्तिरनागताद्धा वा ?, यदि शक्तिस्तत्र किं यावच्छक्तिस्तावन्मम प्रत्याख्यानम् अथ यावति विषये शक्तिस्तावतीति ?, प्रथमपक्षे "शक्तानुक्रियापरिमाणपरिमितत्वात् प्रत्याख्यानस्य परिमाणवत्त्वमेवोक्तं भवतीति स्ववचनविरोधः, प्रत्याख्यानानवस्था चैवं, शक्तेरनियतत्वात्, तथा चातीचारासत्त्वं, तदसत्त्वे च प्रायश्चित्ताभावः, द्वितीयपक्षे तु प्राणवधाद्यन्यतरविरतावपि संयतत्वापत्तिः, शक्त्यपेक्षत्वात्तद्धेतुप्रत्याख्यानस्य, उक्तं च–"एत्तियमेत्ती सत्तित्ति णातियारो ण यावि पच्छित्तं । ण य सव्वव्वयनियमो एगेण य संजयत्तन्ति ॥ १ ॥" अथानागताद्धा तत्रापि किं भावः प्रत्याख्यानं व्यञ्जनं वा ?, न तावद् व्यञ्जनं स्वप्नादावपि तदुच्चारणे प्रत्याख्यानप्रसङ्गात् प्रमादतः शक्तिवैकल्यतो वा व्यञ्जनस्खलने तदभावापत्तेश्च, ततः प्रथमपक्ष एवावशिष्यते, तत्र च सदा सावद्यमहं न सेविष्ये इति तस्य भाव उत कदाचिदिति ?, यदि आद्यपक्षस्तदा मृतस्यापि तत्सेवायामपरिपूर्णप्रतिज्ञत्वेन व्रतभङ्गप्रसङ्गः, तथा सिद्धानामपि संयतत्वापत्तिः, सकलानागताद्धाप्रत्याख्यानधारित्वात् । एवं च 'सिद्धे नो चारित्ती नो अचारित्ती' इत्यागमविरोधः, अथ द्वितीयपक्षस्तत्र किं यथा भावस्तथा व्यञ्जनमथान्यथा ?, यदि यथा भावस्तथा व्यञ्जनम् एवं सति विज्ञातविषयादेरेव प्रत्याख्यान-

१ एतावन्मात्रा शक्तिरिति नातीचारो न चापि प्रायश्चित्तम् । न च सर्वव्रतनियम एकेनापि संयतत्वमिति ॥ १ ॥ २ सिद्धा नो चारित्रिणो नो अचारित्रिणः ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥१७७॥

मन्यथा तद्भङ्गप्रसङ्गः, ततश्च जीवन्नहं सावद्यं न सेविष्ये मृतस्य तु कर्मोदयस्वाभाव्यादवश्यंभाविन्यविरतिरित्ययमेव तस्य भावः, तथा च यथाभावं व्यञ्जनोच्चारणे बलादापतितं यावज्जीवेति, तथा च जीवनावधित्वादपरिमाणत्वहानिः, अन्यथा व्यञ्जनोच्चारणमिति पक्षे च परिस्फुटैव मृषाभाषिता, ज्ञात्वा अन्यथाभिधानात्, उक्तं च–"जो पुण अव्वयभावं मुणमाणोऽवस्सभाविणं भणति। वयमपरिमाणमेवं पच्चक्खं सो मुसावाई ॥ १ ॥" ततश्च–'नाशंसातो यतस्तस्य, यावज्जीवेति पठ्यते। किन्तु भङ्गभयादेव, तस्मादस्तु यथास्थितम् ॥ १ ॥ प्रयोगश्च–यत्र नाशंसा न तत्सावधित्वेऽपि साभिष्वङ्गं, यथा कायोत्सर्गो, न विद्यते च यतिप्रत्याख्याने यावज्जीवेति पदेऽप्याशंसेति, इत्यादि जहा आयरिएहिं भणियं तहा सव्वे भणंति, जहा एत्तियं भणियं आयरिएहिं, जेऽवि अन्ने थेरा बहुस्सुया अन्नगच्छेल्ला तेऽवि पुच्छिया, एत्तियं चेव भणंति, ताहे भणति–तुब्भे किं जाणह ?, तित्थयरेहिं एत्तियं भणियं, तेहिं भणियं—तुमं न जाणसि, जाहे ण ट्ठाइ ताहे संघसमवातो कतो, देवयाए काउस्सग्गो कतो, जा सद्धिया सा

१ यः पुनरव्रतभावं मुणन् अवश्यभाविनं भणति। व्रतमपरिमाणमेवं प्रत्यक्षं स मृषावादी ॥ १ ॥ २ यथा आचार्यैर्भणितं तथा सर्वे भणन्ति, यथैतावद्भणितमाचार्यैः, येऽपि अन्ये स्थविरा बहुश्रुता अन्यगच्छीयास्तेऽपि पृष्टाः, एतावदेव भणन्ति, तदा भणति–यूयं किं जानीथ ?, तीर्थंकरैरेतावत् भणितं, तैर्भणितं–त्वं न जानीषे, यदा न तिष्ठति तदा संघसमवायः कृतः, देवतायै कायोत्सर्गः कृतः, या श्राद्धा सा

चतुरङ्गीयाध्ययनम् ३

॥१७७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

आगया, भणइ–संदिसहत्ति, ताहे भणिया–वच तित्थयरं पुच्छ, किं ?, जं गोट्ठामाहिलो भणइ तं सच्चं ?, दुब्बलियाप्पमुहो संघो जं भणइ तं सच्चं ?, ताहे सा भणति–मम अणुबलं देह, काउस्सग्गो दिन्नो, ताहे सा गया, तित्थयरो पुच्छितो, तेहिं वागरियं—जहा संघो सम्मावाई, इयरो मिच्छावादी, निण्हवो एस सत्तमो, ताहे आगया, भणिओ—ओस्सारेह, संघो सम्मावादी, एस मिच्छावादी निण्हवो, ताहे सो भणति—एसा अप्पिड्ढिया वराई, का एयाए सत्ती गंतूण ?, तीसेऽवि ण सद्दहति, ताहे पूसमित्ता भणंति–जहा अज्जो ! पडिवज्जउ, मा उग्घाडिज्जिहिसि, णेच्छति, ताहे सो संघेणं बज्झोकतो बारसविहेणं संभोएणं, तंजहा–'उवहि १ सुय २ भत्तपाणे ३ अंजलीपग्गहे ति य ४ । दायणा य ५ णिकाए य ६ अब्भुट्ठाणेत्ति आवरे ७ ॥ १ ॥ किइकम्मस्स य

१ आगता, भणति–संदिशतेति, तदा भणिता—गच्छ तीर्थकरं पृच्छ, किम् ?, यद्गोष्ठमाहिलो भणति तत्सत्यम् ? दुर्बलिकाप्रमुखः संघो यद्भणति तत्सत्यम् ?, तदा सा भणति—ममानुबलं दत्त, कायोत्सर्गो दत्तः, तदा सा गता, तीर्थकरः पृष्टः, तैर्व्याकृतं–यथा सङ्घः सम्यग्वादी, इतरो मिथ्यावादी, निह्नव एष सप्तमः, तत आगता, भणितः–उत्सारयत, संघः सम्यग्वादी, एष मिथ्यावादी निह्नवः, तदा स भणति–एषाऽल्पर्द्धिका वराकी, कैतस्याः शक्तिर्गन्तुं ?, तस्या अपि न श्रद्दधाति, तदा पुष्पमित्रा भणन्ति–यथा आर्य ! प्रतिपद्यतां, मा उद्घाटिष्ठाः, नेच्छति, तदा स संघेन बाह्यः कृतो द्वादशविधात् संभोगात्, तद्यथा—उपधिःश्रुतं भक्तपाने अञ्जलिप्रग्रह इति च । दानं च निकाचना च अभ्युत्थानमिति चापरम् ॥ १ ॥ कृतिकर्मणश्च करणं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

करणे ८ वेयावच्चकरणे इय ९ । समोसरणसन्निसेज्जा १० कहाए य ११ निमंतणा १२ ॥ २ ॥' एस बारसविहो, सत्तरभेतो जहा पंचकप्पे ॥ इत्युक्ता अल्पतरविसंवादिनो निह्नवाः, प्रसङ्गत एव बहुतरविसंवादिनं बोटिकमाह—

रहवीरपुरं नयरं दीवगमुज्जाण अज्जकण्हे अ । सिवभूइस्सुवहिंमि पुच्छा थेराण कहणा य ॥ १७८ ॥

व्याख्या—अक्षरार्थः सुगमः ॥ १७८ ॥ भावार्थस्तु सम्प्रदायादवसेयः, स चायम्—

छब्बाससएहिं णवोत्तरेहिं सिद्धिं गयस्स वीरस्स । तो बोडियाण दिट्ठी रहवीरपुरे समुप्पन्ना ॥ १ ॥ तेणं कालेणं तेणं समयेणं रहवीरपुरं कव्वडं, तत्थ दीवगं णाम उज्जाणं, तत्थ अज्जकण्हा आयरिया समोसढा । तत्थ एगो सिवभूई णाम साहस्सिमल्लो, सो रायाणं उवगतो, तुमं ओलग्गामित्ति, जा परिक्खामित्ति, रायाए अन्नया भणितो वच्च माइघरे सुसाणे किण्हचउद्दसीए बलिं देहि, सुरा पसुतो दिन्नो, अन्ने य पुरिसा भणिया–एयं बीहाविज्जाह,

१ वैयावृत्यकरण इति । समवसरणसन्निषद्या कथा च निमन्त्रणा ॥२॥ एष द्वादशविधः, सप्तदशभेदो यथा पञ्चकल्पे। २ षट्सु वर्षशतेषु नवोत्तरेषु सिद्धिं गतात् वीरात् । तदा बोटिकानां दृष्टी रथवीरपुरे समुत्पन्ना ॥१॥ तस्मिन् काले तस्मिन् समये रथवीरपुरं कर्बटं,तत्र दीपकं नामोद्यानं, तत्र आर्यकृष्णा आचार्याः समवसृताः । तत्रैकः शिवभूतिनामा सहस्रमल्लः, स राजानमुपगतः, त्वामवलगामीति, यावत्परीक्ष इति, राज्ञाऽन्यदा भणितः–व्रज मातृगृहे श्मशाने कृष्णचतुर्दश्यां बलिं देहि, सुरा पशुश्च दत्तौ, अन्ये च पुरुषा भणिताः–एनं भापयध्वं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

सो गंतूण माइबलिं दाऊण छुहिओमित्ति तत्थेव सुसाणे तं पसुं पओलित्ता खाइ, ते य गोहा सिवारसिएहिं समंता भैरवं रवं करेंति, तस्स रोमुब्भेओऽवि न कज्जइ, तओ अब्भुट्ठिओ गतो, तेहिं सिट्ठं, वित्ती दिन्ना। अन्नया सो राया दंडे आणवेति–जहा महुरं गेण्हह, ते सबबलेणं उद्धाईया, ततो अदूरसामंतेणं गंतूण भणंति–अम्हे ण पुच्छियं–कयरं महुरं वचामो, राया य अविण्णवणिज्जो, ते गुंगुयंता अच्छंति, सिवभूई आगतो भणति–किं भो! अच्छह?, तेहिं सिट्ठं, तो भणति–दोऽवि गिण्हामो समं चेव, ते भणंति– ण सक्का, दो भागिएहिं एक्केक्काए बहू कालो होतित्ति, सो भणति–जं दुज्जयं तं मम देह, भणितो जा णिज्जाइ, भणइ–सूरे त्यागिनि विदुषि च वसति जनः स च जनाद्गुणी भवति। गुणवति धनं धनाच्छ्रीः श्रीमत्याज्ञा ततो राज्यम् ॥ १ ॥ एवं भणित्ता

१ स गत्वा मातृबलिं दत्त्वा बुभुक्षितोऽस्मीति तत्रैव श्मशाने तं पशुं पक्त्वा खादति, ते च पुरुषाः शिवारसितैः समन्ताद्भैरवं रवं कुर्वन्ति, तस्य रोमोद्भेदोऽपि न क्रियते, तदाऽभ्युत्थितो गतः, तैः शिष्टं, वृत्तिर्दत्ता। अन्यदा स राजा दण्डिकान् आज्ञापयति––यथा मथुरां गृह्णीत, ते सर्वबलेनोद्धाविताः, ततोऽदूरसामन्ते गत्वा भणन्ति–अस्माभिर्न पृष्टं––कतरां मथुरां व्रजामः, राजा चाविज्ञप्यः, ते कान्दिशीकास्तिष्ठन्ति, शिवभूतिरागतो भणति–किं भोस्तिष्ठत?, तैः शिष्टं, ततो भणति–द्वे अपि गृह्णीमः समकमेव, ते भणन्ति–न शक्ये, द्विभागिकैः एकैकस्याः (ग्रहणे) बहुः कालो भवतीति, स भणति–या दुर्जया तां मह्यं दत्त, भणितो यावन्निर्याति, भणति–एवं भणित्वा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६॥

दीप अनुक्रम [९५]

पहाविओ पंडुमहुरंतेणं, तत्थ पच्चंताणि ताविउमारद्धो, दुग्गे ठितो, एवं ताव जाव णगरसेसं जायं, पच्छा णगरमवि गहियं ओवइत्ता, ततो णिवेइयं तेण रण्णो, तुट्ठेण भणियं–किं देमि ?, सो चिंतियं भणति–जं मए गहियं तं सुगहियं, जहिच्छतो भविस्सामि, एवं होउत्ति। एवं सो य बाहिं चेव हिंडंतो अद्धरत्ते आगच्छति वा ण वा, तस्स भज्जा ताव ण जेमेइ सुयति वा जाव णागतो भवति, साविणिविण्णा। अन्नया मायरं सा वड्ढेति–तुम्ह पुत्तो दिवसे २ अद्धरत्ते एति, अहं जग्गामि, छुहातिया अच्छामि, ताहे ताए भणइ–मा दारं देज्जाहि, अहं अज्ज जग्गामि, सो दारं मग्गति, इयरीय अंबाडितो, भणितो य–जत्थ इमाए वेलाए उग्घाडियाणि तत्थ वच्च, तस्स भवियव्वयाए तेण मग्गंतेण उग्घाडितो साहुपडिस्सतो दिट्ठो, तत्थ गतो, वंदति, भणइ–पव्वावेह मए,

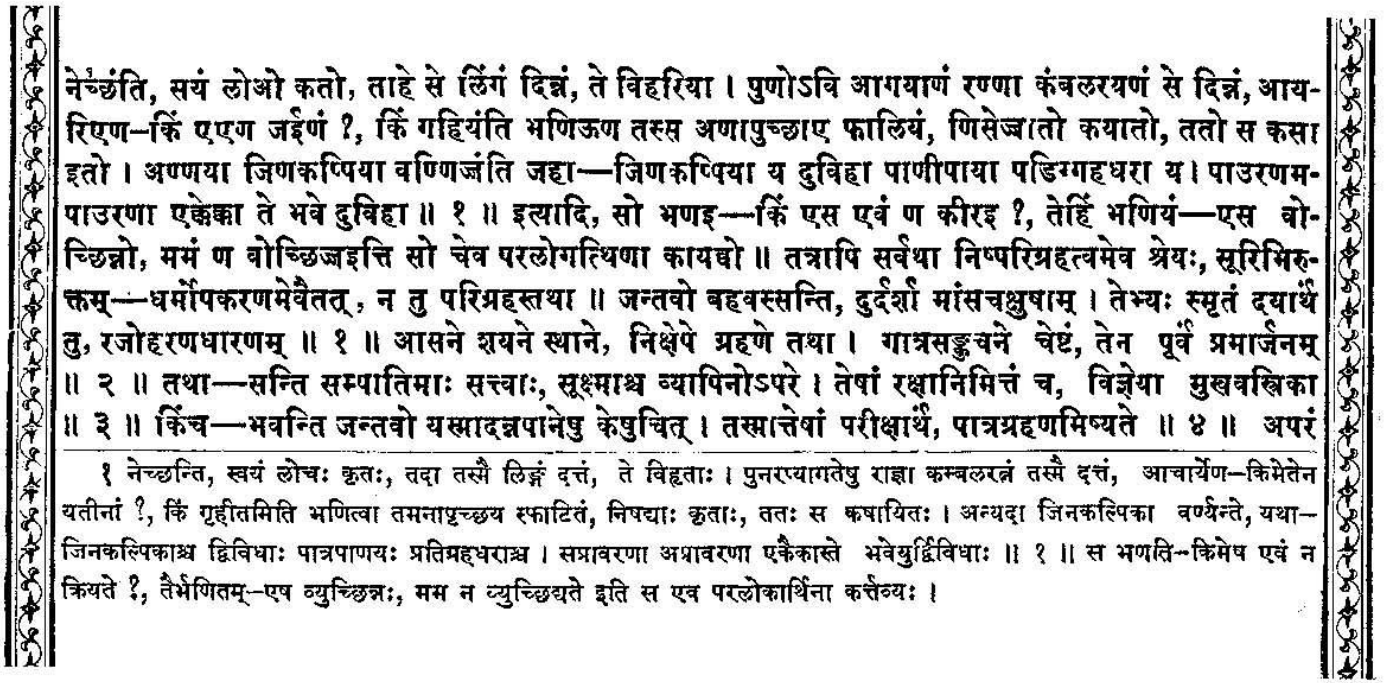
१ प्रधावितः पाण्डुमथुराध्वना, तत्र प्रत्यन्तांस्तापयितुमारब्धः, दुर्गे स्थितः, एवं तावद्यावत् नगरशेषं जातं, पश्चान्नगरमपि गृहीतमवतीर्य, ततो निवेदितं तेन राज्ञे, तुष्टेन भणितं— किं ददामि ?, स चिन्तितं (चिन्तयित्वा) भणति–यन्मया गृहीतं तत्सुगृहीतं, यादृच्छिको भविष्यामि, एवं भवत्विति। एवं स च बहिरेव हिण्डमानोऽर्धरात्र आगच्छति वा न वा, तस्य भार्या तावन्न जेमति स्वपिति वा यावन्नागतो भवति, साऽपि निर्विण्णा। अन्यदा मातरं सा कलहयति—युष्माकं पुत्रो दिवसे दिवसे अर्धरात्रे आयाति, अहं जागर्मि, क्षुधार्त्ता तिष्ठामि, तदा तया भण्यते—मा द्वारं दाः, अहमद्य जागर्मि, स द्वारं मार्गयति, इतरया निर्भर्त्सितः, भणितश्च–यत्रास्यां वेलायामुद्घाटितानि (द्वाराणि) तत्र व्रज, तस्य भवितव्यतया तेन मार्गयता उद्घाटितः साधुप्रतिश्रयो दृष्टः, तत्र गतो, वन्दते, भणति—प्रव्राजयत मां,

॥१७९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]



नेच्छंति, सयं लोओ कतो, ताहे से लिंगं दिन्नं, ते विहरिया। पुणोऽवि आगयाणं रण्णा कंबलरयणं से दिन्नं, आयरिएण–किं एएण जईणं ?, किं गहियंति भणिऊण तस्स अणापुच्छाए फालियं, णिसेज्जातो कयातो, ततो स कसा इतो। अण्णया जिणकप्पिया वण्णिज्जंति जहा—जिणकप्पिया य दुविहा पाणीपाया पडिग्गहधरा य। पाउरणमपाउरणा एक्केक्का ते भवे दुविहा ॥ १ ॥ इत्यादि, सो भणइ—किं एस एवं ण कीरइ ?, तेहिं भणियं—एस वोच्छिन्नो, ममं ण वोच्छिज्जइत्ति सो चेव परलोगत्थिणा कायव्वो ॥ तत्रापि सर्वथा निष्परिग्रहत्वमेव श्रेयः, सूरिभिरुक्तम्—धर्मोपकरणमेवैतत्, न तु परिग्रहस्तथा ॥ जन्तवो बहवस्सन्ति, दुर्दर्शा मांसचक्षुषाम्। तेभ्यः स्मृतं दयार्थं तु, रजोहरणधारणम् ॥ १ ॥ आसने शयने स्थाने, निक्षेपे ग्रहणे तथा। गात्रसङ्कुचने चेष्टे, तेन पूर्वं प्रमार्जनम् ॥ २ ॥ तथा—सन्ति सम्पातिमाः सत्त्वाः, सूक्ष्माश्च व्यापिनोऽपरे। तेषां रक्षानिमित्तं च, विज्ञेया मुखवस्त्रिका ॥ ३ ॥ किंच—भवन्ति जन्तवो यस्मादन्नपानेषु केषुचित्। तस्मात्तेषां परीक्षार्थं, पात्रग्रहणमिष्यते ॥ ४ ॥ अपरं

१ नेच्छन्ति, स्वयं लोचः कृतः, तदा तस्मै लिङ्गं दत्तं, ते विहृताः। पुनरप्यागतेषु राज्ञा कम्बलरत्नं तस्मै दत्तं, आचार्येण–किमेतेन यतीनां ?, किं गृहीतमिति भणित्वा तमनापृच्छय स्फाटितं, निषद्याः कृताः, ततः स कषायितः। अन्यदा जिनकल्पिका वर्ण्यन्ते, यथा–जिनकल्पिकाश्च द्विविधाः पात्रपाणयः प्रतिग्रहधराश्च। सप्रावरणा अप्रावरणा एकैकास्ते भवेयुर्द्विविधाः ॥ १ ॥ स भणति–किमेष एवं न क्रियते ?, तैर्भणितम्–एष व्युच्छिन्नः, मम न व्युच्छिद्यते इति स एव परलोकार्थिना कर्त्तव्यः।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]

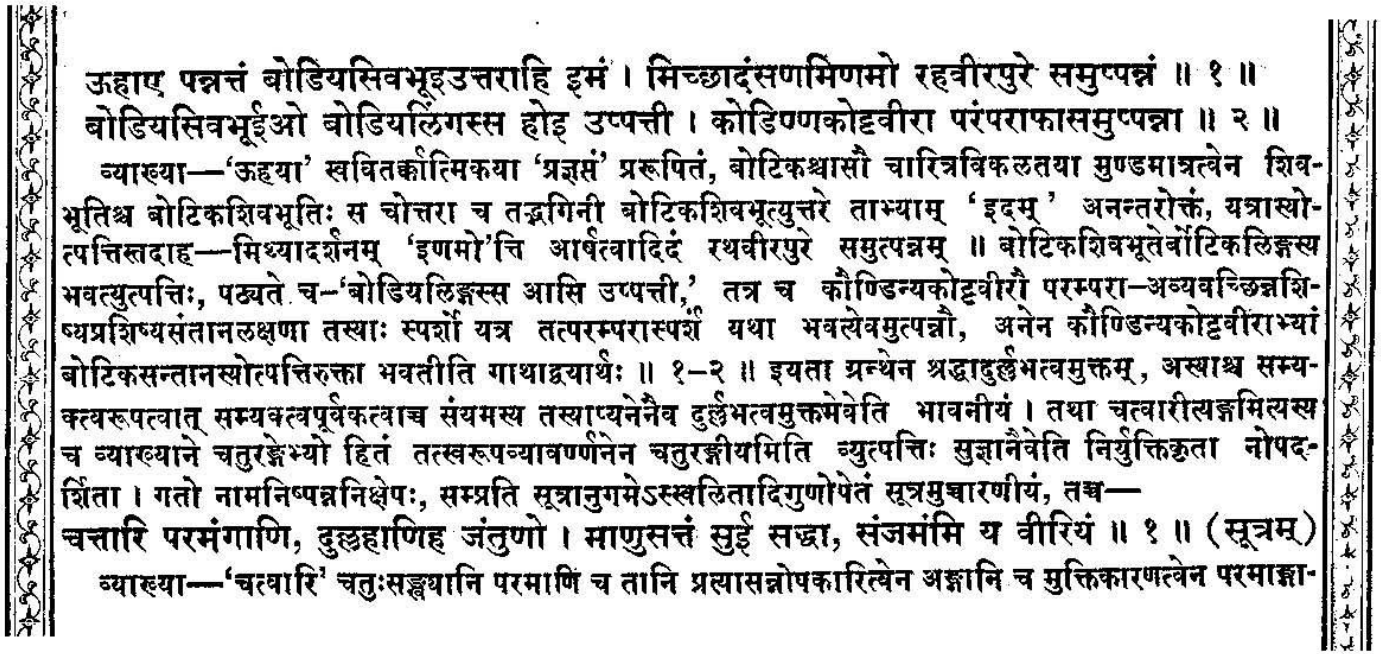
च—सम्यक्त्वज्ञानशीलानि, तपश्चेतीह सिद्धये । तेषामुपग्रहार्थाय, स्मृतं चीवरधारणम् ॥ ५ ॥ शीतवाततपैर्दंशैर्मशकैश्चापि खेदितः । मा सम्यक्त्वादिषु ध्यानं, न सम्यक् संविधास्यति ॥ ६ ॥ तस्य त्वग्रहणे यत् स्यात्, क्षुद्रप्राणिविनाशनम् । ज्ञानध्यानोपघातो वा, महान् दोषस्तदैव तु ॥ ७ ॥ यः पुनरतिसहिष्णुतयैतदन्तरेणापि न धर्मबाधकस्तस्य नैतदस्ति, तथा चाह—"य एतान् वर्जयेद्दोषान्, धर्मोपकरणादृते । तस्य त्वग्रहणं युक्तं, यः स्याज्जिन इव प्रभुः ॥ १ ॥" स च प्रथमसंहनन एव, न चेदानीं तदस्तीत्यादिकया प्रागुक्तया च युक्त्योच्यमानोऽसौ कम्मोदयेण चीवराइयं छड्डेत्ता गतो, तस्स उत्तरा भइणी, उज्जाणे ठियस्स वंदिया गया, तं च दट्ठूण तीएवि चीवरातियं सवं छड्डियं, ताहे भिक्खाए पविट्ठा, गणियाए दिट्ठा, मा अम्ह लोगो विरज्जिहित्ति उरे से पोत्ती बद्धा, सा णेच्छति, तेण भणियं–अच्छउ एसा तव देवयादिन्ना । तेण य दो सीसा पव्वाविया–कोडिण्णो कोट्टवीरो य, तओ सीसाण परंपरफासो जातो ॥ एतदर्थोपसंहारिके भाष्यगाथे—

१ कर्मोदयेन चीवरादिकं त्यक्त्वा गतः, तस्योत्तरा भगिनी, उद्याने स्थितं वन्दिका गता,तच्च दृष्ट्वा तयाऽपि चीवरादिकं सर्वं त्यक्तं, तदा भिक्षायै प्रविष्टा, गणिकया दृष्टा, माऽस्मासु लोको विरङ्क्षीत् इति उरसि तस्याः पोतिका बद्धा, सा नेच्छति, तेन भणितं–तिष्ठतु एषा तव देवतादत्ता । तेन च द्वौ शिष्यौ प्रव्राजितौ–कौण्डिन्यः कोट्टवीरश्च, ततः शिष्याणां परम्परास्पर्शो जातः ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६||

दीप अनुक्रम [९५]



ऊहाए पन्नत्तं बोडियसिवभूइउत्तराहि इमं । मिच्छादंसणमिणमो रहवीरपुरे समुप्पन्नं ॥ १ ॥
बोडियसिवभूईओ बोडियलिंगस्स होइ उप्पत्ती । कोडिण्णकोट्टवीरा परंपराफाससमुप्पन्ना ॥ २ ॥

व्याख्या—'ऊहया' स्वितर्कात्मिकया 'प्रज्ञप्तं' प्ररूपितं, बोटिकश्चासौ चारित्रविकलतया मुण्डमात्रत्वेन शिवभूतिश्च बोटिकशिवभूतिः स चोत्तरा च तद्भगिनी बोटिकशिवभूत्युत्तरे ताभ्याम् 'इदम्' अनन्तरोक्तं, यत्रास्योत्पत्तिस्तदाह—मिथ्यादर्शनम् 'इणमो'त्ति आर्षत्वादिदं रथवीरपुरे समुत्पन्नम् ॥ बोटिकशिवभूतेर्बोटिकलिङ्गस्य भवत्युत्पत्तिः, पठ्यते च–'बोडियलिङ्गस्स आसि उप्पत्ती,' तत्र च कौण्डिन्यकोट्टवीरौ परम्परा–अव्यवच्छिन्नशिष्यप्रशिष्यसंतानलक्षणा तस्याः स्पर्शो यत्र तत्परम्परास्पर्शं यथा भवत्येवमुत्पन्नौ, अनेन कौण्डिन्यकोट्टवीराभ्यां बोटिकसन्तानस्योत्पत्तिरुक्ता भवतीति गाथाद्वयार्थः ॥ १–२ ॥ इयता ग्रन्थेन श्रद्धादुर्लभत्वमुक्तम्, अस्याश्च सम्यक्त्वरूपत्वात् सम्यक्त्वपूर्वकत्वाच्च संयमस्य तस्याप्यनेनैव दुर्लभत्वमुक्तमेवेति भावनीयं । तथा चत्वारीत्यङ्गमित्यस्य च व्याख्याने चतुरङ्गेभ्यो हितं तत्स्वरूपव्यावर्णनेन चतुरङ्गीयमिति व्युत्पत्तिः सुज्ञानैवेति निर्युक्तिकृता नोपदर्शिता । गतो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, सम्प्रति सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्च—

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणिह जंतुणो । माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमंमि य वीरियं ॥ १ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'चत्वारि' चतुःसङ्ख्यानि परमाणि च तानि प्रत्यासन्नोपकारित्वेन अङ्गानि च मुक्तिकारणत्वेन परमाङ्गा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [९६]

नि 'दुर्लभानि' दुःखेन लभ्यन्त इतिकृत्वा दुष्प्रापाणि 'इह' अस्मिन्संसारे, कस्य ?–जायत इति जन्तुस्तस्य देहिन इत्यर्थः, पठ्यते च–'देहिन' इति, कानि पुनस्तानि ?–मनसि शेते मानुषः, अथवा मनोरपत्यमिति वाक्ये "मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च" (पा० ४–१–१६१) इत्यत्रि प्रत्यये षुगागमे च मानुषस्तद्भावः मानुषत्वं–मनुजभावः, 'श्रवणं' श्रुतिः, सा च 'अर्थप्रकरणादिभ्यः सामान्यशब्दा अपि विशेषेऽवतिष्ठन्ते' इति न्यायाद्धर्मविषया, श्रद्धाऽपि तत एव धर्मविषया, 'संयमे' आश्रवविरमणाद्यात्मनि, चः समुच्चये भिन्नक्रमः, ततो विशेषेणेरयति–प्रवर्त्तयति आत्मानं तासु तासु क्रियास्विति वीर्य्यं च–सामर्थ्यविशेष इति सूत्रार्थः ॥१॥ तत्र यथा मानुषत्वं दुर्लभं तथा दर्शयितुमाह—

समावण्णाणं संसारे, णाणागोत्तासु जाइसु। कम्मा णाणाविहा कट्टु, पुढो विस्संभिया पया ॥२॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'सम्' इति समन्तात् आपन्नाः–प्राप्ताः समापन्ना णं इति वाक्यालङ्कारे, क्वेत्याह—संसारे, तत्रापि क्व ?–नाना इत्यनेकार्थः, गोत्रशब्दश्च नामपर्यायः, ततो नानागोत्रासु–अनेकाभिधानासु जायन्ते जन्तव आस्विति जातयः–क्षत्रियाद्याः तासु, अथवा जननानि जातयः ततो जातिषु–क्षत्रियादिजन्मसु नाना–हीनमध्यमोत्तमभेदे-नानेकं गोत्रं यासु तास्तथा तासु, अत्र हेतुमाह—क्रियन्त इति कर्माणि–ज्ञानावरणीयादीनि 'नानाविधानि' अनेक-प्रकाराणि 'कृत्वा' निर्वर्त्य 'पुढो'त्ति पृथग् भेदेन, किमुक्तं भवति ?–एकैकशः, 'विस्संभिय'त्ति विन्दोरलाक्षणिकत्वाद्

॥१८१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२॥

दीप अनुक्रम [९७]

विश्वं–जगद् बिभ्रति–पूरयन्ति क्वचित्कदादिदुत्पत्त्या सर्वजगद्व्यापनेन विश्वभृतः, उक्तं च–"णत्थि किर सो पएसो लोए वालग्गकोडिमित्तोऽपि । जम्मणमरणाबाहा जत्थ जिएहि न संपत्ता ॥१॥" इदमुक्तं भवति–अवाप्यापि मानुषत्वं स्वकृतविचित्रकर्मानुभावतः पृथग्जातिभागिन्य एव भवन्ति, काः—'प्रजाः' जनसमूहरूपाः, तदनेन प्राप्तमानुषत्वानामपि कर्मवशाद्विविधगतिगमनं मनुष्यत्वदुर्लभत्वे हेतुरुक्तः, यद्वा संसारे कर्माणि नानाविधानि कृत्वा पृथगिति भिन्नासु नानागोत्रासु–अनेककुलकोयुट्पलक्षितासु जातिषु–देवाद्युत्पत्तिरूपासु समापन्नाः—सम्प्राप्ता वर्त्तन्त इति गम्यते, णेति प्राग्वत्, 'विश्रम्भिताः' सञ्जातविश्रम्भाः सत्यः प्रक्रमात्कर्म्मस्वेव तद्विपाकदारुणत्वापरिज्ञानात् काः ?–प्रजायन्ते इति प्रजाः—प्राणिन इति सम्बन्धः, तदनेन प्राणिनां विविधदेवादिभवभवनं मूलत एव मनुजत्वदुर्लभत्वे कारणमुक्तमिति सूत्रार्थः ॥ २ ॥ अमुमेवार्थं भावयितुमाह—

एगया देवलोएसु, नरएसुऽवि एगया । एगया आसुरे काये, आहाकम्मेहिं गच्छइ ॥ ३ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'एकदा' इत्येकस्मिन् शुभकर्मानुभवकाले दीव्यन्तीति देवाः तेषां लोकाः—उत्पत्तिस्थानानि देवगत्यादिपुण्यप्रकृत्युदयविषयतया लोक्यन्त इतिकृत्वा तेषु देवलोकेषु, नरान् कायन्ति–योग्यतयाऽऽह्वयन्तीति नरकाः तेषु रत्नप्रभादिषु नारकोत्पत्तिस्थानेषु, अपिशब्दस्य चार्थत्वात्तेषु च, 'एकदा' अशुभानुभवकाले, तथा 'एकदा' तथावि-

१ नास्ति किल स प्रदेशो लोके वालाग्रकोटीमात्रोऽपि । जन्ममरणाबाधा यत्र जीवैर्न संप्राप्ताः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३॥

दीप अनुक्रम [९८]

धभावनाभावितान्तःकरणावसरे, असुराणामयमासुरस्तम्–असुरसम्बन्धिनं, चीयत इति कायस्तं, निकायमित्यर्थः, बालतपःप्रभृतिभिरपि तत्प्राप्तिरिति दर्शनार्थं देवलोकोपादानेऽपि पुनरासुरकायग्रहणम्, अथवा देवलोकशब्दस्य सौधर्मादिषु रूढत्वात्तदुपादानमुपरितनदेवोपलक्षणम्, इदं चाधस्तनदेवोपलक्षणमिति न पौनरुक्त्यम्, 'आहाकम्मे-हिं'ति आधानम्–आधाकरणमित्यर्थः, तदुपलक्षितानि कर्माण्याधाकर्माणि तैः, किमुक्तं भवति ?–स्वयंविहितैरेव सरागसंयममहारम्भासुरभावनादिभिर्देवनारकासुरगतिहेतुभिः क्रियाविशेषैः यथाकर्मभिर्वा–तत्तद्गत्यनुरूपचेष्टितैः 'गच्छति' याति, इति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥ तथा—

एगया खत्तिओ होइ, तओ चंडालबुक्कसो। तओ कीडपयंगो य, तओ कुंथू पिवीलिया॥ ४॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'एकदे'ति मनुष्यजन्मानुरूपकर्म्मप्रकृत्युदयकाले 'खत्तिय'त्ति 'क्षण हिंसायां' क्षणनानि क्षतानि तेभ्य-स्त्रायत इति क्षत्रियो–राजा भवति, 'तत' इति तदनन्तरं तको वा प्राणी 'चण्डालः' प्रतीतः, यदि वा शूद्रेण ब्राह्मण्यां जातश्चण्डालः, 'बोक्कसो' वर्णान्तरभेदः, तथा च वृद्धाः–"बंभणेण सुद्दीओ जातो णिसाउत्ति वुचति, बंभणेणवेसीए जातो अंबट्ठोत्ति वुचति, तत्थ णिसाएणं जो अंबट्ठीते जातो सो बुक्कसो भण्णति" इह च क्षत्रियग्रहणादुत्तमजातयः

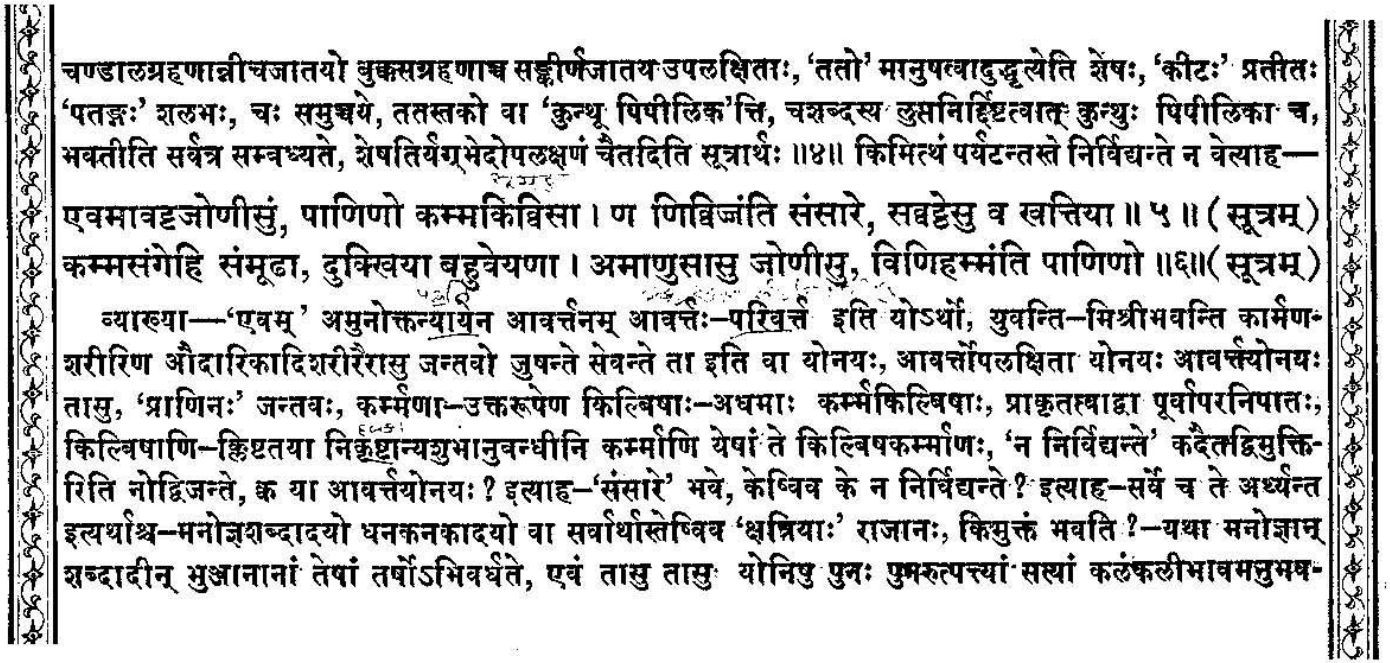
१ ब्राह्मणेन शूद्रयां जातो निषाद इत्युच्यते, ब्राह्मणेन वैश्यायां जातोऽम्बष्ठ इति उच्यते, तत्र निषादेन योऽम्बष्ठयां जातः स बुक्कसो भण्यते,

॥१८२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४॥

दीप अनुक्रम [९९]



चण्डालग्रहणान्नीचजातयो बुक्कसग्रहणाच्च सङ्कीर्णजातय उपलक्षिताः, 'ततो' मानुषत्वादुद्धृत्येति शेषः, 'कीटः' प्रतीतः 'पतङ्गः' शलभः, चः समुच्चये, ततस्तको वा 'कुन्थू पिपीलिक'त्ति, चशब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वात् कुन्थुः पिपीलिका च, भवतीति सर्वत्र सम्बध्यते, शेषतिर्यग्भेदोपलक्षणं चैतदिति सूत्रार्थः ॥४॥ किमित्थं पर्यटन्तस्ते निर्विद्यन्ते न वेत्याह—

एवमावट्टजोणीसुं, पाणिणो कम्मकिब्बिसा। ण णिव्विज्जंति संसारे, सव्वट्ठेसु व खत्तिया ॥ ५ ॥ (सूत्रम्)
कम्मसंगेहि संमूढा, दुक्खिया बहुवेयणा। अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मंति पाणिणो ॥६॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'एवम्' अमुनोक्तन्यायेन आवर्त्तनम् आवर्त्तः—परिवर्त्त इति योऽर्थो, युवन्ति—मिश्रीभवन्ति कार्मणशरीरिण औदारिकादिशरीरैरासु जन्तवो जुषन्ते सेवन्ते ता इति वा योनयः, आवर्त्तोपलक्षिता योनयः आवर्त्तयोनयः तासु, 'प्राणिनः' जन्तवः, कर्म्मणा—उक्तरूपेण किल्बिषाः—अधमाः कर्म्मकिल्बिषाः, प्राकृतत्वाद्वा पूर्वापरनिपातः, किल्बिषाणि—क्लिष्टतया निकृष्टान्यशुभानुबन्धीनि कर्म्माणि येषां ते किल्बिषकर्म्माणः, 'न निर्विद्यन्ते' कदैतद्विमुक्तिरिति नोद्विजन्ते, क्व या आवर्त्तयोनयः ? इत्याह—'संसारे' भवे, केष्विव के न निर्विद्यन्ते ? इत्याह—सर्वे च ते अर्थ्यन्त इत्यर्थाश्च—मनोज्ञशब्दादयो धनकनकादयो वा सर्वार्थास्तेष्विव 'क्षत्रियाः' राजानः, किमुक्तं भवति ?—यथा मनोज्ञान् शब्दादीन् भुञ्जानानां तेषां तर्षोऽभिवर्धते, एवं तासु तासु योनिषु पुनः पुनरुत्पत्त्यां सत्यां कलंकलीभावमनुभव-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५-६॥

दीप अनुक्रम [१००--१०१]

तामपि भवाभिनन्दिनो प्राणिनामिति, कथमन्यथा न तत्प्रतिघातार्थमुद्यच्छेयुरिति भावः । पाठान्तरं वा–'सवट्ट इव खत्तिय'त्ति इवो भिन्नक्रमः, ततः सर्वैः शयनादिभिरर्थैः–प्रयोजनमस्येति सर्वार्थः क्षत्रियः, स चार्धाद्भ्रष्टराज्यः तद्वत्, ततो यथाऽसौ न निर्विद्यते, अर्थात्सर्वार्थान् प्रार्थयमानः, तथैतेऽपि प्राणिनः सुखान्यभिलषन्तोऽनिर्विद्यमानाश्च, कर्म्मभिः–ज्ञानावरणीयादिभिः सङ्गाः–सम्बन्धाः कर्मसङ्गास्तैः, यद्वा कर्माणि–उक्तरूपाणि तत्तक्रियाविशेषात्मकानि वा, तथा सज्यन्तेऽमीषु जन्तव इति सङ्गाः–शब्दादयोऽभिष्वङ्गविषयाः, ततश्च कर्माणि च सङ्गाश्च कर्म्मसङ्गाः तैः सम् इति भृशं मूढाः–वैचित्त्यमुपागताः सम्मूढाः, 'दुःखम्' असातात्मकं जातमेषामिति दुखिताः, कदाचित्तन्मानसमेव स्यादत आह—'बहुवेदनाः' बह्वयो वेदनाः–शरीरव्यथा येषां ते तथा, मनुष्याणामिमा मानुष्या न तथाऽमानुष्याः, तासु–नरकतिर्यगाभियोग्यादिदेवदुर्गतिसम्बन्धिनीषु 'योनिषु' अभिहितरूपासु 'विनिहन्यन्ते' विशेषेण निपात्यन्ते, अर्थात्कर्म्मभिः, कोऽर्थः ?—न तत उत्तारं लभन्ते ' प्राणिनः ' जन्तवः, तदनेन सत्यप्यावर्त्ते निर्वेदाभावात् कर्म्मसंङ्गसंमूढाः दुःखहेतुनरकादिगत्यनुत्तरणेन प्राणिनो मनुजत्वं न लभन्त इत्युक्तमिति सूत्रद्वयार्थः ॥ ५—६ ॥ कथं तर्हि तदवाप्तिः ? इत्याह—

कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ । जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं ॥ ७ ॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'कर्मणां' मनुजगतिविबन्धकानाम् 'तुः' पूर्वस्माद्विशेषद्योतकः 'पहाणाए'त्ति प्रकृष्टं हानम्–अपगमः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७॥

दीप अनुक्रम [१०२]

प्रहाणं तस्यायो–लाभः प्रहाणायः तस्मिन्, यद्वा सूत्रत्वात् प्रहाणौ प्रहान्या वा तद्विबन्धकानन्तानुबन्ध्यादिकर्मसु प्रहीणेषु, कुतश्चिदीश्वरानुग्रहादेस्तदप्राप्तेः, अन्यथा हि तद्वैफल्यापत्तिः, एतेन–'अन्यो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख-दुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, श्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा ॥१॥' इत्यपास्तं भवति, अथ कथं पुनस्तेषां प्रहाणिरित्याह— 'आनुपूर्व्या' क्रमेण न तु झगित्येव, तथापि 'कयाइ उ'त्ति तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात्कदाचिदेव न सर्वदा, 'जीवाः' प्राणिनः 'शुद्धिम्' क्लिष्टकर्म्मविगमात्मिकाम् अनु–तद्विघातिकर्मापगमस्य पश्चात्प्राप्ताः 'आददते' स्वीकुर्वन्ति मनुष्यतां, पाठान्तरतश्च 'जायन्ते मणुस्सयं(त्तयं)'ति सुव्व्यत्ययान्मनुष्यतायां, तदैव तन्निर्वर्त्तकमनुजगत्यादिकर्मोदयादिति भावः, अनेन मनुजत्वविबन्धककर्मापगमस्य तथाविधकालादिसव्यपेक्षत्वेन दुरापतया मनुषत्वदुर्ल्लभत्वमुक्तमिति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥ कदाचिदेतदवाप्तौ श्रुतिः सुलभैव स्यादत आह—

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुती धम्मस्स दुल्लहा । जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं ॥८॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'माणुस्सं'ति सूत्रत्वान्मानुष्यकं मनुष्यसम्बन्धिनं विशेषेण गृह्यते आत्मना कर्म्मपरतन्त्रेणेति विग्रहस्तं मनुजगत्याद्युपलक्षितमौदारिकशरीरं 'लद्धुं'ति अपेर्गम्यमानत्वात् लब्ध्वापि, 'श्रुतिः' आकर्णनं, कस्य ?–धारयति दुर्गतौ निपततो जीवानिति धर्म्मः, तथा च वाचकः–"प्रागुल्लोकबिन्दुसारे सर्वाक्षरसन्निपातपरिपठितः । धृञ् धर-णाऽर्थो धातुस्तदर्थयोगाद्भवति धर्म्मः ॥ १ ॥ दुर्गतिभयप्रपाते पतन्तमभयकरदुर्ल्लभत्राणे । सम्यक् चरितो यस्मा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८॥

दीप अनुक्रम [१०३]

द्धारयति ततः स्मृतो धर्मः ॥ २ ॥" तस्य–एवमन्वर्थनाम्नो धर्मस्य 'दुर्लभा' दुरापा प्रागुक्तालस्यादिहेतुतः, स च— 'मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे । द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः ॥१॥' इत्यादिसुगतादिकल्पितोऽपि स्याद् अतस्तदपोहायाह–यं धर्मं श्रुत्वा 'प्रतिपद्यन्ते' अङ्गीकुर्वन्ति 'तपः' अनशनादि द्वादशविधम् 'क्षान्तिं' क्रोधजयलक्षणां मानादिजयोपलक्षणं चैषा, 'अहिंसयन्ति' अहिंसकताम्–अहिंसनशीलताम्, अनेन च प्रथमव्रतमुक्तम्, एतच्च शेषव्रतोपलक्षणम्, एतत्प्रधानत्वात्तेषाम्, एतद्वृत्तितुल्यानि हि शेषव्रतानि, एवं च तपसः क्षान्त्यादिचतुष्कस्य महाव्रतपञ्चकस्य चाभिधानाद्दशविधस्यापि यतिधर्मस्याभिधानम्, इह च यद्यपि श्रुतेः शब्दं प्राधान्यं तथापि तत्त्वतो धर्म एव प्रधानं, तस्या अपि तदर्थत्वादिति, स एव यच्छब्देन परामृश्यते, अथवा काक्वा नीयते–'यद्' यस्मात् श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते तपःप्रभृति नाश्रुत्वा 'सुच्चा जाणति कल्लाणं, सोच्चा जाणति पावगं' इत्याद्यागमात्, तत एवमतिमहार्थतया दुरापेयमिति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥ श्रुत्वाप्यसावपि श्रद्धादुर्लभतामाह—

आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परमदुल्लहा । सोच्चा णेयाउयं मग्गं, बहवे परिभस्सइ ॥ ९ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'आहच्च' इति कदाचित् 'श्रवणम्' प्रक्रमाद्धर्माकर्णनम्, उपलक्षणत्वान्मनुष्यत्वं च लब्ध्वेति, अपि-

१ श्रुत्वा जानाति कल्याणं श्रुत्वा जानाति पापकम्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९॥

दीप अनुक्रम [१०४]

शब्दस्य गम्यमानत्वात् लब्ध्वापि–अवाप्यापि 'श्रद्धा' रुचिरूपा प्रक्रमाद्धर्म्मविषयैव 'परमदुर्लभा' अतिशयदुरापा, कुतः पुनः परमदुर्लभत्वमस्या इत्याह—'श्रुत्वा' आकर्ण्य न्यायेन चरति–प्रवर्त्तते नैयायिकः, न्यायोपपन्न इत्यर्थः, तं 'मार्गम्' सम्यग्दर्शनाद्यात्मकं मुक्तिपथं बहवः नैक एव, परि इति सर्वप्रकारं 'भस्सइ'त्ति भ्रश्यन्ति–च्यवन्ते प्रक्रमान्नैयायिकमार्गादेव, यथा जमालिप्रभृतयो, यच्च प्राप्तमप्यपैति तच्चिन्तामणिवत् परमदुर्लभमेवेति भावः । इहैव केचिन्निह्नववक्तव्यतां व्याख्यातवन्तः, उचितं चैतदप्यास्त(प्यस्ति) इति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥ एतत्त्रयावाप्तावपि संयमवीर्यदुर्लभत्वमाह—

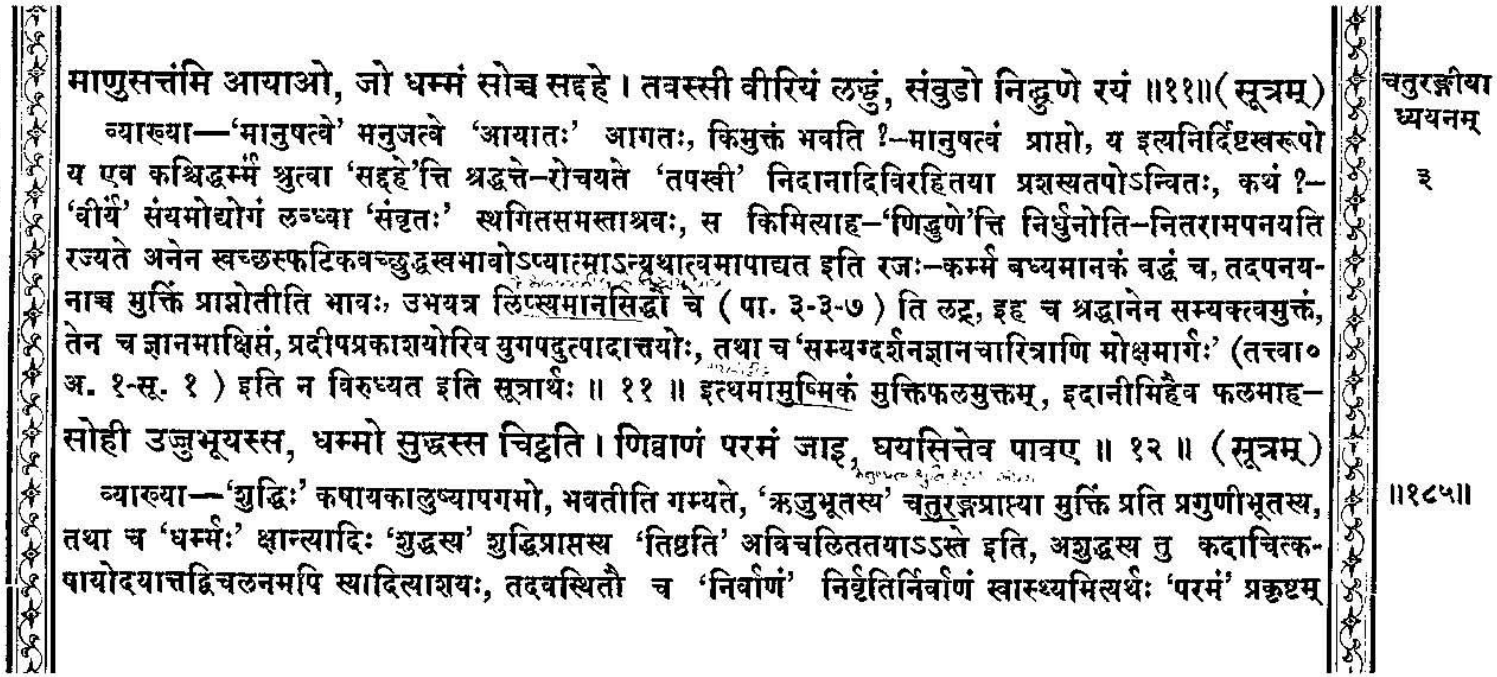
सुइं च लद्धुं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं । बहवे रोयमाणाऽवि, णो य णं पडिवज्जइ ॥ १० ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—श्रुतिं चशब्दान्मनुष्यत्वं च 'लद्धुं'ति प्राग्वल्लब्ध्वापि, श्रद्धां च वीर्यं प्रक्रमात् संयमविषयं, पुनःशब्दस्य विशेषकत्वाद्विशेषेण दुर्लभं, यतः बहवः नैक एव रोचमाना अपि–न केवलं प्राप्तमनुष्यत्वाः शृण्वन्तो वेत्यपिशब्दार्थः, श्रद्दधाना अपि, नो चेति चशब्दस्यैवकारार्थत्वान्नैव 'ण'मिति वाक्यालङ्कारे अथवा 'णो य ण'न्ति सूत्रत्वान्नो एतं 'पडिवज्जति'त्ति तत एव प्रतिपद्यन्ते चारित्रमोहनीयकर्म्मोदयतः, सत्यकिश्रेणिकादिवन्न कर्तुमभ्युपगच्छन्तीति सूत्रार्थः ॥ १० ॥ सम्प्रति दुर्लभस्यास्य चतुरङ्गस्य फलमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०॥

दीप अनुक्रम [१०५]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥१८५॥

माणुसत्तंमि आयाओ, जो धम्मं सोच्च सद्दहे । तवस्सी वीरियं लद्धुं, संवुडो निद्धुणे रयं ॥११॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'मानुषत्वे' मनुजत्वे 'आयातः' आगतः, किमुक्तं भवति ?–मानुषत्वं प्राप्तो, य इत्यनिर्दिष्टस्वरूपो य एव कश्चिद्धर्म्मं श्रुत्वा 'सद्दहे'त्ति श्रद्धत्ते–रोचयते 'तपस्वी' निदानादिविरहितया प्रशस्ततपोऽन्वितः, कथं ?–'वीर्यं' संयमोद्योगं लब्ध्वा 'संवृतः' स्थगितसमस्ताश्रवः, स किमित्याह–'णिद्धुणे'त्ति निर्धुनोति–नितरामपनयति रज्यते अनेन स्वच्छस्फटिकवच्छुद्धस्वभावोऽप्यात्माऽन्यथात्वमापाद्यत इति रजः–कर्म्म बध्यमानकं बद्धं च, तदपनयनाच्च मुक्तिं प्राप्नोतीति भावः, उभयत्र लिप्स्यमानसिद्धौ च (पा. ३-३-७) ति लट्, इह च श्रद्धानेन सम्यक्त्वमुक्तं, तेन च ज्ञानमाक्षिप्तं, प्रदीपप्रकाशयोरिव युगपदुत्पादात्तयोः, तथा च 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' (तत्त्वा० अ. १-सू. १) इति न विरुध्यत इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥ इत्थमामुष्मिकं मुक्तिफलमुक्तम्, इदानीमिहैव फलमाह–

सोही उजुभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठति । णिव्वाणं परमं जाइ, घयसित्तेव पावए ॥ १२ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'शुद्धिः' कषायकालुष्यापगमो, भवतीति गम्यते, 'ऋजुभूतस्य' चतुरङ्गप्राप्त्या मुक्तिं प्रति प्रगुणीभूतस्य, तथा च 'धर्म्मः' क्षान्त्यादिः 'शुद्धस्य' शुद्धिप्राप्तस्य 'तिष्ठति' अविचलिततयाऽऽस्ते इति, अशुद्धस्य तु कदाचित्कषायोदयात्तद्विचलनमपि स्यादित्याशयः, तदवस्थितौ च 'निर्वाणं' निर्वृतिर्निर्वाणं स्वास्थ्यमित्यर्थः 'परमं' प्रकृष्टम्

चतुरङ्गीया ध्ययनम् ३

॥१८५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ॥१२॥

दीप अनुक्रम [१०७]

'एगमासपरियाए समणे वंतरियाणं तेयलेसं वीईवयति' इत्याद्यागमेनोक्तं 'नैवास्ति राजराजस्य तत्सुख'मित्यादिना च वाचकवचनेनानूदितं 'याति' प्राप्नोति, क इव ?–'घयसित्तेव'त्ति इवस्य भिन्नक्रमत्वात् घृतेन सिक्तो घृतसिक्तः पुनातीति पावकः–अग्निः, लोकप्रसिद्धया, समयप्रसिद्धया तु पापहेतुत्वात्पापकः तद्वत् , स च न तथा तृणादिभिर्दीप्यते यथा घृतेनेत्यस्य घृतसिक्तस्य निर्वृतिरनुगीयते, ततो विशेषेणास्य दृष्टान्तत्वेनाभिधानमिति भावनीयं, यद्वा–निर्वाणमिति जीवन्मुक्तिं याति,–'निर्जितमदमदनानां वाक्कायमनोविकाररहितानाम्। विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम् ॥ १ ॥' इति वचनात्, कथंभूतः सन् ?–घृतसिक्तपावक इव–तपस्तेजसा ज्वलितत्वेन घृततर्पितावग्निसमान इति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥ पठन्ति च नागार्जुनीयाः–"चउद्धा संपयं लद्धुं, इहेव ताव भायते । तेयते तेजसंपन्ने, घयसित्तेव पावए ॥१॥ त्ति" तत्र चतुर्धा–चतुष्प्रकारां संपदां–सम्पत्तिं प्रक्रमान्मनुष्यत्वादिविषयां लब्ध्वा इहैव लोके तावद् , आस्तां परत्र, 'भ्राजते' ज्ञानश्रिया शोभते, 'तेजते' दीप्यते तेजसा–अर्थात्तपोजनितेन सम्पन्नो–युक्तस्तेजःसम्पन्नः, शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥ इत्थमामुष्मिकमैहिकं च फलमुपदर्श्य शिष्योपदेशमाह–

विगिंच कम्मुणो हेउं, जसं संचिणु खंतिए । पाढवं सरीरं हिच्चा, उड्ढं पक्कमती दिसं ॥ १३ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'विगिञ्च'त्ति वेविग्धि पृथक् कुरु 'कर्म्मणः' प्रस्तावान्मानुषत्वादिविबन्धकस्य 'हेतुम्' उपादानका-

१ एकमासपर्यायः श्रमणो व्यन्तराणां तेजोलेश्यां व्यतिव्रजति ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१०८]

रणं–मिथ्यात्वाविरत्यादिकं, तथा यशोहेतुत्वाद्यशः–संयमो विनयो वा, यदुक्तम्–"एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो। जेण कित्तिं सुयं सिग्घं, णीस्सेसं चाभिगच्छइ ॥ १ ॥" इति, तत् 'सञ्चिनु' भृशमुपचितं कुरु, कया ?–क्षान्त्या, उपलक्षणत्वान्मार्दवादिभिश्च, ततः किं स्यादित्याह–'पाढवं' ति पार्थिवमिव पार्थिवं शीतोष्णादिपरिषहसहिष्णुतया समदुःखसुखतया च पृथिव्यामिव भवं, पृथिवी हि सर्वंसहा, कारणानुरूपं च कार्यमिति भावो, यदि वा पृथिव्या विकारः पार्थिवः, स चेह शैलः, ततश्च शैलेशीप्राप्त्यपेक्षयाऽतिनिश्चलतया शैलोपमत्वात्परप्रसिद्धया वा पार्थिवं 'शरीरं' तनुं 'हित्वा' त्यक्त्वा ऊर्ध्वं दिशमिति सम्बन्धः, 'प्रक्रामति' प्रकर्षेण गच्छति येन भवानिति उपस्कारो, यद्वा सोपस्कारत्वात् सूत्राणामेवं नीयते—यत एवं कुर्वन् भव्यजन्तुरूर्ध्वं दिशं प्रक्रामति ततस्त्वमतिदृढचेता इत्थमित्थं च कुर्वित्युपदिश्यते, प्रक्रामतीति वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमाननिर्देश आसन्नफलावाप्तिसूचक इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥ इत्थं येषां तद्भव एव मुक्त्यवाप्तिस्तान् प्रत्युक्तं, येषां तु न तथा तान्प्रत्याह—

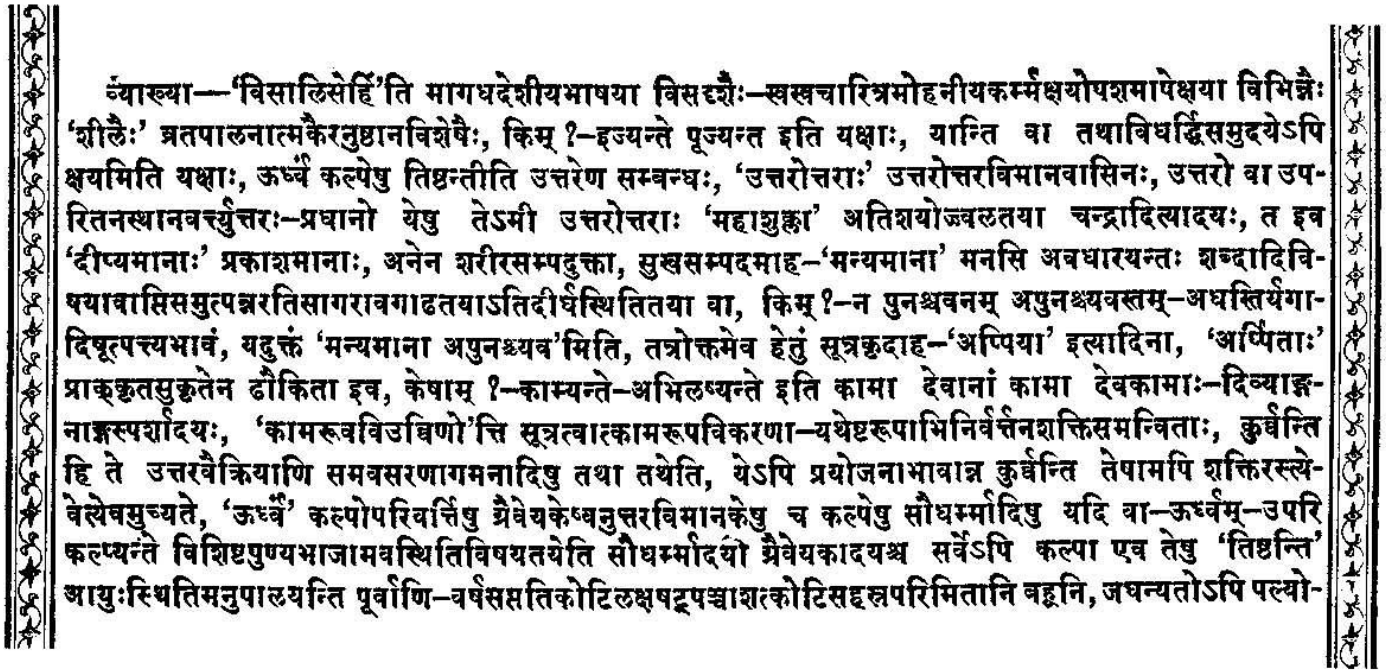
विसालिसेहिं सीलेहिं, जक्खा उत्तर उत्तरा। महासुक्का व दिप्पंता, मन्नंता अपुणोच्चयं ॥१४॥(सूत्रम्)
अप्पिया देवकामाणं, कामरूवविउव्विणो। उड्ढं कप्पेसु चिट्ठंति, पुव्वा वाससया बहू॥ १५ ॥ (सूत्रम्)

१. एवं धर्मस्य विनयो मूलं परमोऽसौ मोक्षः। येन कीर्तिं श्रुतं शीघ्रं निःश्रेयसं चाधिगच्छति ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||१४--१५||

दीप अनुक्रम [१०९--११०]



व्याख्या—'विसालिसेहिं'ति मागधदेशीयभाषया विसदृशैः–स्वस्वचारित्रमोहनीयकर्म्मक्षयोपशमापेक्षया विभिन्नैः 'शीलैः' व्रतपालनात्मकैरनुष्ठानविशेषैः, किम् ?–इज्यन्ते पूज्यन्त इति यक्षाः, यान्ति वा तथाविधर्द्धिसमुदयेऽपि क्षयमिति यक्षाः, ऊर्ध्वं कल्पेषु तिष्ठन्तीति उत्तरेण सम्बन्धः, 'उत्तरोत्तराः' उत्तरोत्तरविमानवासिनः, उत्तरो वा उपरितनस्थानवर्त्युत्तरः–प्रधानो येषु तेऽमी उत्तरोत्तराः 'महाशुक्रा' अतिशयोज्ज्वलतया चन्द्रादित्यादयः, त इव 'दीप्यमानाः' प्रकाशमानाः, अनेन शरीरसम्पदुक्ता, सुखसम्पदमाह–'मन्यमाना' मनसि अवधारयन्तः शब्दादिविषयावाप्तिसमुत्पन्नरतिसागरावगाढतयाऽतिदीर्घस्थितितया वा, किम् ?–न पुनश्चवनम् अपुनश्चयवस्तम्–अधस्तिर्यगादिषूत्पत्त्यभावं, यदुक्तं 'मन्यमाना अपुनश्च्यव'मिति, तत्रोक्तमेव हेतुं सूत्रकृदाह–'अप्पिया' इत्यादिना, 'अर्पिताः' प्राक्कृतसुकृतेन ढौकिता इव, केषाम् ?–काम्यन्ते–अभिलष्यन्ते इति कामा देवानां कामा देवकामाः–दिव्याङ्गनाङ्गस्पर्शादयः, 'कामरूवविउव्विणो'त्ति सूत्रत्वात्कामरूपविकरणा–यथेष्टरूपाभिनिर्वर्त्तनशक्तिसमन्विताः, कुर्वन्ति हि ते उत्तरवैक्रियाणि समवसरणागमनादिषु तथा तथेति, येऽपि प्रयोजनाभावान्न कुर्वन्ति तेषामपि शक्तिरस्त्येवेत्येवमुच्यते, 'ऊर्ध्वं' कल्पोपरिवर्त्तिषु ग्रैवेयकेष्वनुत्तरविमानकेषु च कल्पेषु सौधर्म्मादिषु यदि वा–ऊर्ध्वम्–उपरि कल्प्यन्ते विशिष्टपुण्यभाजामवस्थितिविषयतयेति सौधर्म्मादयो ग्रैवेयकादयश्च सर्वेऽपि कल्पा एव तेषु 'तिष्ठन्ति' आयुःस्थितिमनुपालयन्ति पूर्वाणि–वर्षसप्ततिकोटिलक्षषट्पञ्चाशत्कोटिसहस्रपरिमितानि बहूनि, जघन्यतोऽपि पल्यो-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१४--१५॥

दीप अनुक्रम [१०९--११०]

पमस्थितित्वात्, तत्रापि च तेषामसङ्ख्येयानामेव सम्भवात्, एवं वर्षशतान्यपि बहूनि, पूर्ववर्षशतायुषामेव चरणयोग्यत्वेन विशेषतो देशनौचित्यमिति ख्यापनार्थमित्थमुपन्यास इति सूत्रार्थः ॥ १४–१५ ॥ तत्किमेषामेतावदेव फलमित्याशङ्क्याह—

तत्थ ठिच्चा जहाठाणं, जक्खा आउक्खए चुया। उवेंति माणुसं जोणिं, से दसंगेऽभिजायइ ॥१६॥(सूत्रम्)

व्याख्या—'तत्र' तेषूक्तरूपोत्पत्तिस्थानेषु 'स्थित्वा' इत्यासित्वा 'यथास्थानम्' इति यद्यस्य स्वानुष्ठानानुरूपं यदिन्द्रादिपदं तस्मिन् यक्षाः 'आयुःक्षये' स्वजीवितावसाने 'च्युताः' भ्रष्टाः 'उवेन्ति'त्ति उपयन्ति मनुषाणामियं मानुषी तां 'योनिम्' उत्पत्तिस्थानं, तत्र च 'से' इति स सावशेषकुशलकर्मा कश्चिज्जन्तुः दशाङ्गानि भोगोपकरणानि वक्ष्यमाणान्यस्येति दशाङ्गः अभिजायते, एकवचननिर्देशस्तु विसदृशशीलतया कश्चिद्दशाङ्गः कश्चिन्नवाङ्गादिरपि जायत इति वैचित्र्यसूचनार्थः, यद्वा 'से' इति सूत्रत्वात् तेषां दशानामङ्गानां समाहारो दशाङ्गी, प्राकृतत्वाच्च पुंसा निर्देशः, 'अभिजायते' उपभोग्यतयाऽऽभिमुख्येनोत्पद्यत इति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥ कानि पुनर्दशाङ्गानीत्याह—

खित्तं वत्थु हिरण्णं च, पसवो दासपोरुसं। चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जइ ॥ १७ ॥

मित्तवं नाइवं होइ, उच्चागोत्ते य वण्णवं। अप्पायंके महापन्ने, अभिजाय जसो बले ॥१८॥ (सूत्रम्)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७--१८॥

दीप अनुक्रम [११२--११३]

व्याख्या—'क्षि निवासगत्योः' क्षियन्ति निवसन्त्यस्मिन्निति क्षेत्रं–ग्रामारामादि सेतुकेतूभयात्मकं वा, तथा वसन्त्यस्मिन्निति वास्तु–खातोच्छ्रितोभयात्मकं 'हिरण्यं' सुवर्णम्, उपलक्षणत्वात् रूप्यादि च, 'पशवः' अश्वादयः, दास्यते–दीयते एभ्य इति दासाः–पोष्यवर्गरूपास्ते च पोरुसंति–सूत्रत्वात्पौरुषेयं च–पदातिसमूहः दासपौरुषेयं, 'चत्वारः' चतुःसङ्ख्याः, अत्र हि क्षेत्रं वास्त्विति चैको हिरण्यमिति द्वितीयः पशव इति तृतीयो दासपौरुषेयमिति चतुर्थः, एते किमित्याह—काम्यत्वात् कामाः–मनोज्ञशब्दादयः, तद्धेतवः स्कन्धाः पुद्गलसमूहाः ततः कामस्कन्धाः, यत्र भवन्तीति गम्यते, प्राकृतत्वाच्च नपुंसकनिर्देशः, 'तत्र' तेषु कुलेषु 'से' इति स 'उपपद्यते' जायते । अनेन चैकमङ्गमुक्तं, शेषाणि तु नवाङ्गान्याह––मित्राणि–सहपांशुक्रीडितादीनि सन्त्यस्येति मित्रवान्, ज्ञातयः–स्वजनाः सन्त्यस्येति ज्ञातिमान् भवति, उच्चैः–लक्ष्म्यादिक्षयेऽपि पूज्यतया गोत्रं–कुलमस्येत्युच्चैर्गोत्रः, चः समुच्चये, वर्ण्णः–श्यामादिः स्निग्धत्वादिगुणैः प्रशस्योऽस्येति वर्ण्णवान्, 'अल्पातङ्कः' आतङ्कविरहितो नीरोग इत्यर्थः, महती प्रज्ञाऽस्येति महाप्रज्ञः–पण्डितः, 'अभिजातः' विनीतः, स हि सर्वजनाभिगमनीयो भवति, दुर्विनीतस्तु शेषगुणान्वितोऽपि न तथेति, अत एव च 'जसो'त्ति यशस्वी, तथा च सति 'बले'त्ति बली कार्यकरणं प्रति सामर्थ्यवान्, उभयत्र सूत्रत्वान्मत्वर्थीयलोपः, एकैकोऽपि हि मित्रत्वादिगुणस्तत्तत्कार्याभिनिर्वर्त्तनक्षमः, किं पुनरमी समुदिताः?, शरीरसामर्थ्याच्चेह बलीति ॥ १७–१८ ॥ तत्किमेवंविधगुणसम्पत्समन्वितं मानुषत्वमेव तत्फलमित्याह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१९॥

दीप अनुक्रम [११४]

भोच्चा माणुस्सए भोए, अप्पडिरूवे अहाउयं। पुव्विं विसुद्धसद्धम्मे, केवलं बोहि बुज्झिया ॥१९॥(सूत्रम्)

व्याख्या—' भुक्त्वा ' आसेव्य 'मानुष्यकान्' मनुष्यसम्बन्धिनः भुज्यन्त इति भोगाः—मनोज्ञशब्दादयस्तान्, अविद्यमानं प्रतिरूपमतिप्रकर्षवत्त्वेनानन्यतुल्यमेषामित्यप्रतिरूपाः तान्, 'यथायुः' आयुषोऽनतिक्रमेण पूर्वं–पूर्वजन्मविशुद्धो निदानादिरहितत्वेन 'सद्धर्म्मः(र्मा)' शोभनो धर्मोऽस्येति विशुद्धसद्धर्मा, केवलत्वाच्च 'धर्मादनिच् केवला'दिति (पा० ५–४–१२४) इत्यनिच् भवति, 'केवलाम्' अकलङ्कां 'बोधिं' जिनप्रणीतधर्म्मप्राप्तिलक्षणां 'बुद्धा' अनुभूय प्राप्येतियावत् ॥ १९ ॥ ततोऽपि किमित्याह—

चउरंगं दुल्लभं मच्चा, संजमं पडिवज्जिया। तवसा धुतकम्मंसे, सिद्धे भवति सासए ॥२०॥ तिबेमि (सूत्रम्)

व्याख्या—चतुर्णामङ्गानां समाहारश्चतुरङ्गी तामभिहितस्वरूपां 'दुर्लभां' दुष्प्रापां 'मत्वा' ज्ञात्वा 'संयमं' सर्वसावद्ययोगविरतिरूपं 'प्रतिपद्य' आसेव्य, 'तपसा' बाह्येनान्तरेण च धुतम्–अपनीतं, कम्मंसित्ति–कार्म्मग्रन्थिकपरिभाषया सत्कर्म्मानेनेति धुतकर्मांशः, तदपनयनाच्च बन्धादीनामप्यर्थतोऽपनयनमुक्तमेव, यद्वा धुताः कर्म्मणोऽंशा–भागा येन स तथाविधः, किमित्याह—सिद्धो भवति, स च किमाजीविकमतपरिकल्पितसिद्धवत् पुनरिहैति उत नेत्यत आह—'शाश्वतः' शश्वद्भवनात्, शश्वद्भवनं च पुनर्भवनिबन्धनकर्म्मबीजात्यन्तिकोच्छेदात्, तथा चाह—"दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः। कर्म्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः ॥ १ ॥"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२०॥

दीप अनुक्रम [११५]

इति, इह पुनस्तस्येहागमनकल्पनमतिमोहविलसितं, तथा च स्तुतिकृत्–"दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य, निर्वाण-मप्यनवधारितभीरुनिष्ठः । मुक्तः स्वयंकृतभवश्च परार्थशूरस्त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यम् ॥१॥" इति सूत्रार्थः ॥ २०॥ इतिः परिसमाप्तौ, ब्रवीमि प्राग्वदिति । उक्तोऽनुगमः, सम्प्रति नयाः, तेऽपि प्राग्वदेव । इति श्रीशान्त्या-चार्यविरचितायां शिष्यहितायामुत्तराध्ययनटीकायां तृतीयमध्ययनं समाप्तमिति ॥ ॥

तृतीयमध्ययनं समाप्तम् ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- ३ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ||२०||

दीप अनुक्रम [११५]

॥ ॐ नमः ॥ उक्तं तृतीयमध्ययनम्, अधुना चतुर्थावसरः, तस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तराध्ययने चत्वारि मनुष्यत्वादीन्यङ्गानि दुर्लभान्युक्तानि, इह तु तत्प्राप्तावपि महते दोषाय प्रमादो महते च गुणायाप्रमाद इति मन्यमानः प्रमादाप्रमादौ हेयोपादेयतयाऽऽह। इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि प्राग्वद् व्यावर्णनीयानि तावद् यावन्नामनिष्पन्ने निक्षेपे प्रमादाप्रमादमिति नाम, ततश्च प्रमाद इत्यप्रमाद इति च निक्षेप्तव्यमित्युभयनिक्षेपप्रतिपिपादयिषयाऽऽह निर्युक्तिकृत्—

नामंठवणपमाओ दवे भावे य होइ नायव्वो। एमेव अप्पमाओ चउव्विहो होइ नायव्वो ॥ १७९॥

व्याख्या—'णामंठवणपमाए'त्ति, प्रमादशब्द उभयत्र सम्बध्यते, ततश्च नामप्रमादः स्थापनाप्रमादः, 'दवे'इति द्रव्यप्रमादः 'भावे य'त्ति भावप्रमादश्च भवति ज्ञातव्यः, 'एवमेवे'ति नामस्थापनाद्रव्यभावभेदत एव अप्रमादश्चतुर्विधो भवति ज्ञातव्य इति गाथार्थः ॥१७९॥ इह च नामस्थापने प्रतीते इत्यनादृत्य द्रव्यभावप्रमादावभिधित्सुराह–

मज्जं विसय कसाया निद्दा विगहा य पंचमी भणिया। इअ पंचविहो एसो होइ पमाओ य अपमाओ १८०

व्याख्या—माद्यन्ति येन तत् मद्यं, यद्वशाद्गम्यागम्यवाच्यावाच्यादिविभागं जनो न जानाति, अत एवाह— "कार्याकार्ये न जानीते, वाच्यावाच्ये तथैव च। गम्यागम्ये च यन्मूढो, न पेयं मद्यमित्यतः ॥१॥" विषीदन्ति–धर्मं प्रति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्तिः

अथ अध्ययनं – ४ "प्रमादाप्रमाद" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥२०॥

दीप अनुक्रम [११५]

नोत्सहन्त एतेष्विति विषयाः, यद्वाऽऽसेवनकाले मधुरत्वेन परिणामे चातिकटुकत्वेन विषस्योपमां यान्तीति विषयाः, अत एवाविवेकिलोकाऽऽसेविता विवेकिलोकपरित्यक्ताश्च, तदुक्तम्—"आपातमात्रमधुरा विपाककटवो विषोपमा विषयाः। अविवेकिजनाऽऽचरिता विवेकिजनवर्जिताः पापाः ॥१॥" कष्यतेऽस्मिन् प्राणी पुनः पुनरावृत्तिभावमनुभवति कषोपलकष्यमाणकनकवदिति कषः–संसारस्तस्मिन् आ-समन्तादयन्ते–गच्छन्त्येभिरसुमन्त इति कषायाः, यद्वा कषाया इव कषायाः, यथा हि तुवरिकादिकषायकलुषिते वाससि मञ्जिष्ठादिरागः श्लिष्यति चिरं चावतिष्ठते तथैतत्कलुषित आत्मनि कर्म सम्बध्यते चिरतरस्थितिकं च जायते, तदायत्तत्वात् तत्स्थितेः, उक्तं हि शिवशर्मणा– "जोगा पयडिपएसं ठितिअणुभागं कसायओ कुणइ"इत्यादि, एतद्दुष्टता च निरुक्त्यैव भाविता, 'णिद्'त्ति नितरां द्रान्ति—गच्छन्ति कुत्सितामवस्थामिहामुत्र चानयेति निद्रा, तद्वशाद्धि प्रदीपनकादिषु विनाशमिहैवानुभवन्ति, धर्मकार्येष्वपि शून्यमानसत्वान्न प्रवर्तन्ते, तथा चाह–"जागरिया धम्मीणं अहमीणं च सुत्तया सेया। वच्छाहिवभगिणीए अकहिंसु जिणो जयंतीए ॥ १॥" विरूपा स्त्रीभक्तचौरजनपदविषयतयाऽसम्बद्धभाषितया च कथा विकथा, तत्प्रसक्तो हि परगुणदोषोदीरणादिभिः पापमेवोपार्जयति, अत एवाह वाचकः—"यावत् परगुणदोषपरिकीर्त्तने

१ योगात् प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्यनुभागौ कषायतः करोति । २ जाग्रत्ता धर्मिणामधर्मिणां च सुप्तता श्रेयसी। वत्साधिपभगिन्यै अचकथत् जिनो जयन्त्यै ॥ १ ॥

॥१९०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||२०||

दीप अनुक्रम [११५]

व्यापृतं मनो भवति । तावद्वरं विशुद्धे ध्याने व्यग्रं मनः कर्त्तुम् ॥१॥" इह च चूर्णिकृतेन्द्रियाण्येव पञ्चमप्रमादतया व्याख्यातानि, तत्र च विषयग्रहणेऽपि पुनरिन्द्रियग्रहणं विषयेष्वपीन्द्रियवशत एव प्रवर्त्तन्त इति तेषामेवातिदुष्टता-ख्यापकं, महासामर्थ्या अपि ह्येतद्वशादुपघातमाप्नुवन्ति, आह च वाचकः—"इह चेन्द्रियप्रसक्ता निधनमुपजग्मुः, तद्यथा–गार्ग्यः सत्यकिर्नैकर्द्धिगुणं प्राप्तोऽनेकशास्त्रकुशलोऽनेकविद्याबलसम्पन्नोऽपी"त्यादि । एते च तत्तत्पुद्गलोपचितद्रव्यरूपतया विवक्ष्यमाणा द्रव्यप्रमाद आत्मनि च रागद्वेषपरिणतिरूपतया विवक्षिता भावप्रमाद इति हृदयम् , अत एव न भावप्रमादः पृथगुक्तः । उपसंहारमाह–'इती'त्यनन्तरमुपदर्शितः पञ्चविधः–पञ्चप्रकारः 'एष' इति इहैवोच्यमानतया प्रत्यक्षत उपलभ्यमानो 'भवति' विद्यते प्रकर्षेण माद्यन्त्यनेनेति प्रमादः अप्रमादश्च तदभावरूपः पञ्चविधो, भावस्य चैकत्वेऽपि प्रतिषेध्यापेक्षया पञ्चविधत्वमिति गाथार्थः ॥ १८० ॥ प्रस्तुतयोजनामाह—

पंचविहो अ पमाओ इहमज्झयणंमि अप्पमाओ य । वण्णिज्जए उ जम्हा तेण पमायप्पमायंति ॥ १८१ ॥

व्याख्या—पञ्चविधः चशब्दस्तद्गतभेदसूचकः प्रमादः 'इह' अस्मिन्नध्ययने अप्रमादश्च पञ्चविधो वर्ण्यते, तुशब्दोऽन्याध्ययनेभ्यो विशेषं द्योतयति, यस्माद्धेतोस्तेन प्रमादाप्रमादमित्येतदुच्यत इति गाथार्थः ॥ १८१ ॥ इत्यवसितो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, सम्प्रति सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपावसरः, स च सूत्रे सति भवति, तच्चेदम्—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]

असंखयं जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं ।
एवं वियाणाहि जणे पमत्ते, कन्नू विहिंसा अजया गहिंति ?॥ १ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—संस्क्रियत इति संस्कृतं न तथा शक्रशतैरपि सतो वर्द्धयितुं त्रुटितस्य वा कर्ण्णपाशवदस्य सन्धातुमशक्यत्वात्, किं तत् ?–'जीवितं' प्राणधारणरूपं, ततः किमित्याह–मा प्रमादीः, किमुक्तं भवति ?–यदीदं कथञ्चित् संस्कर्तुं शक्यं स्यात् चतुरङ्गवासावपि न प्रमादो दोषायैव स्यात्, यदा त्विदमसंस्कृतं तदैतत्परिक्षये प्रमादिनस्तदतिदुर्लभमिति मा प्रमादं कृथाः, कुतः पुनरसंस्कृतम् ?–जरया–वयोहानिरूपया उपनीतस्य–प्रक्रमान्मृत्युसमीपं प्रापितस्य, प्रायो हि जरानन्तरमेव मृत्युरित्येवमुपदिश्यते, हुर्हेतौ, यस्मान्न अस्ति–विद्यते त्राणं–शरणं येन मृत्युतो रक्षा स्यात्, उक्तं च वाचकैः—"मङ्गलैः कौतुकैर्योगैर्विद्यामन्त्रैस्तथौषधैः । न शक्ता मरणात् त्रातुं, सेन्द्रा देवगणा अपि ॥ १ ॥" यद्वा स्यादेतत्–वार्द्धके धर्म्मं विधास्यामीत्याशङ्क्याह—जरामुपनीतः–प्रापितो गम्यमानत्वात् स्वकर्म्मभिर्जरोपनीतस्तस्य नास्ति त्राणं, पुत्रादयोऽपि हि न तदा पालयन्ति, तथा चात्यन्तमवधीरणास्पदस्य न धर्म्मं प्रति शक्तिः श्रद्धा वा भाविनी, यद्वा त्राणं येनासावपनीयते पुनर्यौवनमानीयते न तादृक्करणमस्ति, ततो यावदसौ (त्वां) नासादयति तावद्धर्म्मे मा प्रमादीः, उक्तं हि–"तद्यावदिन्द्रियबलं जरया रोगैर्न बाध्यते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]

प्रसभम् । तावच्छरीरमूर्च्छां त्यक्त्वा धर्मे कुरुष्व मतिम् ॥ १ ॥" जरोपनीतस्य च त्राणं नास्तीत्यत्राट्टणो दृष्टान्तः, तत्र च सम्प्रदायः—

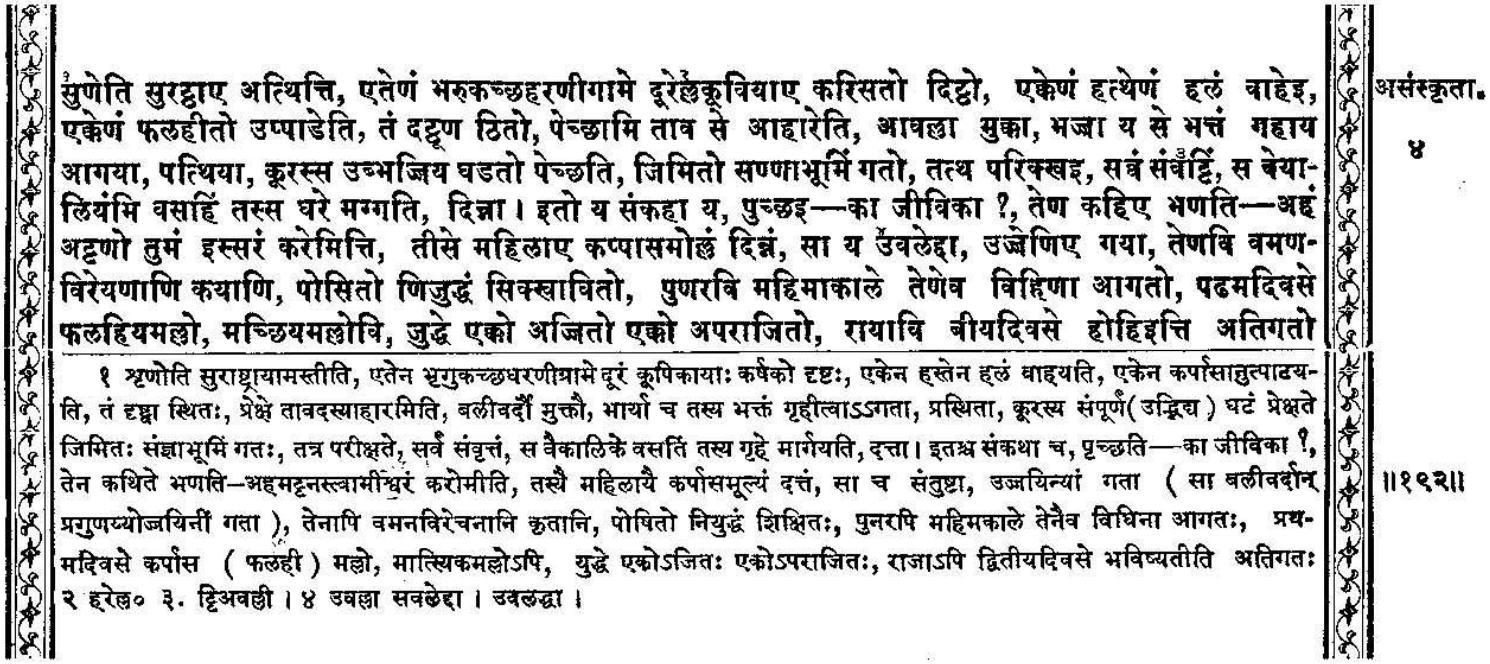
उज्जेणी नयरी जियसत्तू राया, तस्स अट्टणो मल्लो, सव्वरज्जेसु अजेतो । इतो य समुद्दतडे सोपारयं णयरं, तत्थ सिंहगिरी राया, सो य मल्लाणं जो जिणति तस्स बहुं दव्वं देति, सो य अट्टणो तत्थ गंतूण वरिसे वरिसे पडागं हरति, राया चिंतेइ—एस अन्नाओ रज्जाओ आगंतूण पडागं हरति, एसा ममं ओहावणत्ति पडिमल्लं मग्गति, तेण मच्छितो एगो दिट्ठो वसं पियंतो, बलं च से विन्नासियं, णाऊण पोसितो, पुणरवि अट्टणो आगतो, सो य किर मल्लजुद्धं होहितित्ति अणागते चेव सगातो णयरातो अप्पणो पत्थयणस्स बयलं भरेऊणं अव्वाबाहेणं एति, संपत्तो सोपारयं, जुद्धे पराजिओ मच्छियमल्लेणं, गतो सयं आवासं चिंतेइ—एयस्स वुड्ढी तरुणस्स मम हाणी, अन्नं मग्गइ मल्लं,

१ उज्जयिनी नगरी जितशत्रू राजा, तस्याट्टनो मल्लः, सर्वराज्येषु अजेयः । इतश्च समुद्रतटे सोपारकं नगरं, तत्र सिंहगिरी राजा, स च मल्लानां यो जयति तस्मै बहु द्रव्यं ददाति, स चाट्टनस्तत्र गत्वा वर्षे वर्षे पताकां हरति, राजा चिन्तयति—एषोऽन्यस्मात् राज्यादागत्य पताकां हरति, एषा ममापभ्राजनेति प्रतिमल्लं मार्गयति, तेन मात्स्यिक एको दृष्टः वसां पिबन्, बलं च तस्य जिज्ञासितं, ज्ञात्वा पोषितः, पुनरप्यट्टनः आगतः, स च किल मल्लयुद्धं भविष्यतीति अनागत एव स्वस्मात् नगरात् आत्मनः पथ्यदनस्य बलीवर्दं भृत्वा अव्याबाधेनायाति, संप्राप्तः सोपारकं, युद्धे पराजितो मात्स्यिकमल्लेन, गतः स्वकमावासं चिन्तयति—एतस्य वृद्धिस्तरुणस्य मम हानिः, अन्यं मार्गयति मल्लं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥१९२॥

सुणेति सुरट्ठाए अत्थिचि, एतेणं भरुकच्छहरणीगामे दूरेलंकूवियाए करिसतो दिट्ठो, एकेणं हत्थेणं हलं वाहेइ, एकेणं फलहीतो उप्पाडेति, तं दट्ठूण ठितो, पेच्छामि ताव से आहारेति, आवल्ला मुक्का, भज्जा य से भत्तं गहाय आगया, पत्थिया, कूरस्स उब्भज्जिय घडतो पेच्छति, जिमितो सण्णाभूमिं गतो, तत्थ परिक्खइ, सव्वं संवट्टिं, स वेयालियंमि वसहिं तस्स घरे मग्गति, दिन्ना। इतो य संकहा य, पुच्छइ—का जीविका ?, तेण कहिए भणति—अहं अट्ठणो तुमं इस्सरं करेमित्ति, तीसे महिलाए कप्पासमोल्लं दिन्नं, सा य उवलेद्दा, उज्जेणिए गया, तेणवि वमणविरेयणाणि कयाणि, पोसितो णिजुद्धं सिक्खावितो, पुणरवि महिमाकाले तेणेव विहिणा आगतो, पढमदिवसे फलहियमल्लो, मच्छियमल्लोवि, जुद्धे एक्को अजितो एक्को अपराजितो, रायावि बीयदिवसे होहिइत्ति अतिगतो

असंस्कृता. ४

१ शृणोति सुराष्ट्रायामस्तीति, एतेन भृगुकच्छधरणीग्रामे दूरं कूपिकायाः कर्षको दृष्टः, एकेन हस्तेन हलं वाहयति, एकेन कर्पासाहृत्पादयति, तं दृष्ट्वा स्थितः, प्रेक्षे तावदस्याहारमिति, बलीवर्दौ मुक्तौ, भार्या च तस्य भक्तं गृहीत्वाऽऽगता, प्रस्थिता, कूरस्य संपूर्णं (उद्भिद्य) घटं प्रेक्षते जिमितः संज्ञाभूमिं गतः, तत्र परीक्षते, सर्वं संवृत्तं, स वैकालिके वसतिं तस्य गृहे मार्गयति, दत्ता। इतश्च संकथा च, पृच्छति—का जीविका ?, तेन कथिते भणति—अहमट्टनस्वामीश्वरं करोमीति, तस्यै महिलायै कर्पासमूल्यं दत्तं, सा च संतुष्टा, उज्जयिन्यां गता (सा बलीवर्दान् प्रगुणय्योज्जयिनीं गता), तेनापि वमनविरेचनानि कृतानि, पोषितो नियुद्धं शिक्षितः, पुनरपि महिमकाले तेनैव विधिना आगतः, प्रथमदिवसे कर्पास (फलही) मल्लो, मात्स्यिकमल्लोऽपि, युद्धे एकोऽजितः एकोऽपराजितः, राजाऽपि द्वितीयदिवसे भविष्यतीति अतिगतः

२ हरेल० ३. ट्टिअवल्ली। ४ उवल्ला सवलेद्दा। उवलद्धा।

॥१९२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]

इमेवि सए २ आलए गया, अट्टणेण फलहियमल्लो भणितो—कहेहि पुत्ता ! जं ते दुक्खावियं, तेण कहियं, मक्खित्ता मलितो सेएणं पुणण्णवीकतो, मच्छियस्सवि रण्णा संमद्दगा विसज्जिया, भणइ—अहं तस्स पिउणोऽपि ण वीहेमि, सो को वराओ ?, बीयदिवसे समजुद्धा, तईयदिवसे अंवप्पहारो णीसहो वइसाहं ठितो मच्छितो, अट्टणेण भणितो—फलहित्ति, तेण फलिहग्गहेण कड्ढितो सीसे कुंडिकागाहेण, सक्कारितो गतो उज्जेणिं । तत्थ य विमुक्कजुज्झवावारो अच्छति, सो य महल्लोत्तिकाउं परिभूयए सयणवग्गेणं, जहा—अयं संपयं ण कस्सइ कज्जस्स खमोत्ति, पच्छा सो माणेणं तेसिं अणाउच्छाए कोसंबिए णयरिए गतो, तत्थ वरसमेत्तं उवरेगमतिगतो रसायणं उवजीवेति, सो बलिट्ठो जातो, जुद्धमहे पवत्तेति, रायमल्लो णिरंगणो णाम, तं णिहणति, पच्छा राया मण्णुइतो—मम मल्लो

१ इमावपि स्वस्मिन् स्वस्मिन् आलये गतौ, अट्टनेन फलहिमल्लो भणितः—कथय पुत्र ! यत्ते दुःखितं, तेन कथितं, भक्षित्वा मर्दितः सेकेन पुनर्नवीकृतः, मात्स्यिकायापि राज्ञा संमर्दका विसृष्टाः, भणति—अहं तस्य पितुरपि न बिभेमि, स को वराकः ?, द्वितीयदिवसे समयुद्धौ, तृतीयदिवसे प्रहारार्त्तो निस्सहः वैशाखं स्थितो मात्स्यिकः, अट्टनेन भणितः—फलहिरिति, तेन पार्ष्णिग्राहेण कृष्टः शीर्षे कुण्डिकाग्राहेण, सत्कृतो गत उज्जयिनीं । तत्र च विमुक्तयुद्धव्यापारस्तिष्ठति, स च वृद्ध इतिकृत्वा परिभूयते स्वजनवर्गेण, यथाऽयं साम्प्रतं न कस्मैचित् कार्याय क्षम इति, पश्चात्स मानेन तानना पृच्छय कौशाम्ब्यां नगर्यां गतः, तत्र वर्षमात्रमुपरेक(निर्व्यापारता)मतिगतो रसायनमुपजीवति, स बलिष्ठो जातः, युद्धमहे प्रवर्त्तते, राजमल्लो निरञ्जनो नाम, तं निहन्ति, पश्चाद् राजा मन्युयितो मम मल्ल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]

आगंतूणा विहणितोत्ति ण पसंसई, रायाणे य अपसंसंते सवो रंगो तुण्हिक्को अच्छति, इतो य अट्टणेण राइणो जाणणणिमित्तं भण्णति–'साहह वण ! सउणाणं साहह भो सउणिगा सउणिगाणं। णिहतो णिरंगणो अट्टणेण णिक्खित्तसत्थेणं ॥१॥' एवं भणियमेत्ते राइणा एस अट्टणोत्तिकाउं तुट्ठेण पूजितो, दवं च से पज्जत्तियं आमरणंतियं दिण्णं, सयणवग्गो य से तं सोउं तस्स सगासमुवगतो, पायवडणमाईहिं पत्तियावेउं दवलोभेणं अल्लियावितो, पच्छा सो चिंतेइ–ममं एते दवलोभेण अल्लियावेंति, पुणोऽवि मम परिभविस्संतित्ति, जरापरिगतो अहं ण पुणो सुमहल्लेणावि पयत्तेण सक्किस्सं जुवत्तं काउं, तं जावऽज्जवि सचेट्ठो ताव पवयामित्ति संपहारेउं पवतितो ॥ एवं जरोपनीतस्याट्टनस्येवान्यस्यापि न त्राणं–बन्धुभिः पालनं जरातो वा रक्षणम्, 'एव' मित्येवं प्रकारं पाठान्तरतः–एनं वा–अनन्तरोक्तमर्थं 'विजानीहि' विशेषेण विविधं वा अवबुध्यस्व, तथैतच्च वक्ष्यमाणं जानीहि, यथा 'जनाः' लोकाः 'प्रमत्ताः' प्रमादपराः,

१ आगन्तुकेन विहत इति न प्रशंसति, राज्ञि चाप्रशंसति सर्वो रङ्गस्तूष्णीकस्तिष्ठति, इतश्चाट्टनेन राज्ञो ज्ञापननिमित्तं भण्यते—कथय वन ! शकुनेभ्यः कथयत भोः शकुनिकाः ! शकुनिकान्। निहतो निरञ्जनोऽट्टनेन निक्षिप्तशस्त्रेण ॥ १ ॥ एवं भणितमात्रे राज्ञा एषोऽट्टन इतिकृत्वा तुष्टेन पूजितः, द्रव्यं च तस्मै पर्याप्तमामरणान्तिकं दत्तं, स्वजनवर्गश्च तस्य तत् श्रुत्वा तस्य सकाशमुपगतः, पादपतनादिभिः प्रत्याय्य द्रव्यलोभेनाश्रितः, पश्चात्स चिन्तयति—मामेते द्रव्यलोभेनाश्रयन्ति, पुनरपि मां पराभविष्यन्तीति, जरापरिगतोऽहं न पुनः सुमहताऽपि प्रयत्नेन शक्ष्यामि यौवनं कर्तुं, तद्यावदद्यापि सचेष्टस्तावत्प्रव्रजामीति संप्रधार्य प्रव्रजितः।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]

उभयत्र सूत्रत्वादेकवचनं, 'कम्' अर्थं प्रक्रमात् त्राणं, नु इति वितर्के, विविधम्–अनेकधा हिंस्रा–हिंसनशीलाः, आर्षत्वाद्वा वीति–विश्रब्धान् स्वेषु स्वेषूत्पत्तिस्थानेष्वनाकुलमवस्थितान् जन्तून् हिंसन्तीति विहिंसाः, तथा अयताः–तत्तत्पापस्थानेभ्योऽनुपरताः 'गहिन्ति'त्ति सूत्रत्वाद् गमिष्यन्ति, ग्रहीष्यन्ति वा–स्वीकरिष्यन्ति, किमुक्तं भवति ?–एवमेते प्रमत्तादिविशेषणान्विता जनाः स्वकृतैरीदृग्भिः कर्म्मभिर्नरकादिकमेव यातनास्थानं गमिष्यन्ति ग्रहीष्यन्ति वा, यद्वैवं नीयते–असंस्कृतं जीवितमिति मा प्रमादीरित्यादि (दौ) गुरुणोक्ते कदाचिच्छिष्यो वदेत्–बहुरयं जनः प्रमत्तः, तद्वदहमपि भविष्यामीत्याशङ्क्य गुरुराह—भद्र ! एवं जानीहि जनः प्रमत्तो विहिंस्रोऽयतः 'कन्नु'त्ति कामप्यवक्तव्यां नरकादिगतिमसौ गमिष्यति ग्रहीष्यति वा, अतः किं तव विवेकिन एवंविधजनव्यवहाराश्रयणेन ?, सूत्रत्वाच्चैकत्वेऽपि बहुवचनमिति सूत्रार्थः ॥ १ ॥ असंस्कृतं जीवितमित्युक्तम्, अतस्तद् व्याचिख्यासुराह निर्युक्तिकृत्—

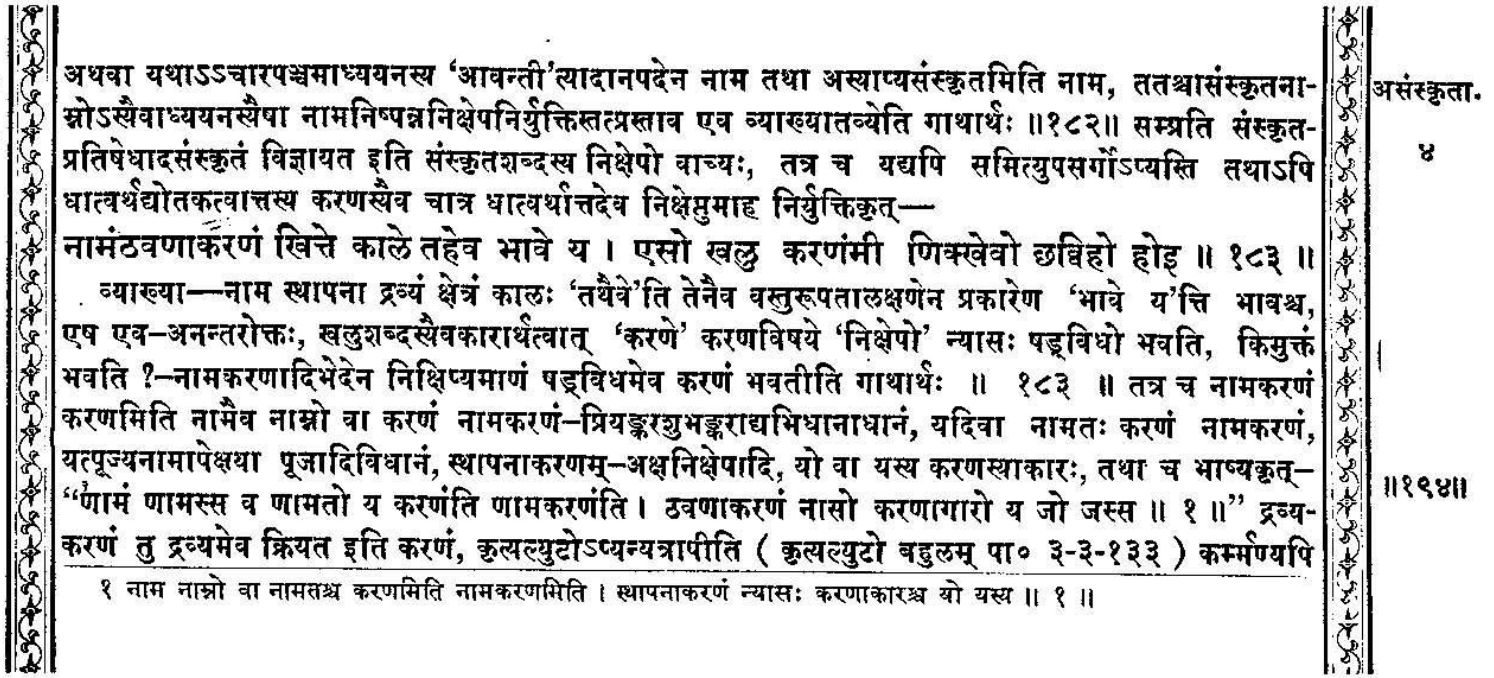
उत्तरकरणेण कयं जं किंची संखयं तु नायव्वं । सेसं असंखयं खलु असंखयस्सेस निज्जुत्ती ॥ १८२ ॥

व्याख्या—मूलतः स्वहेतुभ्य उत्पन्नस्य पुनरुत्तरकालं विशेषाधानात्मकं करणमुत्तरकरणं तेन कृतं–निर्वर्त्तितं, 'यत्किञ्चिदि'त्यविवक्षितघटादि, यत्तदोर्नित्यमभिसम्बन्धात् तत् संस्कृतं, तुः अवधारणे, स चैवं योज्यते–यदुत्तरकरणकृतं तदेव संस्कृतं ज्ञातव्यं, 'शेषम्' अतोऽन्यत्संस्कारानुचितं विदीर्णमुक्ताफलोपममसंस्कृतमेव, खलुशब्दस्यैवकारार्थत्वात्, असंस्कृतमित्यस्य सूत्रावयवस्य 'एषा' वक्ष्यमाणलक्षणा निर्युक्तिः, बहुवक्तव्यतया च प्रतिज्ञानम्,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥१९४॥

अथवा यथाऽऽचारपञ्चमाध्ययनस्य 'आवन्ती'त्यादानपदेन नाम तथा अस्याप्यसंस्कृतमिति नाम, ततश्चासंस्कृतनाम्नोऽस्यैवाध्ययनस्यैषा नामनिष्पन्ननिक्षेपनिर्युक्तिस्तत्प्रस्ताव एव व्याख्यातव्येति गाथार्थः ॥१८२॥ सम्प्रति संस्कृतप्रतिषेधादसंस्कृतं विज्ञायत इति संस्कृतशब्दस्य निक्षेपो वाच्यः, तत्र च यद्यपि समित्युपसर्गोऽप्यस्ति तथाऽपि धात्वर्थद्योतकत्वात्तस्य करणस्यैव चात्र धात्वर्थात्तदेव निक्षेप्तुमाह निर्युक्तिकृत्—

नामंठवणाकरणं खित्ते काले तहेव भावे य । एसो खलु करणंमी णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १८३ ॥

व्याख्या—नाम स्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालः 'तथैवे'ति तेनैव वस्तुरूपतालक्षणेन प्रकारेण 'भावे य'त्ति भावश्च, एष एव–अनन्तरोक्तः, खलुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् 'करणे' करणविषये 'निक्षेपो' न्यासः षड्विधो भवति, किमुक्तं भवति ?–नामकरणादिभेदेन निक्षिप्यमाणं षड्विधमेव करणं भवतीति गाथार्थः ॥ १८३ ॥ तत्र च नामकरणं करणमिति नामैव नाम्नो वा करणं नामकरणं–प्रियङ्करशुभङ्कराद्यभिधानाधानं, यदिवा नामतः करणं नामकरणं, यत्पूज्यनामापेक्षया पूजादिविधानं, स्थापनाकरणम्–अक्षनिक्षेपादि, यो वा यस्य करणस्याकारः, तथा च भाष्यकृत्–"णामं णामस्स व णामतो य करणंति णामकरणंति । ठवणाकरणं नासो करणागारो य जो जस्स ॥ १ ॥" द्रव्यकरणं तु द्रव्यमेव क्रियत इति करणं, कृत्यल्युटोऽप्यन्यत्रापीति (कृत्यल्युटो बहुलम् पा० ३-३-११३) कर्म्मण्यपि

१ नाम नाम्नो वा नामतश्च करणमिति नामकरणमिति । स्थापनाकरणं न्यासः करणाकारश्च यो यस्य ॥ १ ॥

असंस्कृता. ४

॥१९४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]

ल्युटो दर्शनात्, भावसाधनपक्षे तु द्रव्येण द्रव्यस्य द्रव्ये वा यथासम्भवं क्रियात्मकं करणं, तथा चाह—"[१]तं तेणं तस्स तंमि व संभवतो उ किरिया मया करणं। दवस्स व दवेण व दवंमि व दवकरणंति ॥ १ ॥" तच्चागमनोआगमभेदतो द्विधा, तत्रागमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तो, नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तभेदात्त्रिधा, तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरद्रव्यकरणे प्रतीते एवेत्यनादृत्य तद्व्यतिरिक्तमाह—

दवकरणं तु दुविहं सन्नाकरणं च नोय सन्नाए। कडकरणमट्ठकरणं वेलुकरणं च सन्नाए ॥ १८४ ॥

व्याख्या—द्रव्यकरणं, तुशब्दो नोआगमत इदमिति विशेषद्योतकः, 'द्विविधं' द्विप्रकारं संज्ञाकरणं च 'णो य सण्णाए'त्ति करणमिति प्रक्रमात्, चशब्दो भिन्नक्रमः, ततश्च नोसंज्ञाकरणं च। तत्र संज्ञाकरणमाह—'कटकरणं' कटनिर्वर्त्तकं चित्राकारमयोमयं पाइल्लगादि, 'अर्थकरणम्' अर्थाभिनिर्वर्त्तकमधिकरण्यादि येन द्रम्मादि निष्पाद्यते, अर्थार्थं वा करणमर्थकरणं यत्र राज्ञोऽर्थाश्चिन्त्यन्ते, अर्थ एव वा तैस्तैरुपायैः क्रियत इत्यर्थकरणं, वेलुकरणं च रूतपूणिकानिर्वर्त्तकं चित्राकारमयं वेणुशलाकादि, 'संज्ञायां' संज्ञाकरणे, आह—नामकरणसंज्ञाकरणयोः कः प्रतिविशेषो ?, न हि नामसंज्ञाशब्दयोरर्थान्तरविषयत्वमुत्पश्यामः, उच्यते, इह नामकरणं करणमित्यभिधानमात्रं, संज्ञाकरणं तु यत्रान्वर्थोऽस्ति, संज्ञाकरणेषु हि कटकरणादिषु क्रियतेऽनेनेति करणमि-

१ तत्तेन तस्य तस्मिन्वा संभवतस्तु क्रिया मता करणम्। द्रव्यस्य वा द्रव्येण वा द्रव्ये वा द्रव्यकरणमिति ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]

त्यनुगतोऽर्थः प्रतीयते, द्रव्यरूपाणि चैतानि, करणमितिरूढ्या तु संज्ञाकरणान्युच्यन्ते, आह च भाष्यकृत्—"सन्ना नामंति मई तण्णो णामं जमहिहाणं ॥ जं वा तयत्थवियले कीरति दव्वं तु दवणपरिणामं । वेलुकरणादि न हि तं तयत्थसुन्नं ण वा सद्दो ॥ १ ॥ जइ ण तदत्थविहीणं तो किं दव्वकरणं ?. जतो तेणं । दव्वं कीरति. सन्नाकरणंति य करणरूढीओ ॥ २ ॥" नोसंज्ञाकरणं तु यत्करणमपि सन्न तत् संज्ञया रूढं, उक्तं हि—णोसन्नाकरणं पुण दव्वस्सारूढकरणसन्नंपी"ति गाथार्थः ॥ १८४ ॥ एतदेव भेदतोऽभिधातुमाह—

नोसन्नाकरणं पुण पओगसा वीससा य बोद्धव्वं। साईअमणाईअं दुविहं पुण विस्ससाकरणं ॥ १८५ ॥

व्याख्या—नोसंज्ञाकरणं पुनः 'पओगसा वीससा य'त्ति सूत्रत्वात् प्रयोगतो विश्रसातश्च बोद्धव्यं, तत्र प्रयोगः—जीवव्यापारः तद्धेतुकं करणं प्रयोगकरणं, उक्तं च—"होइ पओगो जीववावारो तेण जं विणिम्माणं। सज्जीवमजीवं वा पओगकरणं तयं बहुहा ॥ १ ॥" एतद्विपरीतं तु विश्रसाकरणं, तत्र पश्चादुक्तमप्यत्रपवक्तव्यमिति विश्रसाकरण-

१ संज्ञा नामेति मतिस्तन्नो नाम यदभिधानम् ॥ यद्वा तदर्थविकले क्रियते द्रव्यं तु द्रवणपरिणामम् । वेणुकरणादि नैव तत् तदर्थशून्यं न वा शब्दः ॥ १ ॥ यदि न तदर्थविहीनं तदा किं द्रव्यकरणं ?. यतस्तेन । द्रव्यं क्रियते. संज्ञाकरणमिति च करणरूढितः ॥ २ ॥ २ नोसंज्ञाकरणं पुनर्द्रव्यस्यारूढकरणसंज्ञमपि । ३ भवति प्रयोगो जीवव्यापारः तेन यद्विनिर्माणम् । सजीवमजीवं वा प्रयोगकरणं तत्कत् बहुधा ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]

माह–सहादिना वर्त्तते सादिकं ततोऽन्यत्त्वनादिकमिति भेदतो द्विविधं, पुनरिति मूलभेदापेक्षया, विश्रसाकरणम्–उक्तरूपमिति गाथार्थः ॥ १८५ ॥ तत्रानादिकं वक्तुमाह—

धम्माधम्मागासा एयं तिविहं भवे अणाईयं । चक्खुअचक्खुप्फासे एयं दुविहं तु साईयं ॥ १८६ ॥

व्याख्या—धर्माधर्माकाशानामन्योऽन्यसंवलनेन सदाऽवस्थानमनादिकरणं, न हि तत्कदाचिन्नासीन्नास्ति न भविष्यति वा, उक्तं हि–"[1]धम्माधम्मणहाणं अणाइसंहायणाकरणं" न च करणमनादि च विरुद्धमिति वाच्यं, यतोऽत्रान्योऽन्यसमाधानं करणमभिप्रेतं, न त्वन्योऽन्यनिर्वर्त्तनम्, आह च–"[2]अन्नोऽन्नसमाहाणं जमिहं करणं ण णिवत्ती", इह च धर्माधर्माकाशानां करणमिति वक्तव्ये कथञ्चित्क्रियाक्रियावतोरभेददर्शनार्थमनुकूलितक्रियत्वख्यापनार्थं वा धर्माधर्माकाशाः करणमित्युक्तम्, 'एतद्' अनन्तरोक्तं 'त्रिविधं' त्रिप्रकारं 'भवेत्' स्यात् अनादिकं, करणमिति प्रक्रमः । इत्थमनादिकं पश्चान्निर्दिष्टमपि पश्चानुपूर्व्यपि व्याख्याङ्गमिति ख्यापनाय उक्तं, सम्प्रति तु सादिकमाह–'चक्खुमचक्खुप्फासे'त्ति स्पर्शशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, ततश्चक्षुषा स्पृश्यते–गृह्यमाणतया युज्यत इति चक्षुःस्पर्शे–स्थूलपरिणतिमत्पुद्गलद्रव्यम् अतोऽन्यदचक्षुःस्पर्शम्, 'एयं दुविहं तु'त्ति एतद्विविधमेव, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् सादिकमिति गाथार्थः ॥ १८६ ॥ इदमेव द्वितयं व्यक्तीकर्तुमाह—

१ धर्माधर्मनभसामनादिसंघातनाकरणम् । २ अन्योऽन्यसमाधानं यदिह (तत्) करणं न निर्वृत्तिः ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]

खंधेसु अ दुपएसाइएसु अब्भेसु अब्भरुक्खेसुं । णिप्फण्णगाणि दव्वाणि जाणि तं वीससाकरणं ॥१८७॥

व्याख्या—'स्कन्धेषु च' परमाणुसञ्चयात्मकेषु द्विप्रदेशादिकेषु आदिशब्दात्त्रिप्रदेशादिपरिग्रहः, परमाणवश्चानेनैवोपलक्षिताः, 'अभ्रेषु' प्रतीतेषु 'अभ्रवृक्षेषु' तद्विशेषेष्वेव वृक्षाकारेषु, उपलक्षणं चैतदिन्द्रधनुरादीनां, तथा च सम्प्रदायः–[1]चक्खुप्फासियं जं चक्खुसा दीसइ, तं पुण अब्भा अब्भरुक्खा एवमाइ' । दृश्यते च 'अब्भेसु विज्जमादीसु'त्ति, तत्र च यदि विद्युत्प्रतीतैव गृह्यते तदा तस्याः सजीवत्वात्तच्छरीरस्य चौदारिकशरीरकरणाख्यप्रयोगकरणत्वप्रसक्तिः, अथ विद्योतन्त इति विद्युन्ति तानि आदिर्येषां तानि विद्युदादीन्यभ्राणि तेष्वित्यभ्रविशेषणतया व्याख्यायते, आदिशब्दाच्च धूम्रादिपरिग्रह इति, तदा नोक्तदोषः, परमप्रातीतिकं, सामायिकनिर्युक्तौ चाभ्रादीन्येव विश्रसाकरणमुक्तं, तद्यथा–"[2]चक्खुसमचक्खुसंपि य सादियं रूविवीससाकरणं । अब्भाणुप्पभितीणं बहुहा संघायभेयकयं ॥ १ ॥"ति, नेह तत्त्वनिश्चयः, तेषु द्विप्रदेशादिष्वभ्रादिषु वा किमित्याह–निष्पन्नान्येव निष्पन्नकानि, जीवव्यापारं विनैव भेदसङ्घाताभ्यां लब्धसत्ताकानि द्रव्याणि तद्विश्रसाकरणं सादि, चाक्षुषमचाक्षुषं वेति प्रक्रमः, द्विप्रदेशादिकरणानि हि सङ्घाताद् भेदात् सङ्घातभेदाभ्यां च विनाऽपि जीवप्रयोगं निष्पद्यन्ते, निष्पन्नान्यपि च न चक्षुषा

१ चक्षुःस्पर्शं यच्चक्षुषा दृश्यते, तत्पुनरभ्राणि अभ्रवृक्षा एवमाद्याः । २ चाक्षुषमचाक्षुषमपि च सादिकं रूपिविश्रसाकरणम् । अभ्राणुप्रभृतीनां बहुधा संघातभेदकृतम् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]

वीक्ष्यन्ते इत्यचाक्षुषं विश्रसाकरणम्, अभ्रादिकरणानि तु स्वयं निष्पद्यन्ते चक्षुषा च वीक्ष्यन्त इति चाक्षुषं विश्रसाकरणम्, अत्र च पश्चादुद्दिष्टस्यापि यदचाक्षुषस्य प्रथममभिधानं तत्प्राग्वत्पश्चानुपूर्व्येति गाथार्थः ॥ १८७ ॥

सम्प्रति प्रयोगकरणमाह—

दुविहं पओगकरणं जीवेतर मूल उत्तरं जीवे। मूले पंचसरीरा तिसु अंगोवंगणामं च ॥ १८८ ॥

व्याख्या—'द्विविधं' द्विभेदं–प्रयोगकरणं 'जीवत्ति' जीवप्रयोगकरणम् 'इयरे'त्ति अजीवप्रयोगकरणं, तत्र जीवेन–उपयोगलक्षणेन यदौदारिकादिशरीरमभिनिर्वर्त्त्यते तज्जीवप्रयोगकरणं, तच्च द्विधा–मूलकरणमुत्तरकरणं च, तत्र 'मूल' इति मूलकरणे विचार्यमाणे 'पञ्च' इति पञ्चसङ्ख्यावच्छिन्नानि विशीर्यन्ते–उत्पत्तिसमयतः प्रभृति पुद्गलविचटनाद्विनश्यन्तीति शरीराणि–औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्म्मणानि, इह च विषयविषयिणोरभेदोपचारेण करणविषयत्वाच्छरीराण्यपि करणमुक्तं, मूलत्वं चोत्तरोत्तरावयवव्यक्त्यपेक्षया, ततश्च यदवयवविभागविरहितमौदारिकशरीराणां प्रथममभिनिर्वर्त्तनं तत् मूलकरणं, 'तिसु अंगोवंगणामं चे'ति, चशब्दः प्रकृतमनुकर्षति, तच्चेह प्रक्रमादुत्तरकरणमेवानुकृष्यते, ततश्च त्रिषु–औदारिकवैक्रियाहारेषु तैजसकार्म्मणयोस्तदसम्भवादङ्गोपाङ्गनामैवोत्तरकरणमिति सम्बन्धः, अत्र चाङ्गोपाङ्गनामशब्देनाङ्गोपाङ्गनामकर्म्मनिर्वर्त्तितान्यङ्गोपाङ्गानि गृह्यन्ते, कार्ये कारणोपचारात्, आह च भाष्यकृत्–"[1]सजीवं

१ सजीवं मूलोत्तरकरणं मूलकरणं यदादौ। पञ्चानां देहानामुत्तरमादित्रिकस्यैव ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]

मूलुत्तरकरणं मूलकरणं जमादीए । पंचण्हं देहाणं उत्तरमादीतियस्सेव ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ १८८ ॥ कानि पुनस्तान्यङ्गानीत्याह—

सीसमुरोयरपिट्ठी दो बाहू अ हुंति ऊरू अ। एए अट्ठंगा खलु अंगोवंगाइँ सेसाइँ ॥ १८९ ॥
हुंति उवंगा कण्णा नासऽच्छी जंघ हत्थ पाया य। अंगोवंगा अंगुलिनहकेसामंसु एमाइ ॥१९०॥

व्याख्या—तत्राद्या प्राग्वत्, नवरम् अङ्गोपाङ्गानि उपलक्षणत्वादुपाङ्गानि च शेषाणि, तानि वक्ष्यन्त इति शेषः, तत्रोपाङ्गानि कर्णौ नासे अक्षिणी जङ्घे हस्तौ पादौ च, अङ्गोपाङ्गानि अङ्गुलयो नखाः केशाः स्मश्रु 'एवमादीनि' एवंप्रकाराण्युत्तरकरणं, वृद्धास्त्वङ्गान्यपि मूलकरणमिति मन्यन्ते, आपेक्षिकत्वाच्च मूलोत्तरत्वयोरुभयथाऽप्यविरोध इति गाथाद्वयार्थः ॥ १८९—१९० ॥ इदमेवान्यथाऽऽह—

तेसिं उत्तरकरणं बोद्धव्वं कण्णखंधमाईयं। इंदियकरणा ताणि य उवघायविसोहिओ हुंति ॥ १९१ ॥

व्याख्या—'तेषाम्' आद्यानां त्रयाणां शरीराणामुत्तरकरणं 'बोद्धव्यम्' अवगन्तव्यं, 'कण्णखंधमादीयं'ति तत्रौदारिकस्य कर्णयोर्वृद्ध्यापादनं स्कन्धस्य च मर्दनादिना दृढीकरणम्, आदिशब्दाद्दन्तरागादिकरणपरिग्रहः, एवं वैक्रियस्यापि, आहारकस्य तु नास्त्येव, गमनादिना वा तस्याप्युत्तरकरणमिति ग्राह्यं। तथा इन्द्रियाणां–चक्षुरादीनां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]

करणानि–अवस्थान्तरापादनानि इन्द्रियकरणानि, तानि च 'उपघातविशुद्धितः' उपघातात् विशुद्धेश्च भवन्ति, तत्रोपघाताद्विषाद्यभ्यवहारतोऽन्धबधिरताद्यापादनानि विशुद्धितश्च ब्राह्मीसमीराञ्जनादिना स्पष्टताद्यापादनान्युत्तरकरणं भवति, पठ्यते च–'इंदियकरणं च तह'त्ति अत्र चैकवचनान्ततया सर्वं व्याख्येयमिति गाथार्थः ॥ १९१ ॥ अथवाऽन्यथा करणमुच्यते—

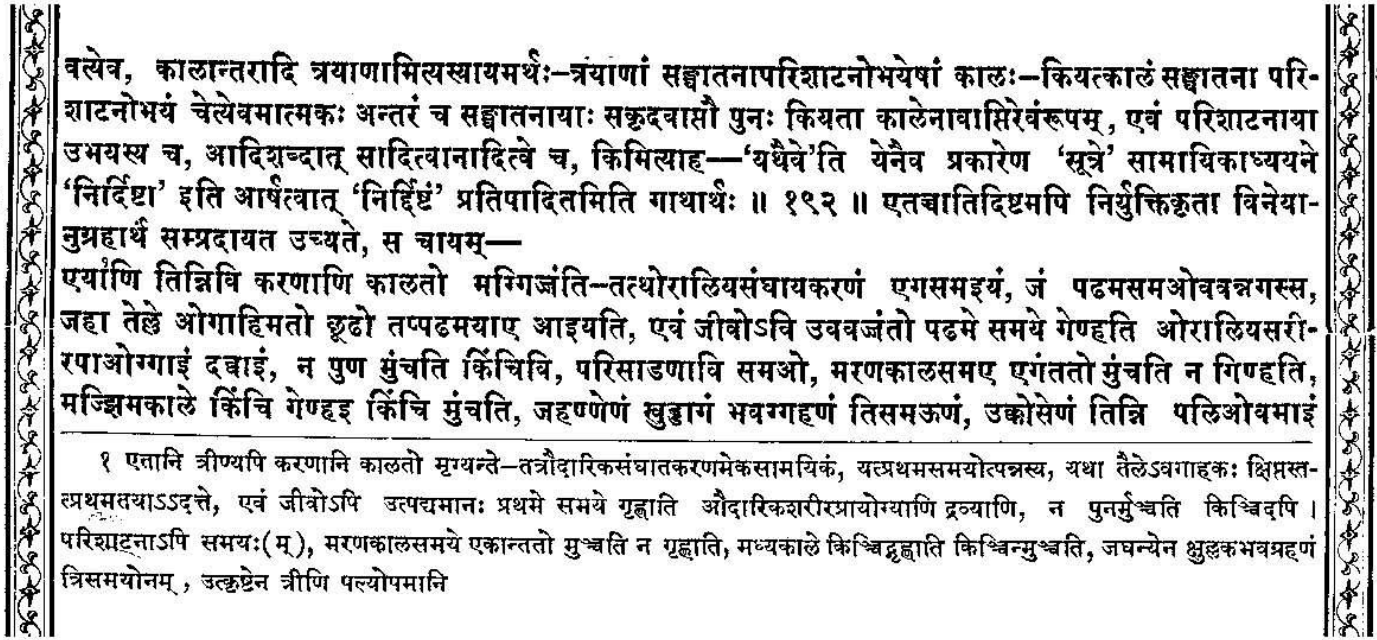
संघायणपरिसाडणउभयं तिसु. दोसु नत्थि संघाओ। कालंतराइ तिण्हं जहेव सुत्तंमि निद्दिट्ठं ॥१९२॥

व्याख्या—'संघायणे'ति संहन्यमानानां–संयुज्यमानानामौदारिकादिपुद्गलानां तैजसकार्मणपुद्गलैः सह यदात्मनस्तत्तत्पुद्गलग्रहणात्मिकासु तदनुकूलक्रियासु वर्त्तनात्मकं प्रयोजकत्वं सा सङ्घातना, तथा परिः–समन्ताच्छटतां–पृथग्भवतामौदारिकादिपुद्गलानां यदात्मनस्तान्प्रति तत्तच्छरीरविमोक्षात्मकं प्रयोजकभवनं सा परिशाटना, उभाभिहितावयवावस्येति उभयं–सङ्घातनापरिशाटनाकरणं। किमिदं त्रयमपि पञ्चस्वप्यौदारिकादिषु अथान्यथेत्याह—त्रिष्वाद्येषु, किमुक्तं भवति ?–औदारिकवैक्रियाहारकेषु, 'द्वयोः' तैजसकार्म्मणयोः, किमित्याह—'नास्ति' न विद्यते, कोऽसौ ?–सङ्घातः, तदभावाच्च सङ्घातनापि नास्तीति भावः, सा हि प्रथमत उत्पद्यमानस्य जीवस्य तैलभृततप्ततापिकाप्रक्षिप्तापूपवत् तैलसदृशानौदारिकादिपुद्गलाननाददानस्यैवौदारिकादिष्वपि वर्ण्यते न च तैजसकार्मणयोः प्रथमत उपादानसम्भवः, अनादिसंहतिमत्त्वात्तयोः, परिशाटना तु शैलेशीचरमसमये, प्रतिसमयं सङ्घातनापरिशाटनोभयं च सम्भ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]



उत्तरा ध्य. बृहद्वृत्तिः ॥१९८॥

वत्येव, कालान्तरादि त्रयाणामित्यस्यायमर्थः–त्रयाणां सङ्घातनापरिशाटनोभयेषां कालः–कियत्कालं सङ्घातना परिशाटनोभयं चेत्येवमात्मकः अन्तरं च सङ्घातनायाः सकृदवासौ पुनः कियता कालेनावाप्तिरेवंरूपम्, एवं परिशाटनाया उभयस्य च, आदिशब्दात् सादित्वानादित्वे च, किमित्याह—'यथैवे'ति येनैव प्रकारेण 'सूत्रे' सामायिकाध्ययने 'निर्दिष्टा' इति आर्षत्वात् 'निर्दिष्टं' प्रतिपादितमिति गाथार्थः ॥ १९२ ॥ एतच्चातिदिष्टमपि निर्युक्तिकृता विनेयानुग्रहार्थं सम्प्रदायत उच्यते, स चायम्—

एयाणि तिन्निवि करणाणि कालतो मग्गिज्जंति–तत्थोरालियसंघायकरणं एगसमइयं, जं पढमसमओववन्नगस्स, जहा तेल्ले ओगाहिमतो छूढो तप्पढमयाए आइयति, एवं जीवोऽवि उववज्जंतो पढमे समये गेण्हति ओरालियसरीरपाओग्गाइं दव्वाइं, न पुण मुंचति किंचिवि, परिसाडणावि समओ, मरणकालसमए एगंततो मुंचति न गिण्हति, मज्झिमकाले किंचि गेण्हइ किंचि मुंचति, जहण्णेणं खुड्डागं भवग्गहणं तिसमऊणं, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं

१ एतानि त्रीण्यपि करणानि कालतो मृग्यन्ते–तत्रौदारिकसंघातकरणमेकसामयिकं, यत्प्रथमसमयोत्पन्नस्य, यथा तैलेऽवगाहकः क्षिप्तस्तत्प्रथमतयाऽऽदत्ते, एवं जीवोऽपि उत्पद्यमानः प्रथमे समये गृह्णाति औदारिकशरीरप्रायोग्याणि द्रव्याणि, न पुनर्मुञ्चति किञ्चिदपि। परिशाटनाऽपि समयः(म्), मरणकालसमये एकान्ततो मुञ्चति न गृह्णाति, मध्यकाले किञ्चिद्गृह्णाति किञ्चिन्मुञ्चति, जघन्येन क्षुल्लकभवग्रहणं त्रिसमयोनम्, उत्कृष्टेन त्रीणि पल्योपमानि

असंस्कृता. ४ ॥१९८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]

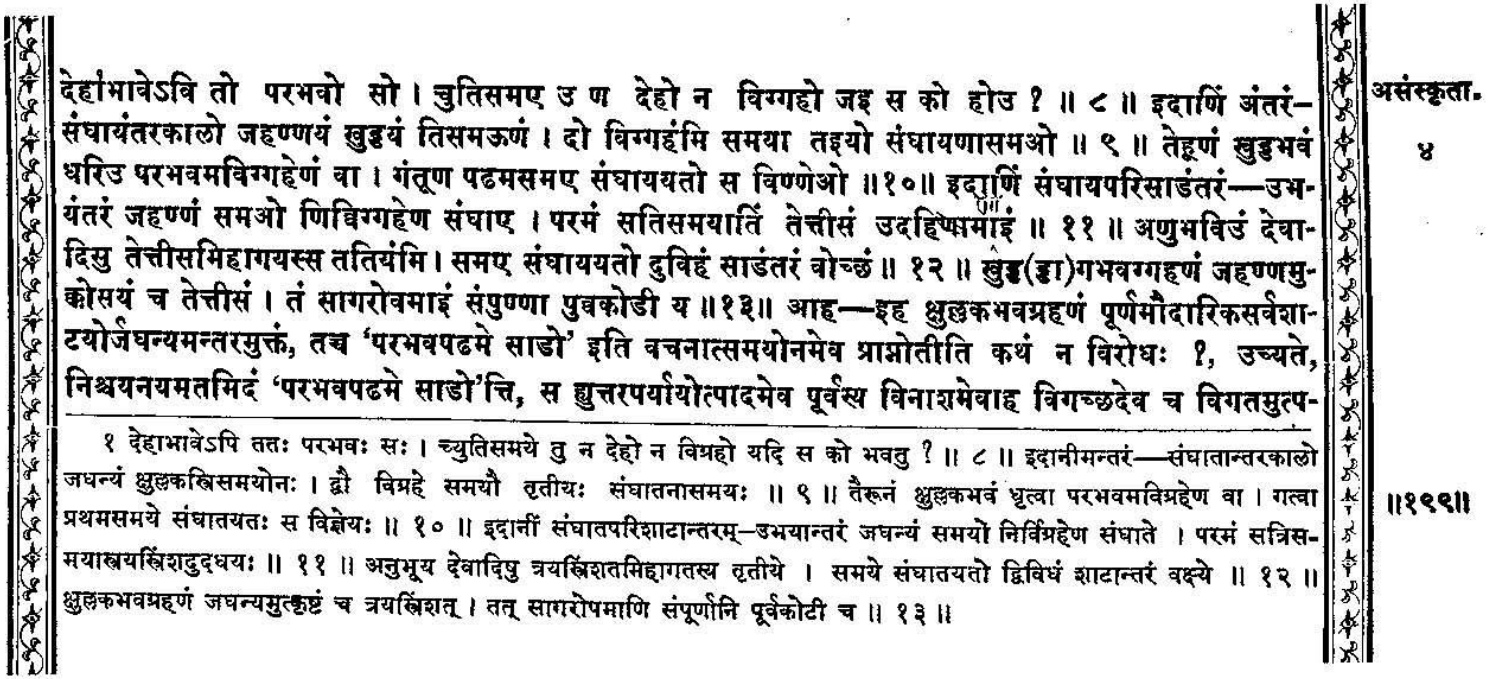
समऊणाणि,–दो विग्गहंमि समया समओ संघायणाय तेहूणं । खुड्डागभवग्गहणं सव्वजहन्नो ठितीकालो ॥ १ ॥ उक्कोसो समऊणो जो सो संघयणासमयहीणो । किह ण दुसमयविहीणो साडणसमए विहीणंमि ! ॥ २ ॥ भण्णति भवचरिमंमिवि समए संघायसाडणा चेव । परभवपढमे साडणमतो तदूणो ण कालोत्ति ॥ ३ ॥ जइ परपढमे साडो णिविग्गहतो य तंमि संघातो । णणु सव्वसाडसंघायणातो समए विरुद्धातो ॥ ४ ॥ आचार्य आह–जम्हा विगच्छमाणं विगयं उप्पज्जमाणमुप्पन्नं । तो परभवादिसमए मोक्खादाणाण ण विरोहो ॥ ५ ॥ चुतिसमए णेहभवो इहदेहविमोक्खतो जहातीतो । जइ परभवोवि ण तहिं तो सो को होउ संसारी ? ॥ ६ ॥ णणु जह विग्गहकाले देहाभावेऽवि परभवग्गहणं । तह देहाभावंमिवि होज्जेहभवोऽवि को दोसो ? ॥ ७ ॥ जं चिय विग्गहकालो

१ समयोनानि–द्वौ विग्रहे समयौ समयः संघातनायाः तैरूनम् । क्षुल्लकभवग्रहणं सर्वजघन्यः स्थितिकालः ॥ १ ॥ उत्कृष्टः समयोनः यः स संघातनासमयहीनः । कथं न द्विसमयविहीनः शाटनसमये विहीने ? ॥ २ ॥ भण्यते भवचरमेऽपि समये संघातशाटने एव । परभवप्रथमे शाटनमतस्तदूनो न काल इति ॥ ३ ॥ यदि परभवप्रथमे शाटो निर्विग्रहतश्च तस्मिन् संघातः । ननु सर्वशाटसंघातने समये विरुद्धे ॥ ४ ॥ यस्माद्विगच्छद्विगतमुत्पद्यमानमुत्पन्नम् । ततः परभवादिसमये मोक्षादानयोर्न विरोधः ॥ ५ ॥ च्युतिसमये नेहभव इहदेहविमोक्षतो यथाऽतीतः । यदि परभवोऽपि न तत्र ततः स को भवतु संसारी ? ॥ ६ ॥ ननु यथा विग्रहकाले देहाभावेऽपि परभवग्रहणम् । तथा देहाभावेऽपि भवेदिहभवोऽपि को दोषः ? ॥ ७ ॥ यत एव विग्रहकालः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥१९९॥

देहाभावेऽवि तो परभवो सो। चुतिसमए उ ण देहो न विग्गहो जइ स को होउ ? ॥ ८ ॥ इदाणिं अंतरं–संघायंतरकालो जहण्णयं खुड्डयं तिसमऊणं। दो विग्गहंमि समया तइयो संघायणासमओ ॥ ९ ॥ तेहूणं खुड्डभवं धरिउ परभवमविग्गहेणं वा। गंतूण पढमसमए संघाययतो स विण्णेओ ॥१०॥ इदाणिं संघायपरिसाडंतरं—उभयंतरं जहण्णं समओ णिविग्गहेण संघाए। परमं सतिसमयातिं तेत्तीसं उदहिणामाइं ॥ ११ ॥ अणुभविउं देवादिसु तेत्तीसमिहागयस्स ततियंमि। समए संघाययतो दुविहं साडंतरं वोच्छं ॥ १२ ॥ खुड्ड(ड्डा)गभवग्गहणं जहण्णमुक्कोसयं च तेत्तीसं। तं सागरोवमाइं संपुण्णा पुवकोडी य ॥१३॥ आह—इह क्षुल्लकभवग्रहणं पूर्णमौदारिकसर्वशाटयोर्जघन्यमन्तरमुक्तं, तच्च 'परभवपढमे साडो' इति वचनात्समयोनमेव प्राप्नोतीति कथं न विरोधः ?, उच्यते, निश्चयनयमतमिदं 'परभवपढमे साडो'त्ति, स ह्युत्तरपर्यायोत्पादमेव पूर्वस्य विनाशमेवाह विगच्छदेव च विगतमुत्प-

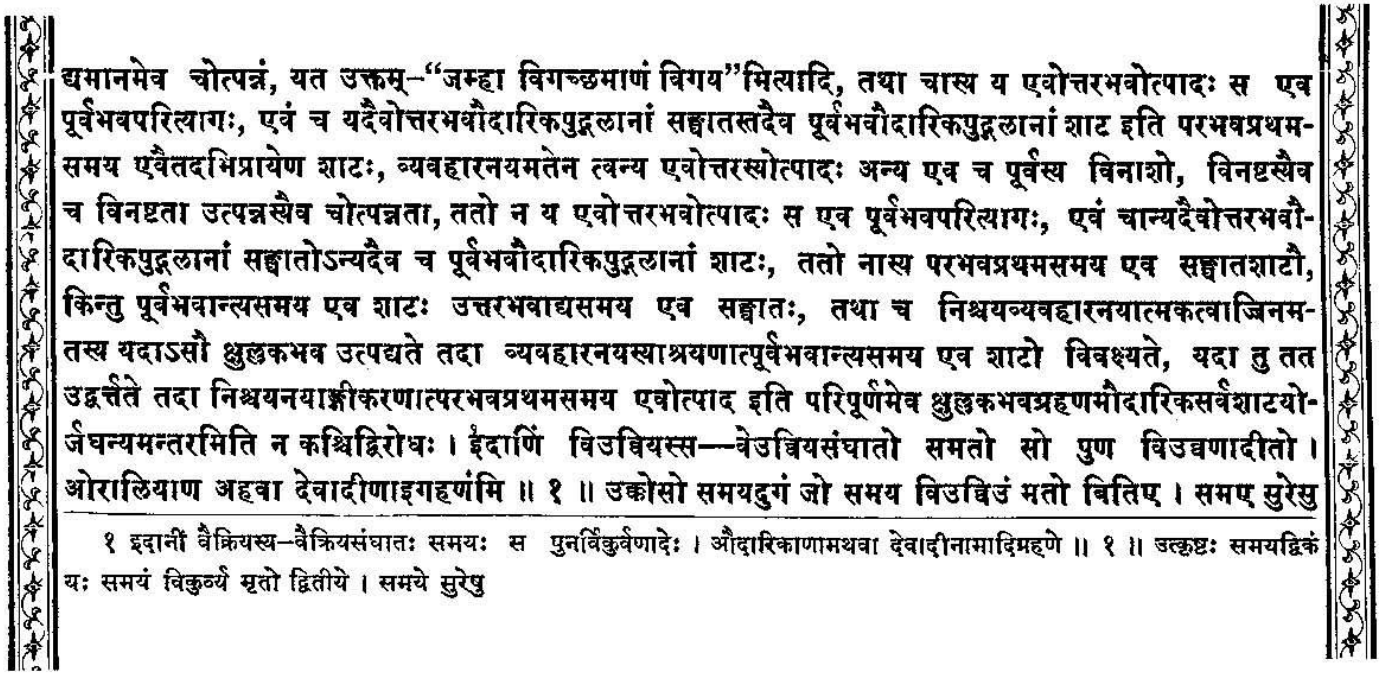
१ देहाभावेऽपि ततः परभवः सः। च्युतिसमये तु न देहो न विग्रहो यदि स को भवतु ? ॥ ८ ॥ इदानीमन्तरं—संघातान्तरकालो जघन्यं क्षुल्लकत्रिसमयोनः। द्वौ विग्रहे समयौ तृतीयः संघातनासमयः ॥ ९ ॥ तैरूनं क्षुल्लकभवं धृत्वा परभवमविग्रहेण वा। गत्वा प्रथमसमये संघातयतः स विज्ञेयः ॥ १० ॥ इदानीं संघातपरिशाटान्तरम्—उभयान्तरं जघन्यं समयो निर्विग्रहेण संघाते। परमं सत्रिसमयास्त्रयस्त्रिंशदुदधयः ॥ ११ ॥ अनुभूय देवादिषु त्रयस्त्रिंशतमिहागतस्य तृतीये। समये संघातयतो द्विविधं शाटान्तरं वक्ष्ये ॥ १२ ॥ क्षुल्लकभवग्रहणं जघन्यमुत्कृष्टं च त्रयस्त्रिंशत्। तत् सागरोपमाणि संपूर्णानि पूर्वकोटी च ॥ १३ ॥

असंस्कृता. ४ ॥१९९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]



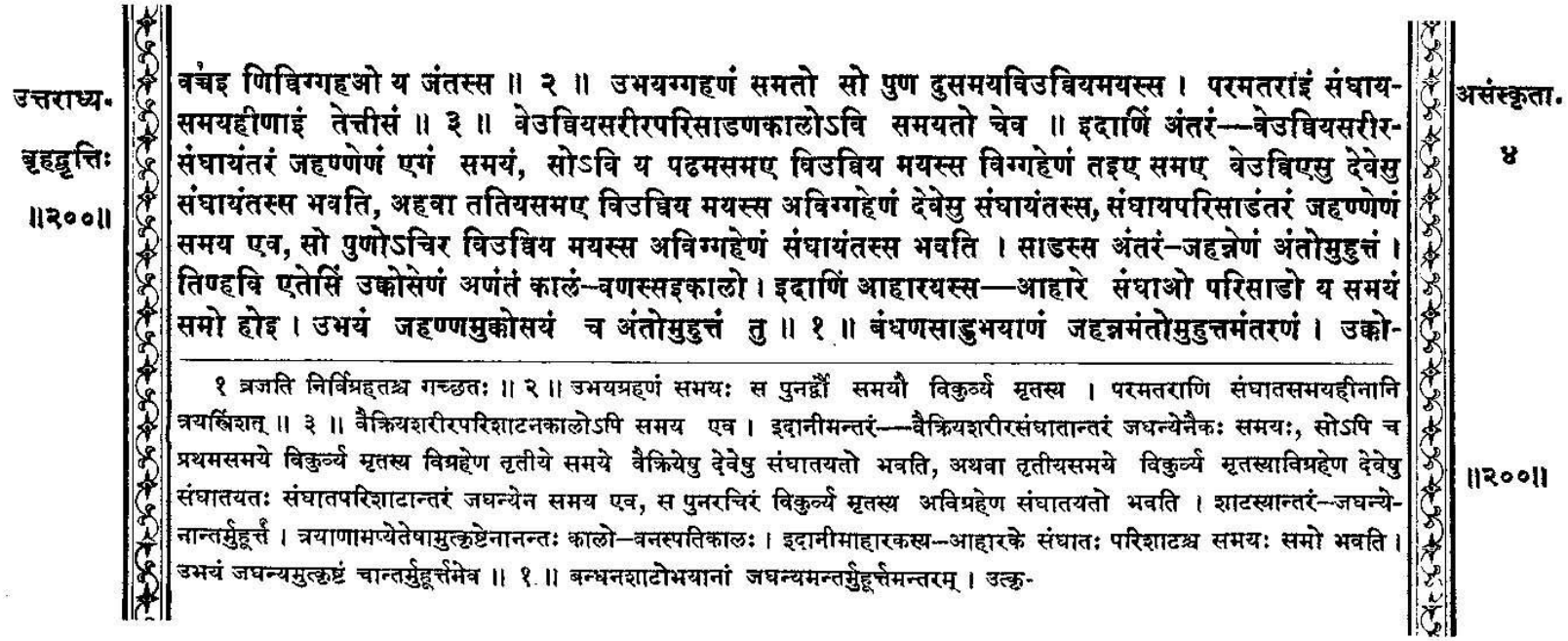
द्यमानमेव चोत्पन्नं, यत उक्तम्–"जम्हा विगच्छमाणं विगय"मित्यादि, तथा चास्य य एवोत्तरभवोत्पादः स एव पूर्वभवपरित्यागः, एवं च यदैवोत्तरभवौदारिकपुद्गलानां सङ्घातस्तदैव पूर्वभवौदारिकपुद्गलानां शाट इति परभवप्रथमसमय एवैतदभिप्रायेण शाटः, व्यवहारनयमतेन त्वन्य एवोत्तरस्योत्पादः अन्य एव च पूर्वस्य विनाशो, विनष्टस्यैव च विनष्टता उत्पन्नस्यैव चोत्पन्नता, ततो न य एवोत्तरभवोत्पादः स एव पूर्वभवपरित्यागः, एवं चान्यदैवोत्तरभवौदारिकपुद्गलानां सङ्घातोऽन्यदैव च पूर्वभवौदारिकपुद्गलानां शाटः, ततो नास्य परभवप्रथमसमय एव सङ्घातशाटौ, किन्तु पूर्वभवान्त्यसमय एव शाटः उत्तरभवाद्यसमय एव सङ्घातः, तथा च निश्चयव्यवहारनयात्मकत्वाज्जिनमतस्य यदाऽसौ क्षुल्लकभव उत्पद्यते तदा व्यवहारनयस्याश्रयणात्पूर्वभवान्त्यसमय एव शाटो विवक्ष्यते, यदा तु तत उद्वर्त्तते तदा निश्चयनयाङ्गीकरणात्परभवप्रथमसमय एवोत्पाद इति परिपूर्णमेव क्षुल्लकभवग्रहणमौदारिकसर्वशाटयोर्जघन्यमन्तरमिति न कश्चिद्विरोधः । इदाणिं विउव्वियस्स—वेउव्वियसंघातो समतो सो पुण विउव्वणादीतो । ओरालियाण अहवा देवादीणाइगहणंमि ॥ १ ॥ उक्कोसो समयदुगं जो समय विउव्विउं मतो बितिए । समए सुरेसु

१ इदानीं वैक्रियस्य–वैक्रियसंघातः समयः स पुनर्विकुर्वणादेः । औदारिकाणामथवा देवादीनामादिग्रहणे ॥ १ ॥ उत्कृष्टः समयद्विकं यः समयं विकुर्व्य मृतो द्वितीये । समये सुरेषु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥२००॥

वच्चइ णिविग्गहओ य जंतस्स ॥ २ ॥ उभयग्गहणं समतो सो पुण दुसमयविउव्वियमयस्स । परमतराइं संघाय- समयहीणाइं तेत्तीसं ॥ ३ ॥ वेउव्वियसरीरपरिसाडणकालोऽवि समयतो चेव ॥ इदाणिं अंतरं—वेउव्वियसरीर- संघायंतरं जहण्णेणं एगं समयं, सोऽवि य पढमसमए विउव्विय मयस्स विग्गहेणं तइए समए वेउव्विएसु देवेसु संघायंतस्स भवति, अहवा ततियसमए विउव्विय मयस्स अविग्गहेणं देवेसु संघायंतस्स, संघायपरिसाडंतरं जहण्णेणं समय एव, सो पुणोऽचिर विउव्विय मयस्स अविग्गहेणं संघायंतस्स भवति । साडस्स अंतरं–जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं । तिण्हवि एतेसिं उक्कोसेणं अणंतं कालं–वणस्सइकालो । इदाणिं आहारयस्स—आहारे संघाओ परिसाडो य समयं समो होइ । उभयं जहण्णमुक्कोसयं च अंतोमुहुत्तं तु ॥ १ ॥ बंधणसाडुभयाणं जहन्नमंतोमुहुत्तमंतरणं । उक्को-

१ व्रजति निर्विग्रहतश्च गच्छतः ॥ २ ॥ उभयग्रहणं समयः स पुनर्द्वौ समयौ विकुर्व्य मृतस्य । परमतराणि संघातसमयहीनानि त्रयस्त्रिंशत् ॥ ३ ॥ वैक्रियशरीरपरिशाटनकालोऽपि समय एव । इदानीमन्तरं—वैक्रियशरीरसंघातान्तरं जघन्येनैकः समयः, सोऽपि च प्रथमसमये विकुर्व्य मृतस्य विग्रहेण तृतीये समये वैक्रियेषु देवेषु संघातयतो भवति, अथवा तृतीयसमये विकुर्व्य मृतस्याविग्रहेण देवेषु संघातयतः संघातपरिशाटान्तरं जघन्येन समय एव, स पुनरचिरं विकुर्व्य मृतस्य अविग्रहेण संघातयतो भवति । शाटस्यान्तरं–जघन्ये- नान्तर्मुहूर्त्तं । त्रयाणामप्येतेषामुत्कृष्टेनानन्तः कालो–वनस्पतिकालः । इदानीमाहारकस्य–आहारके संघातः परिशाटश्च समयः समो भवति । उभयं जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्त्तमेव ॥ १ ॥ बन्धनशाटोभयानां जघन्यमन्तर्मुहूर्त्तमन्तरम् । उत्कृ-

असंस्कृता. ४ ॥२००॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]

सेणमवहूं पोग्गलपरियट्ट देसूणं ॥ २ ॥ तेयाकम्माणं पुण संताणाणादितो ण संघातो । भव्वाण होज्ज साडो सेलेसीचरिमसमयंमि ॥ ३ ॥ गतं जीवमूलप्रयोगकरणम्, उत्तरप्रयोगकरणमाह—

इत्तो उत्तरकरणं सरीरकरणं पओगनिप्फन्नं। तं भेयाऽणेगविहं चउविहमिणं समासेणं ॥ १९३ ॥
संघायणा य परिसाडणा य मीसे तहेव पडिसेहो। पडसंखसगडथूणा उड्ढतिरिच्छाण करणं च ॥१९४॥

व्याख्या—'इत' इति मूलप्रयोगकरणादनन्तरम् 'उत्तरकरण'मिति उत्तरप्रयोगकरणम्, उच्यते इति गम्यते, तत्कतरदित्याह—शरीरं च तत्करणं च तां तां क्रियां प्रति साधकतमत्वेन शरीरकरणं तस्य प्रयोगः—वीर्यान्तरायक्षयोपशमजजीववीर्यजनितो व्यापारः तेन निष्पन्नं शरीरकरणप्रयोगनिष्पन्नम्, अत एव शरीरनिष्पत्त्यपेक्षयाऽस्योत्तरत्वमिति भावनीयं, 'तत्' इत्युत्तरकरणं 'भेदात्' इति भेदमाश्रित्य 'अनेकविधम्' अनेकप्रकारम्, इदमत्र तात्पर्यम्—संसारिणां कार्याणि विसदृशरूपाणि बहूनि दृष्टानि, अतस्तत्साधनैरपि करणैर्बहुभिरेव भवितव्यं,

---

ष्टेनापार्धः पुद्गलपरावर्त्तो देशोनः ॥२॥ तैजसकार्म्मणयोः पुनः संतानानादितो न संघातः । भव्यानां भवेत् शाटः शैलेशीचरमसमये ॥ ३ ॥ [उभयं अनादिणिहणं संतं भव्वाण होज्ज केसिंचि । अन्तरमनादिभावादचन्तविजोगतो न यासिं ॥४॥] उभयमनादिनिधनं सान्तं भव्यानां भवेत्केषाञ्चित् । अन्तरमनादिभावादत्यन्ताविर्योगतो नैवानयोः ॥ ४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]

न च तानि विस्तरतो वक्तुं शक्यानि अत आह—'चतुर्विधं' चतूरूपम्, 'इदम्' इत्युत्तरकरणं, समासेन, उच्यत इति शेषः, तदेवाह–'सङ्घातना च' संघातनाकरणं 'परिशाटना च' परिशाटनाकरणं 'मिस्से'त्ति मिश्रं सङ्घातनापरिशाटनाकरणं तथैव 'प्रतिषेधः' इति सङ्घातनापरिशाटनाशून्यम्, अमीषां चोदाहरणानि दर्शयन्नाह—पटे सङ्घातनैव तन्तुसङ्घातनिष्पन्नत्वात्तस्य, शङ्खे परिशाटनैव परिशाट्यमानत्वादेवास्य, शकटे उभयं यतस्तत्र किञ्चित्सङ्घात्यते कीलिकादि किञ्चिच्च परिशाट्यतेऽधिकत्वगादि, स्थूणानामुभयाभावः, तथा च 'उद्धृतिरिच्छाणं'ति भावप्रधानत्वादस्योर्ध्वतिर्यक्त्वयोः करणं, चशब्दान्नमनोन्नमनादि च तत्रोत्तरकरणं च, न तु सङ्घातनापरिशाटना च, आह—इदमप्यजीवानां क्रियत इत्यजीवकरणमेव, तत्कथमस्य जीवकरणत्वेनोपन्यासः ?, उच्यते, जीवेन क्रियत इति विवक्षया जीवकरणत्वेनेदमुक्तमित्यदोष इति गाथार्थः ॥ १९३–१९४ ॥ अजीवप्रयोगकरणमाह—

अजियप्पओगकरणं दुवे वण्णाइयाण पंचण्हं। चित्तकर(णं)कुसुंभाईसु विभासा उ सेसाणं ॥ १९५ ॥

व्याख्या—अस्याक्षरार्थः सुगमः ॥ १९७ ॥ भावार्थस्त्वयं–जं जं णिज्जीवाणं कीरइ जीवप्पओगओ तं तं। वण्णादि रूवकम्मादि वावि तदजीवकरणन्ति ॥ १ ॥ उक्तं द्रव्यकरणं, क्षेत्रकरणमाह–

ण विणा आगासेणं कीरइ जं किंचि खित्तमागासं। वंजणपरिआवन्नं उच्छुकरणमाइअं बहुहा ॥ १९६ ॥

१ यद्यन्निर्जीवानां क्रियते जीवप्रयोगतस्तत्तत्। वर्णादि रूपकर्मादि वाऽपि तदजीवकरणमिति ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र निर्युक्ति-गाथा १९५ व्याख्या मध्ये यत् ॥१९७॥ मुद्रितं तत् मुद्रणदोषः, अत्र ॥१९५॥ एव वर्तते

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]

व्याख्या—आह–नित्यत्वात्क्षेत्रस्य करणं न संगच्छते तत्कथं क्षेत्रकरणसम्भवः ?, उच्यते, न विनाऽऽकाशेन 'क्रियते' निर्वर्त्त्यते 'यदि'ति यस्मात् 'किञ्चिदपि' अल्पमपि द्व्यणुकस्कन्धादि, अतस्तत्प्राधान्याद् द्रव्यकरणमपि क्षेत्रकरणमुच्यते इत्युपस्कारः, ननु यद्याकाशेन विना न किञ्चित् क्रियते तदाऽऽकाशकरणतैवास्तु कथं क्षेत्रकरणता ?, उच्यते, 'क्षेत्रम्' इति क्षेत्रशब्दवाच्यमाकाशं, तथा च पर्यायशब्दत्वादनयोरित्थमभिधानमदुष्टमेवेति भावः, तच्च व्यञ्जनं–शब्दस्तस्य पर्यायः–अन्यथा च भवनं व्यञ्जनपर्यायः तमापन्नं–प्राप्तं व्यञ्जनपर्यायापन्नम्, 'उच्छुकरणमाइयं'ति प्रक्रमान्मकारस्य चागमिकत्वादिक्षुक्षेत्रकरणादिकं 'बहुधा' बहुप्रकारम्, एकत्वेऽपि क्षेत्रस्येक्षुक्षेत्रकरणादिरूपेणाभिलापस्य बहुप्रकारत्वात्, तथा च सम्प्रदायः—वंजणपरियावन्नं णाम जं खेत्तंति अभिलप्पति तंजहा–उच्छुखेत्तकरणं सालिखेत्तकरणं तिलखित्तकरणं एवमादि' अथवा यस्मिन् क्षेत्रे करणं क्रियते वर्ण्यते वा तत् क्षेत्रकरणमिति गाथार्थः ॥ १९६ ॥ इदानीं कालकरणमाह—

कालो जो जावइओ जं कीरइ जंमि जंमि कालंमि। ओहेण नामओ पुण हवंति इक्कारसकरणा ॥ १९७ ॥

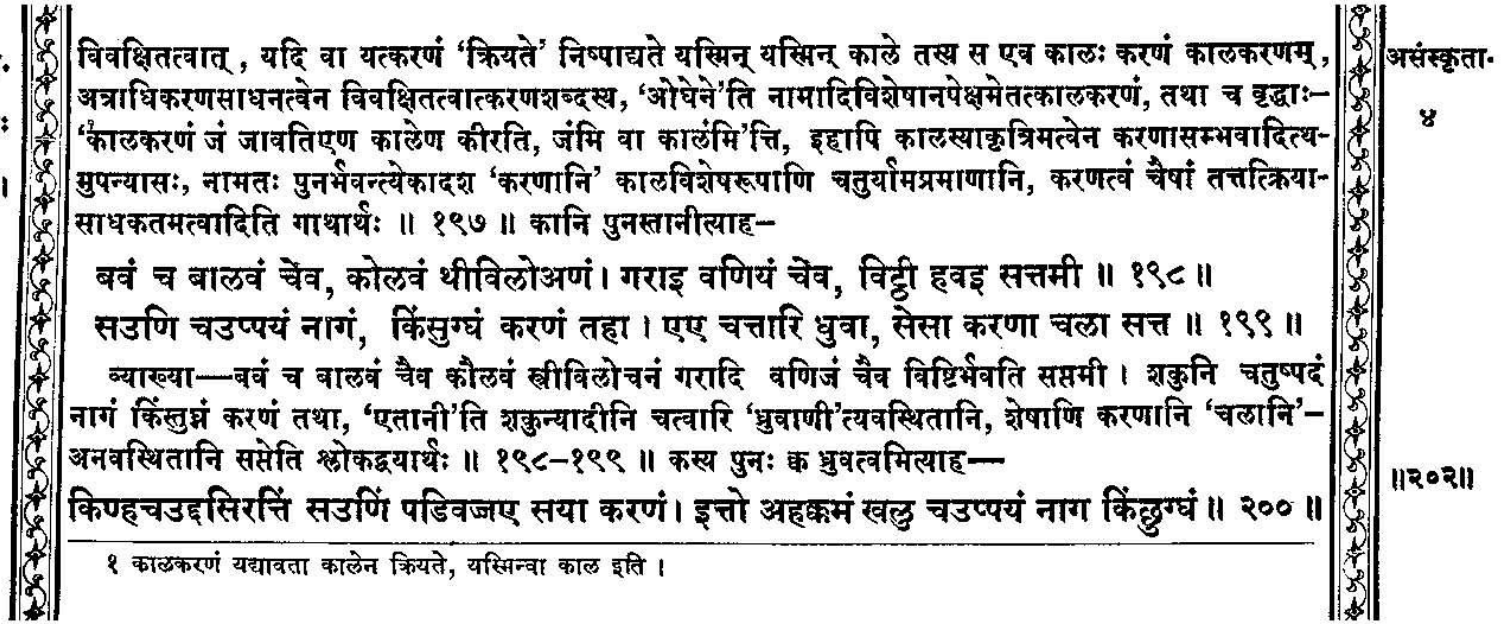
व्याख्या—कालो 'यः' समयादिर्यावत्परिमाणः यत्करणनिष्पत्तावपेक्षाकारणत्वेन व्याप्रियते, किमुक्तं भवति ?–यस्य भोजनादेर्यावता घटिकाद्वयादिना कालेन निष्पत्तिस्तस्य स एव कालः करणं, तस्यैव तत्र साधकतमत्वेन

१ व्यञ्जनपर्यायापन्नं नाम यत्क्षेत्रमित्यभिलप्यते, तद्यथा–इक्षुक्षेत्रकरणं शालिक्षेत्रकरणं तिलक्षेत्रकरणमेवमादि ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥२०२॥

विवक्षितत्वात्, यदि वा यत्करणं 'क्रियते' निष्पाद्यते यस्मिन् यस्मिन् काले तस्य स एव कालः करणं कालकरणम्, अत्राधिकरणसाधनत्वेन विवक्षितत्वात्करणशब्दस्य, 'ओघेने'ति नामादिविशेषानपेक्षमेतत्कालकरणं, तथा च वृद्धाः– '[1]कालकरणं जं जावतिएण कालेण कीरति, जंमि वा कालंमि'त्ति, इहापि कालस्याकृत्रिमत्वेन करणासम्भवादित्यमुपन्यासः, नामतः पुनर्भवन्त्येकादश 'करणानि' कालविशेषरूपाणि चतुर्यामप्रमाणानि, करणत्वं चैषां तत्तत्क्रियासाधकतमत्वादिति गाथार्थः ॥ १९७ ॥ कानि पुनस्तानीत्याह–

बवं च बालवं चेव, कोलवं थीविलोअणं। गराइ वणियं चेव, विट्ठी हवइ सत्तमी ॥ १९८ ॥
सउणि चउप्पयं नागं, किंसुग्घं करणं तहा। एए चत्तारि धुवा, सेसा करणा चला सत्त ॥ १९९ ॥

व्याख्या—बवं च बालवं चैव कौलवं स्त्रीविलोचनं गरादि वणिजं चैव विष्टिर्भवति सप्तमी। शकुनि चतुष्पदं नागं किंस्तुघ्नं करणं तथा, 'एतानी'ति शकुन्यादीनि चत्वारि 'ध्रुवाणी'त्यवस्थितानि, शेषाणि करणानि 'चलानि'–अनवस्थितानि सप्तेति श्लोकद्वयार्थः ॥ १९८–१९९ ॥ कस्य पुनः क्व ध्रुवत्वमित्याह—

किण्हचउद्दसिरत्तिं सउणिं पडिवज्जए सया करणं। इत्तो अहक्कमं खलु चउप्पयं नाग किंछुग्घं ॥ २०० ॥

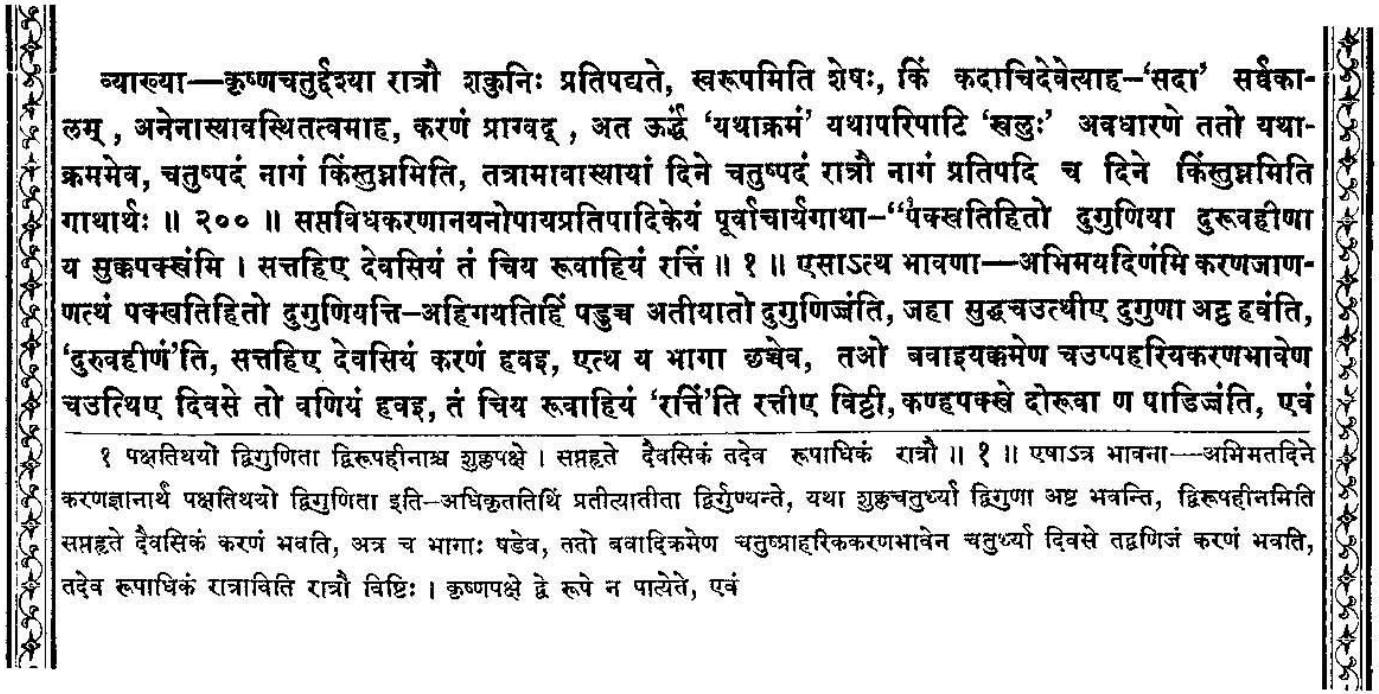
१ कालकरणं यद्यावता कालेन क्रियते, यस्मिन्वा काल इति।

असंस्कृता- ४ ॥२०२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]



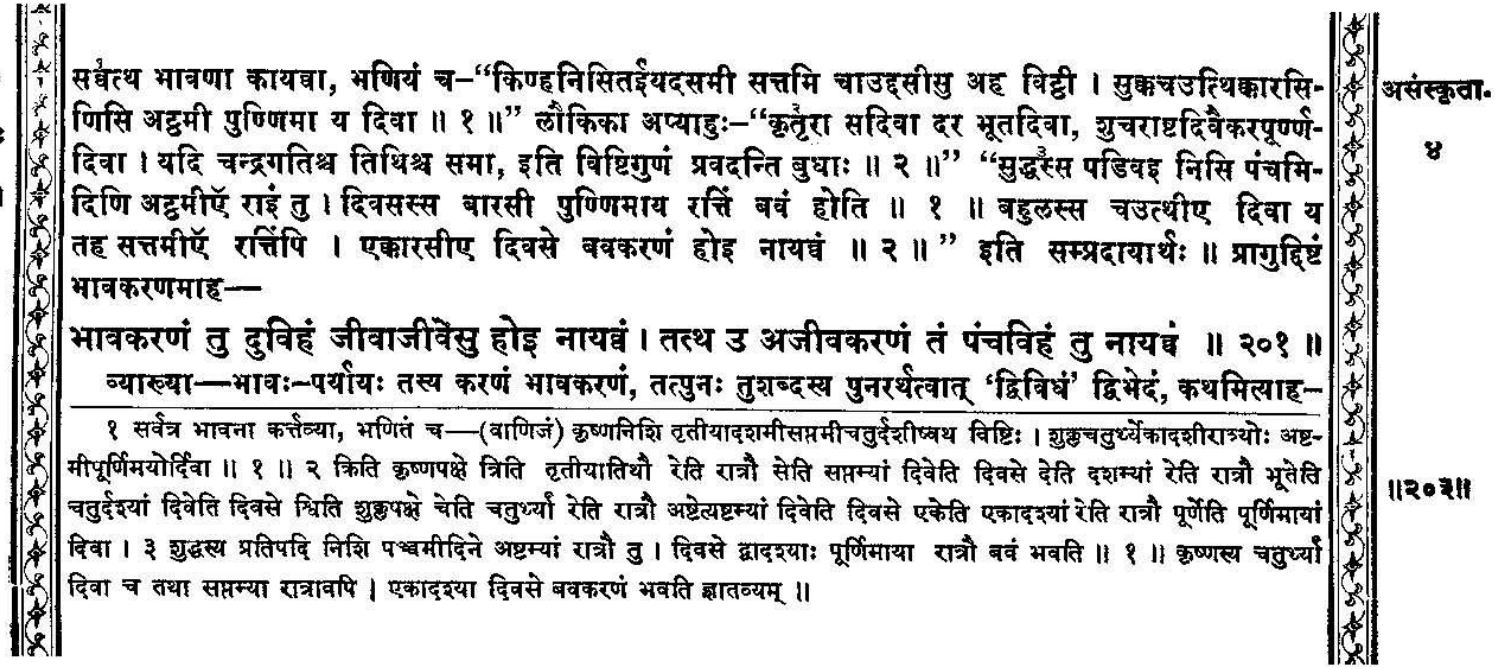
व्याख्या—कृष्णचतुर्दश्या रात्रौ शकुनिः प्रतिपद्यते, स्वरूपमिति शेषः, किं कदाचिदेवेत्याह–'सदा' सर्वकालम्, अनेनास्यावस्थितत्वमाह, करणं प्राग्वद्, अत ऊर्द्धं 'यथाक्रमं' यथापरिपाटि 'स्वलुः' अवधारणे ततो यथाक्रममेव, चतुष्पदं नागं किंस्तुघ्नमिति, तत्रामावास्यायां दिने चतुष्पदं रात्रौ नागं प्रतिपदि च दिने किंस्तुघ्नमिति गाथार्थः ॥ २०० ॥ सप्तविधकरणानयनोपायप्रतिपादिकेयं पूर्वाचार्यगाथा–"[१]पक्खतिहितो दुगुणिया दुरूवहीणा य सुक्कपक्खंमि । सत्तहिए देवसियं तं चिय रूवाहियं रत्तिं ॥ १ ॥ एसाऽत्थ भावणा—अभिमयदिणंमि करणजाणणत्थं पक्खतिहितो दुगुणियत्ति–अहिगयतिहिं पडुच्च अतीयातो दुगुणिज्जंति, जहा सुद्धचउत्थीए दुगुणा अट्ठ हवंति, 'दुरुवहीणं'ति, सत्तहिए देवसियं करणं हवइ, एत्थ य भागा छच्चेव, तओ बवाइयक्कमेण चउप्पहरियकरणभावेण चउत्थिए दिवसे तो वणियं हवइ, तं चिय रूवाहियं 'रत्तिं'ति रत्तीए विट्ठी, कण्हपक्खे दोरूवा ण पाडिज्जंति, एवं

१ पक्षतिथयो द्विगुणिता द्विरूपहीनाश्च शुक्लपक्षे । सप्तहृते दैवसिकं तदेव रूपाधिकं रात्रौ ॥ १ ॥ एषाऽत्र भावना—अभिमतदिने करणज्ञानार्थं पक्षतिथयो द्विगुणिता इति–अधिकृततिथिं प्रतीत्यातीता द्विर्गुण्यन्ते, यथा शुक्लचतुर्थ्यो द्विगुणा अष्ट भवन्ति, द्विरूपहीनमिति सप्तहृते दैवसिकं करणं भवति, अत्र च भागाः षडेव, ततो बवादिक्रमेण चतुष्प्राहरिककरणभावेन चतुर्थ्यां दिवसे तद्वणिजं करणं भवति, तदेव रूपाधिकं रात्राविति रात्रौ विष्टिः । कृष्णपक्षे द्वे रूपे न पात्येते, एवं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥२०३॥

सर्वत्र भावणा कायव्वा, भणियं च–"किण्हनिसितईयदसमी सत्तमि चाउद्दसीसु अह विट्ठी । सुक्कचउत्थिक्कारसि-णिसि अट्ठमी पुण्णिमा य दिवा ॥ १ ॥" लौकिका अप्याहुः–"कृतैरा सदिवा दर भूतदिवा, शुचराष्टदिवैकरपूर्ण्ण-दिवा । यदि चन्द्रगतिश्च तिथिश्च समा, इति विष्टिगुणं प्रवदन्ति बुधाः ॥ २ ॥" "सुद्धस्स पडिवइ निसि पंचमि-दिणि अट्ठमीए राइं तु । दिवसस्स बारसी पुण्णिमाय रत्तिं बवं होति ॥ १ ॥ बहुलस्स चउत्थीए दिवा य तह सत्तमीए रत्तिंपि । एक्कारसीए दिवसे बवकरणं होइ नायव्वं ॥ २ ॥" इति सम्प्रदायार्थः ॥ प्रागुद्दिष्टं भावकरणमाह—

भावकरणं तु दुविहं जीवाजीवेसु होइ नायव्वं । तत्थ उ अजीवकरणं तं पंचविहं तु नायव्वं ॥ २०१ ॥

व्याख्या—भावः–पर्यायः तस्य करणं भावकरणं, तत्पुनः तुशब्दस्य पुनरर्थत्वात् 'द्विविधं' द्विभेदं, कथमित्याह–

१ सर्वत्र भावना कर्त्तव्या, भणितं च—(वाणिजं) कृष्णनिशि तृतीयादशमीसप्तमीचतुर्दशीष्वथ विष्टिः । शुक्लचतुर्थ्येकादशीरात्र्योः अष्ट-मीपूर्णिमयोर्दिवा ॥ १ ॥ २ कृति कृष्णपक्षे त्रिति तृतीयातिथौ रेति रात्रौ सेति सप्तम्यां दिवेति दिवसे देति दशम्यां रेति रात्रौ भूतेति चतुर्दश्यां दिवेति दिवसे थिति शुक्लपक्षे चेति चतुर्थ्यां रेति रात्रौ अष्टेत्यष्टम्यां दिवेति दिवसे एकेति एकादश्यां रेति रात्रौ पूर्णेति पूर्णिमायां दिवा । ३ शुद्धस्य प्रतिपदि निशि पञ्चमीदिने अष्टम्यां रात्रौ तु । दिवसे द्वादश्याः पूर्णिमाया रात्रौ बवं भवति ॥ १ ॥ कृष्णस्य चतुर्थ्यां दिवा च तथा सप्तम्या रात्रावपि । एकादश्या दिवसे बवकरणं भवति ज्ञातव्यम् ॥

असंस्कृता. ४ ॥२०३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]

जीवाजीवेषु भवति 'ज्ञातव्यम्' अवबोद्धव्यं, किमुक्तं भवति ?–जीवविषयमजीवविषयं च, तत्राल्पवक्तव्यत्वाद-जीवभावकरणमेवादावुपदर्शयति–'तत्थ जमजीवकरणं'ति तत्र–तयोर्द्वयोर्मध्ये यदजीवकरणं तत् 'पञ्चविधं तु' पञ्च-प्रकारमेव 'ज्ञातव्यम्' अवसेयमिति गाथार्थः ॥ २०१ ॥ एतदेव स्पष्टयितुमाह—

वण्णरसगंधफासे संठाणे चेव होइ नायव्वं । पंचविहं पंचविहं दुविहऽट्ठविहं च पंचविहं ॥ २०२ ॥

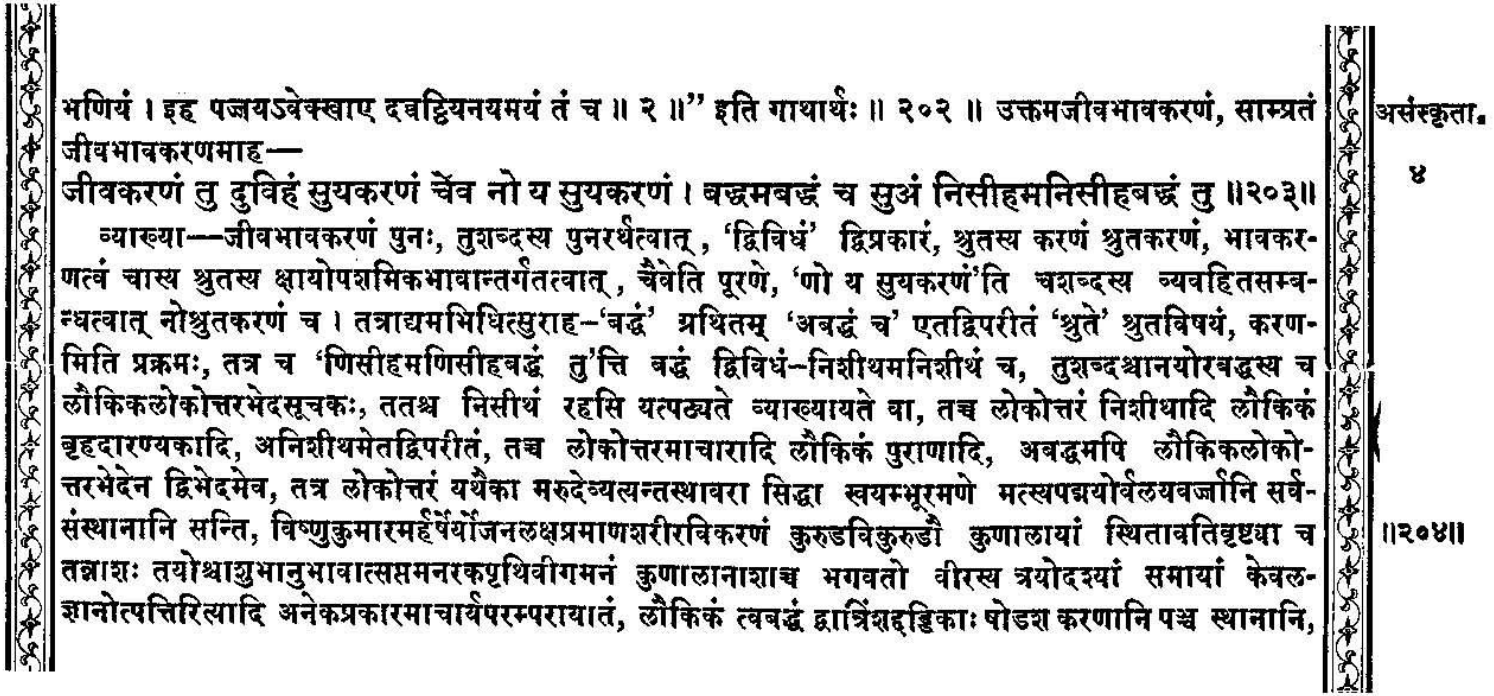
व्याख्या—वर्णरसगन्धस्पर्शे संस्थाने चैव, उभयत्र विषयसप्तमी, ततो वर्णादिविषयं भवति ज्ञातव्यम्, अजीवकर-णमिति प्रक्रमः, तत्र वर्णः पञ्चविधः–कृष्णादिः, रसः पञ्चविधस्तिक्तादिः, गन्धो द्विभेदः–सुरभिरितरश्च, स्पर्शोऽष्ट-विधः–कर्कशादिः, संस्थानं पञ्चविधं–परिमण्डलादि, एतद्भेदात्करणमप्येतद्विषयमेतावद्भेदमेव, अत एवाह—'पञ्च-विध'मित्यादि, ननु द्रव्यकरणात्कोऽस्य विशेषः ?, उच्यते, इह पर्यायापेक्षया तथाभवनमभिप्रेतं, द्रव्यकरणे तु द्रव्यस्यैव तथा तथोत्पादो द्रव्यास्तिकमतापेक्षयेति विशेषः, उक्तं च—"अपरप्पओगजं (ओ) जं अजीवरूवादि पज्जयावत्थं । तमजीवभावकरणं तप्पज्जाअप्पणावेक्खं ॥ १ ॥ को दव्वविस्ससाकरणाउ विसेसो इमस्स ? ननु

१ अपरप्रयोगजं (तो) यदजीवरूपादि पर्यायावस्थम् । तदजीवभावकरणं तत्पर्यायात्मनोऽपेक्षया ॥१॥ को द्रव्यविश्रसाकरणाद्विशेषोऽस्य ?. ननु भणितम् । इह पर्यायापेक्षया द्रव्यार्थिकनयमतं तच्च ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥२०४॥

भणियं । इह पज्जयऽवेक्खाए दव्वट्ठियनयमयं तं च ॥ २ ॥" इति गाथार्थः ॥ २०२ ॥ उक्तमजीवभावकरणं, साम्प्रतं जीवभावकरणमाह—

जीवकरणं तु दुविहं सुयकरणं चेव नो य सुयकरणं । बद्धमबद्धं च सुअं निसीहमनिसीहबद्धं तु ॥२०३॥

व्याख्या—जीवभावकरणं पुनः, तुशब्दस्य पुनरर्थत्वात्, 'द्विविधं' द्विप्रकारं, श्रुतस्य करणं श्रुतकरणं, भावकरणत्वं चास्य श्रुतस्य क्षायोपशमिकभावान्तर्गतत्वात्, चैवेति पूरणे, 'णो य सुयकरणं'ति चशब्दस्य व्यवहितसम्बन्धत्वात् नोश्रुतकरणं च । तत्राद्यमभिधित्सुराह–'बद्धं' ग्रथितम् 'अबद्धं च' एतद्विपरीतं 'श्रुते' श्रुतविषयं, करणमिति प्रक्रमः, तत्र च 'णिसीहमणिसीहबद्धं तु'त्ति बद्धं द्विविधं–निशीथमनिशीथं च, तुशब्दश्चानयोरबद्धस्य च लौकिकलोकोत्तरभेदसूचकः, ततश्च निसीथं रहसि यत्पठ्यते व्याख्यायते वा, तच्च लोकोत्तरं निशीथादि लौकिकं बृहदारण्यकादि, अनिशीथमेतद्विपरीतं, तच्च लोकोत्तरमाचारादि लौकिकं पुराणादि, अबद्धमपि लौकिकलोकोत्तरभेदेन द्विभेदमेव, तत्र लोकोत्तरं यथैका मरुदेव्यत्यन्तस्थावरा सिद्धा स्वयम्भूरमणे मत्स्यपद्मयोर्वलयवर्जानि सर्वसंस्थानानि सन्ति, विष्णुकुमारमर्हर्षेर्योजनलक्षप्रमाणशरीरविकरणं कुरुडविकुरुडौ कुणालायां स्थितावतिवृष्ट्या च तन्नाशः तयोश्चाशुभानुभावात्सप्तमनरकपृथिवीगमनं कुणालानाशाच्च भगवतो वीरस्य त्रयोदश्यां समायां केवलज्ञानोत्पत्तिरित्यादि अनेकप्रकारमाचार्यपरम्परायातं, लौकिकं त्वबद्धं द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाः षोडश करणानि पञ्च स्थानानि,

असंस्कृता. ४ ॥२०४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]

तद्यथा–आलीढं प्रत्यालीढं वैशाखं मण्डलं समपदं च, तत्रालीढं दक्षिणं पादमग्रतः कृत्वा वामपादं पृष्ठतः सारयति, अन्तरं द्वयोरपि पादयोः पञ्च पदानि, एतद्विपरीतं तु प्रत्यालीढं, वैशाखं पुनः पार्ष्णी अभ्यन्तरतः कृत्वा समश्रेण्या व्यवस्थापयति, अग्रिमतलौ बहिर्भूतौ कार्यौ, मण्डलं द्वावपि पादौ दक्षिणवामतोऽवसार्य ऊरू आकुञ्चति, यथा मण्डलं भवति, अन्तरं चत्वारि पादानि, समपदं पुनः स्थानं द्वावपि पादौ समौ नैरन्तर्येण स्थापयति, एतानि पञ्च स्थानान्यवद्धानि, शयनकरणं च षष्ठमिति गाथाक्षरार्थः ॥ २०३ ॥ उक्तं श्रुतकरणमधुना नोश्रुतकरणमाह—

नोसुयकरणं दुविहं गुणकरणं तह य जुंजणाकरणं। गुण तवसंजमजोगा जुंजण मणवायकाए य २०४

व्याख्या—इह च नोशब्दस्य सर्वनिषेधाभिधायित्वात् श्रुतकरणं यन्न भवति तन्नोश्रुतकरणं, तच्च द्वेधा—गुणकरणं 'तथा च' तैनैव नोश्रुतत्वलक्षणेन प्रकारेण योजनाकरणं च, एतत्स्वरूपमाह—'गुण'त्ति प्रक्रमाद् गुणकरणं, किमित्याह–तपश्च संयमश्च तपःसंयमौ तयोरात्मगुणयोर्योगाः–तत्करणरूपा व्यापारास्तपःसंयमयोगाः, किमुक्तं भवति ?–तपःकरणम्–अनशनादि संयमकरणं च–पञ्चाश्रवविरमणादि गुणकरणमुच्यते, गुणत्वं च तपःसंयमयोः कर्म्मनिर्जराहेतुत्वेनात्मोपकारित्वात्, 'जुंजण'त्ति योजनाकरणं 'मणवयणकाए य'त्ति चशब्दोऽवधारणे, विषयसप्तमी चेयं, ततो मनोवाक्कायविषयमेव, तत्र मनोविषयं सत्यमनोयोजनाकरणादि चतुर्धा, वाग्विषयमपि सत्यवाग्योजनाकरणादि चतुर्धैव, कायविषयं त्वौदारिककाययोजनाकरणादि सप्तधा, ततश्च द्वाभ्यां चतुष्काभ्यां सप्तकेन च मीलि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [११६]

तेन पञ्चदशविधं योजनाकरणं, योजयति ह्येतत्पञ्चदशविधमपि कर्म्मणा सहात्मानमिति, आह च–"[१]मणवयणकाय-किरिया पन्नरसविहा उ जुंजणाकरण"मिति गाथार्थः ॥ २०४ ॥ येन करणेनात्र प्रकृतं तदाह—

कम्मगसरीरकरणं आउअकरणं असंखयं तं तु । तेणऽहिगारो तम्हा उ अप्पमाओ चरित्तंमि ॥२०५॥

व्याख्या—'कर्म्मकशरीरकरणं' कार्मणदेहनिर्वर्त्तनं, तदपि ज्ञानावरणादिभेदतोऽनेकविधमित्याह–'आयुःकरणम्' इति आयुषः–पञ्चमकर्म्मप्रकृत्यात्मकस्य करणं–निर्वर्त्तनमायुःकरणं, तत्किमित्याह–'असंखयं तं तु'त्ति तत्पुनरायुःकरणमसंस्कृतं–नोत्तरकरणेन त्रुटितमपि पटादिवत्सन्धातुं शक्यं, यतः–"फुट्टा[२] तुट्टा व इहं पडमादी संधयंति णयणिउणा । सा कावि णत्थि णीई संधिज्जइ जीवियं जीए ॥१॥" एवं च 'स्वरूपतो हेतुतो विषयतश्च व्याख्ये'ति स्वरूपतो हेतुतश्च 'उत्तरकरणेण कय'मित्यादिना ग्रन्थेन व्याख्यातम्, अनेन त्वायुष्ककरणस्यासंस्कृतत्वोपदर्शनेन विषयतः, इदानीं तूपसंहारमाह–'तेणऽहिगारो'त्ति 'तेने'त्यायुःकर्मणाऽसंस्कृतेनाधिकारः, 'तम्हा उ'त्ति तस्मात् तुशब्दोऽवधारणार्थः, तस्य च व्यवहितः सम्बन्धः, ततोऽयमर्थः—यस्मादसंस्कृतमायुःकर्म्म तस्मात् 'अप्रमाद एव' प्रमादाभाव एव, 'चरित्र' इति चरित्रविषयः कर्त्तव्य इति गाथार्थः ॥ २०७ ॥ एवं च व्याख्यातं संस्कृतम्,

१ मनोवचनकायक्रिया पञ्चदशविधं तु योजनाकरणम् । २ स्फुटितास्त्रुटिता वा इह पटादयः संदधति नयनिपुणाः । सा काचिन्नास्ति नीतिः संधीयते जीवितं यया ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२॥

दीप अनुक्रम [११७]

एतद्विपरीतं चासंस्कृतमिति। सम्प्रति सूत्रमनुश्रियते–तत्र चासंस्कृतं जीवितमिति जरोपनीतस्य न त्राणमिति च मा प्रमादीरित्युक्तेऽर्थस्यापि पुरुषार्थतया सकलैहिकामुष्मिकफलनिबन्धनतया च तदुपार्जनं प्रत्यप्रमादो विधेय इति केषाञ्चित्कदाशयः, यत आह–"धनैर्दुष्कुलीनाः कुलीनाः क्रियन्ते, धनैरेव पापात्पुनर्निस्तरन्ति। धनिभ्यो विशिष्टो न लोकेऽस्ति कश्चिद्धनान्यर्जयध्वं धनान्यर्जयध्वम् ॥ १ ॥" इति, तन्मतमपाकर्तुमाह—

जे पावकम्मेहि धणं मणुस्सा, समाययंती अमतिं गहाय।
पहाय ते पास पयट्टिए नरे, वेराणुबद्धा नरयं उवेंति ॥ २ ॥ (सूत्रम्)

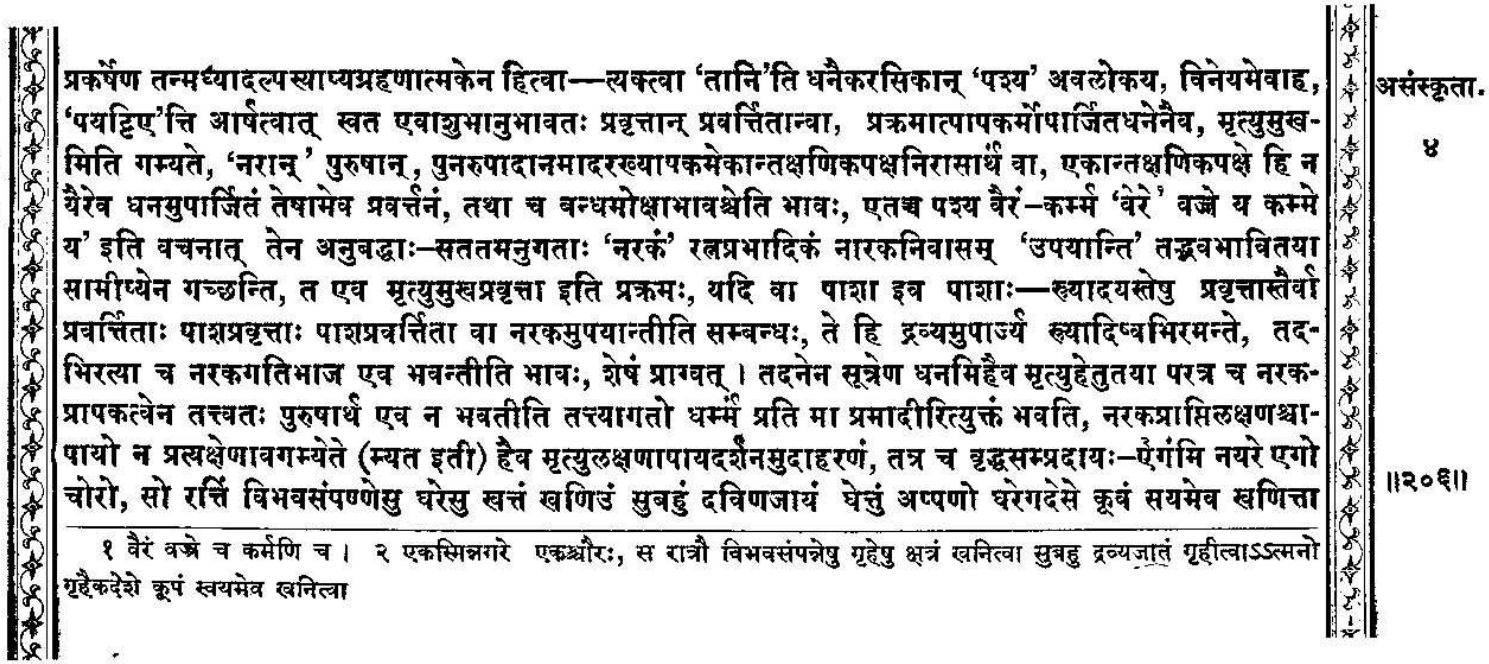
व्याख्या—'य' इति ये केचनाविवक्षितस्वरूपाः 'पापकर्मभिः' इति पापोपादानहेतुभिरनुष्ठानैः 'धनं' द्रव्यं 'मनुष्याः' मनुजाः, तेषामेव प्रायस्तदर्थोपायप्रवर्त्तनादित्थमुक्तं, 'समाददते' स्वीकुर्वन्ति, 'अमतिम्' इति प्राग्वन्नञः कुत्साथामपि दर्शनात् कुमतिम्–उक्तरूपां 'गहाय'त्ति गृहीत्वा सम्प्रधार्य, पठ्यते च–'अमयं गहाये'ति अशोभनं मतममतं–नास्तिकादिदर्शनम्, अथवा अमृतमिवामृतम्–आत्मनि परमानन्दोत्पादकतया तच्च प्रक्रमाद्धनं 'पहाय'त्ति

१ दन्त्यसकारवान् स्यात्, स्याद्वा संज्ञापूर्वको विधिरनित्य इति न्यायमाश्रित्य नामिसंज्ञोद्देशेन गुणविधानात् गुणाभावात् आत्मनेपदे एवं, धातुर्वा दिवादावात्मनेपदी कस्यचिन्मते स्यात् तुदादौ वा, कर्मणि प्रयोगात्तु न तत्कल्पनं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२॥

दीप अनुक्रम [११७]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥२०६॥

प्रकर्षेण तन्मध्यादल्पस्याप्यग्रहणात्मकेन हित्वा—त्यक्त्वा 'तानि'ति धनैकरसिकान् 'पश्य' अवलोकय, विनेयमेवाह, 'पयट्टिए'त्ति आर्षत्वात् स्वत एवाशुभानुभावतः प्रवृत्तान् प्रवर्त्तितान्वा, प्रक्रमात्पापकर्मोपार्जितधनेनैव, मृत्युमुखमिति गम्यते, 'नरान्' पुरुषान्, पुनरुपादानमादरख्यापकमेकान्तक्षणिकपक्षनिरासार्थं वा, एकान्तक्षणिकपक्षे हि न यैरेव धनमुपार्जितं तेषामेव प्रवर्त्तनं, तथा च बन्धमोक्षाभावश्चेति भावः, एतच्च पश्य वैरं–कर्म्म 'वेरे' वज्जे य कम्मे य' इति वचनात् तेन अनुबद्धाः—सततमनुगताः 'नरकं' रत्नप्रभादिकं नारकनिवासम् 'उपयान्ति' तद्भवभावितया सामीप्येन गच्छन्ति, त एव मृत्युमुखप्रवृत्ता इति प्रक्रमः, यदि वा पाशा इव पाशाः—रुषादयस्तेषु प्रवृत्तास्तैर्वा प्रवर्त्तिताः पाशप्रवृत्ताः पाशप्रवर्त्तिता वा नरकमुपयान्तीति सम्बन्धः, ते हि द्रव्यमुपार्ज्य रुषादिष्वभिरमन्ते, तदभिरत्या च नरकगतिभाज एव भवन्तीति भावः, शेषं प्राग्वत्। तदनेन सूत्रेण धनमिहैव मृत्युहेतुतया परत्र च नरकप्रापकत्वेन तत्त्वतः पुरुषार्थ एव न भवतीति तत्त्यागतो धर्म्मे प्रति मा प्रमादीरित्युक्तं भवति, नरकप्राप्तिलक्षणश्चापायो न प्रत्यक्षेणावगम्येते (म्यत इती) हैव मृत्युलक्षणापायदर्शनमुदाहरणं, तत्र च वृद्धसम्प्रदायः—ऐगंमि नयरे एगो चोरो, सो रत्तिं विभवसंपण्णेसु घरेसु खत्तं खणिउं सुबहुं दविणजायं घेत्तुं अप्पणो घरेगदेसे कूवं सयमेव खणित्ता

१ वैरं वज्रे च कर्मणि च। २ एकस्मिन्नगरे एकश्चौरः, स रात्रौ विभवसंपन्नेषु गृहेषु क्षत्रं खनित्वा सुबहु द्रव्यजातं गृहीत्वाऽऽत्मनो गृहैकदेशे कूपं स्वयमेव खनित्वा

असंस्कृता. ४ ॥२०६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२॥

दीप अनुक्रम [११७]

तत्थं दविणजायं पक्खिवइ, जहिच्छियं च सुक्कं दाऊण कण्णगं विवाहेउं पसूयं संतिं रत्तिं उद्दवेत्ता तत्थेवागडे पक्खिवइ, मा मे भज्जा चेडरूवाणि य परूढपणयाणि होऊण रयणाणि परस्स पयासेस्संति, एवं कालो वच्चति। अण्णया तेणेगा कण्णया विवाहिया अतीव रूवस्सिणी, सा पसूया संता तेण ण मारिया, दारगो य, सो अट्ठवरिसो जाओ, तेण चिंतियं–अइचिरं कालं विधारिया, एयं पुव्वं उद्दवेउं पच्छा दारयं उद्दविस्संति, तेण सा उद्दवेउं अगडे पक्खित्ता, तेण य दारगेण गिहाओ निग्गच्छिऊण धाधाकया, लोगो मिलिओ, तेण भण्णइ—एएण मम माया मारियत्ति, रायपुरिसेहिं सुयं, तेहिं गहितो, दिट्ठो कूवो दव्वभरितो, अट्ठाणि य सुबहूणि, सो बंधिऊण रायसभं समुवणीतो जायणापगारेहिं, सव्वं दव्वं दवावेऊण कुमारेण मारितो ॥ एवमन्येऽपि धनं प्रधानमिति तदर्थे

१ तत्र द्रव्यजातं प्रक्षिपति, यथेप्सितं च शुल्कं दत्त्वा कन्यकां विवाह्य प्रसूतां सन्तीमपद्राव्य रात्रौ तत्रैवावटे प्रक्षिपति, मा मम भार्या-श्रेटरूपाणि च प्ररूढप्रणयानि भूत्वा रत्नानि परस्मै प्रदीकशन्निति, एवं कालो व्रजति। अन्यदा तेनैका कन्यका विवोढा अतीव रूपवती, सा प्रसूता सन्ती तेन न मारिता, दारकश्च, सोऽष्टवर्षो जातः, तेन चिन्तितम्–अतिचिरं कालं विधृता, एनां पूर्वमपद्राव्य पश्चादारकमपद्रोष्यामीति, तेन साऽपद्राव्यावटे प्रक्षिप्ता, तेन च दारकेण गृहात् निर्गत्य हाहारवः (कृतः), लोको मिलितः, तेन भण्यते–एतेन मम माता मारितेति, राजपुरुषैः श्रुतं, तैर्गृहीतः, दृष्टः कूपो द्रव्यभृतः, अर्थाश्च सुबहवः, स बद्धा राजसभां समुपनीतो यातनाप्रकारैः, सर्वं द्रव्यं दापयित्वा कुमारेण मारितः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३॥

दीप अनुक्रम [११८]

प्रवर्त्तमानास्तदपहायैहैवानर्थावाप्तितो नरकमुपयन्तीति सूत्रार्थः ॥ २ ॥ इदानीं कर्मणामवन्ध्यतामभिदधत् प्रकृतमेवार्थं द्रढयितुमाह—

तेणे जहा संधिमुहं गहीए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पिच्छ इहं च लोए, कडाण कम्माण न मोक्खो अत्थि ॥३॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'स्तेनः' चौरः यथेति दृष्टान्तोपदर्शने सन्धिः–क्षत्रं तस्य मुखमिव मुखं–द्वारं तस्मिन् 'गृहीतः' आत्तः 'स्वकर्मणा' आत्मीयानुष्ठानेन, किम् ?–'कृत्यते' छिद्यते, 'पापकारी' पातकनिमित्तानुष्ठानसेवी, कथं पुनरसौ कृत्यत इति चेद्–अत्रोच्यते सम्प्रदायः—

एगंमि नयरे एगो चोरो, तेण अभिजतो घरगस्स फलगचियस्स पागारकविसीसगसंनिहं खत्तं खणियं, खत्ताणि अणेगागाराणि–कलसागिई नंदावत्तसंठियं पउमागिइं पुरिसागिइं च, सो य तं कविसीसगसंठियं खत्तं खणंतो घरसामिए णिवेईओ, ततो तेण अद्धपविट्ठो पाएसु गहितो, मा पविट्ठो संतो पहरणेण पहरिस्सतित्ति, पच्छा

१ एकस्मिन्नगरे एकश्चौरः, तेनाभेद्यस्य गृहस्य चितफलकस्य प्राकारकपिशीर्षकसंनिभं क्षत्रं खातं, क्षत्राण्यनेकाकाराणि–कलशाकृति नन्दावर्तसंस्थितं पद्माकृति पुरुषाकृति च, स च तत् कपिशीर्षकसंस्थितं क्षत्रं खनन् गृहस्वामिना निवेदितः, ततस्तेनार्धप्रविष्टः पादयोर्गृहीतः, मा प्रविष्टः सन् प्रहरणेन प्रहार्षीदिति, पश्चा-

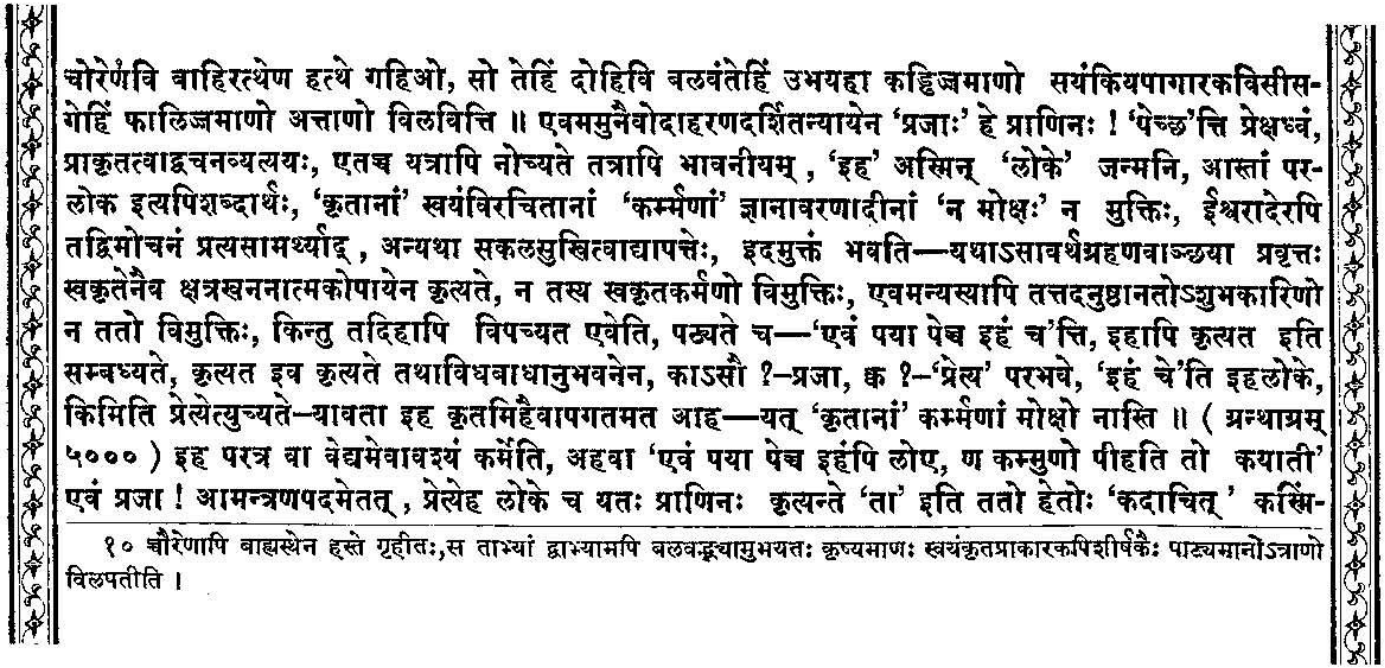
असंस्कृता- ४

॥२०७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३॥

दीप अनुक्रम [११८]



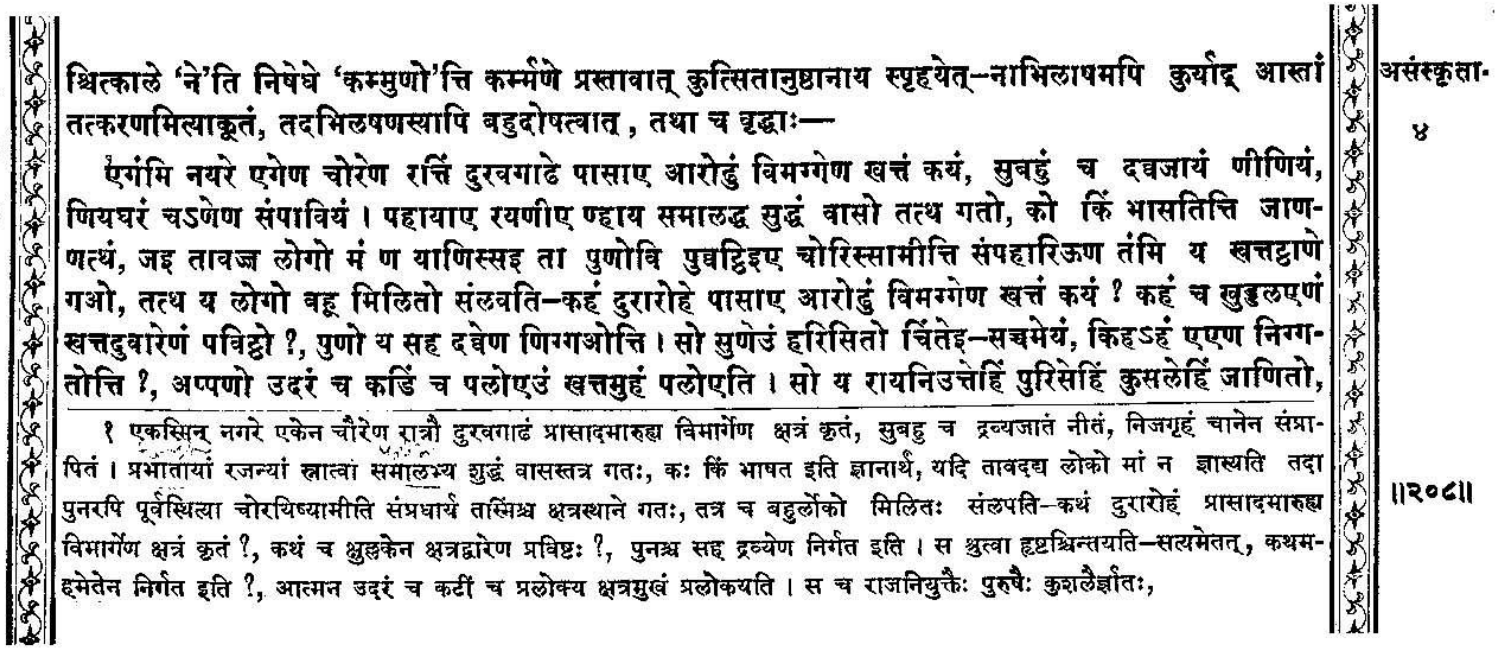
चोरेणंवि बाहिरत्थेण हत्थे गहिओ, सो तेहिं दोहिवि बलवंतेहिं उभयहा कड्ढिज्जमाणो सयंकियपागारकविसीसगेहिं फालिज्जमाणो अत्ताणो विलवित्ति ॥ एवमुनैवोदाहरणदर्शितन्यायेन 'प्रजाः' हे प्राणिनः ! 'पेच्छ'त्ति प्रेक्षध्वं, प्राकृतत्वाद्वचनव्यत्ययः, एतच्च यत्रापि नोच्यते तत्रापि भावनीयम् , 'इह' अस्मिन् 'लोके' जन्मनि, आस्तां परलोक इत्यपिशब्दार्थः, 'कृतानां' स्वयंविरचितानां 'कर्म्मणां' ज्ञानावरणादीनां 'न मोक्षः' न मुक्तिः, ईश्वरादेरपि तद्विमोचनं प्रत्यसामर्थ्याद् , अन्यथा सकलसुखित्वाद्यापत्तेः, इदमुक्तं भवति—यथाऽसावर्थग्रहणवाञ्छया प्रवृत्तः स्वकृतेनैव क्षत्रखननात्मकोपायेन कृत्यते, न तस्य स्वकृतकर्मणो विमुक्तिः, एवमन्यस्यापि तत्तदनुष्ठानतोऽशुभकारिणो न ततो विमुक्तिः, किन्तु तदिहापि विपच्यत एवेति, पठ्यते च—'एवं पया पेच्च इहं च'त्ति, इहापि कृत्यत इति सम्बध्यते, कृत्यत इव कृत्यते तथाविधबाधानुभवनेन, काऽसौ ?–प्रजा, क्व ?–'प्रेत्य' परभवे, 'इहं चे'ति इहलोके, किमिति प्रेत्येत्युच्यते–यावता इह कृतमिहैवापगतमत आह—यत् 'कृतानां' कर्म्मणां मोक्षो नास्ति ॥ (ग्रन्थाग्रम् ५०००) इह परत्र वा वेद्यमेवावश्यं कर्मेति, अहवा 'एवं पया पेच्च इहंपि लोए, ण कम्मुणो पीहति तो कयाती' एवं प्रजा ! आमन्त्रणपदमेतत् , प्रेत्येह लोके च यतः प्राणिनः कृत्यन्ते 'ता' इति ततो हेतोः 'कदाचित्' कस्मिन्-

१० चौरेणापि बाह्यस्थेन हस्ते गृहीतः,स ताभ्यां द्वाभ्यामपि बलवद्भ्यामुभयतः कृष्यमाणः स्वयंकृतप्राकारकपिशीर्षकैः पात्यमानोऽत्राणो विलपतीति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३॥

दीप अनुक्रम [११८]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥२०८॥

श्चित्काले 'ने'ति निषेधे 'कम्मुणो'त्ति कर्म्मणे प्रस्तावात् कुत्सितानुष्ठानाय स्पृहयेत्–नाभिलाषमपि कुर्याद् आस्तां तत्करणमित्याकूतं, तदभिलषणस्यापि बहुदोषत्वात्, तथा च वृद्धाः—

एगंमि नयरे एगेण चोरेण रत्तिं दुरवगाढे पासाए आरोढुं विमग्गेण खत्तं कयं, सुबहुं च दव्वजायं णीणियं, णियघरं चऽणेण संपाविथं। पहायाए रयणीए ण्हाय समालद्ध सुद्धं वासो तत्थ गतो, को किं भासतित्ति जाणणत्थं, जइ तावज्ज लोगो मं ण याणिस्सइ ता पुणोवि पुवट्ठिइए चोरिस्सामीत्ति संपहारिऊण तंमि य खत्तट्ठाणे गओ, तत्थ य लोगो बहू मिलितो संलवति–कहं दुरारोहे पासाए आरोढुं विमग्गेण खत्तं कयं ? कहं च खुड्डुलएणं खत्तदुवारेणं पविट्ठो ?, पुणो य सह दव्वेण णिग्गओत्ति। सो सुणेउं हरिसितो चिंतेइ–सच्चमेयं, किहऽहं एएण निग्गतोत्ति ?, अप्पणो उदरं च कडिं च पलोएउं खत्तमुहं पलोएति। सो य रायनिउत्तेहिं पुरिसेहिं कुसलेहिं जाणितो,

१ एकस्मिन् नगरे एकेन चौरेण रात्रौ दुरवगाढं प्रासादमारुह्य विमार्गेण क्षत्रं कृतं, सुबहु च द्रव्यजातं नीतं, निजगृहं चानेन संप्रापितं। प्रभातायां रजन्यां स्नात्वा समालभ्य शुद्धं वासस्तत्र गतः, कः किं भाषत इति ज्ञानार्थं, यदि तावदद्य लोको मां न ज्ञास्यति तदा पुनरपि पूर्वस्थित्या चोरयिष्यामीति संप्रधार्य तस्मिंश्च क्षत्रस्थाने गतः, तत्र च बहुर्लोको मिलितः संलपति–कथं दुरारोहं प्रासादमारुह्य विमार्गेण क्षत्रं कृतं ?, कथं च क्षुल्लकेन क्षत्रद्वारेण प्रविष्टः ?, पुनश्च सह द्रव्येण निर्गत इति। स श्रुत्वा हृष्टश्चिन्तयति–सत्यमेतत्, कथमहमेतेन निर्गत इति ?, आत्मन उदरं च कटीं च प्रलोक्य क्षत्रमुखं प्रलोकयति। स च राजनियुक्तैः पुरुषैः कुशलैर्ज्ञातः,

असंस्कृता- ४ ॥२०८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ॥३॥

दीप अनुक्रम [११८]

रायणो उवणीतो सासितो य ॥ एवं पापकर्म्मणामभिलषणमपि सदोषमिति न विदधीतेति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥ इह कृतानां कर्म्मणामवन्ध्यत्वमुक्तं, तत्र च कदाचित् स्वजनत एव तन्मुक्तिर्भविष्यति, अमुक्तौ वा विभज्यैवामी धनादिवद् भोक्ष्यन्त इति कश्चिन्मन्येत अत आह—

संसारमावन्न परस्स अट्ठा, साहारणं जं च करेति कम्मं ।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले, न बंधवा बंधवयं उवेंति ॥ ४ ॥(सूत्रम्)

व्याख्या—पाठान्तरेऽपि पापकर्मस्पृहणं सदोषमिति निषिद्धं, ततस्तत्रापि स्यादेतत्–यथेह सर्वं साधारणं तथाऽमुष्मिन्नपि भविष्यत्यत आह—'संसार'सूत्रं, संसरणं–संसारः—तेषु तेषूच्चावचेषु पर्यटनं तम् आपन्नः–प्राप्तः, 'परस्य' आत्मव्यतिरिक्तस्य पुत्रकलत्रादेः, 'अर्थात्' इति अर्थे–प्रयोजनमाश्रित्य 'साधारणं जं च'त्ति चस्य वाशब्दार्थत्वाद् भिन्नक्रमत्वाच्च साधारणं वा यदात्मनोऽन्येषां चैतद् भविष्यतीत्यभिसन्धिपूर्वकं 'करोति' निर्वर्त्तयति भवान्, कर्म्महेतुत्वात् कर्म्म क्रियत इति वा कर्म–कृष्यादिकर्म्म तस्यैव कृष्यादेः 'ते' तव हे कृष्यादिकर्म्मकर्त्तः ! 'तस्य' परार्थस्य साधारणस्य वा, तुशब्दोऽपिशब्दार्थः, आस्तामात्मनिमित्तं कृतस्येत्यभिप्रायः, 'वेदनं' वेदो विपाकः

१ राज्ञ उपनीतः शिक्षां ग्राहितश्च ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४॥

दीप अनुक्रम [११९]

तत्तत्कर्मफलानुभवनं तत्काले 'न' इति निषेधे, अवधारणफलत्वाद्वाक्यस्य नैव 'बान्धवाः' स्वजनाः, यदर्थं तत्कर्म्म कृतवान् करोषि वा ते 'बान्धवतां' बन्धुभावं तद्विभजनापनयनादिना 'उवेंति'त्ति उपयन्तीति, यतश्चैवमतस्तदुपरि प्रेमादिप्रमादपरिहारतो धर्म एवावहितेन भाव्यं, तथाविधाभीरीव्यंसकवणिग्वत्। तथा च वृद्धाः—

एगंमि नयरे एगो वाणियगो अंतरावणेसुं ववहरइ, एगा आभीरी उज्जुगा दोरूवए घेत्तूण कप्पासनिमित्तमुवट्ठिया, कप्पासो य तया समग्घो वट्टति, तेण वाणियएण एगस्स रूवस्स दो वारा तोलेउं कप्पासो दिन्नो, सा जाणइ–दोह्वि रूवगाण दिन्नोत्ति, सा पोट्टलयं बंधिऊण गया, पच्छा वाणियतो चिंतेति–एस रूवगो मुहा लद्धो, ततो अहं एयं उवभुंजामि, तेण तस्स रूवगस्स समियं घयं गुलो विक्किणिउं घरे विसज्जिउं भज्जा संलत्ता–घयपुण्णे

१ एकस्मिन्नगरे एको वणिग् अन्तरापणेषु (आपणान्तरेषु) व्यवहरति, एका आभीरी ऋजुका द्वौ रूप्यकौ गृहीत्वा कर्पासनिमित्तमुपस्थिता, कर्पासश्च तदा समर्घो वर्त्तते, तेन वणिजा एकस्य रूप्यकस्य द्वौ वारौ तोलयित्वा कर्पासो दत्तः, सा जानाति–द्वयोरपि रूप्यकयोर्दत्त इति, सा पोट्टलिकां बद्ध्वा गता, पश्चाद्वणिक् चिन्तयति—एष रूप्यको मुधा लब्धः, ततोऽहमेनमुपभुञ्जे, तेन तस्य रूप्यकस्य युगपत् घृतगुडौ विक्रीय (क्रीत्वा) गृहे विसर्ज्य भार्यां संलप्ता—घृतपूर्णान्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४॥

दीप अनुक्रम [११९]

करेज्जासित्ति, ताए कया घयपुण्णा, जामाउगो से सवयंसो आगतो, सो ताए परिवेसितो घयपुण्णेहिं, सो भुंजिउं गतो, वाणियतो ण्हाणपयतो भोयणत्थमुवगतो, सो ताए परिवेसितो साभाविएण भत्तेण, भणति–किं न कया घयउरा ?, ताए भण्णति—कया, परं जामाउएण सवयंसेण खतिया ?, सो चिंतेति—पेच्छ जारिसं कयं मया, सा वराई आभीरी वंचेउं परनिमित्तं अप्पा अवुन्नेण संजोईओ, सो य सचिंतो सरीरचिंताए णिग्गतो, गिम्हो य वट्टति, सो मज्झण्हवेलाए कयसरीरचिंतो एगस्स रुक्खस्स हेट्ठा वीसमति, साहू य तेणोगासेण भिक्खणिमित्तं जाति, तेण सो भण्णति—भगवं ! एत्थं रुक्खच्छायाए विस्सम मया समाणंति, साहुणा भणियं–तुरियं मए णियकज्जेण गंतवं, वणिएण भणियं—किं भयवं ! कोऽवि परकज्जेणावि गच्छइ ?, साहुणा भणियं–जहा तुमं चिय भज्जाइनिमित्तं किलि-

१ कुर्या इति, तया कृता घृतपूर्णाः, जामाता तस्य सवयस्य आगतः, स तया परिवेषितो घृतपूर्णैः, स भुक्त्वा गतः, वणिक् स्नात-प्रयतो भोजनार्थमुपगतः, स तया परिवेषितः स्वाभाविकेन भक्तेन, भणति—किं न कृता घृतपूर्णाः ?, तया भण्यते—कृताः, परं जामात्रा सवयस्येन खादिताः, स चिन्तयति–पश्य यादृशं कृतं मया, सा वराकी आभीरी वञ्चयित्वा परनिमित्तमात्माऽपुण्येन संयोजितः, स च सचिन्तः शरीरचिन्तायै निर्गतो, ग्रीष्मश्च वर्त्तते, स मध्याह्नवेलायां कृतशरीरचिन्त एकस्य वृक्षस्याधस्तात् विश्राम्यति, साधुश्च तेनावकाशेन भिक्षानिमित्तं याति, तेन स भण्यते—भगवन्नत्र वृक्षच्छायायां विश्राम्य मया सममिति, साधुना भणितं–त्वरितं मया निजकार्याय गन्तव्यं, वणिजा भणितं—किं भगवन् ! कोऽपि परकार्यायापि गच्छति ?, साधुना भणितं–यथा त्वमेव भार्यादिनिमित्तं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४॥

दीप अनुक्रम [११९]

स्संसि, स मर्मणीव स्पृष्टः, तेणेव एक्कवयणेण संबुद्धो भणति—भयवं ! तुम्हे कत्थ अच्छह ?, तेण भण्णइ—उज्जाणे, ततो तं साहुं कयपज्जत्तियं जाणिऊण तस्स सगासं गतो, धम्मं सोउं भणति–पव्वयामि जाव सयणं आपुच्छिऊणं, गतो णियगं घरं, बंधवे भज्जं च भणइ—जहा आवणे ववहरंतस्स तुच्छो लाभगो, ता दिसावाणिज्जं करेस्सामि, दो य सत्थवाहा, तत्थेगो मुल्लभंडं दाऊण सुहेण इट्ठपुरं पावेइ, तत्थ विढत्ते ण किंचि गिण्हति, बीओ न किंचि मुल्लभंडं देति, पुव्वविढत्तं च विलुंपेति, तं कयरेण सह वच्चामि ?, सयणेण भणियं–पढमेण सह वच्चसु, तेहिं सो समणुण्णातो बंधुसहितो गओ उज्जाणं, तेहिं भण्णति–कयरो सत्थवाहो ?, तेण भण्णति–णणु परलोगसत्थवाहो एस साहू असोगच्छायाए उवविट्ठो णियएणं भंडेणं ववहारावेइ, एएण सह निव्वाणपट्टणं जामित्ति पव्वइतो ॥ यथा चायं वणिक्

१ क्लिश्यसि, तेनैवैकवचनेन संबुद्धो भणति—भगवन्तो ! यूयं कुत्र तिष्ठथ ?, तेन भण्यते–उद्याने, ततस्तं साधुं कृतपर्याप्तिकं ज्ञात्वा तस्य सकाशं गतः, धर्मं श्रुत्वा भणति—प्रव्रजामि यावत्स्वजनमापृच्छ्य, गतो निजं गृहं, बान्धवान् भार्यां च भणति–यथा आपणे व्यवहरतस्तुच्छो लाभस्ततो दिशावाणिज्यं करिष्यामि, द्वौ च सार्थवाहौ, तत्रैको मूल्यभाण्डं दत्त्वा सुखेनेष्टपुरं प्रापयति, तत्रोपार्जितान्न किञ्चिद्गृह्णाति, द्वितीयो न किञ्चिन्मूल्यभाण्डं ददाति, पूर्वोपार्जितं च विलुम्पति (आच्छिनत्ति), तत्कतरेण सह व्रजामि ?, स्वजनेन भणितः–प्रथमेन सह व्रज, तैः स समनुज्ञातो बन्धुसहितो गत उद्यानं, तैर्भण्यते–कतरः सार्थवाहः ?, तेन भण्यते–ननु परलोकसार्थवाह एष साधुरशोकच्छायायामुपविष्टो निजेन भाण्डेन व्यवहारयति, एतेन सह निर्वाणपत्तनं यामीति प्रव्रजितः ।

असंस्कृता. ४ ॥२१०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४॥

दीप अनुक्रम [११९]

स्वजनस्वतत्त्वमालोचयन् प्रव्रज्यां प्रत्यादृतः, तथाऽन्यैरपि विवेकिभिर्यतितव्यं, तथा च वाचकः–"रोगाग्रातो दुःखार्दितस्तथा स्वजनपरिवृतोऽतीव । क्वणति करुणं सबाष्पं रुजं निहन्तुं न शक्तोऽसौ ॥ १ ॥ माता भ्राता भगिनी भार्या पुत्रस्तथा च मित्राणि । न घ्नन्ति ते यदि रुजं स्वजनबलं किं वृथा वहसि ? ॥ २ ॥ रोगहरणेऽप्यशक्ताः प्रत्युत धर्म्मस्य ते तु विघ्नकराः । मरणाच्च न रक्षन्ति स्वजनपराभ्यां किमभ्यधिकम् ? ॥ ३ ॥ तस्मात् स्वजनस्यार्थे यदिहाकार्यं करोषि निर्लज्ज ! । भोक्तव्यं तस्य फलं परलोकगतेन ते मूढ ! ॥४॥ तस्मात् स्वजनस्योपरि सङ्गं परिहाय निर्वृतो भूत्वा । धर्म्मं कुरुष्व यद्वाद्यत्परलोकस्य पथ्यदनम् ॥ ५ ॥" इति सूत्रार्थः ॥४॥ इत्थं तावत् स्वकृतकर्म्मभ्यः स्वजनान्न मुक्तिरित्युक्तम् , अधुना तु द्रव्यमेव तन्मुक्तये भविष्यतीति कस्यचिदाशयः स्यादत आह—

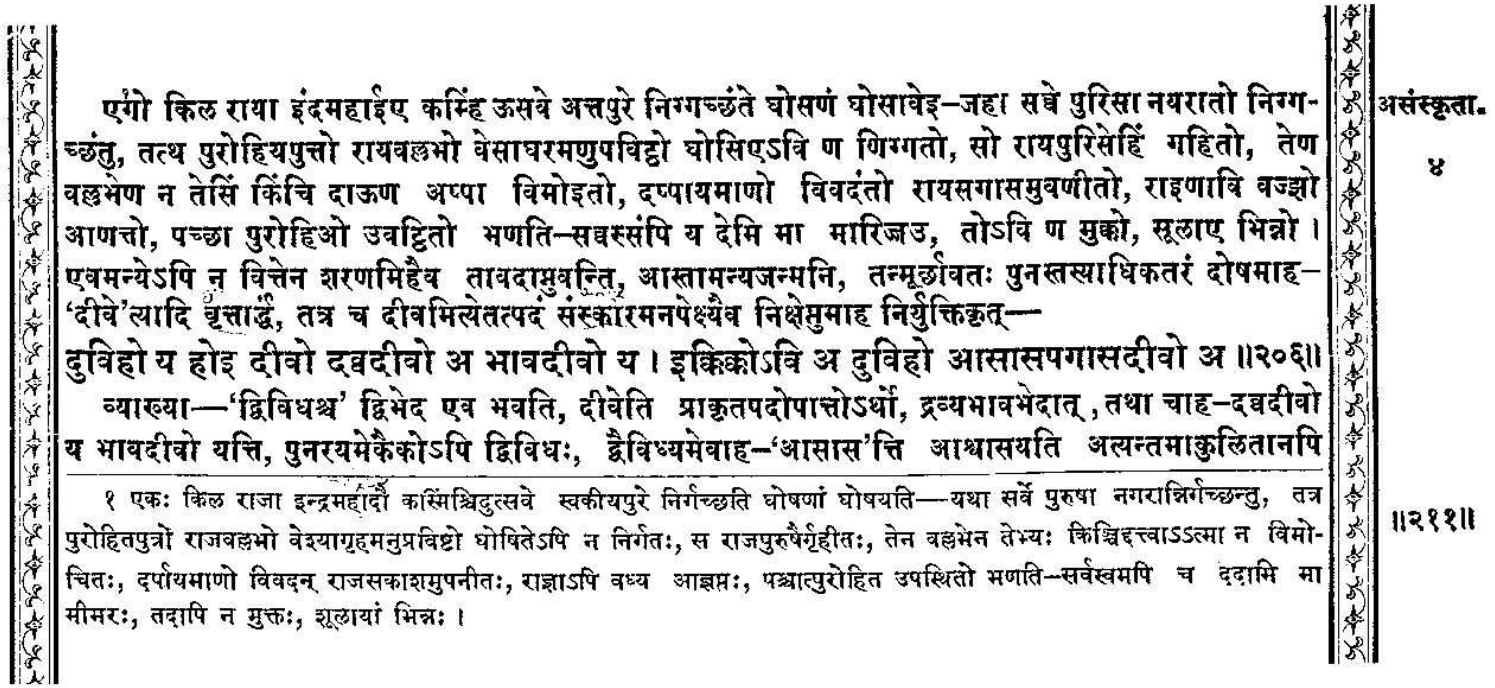
वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमंमि लोए अदुवा परत्थ ।
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे, नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥ ५ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'वित्तेन' द्रविणेन 'त्राणं' स्वकृतकर्मणो रक्षणं 'न लभते' न प्राप्नोति इति, कीदृक् ?–'प्रमत्तः' मद्यादिप्रमादवशगः, क्व ?–'इमंमि'त्ति अस्मिन्ननुभूयमानतया प्रत्यक्ष एव 'लोके' जन्मनि, 'अदुवे'ति अथवा 'परत्रे'ति परभवे, कथं पुनरिहापि जन्मनि न त्राणाय ?, अत्रोच्यते वृद्धसम्प्रदायः—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [१२०]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥२११॥

एगो किल राया इंदमहाईए कम्मिंह ऊसवे अन्तपुरे निग्गच्छंते घोसणं घोसावेइ–जहा सवे पुरिसा नयरातो निग्गच्छंतु, तत्थ पुरोहियपुत्तो रायवल्लभो वेसाघरमणुपविट्ठो घोसिएऽवि ण णिग्गतो, सो रायपुरिसेहिं गहितो, तेण वल्लभेण न तेसिं किंचि दाऊण अप्पा विमोइतो, दप्पायमाणो विवदंतो रायसगासमुवणीतो, राइणावि वज्झो आणत्तो, पच्छा पुरोहिओ उवट्ठितो भणति–सव्वस्संपि य देमि मा मारिज्जउ, तोऽवि ण मुक्को, सूलाए भिन्नो। एवमन्येऽपि न वित्तेन शरणमिहैव तावदासुवन्ति, आस्तामन्यजन्मनि, तन्मूर्छावतः पुनस्तस्याधिकतरं दोषमाह–'दीवे'त्यादि वृत्तार्द्धं, तत्र च दीवमित्येतत्पदं संस्कारमनपेक्ष्यैव निक्षेपमाह निर्युक्तिकृत्—

दुविहो य होइ दीवो दव्वदीवो अ भावदीवो य। इक्किक्कोऽवि अ दुविहो आसासपगासदीवो अ ॥२०६॥

व्याख्या—'द्विविधश्च' द्विभेद एव भवति, दीवेति प्राकृतपदोपात्तोऽर्थो, द्रव्यभावभेदात्, तथा चाह–दव्वदीवो य भावदीवो यत्ति, पुनरयमेकैकोऽपि द्विविधः, द्वैविध्यमेवाह–'आसास'त्ति आश्वासयति अत्यन्तमाकुलितानपि

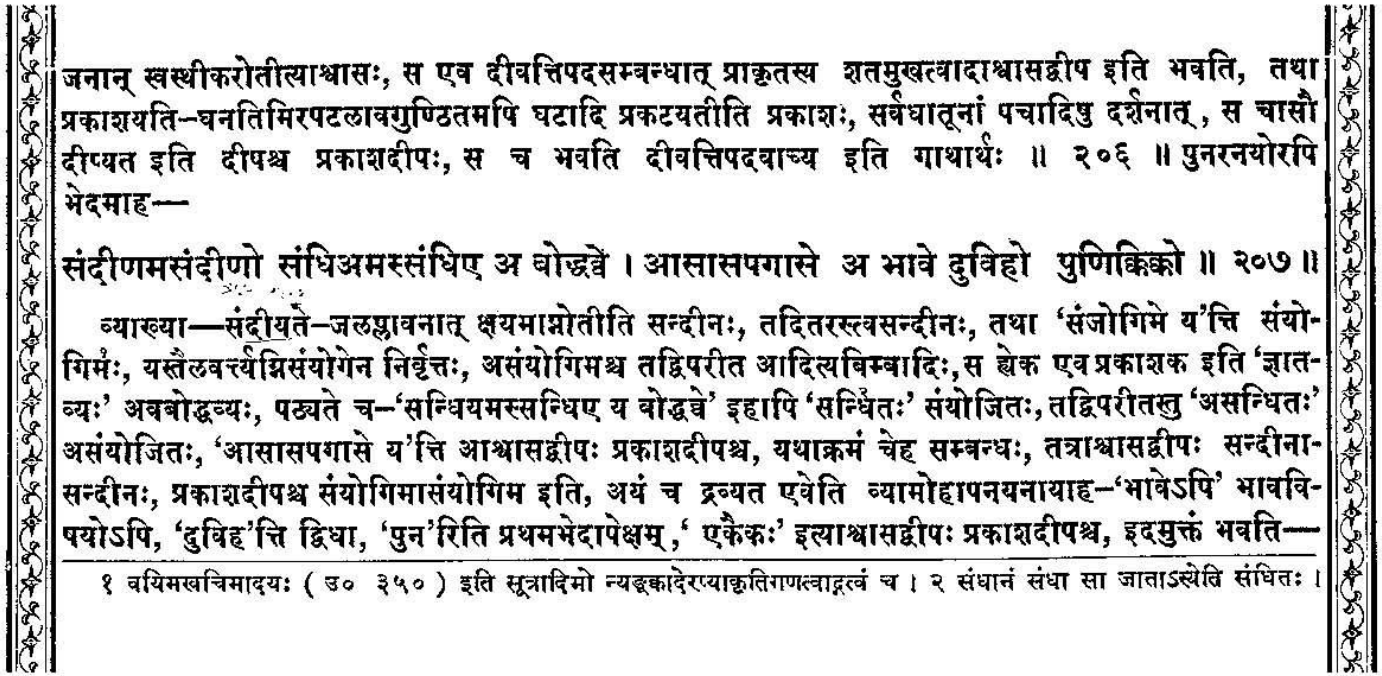
१ एकः किल राजा इन्द्रमहादौ कस्मिंश्चिदुत्सवे स्वकीयपुरे निर्गच्छति घोषणां घोषयति—यथा सर्वे पुरुषा नगरान्निर्गच्छन्तु, तत्र पुरोहितपुत्रो राजवल्लभो वेश्यागृहमनुप्रविष्टो घोषितेऽपि न निर्गतः, स राजपुरुषैर्गृहीतः, तेन वल्लभेन तेभ्यः किञ्चिदत्त्वाऽऽत्मा न विमोचितः, दर्पायमाणो विवदन् राजसकाशमुपनीतः, राज्ञाऽपि वध्य आज्ञप्तः, पश्चात्पुरोहित उपस्थितो भणति–सर्वस्वमपि च ददामि मा मीमरः, तदापि न मुक्तः, शूलायां भिन्नः।

असंस्कृता. ४ ॥२११॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [१२०]



जनान् स्वस्थीकरोतीत्याश्वासः, स एव दीवत्तिपदसम्बन्धात् प्राकृतस्य शतमुखत्वादाश्वासद्वीप इति भवति, तथा प्रकाशयति–घनतिमिरपटलावगुण्ठितमपि घटादि प्रकटयतीति प्रकाशः, सर्वधातूनां पचादिषु दर्शनात्, स चासौ दीप्यत इति दीपश्च प्रकाशदीपः, स च भवति दीवत्तिपदवाच्य इति गाथार्थः ॥ २०६ ॥ पुनरनयोरपि भेदमाह—

संदीणमसंदीणो संधिअमस्संधिए अ बोद्धव्वे । आसासपगासे अ भावे दुविहो पुणिक्किको ॥ २०७ ॥

व्याख्या—संदीयते–जलप्लावनात् क्षयमाप्नोतीति सन्दीनः, तदितरस्त्वसन्दीनः, तथा 'संजोगिमे य'त्ति संयोगिमः, यस्तैलवर्त्त्यग्निसंयोगेन निर्वृत्तः, असंयोगिमश्च तद्विपरीत आदित्यबिम्बादिः, स ह्येक एव प्रकाशक इति 'ज्ञातव्यः' अवबोद्धव्यः, पठ्यते च–'सन्धियमस्सन्धिए य बोद्धवे' इहापि 'सन्धितः' संयोजितः, तद्विपरीतस्तु 'असन्धितः' असंयोजितः, 'आसासपगासे य'त्ति आश्वासद्वीपः प्रकाशदीपश्च, यथाक्रमं चेह सम्बन्धः, तत्राश्वासद्वीपः सन्दीनासन्दीनः, प्रकाशदीपश्च संयोगिमासंयोगिम इति, अयं च द्रव्यत एवेति व्यामोहापनयनायाह–'भावेऽपि' भावविषयोऽपि, 'दुविह'त्ति द्विधा, 'पुन'रिति प्रथमभेदापेक्षम्,' एकैकः' इत्याश्वासद्वीपः प्रकाशदीपश्च, इदमुक्तं भवति—

१ वयिमखचिमादयः (उ० ३५०) इति सूत्रादिमो न्यङ्कादेरण्याकृतिगणत्वाद्वत्वं च । २ संधानं संधा सा जाताऽस्येति संधितः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [१२०]

यथा द्रव्यतोऽपारनीरधिविभ्रान्तानां कदा कदैतदन्तः स्यात् इत्याकुलितचेतसामाश्वासनहेतुराश्वासद्वीपः, एवं संसारसागरमपारमुत्तरीतुमनसामत्यन्तमुद्वेजितानां भव्यानामाश्वासनहेतुः सम्यग्दर्शनं भावाश्वासद्वीपः, तत्र हि द्रव्यद्वीप इव वीचिभिः कुवादिभिरमी नोह्यन्ते नापि मकरादिभिरिवानन्तानुबन्धिभिः क्रोधादिभिरतिरौद्रैरभ्युपद्रूयन्ते, यथा च द्रव्याश्वासद्वीपः ह्रास्यमानतयैकः सन्दीनः तथाऽयमपि भावाश्वासद्वीपः सम्यग्दर्शनात्मकः कश्चित् क्षायोपशमिक औपशमिको वा पुमरसन्तानुबन्ध्युदये मिथ्यात्वोदयेन जलोत्पीलेनेव ह्रास्यते, ततस्तन्निबन्धनैर्जलचरैरिवानेकदुन्दैरुपताप्यत इति सन्दीन उच्यते, यस्तु क्षायिकसम्यक्त्वलक्षणो न जलोत्पीलेनेव मिथ्यात्वोदयेनाक्रम्यते अत एव च न ततस्थस्तन्निबन्धनापायैः कथञ्चिद्युज्यते असावसन्दीनो भावद्वीपः, तथा यथैव तमसाऽन्धीकृतानामपि प्रकाशदीपः तत्प्रकाश्यं वस्तु प्रकाशयति एवमज्ञानमोहितानां ज्ञानमपीति भावप्रकाशदीप उच्यते, अयमप्येकः संयोगिमोऽन्यश्चान्यथा, तत्र यः श्रुतज्ञानात्मको भावदीपः अक्षरपदपादश्लोकादिसंहतिनिर्वर्त्तितः स संयोगिमः, यस्त्वन्यनिरपेक्षो निरपेक्षतया च न संयोगिमः स केवलज्ञानात्मकोऽसंयोगिमो भावदीप इति गाथार्थः ॥ २०७ ॥ व्याख्यातं सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्या 'दीव'त्ति सूत्रपदम्, अत्र च प्रकाशदीपेनाधिकृतं, ततश्च 'दीवप्पणट्ठे वत्ति' प्रकर्षेण नष्टो-दृष्टयगोचरतां गतः प्रणष्टो दीपोऽस्येति प्राकृतत्वात्प्रणष्टदीपः, आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वाद्वा दीपप्रणष्टः तद्वदिति दृष्टान्तः, अत्र सम्प्रदायः—

असंस्कृता ४

॥२१२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [१२०]

जहा केइ धातुवाइया सदीवगा अग्गिं इंधणं च गहाय बिलमणुपविट्ठा, सो तेसिं पमाएण दीवो अग्गीवि विज्झातो, ततो ते विज्झायदीवग्गीया गुहातममोहिया इतो ततो सव्वतो परिभमंति, परिभमंता अपडियारमहाविसेहिं सप्पेहिं डक्का दुरुत्तरे अहे निवडिया, तत्थेव णिहणमुवगया ॥ एवं अनन्तः–अपर्यवसितः, तद्भवापेक्षया प्रायस्तस्यानपगमात्, मुह्यते येनासौ मोहो–ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयात्मकः, ततश्चानन्तो मोहोऽस्येति अनन्तमोहः, किमित्याह–'णेयाउयं'ति निश्चित आयो–लाभो न्यायो–मुक्तिरित्यर्थः, स प्रयोजनमस्येति नैयायिकस्तं, सम्यग्दर्शनादिकं मुक्तिमार्गमिति गम्यते, 'दट्ठुं' ति अन्तर्भूतापिशब्दार्थत्वाद्दृष्ट्वाऽपि–उपलभ्याप्यदृष्ट्वेव भवति, तद्दर्शनफलाभावात्, अथवा 'अदट्ठुमेव'त्ति प्राकृतत्वादद्रष्टैव भवति, इदमत्राकूतम्–यथैष गुहान्तर्गतः प्रमादात् प्रणष्टदीपः प्रथममुपलब्धवस्तुतत्त्वोऽपि दीपाभावे तदद्रष्टैव जायते, तथाऽयमपि जन्तुः कथञ्चित् कर्म्मक्षयोपशमादेः सम्यग्दर्शनादिकं मुक्तिमार्गं भावप्रकाशदीपतः श्रुतज्ञानात्मकात् दृष्ट्वाऽपि वित्तादिव्यासक्तितस्तदावरणोदयादद्रष्टैव भवति, तथा च न केवलं स्वतस्त्राणाय वित्तं न भवति, किन्तु कथञ्चित् त्राणहेतुं सम्यग्दर्शनादिकमप्यवाप्तमुपहन्

१ यथा केचिद्धातुवादिनः सदीपका अग्निमिन्धनं च गृहीत्वा बिलमनुप्रविष्टाः, स तेषां प्रमादेन दीपोऽग्निरपि विध्यातः, ततस्ते विध्यातदीपाग्नयो गुहातमोमोहिता इतस्ततः सर्वतः परिभ्राम्यन्ति, परिभ्राम्यन्तोऽप्रतीकारमहाविषैः सर्पैर्दष्टा दुरुत्तरे गर्ते निपतिताः, तत्रैव निधनमुपगताः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६॥

दीप अनुक्रम [१२१]

न्तीति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥ एवं धनादिकमेव सकलकल्याणकारि भविष्यतीत्याशङ्कायां तस्य कुगतिहेतुत्वं कर्म्मणश्चावन्ध्यत्वमुपदर्श्य यत् कृत्यं तदाह—

सुत्तेसु आवी पडिबुद्धजीवी, नो विस्ससे पंडिय आसुपन्ने ।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं, भारंडपक्खी व चरऽप्पमत्तो ॥ ६ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'सुप्तेषु' द्रव्यतः शयानेषु भावतस्तु धर्म्मं प्रत्यजाग्रत्सु, चः पादपूरणे, 'चशब्दः समाहारेतरेतरयोगसमुच्चयावधारणपादपूरणाधिकवचनादिष्वि'ति वचनात्, अपिः सम्भावने, ततोऽयमर्थः—सुप्तेष्वप्यास्तां जाग्रत्सु च, किमित्याह—प्रतिबुद्धं—प्रतिबोधः द्रव्यतो जाग्रत्ता भावतस्तु यथावस्थितवस्तुतत्त्वावगमरूपेण जीवितुं—प्राणान् धर्त्तुं शीलमस्येति प्रतिबुद्धजीवी, यदि वा प्रतिबुद्धो—द्विधाऽपि प्रतिबोधवान् जीवतीत्येवंशीलः—प्रतिबुद्धजीवी, कोऽभिप्रायः ?—द्विधा प्रसुप्तेष्वपि अविवेकिषु न गतानुगतिकतयाऽयं स्वपिति, किन्तु प्रतिबुद्ध एव यावज्जीवमास्ते, तत्र च द्रव्यनिद्राप्रतिषेधे अगडदत्तोदाहरणं, तत्र च वृद्धवादः—

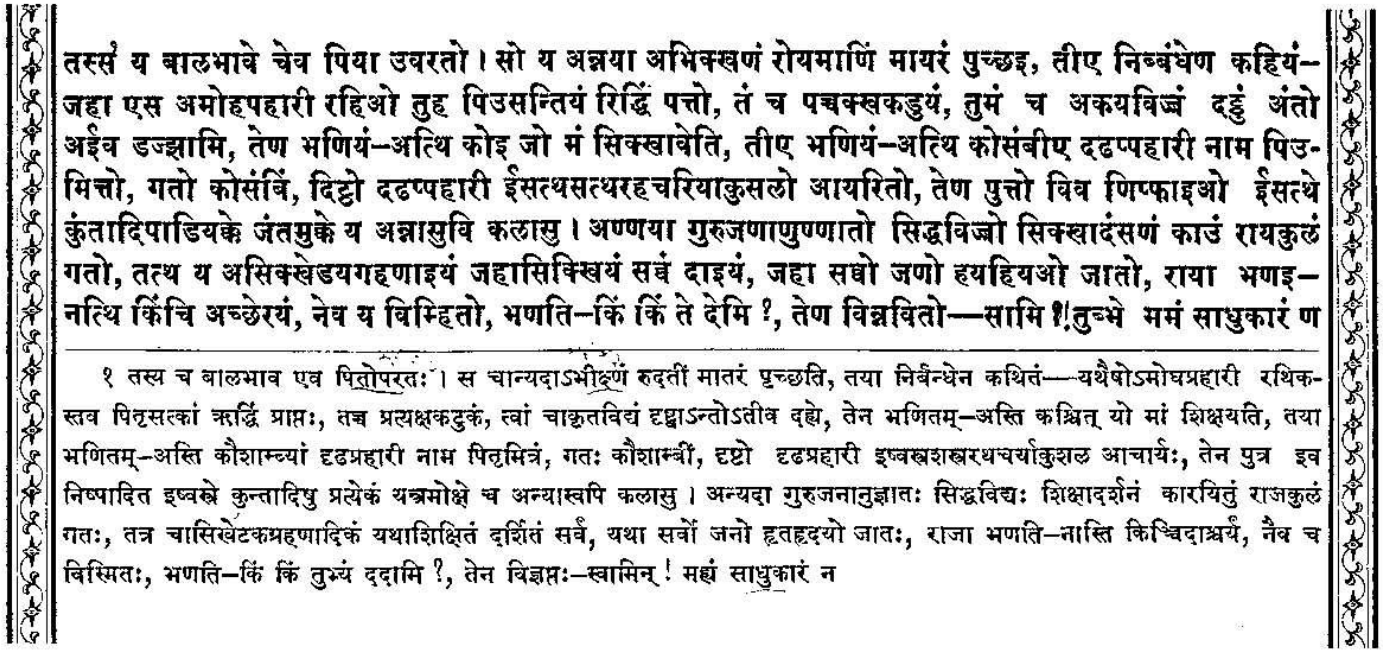
उज्जेणीए जियसत्तुस्स रण्णो अमोहरहो नाम रहितो, तस्स जसमती नाम भज्जा, तीसे अगडदत्तो नाम पुत्तो,[1]

१ उज्जयिन्यां जितशत्रो राज्ञोऽमोघरथो नाम रथिकः, तस्य यशोमती नाम भार्या, तस्या अगडदत्तो नाम पुत्रः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६॥

दीप अनुक्रम [१२१]



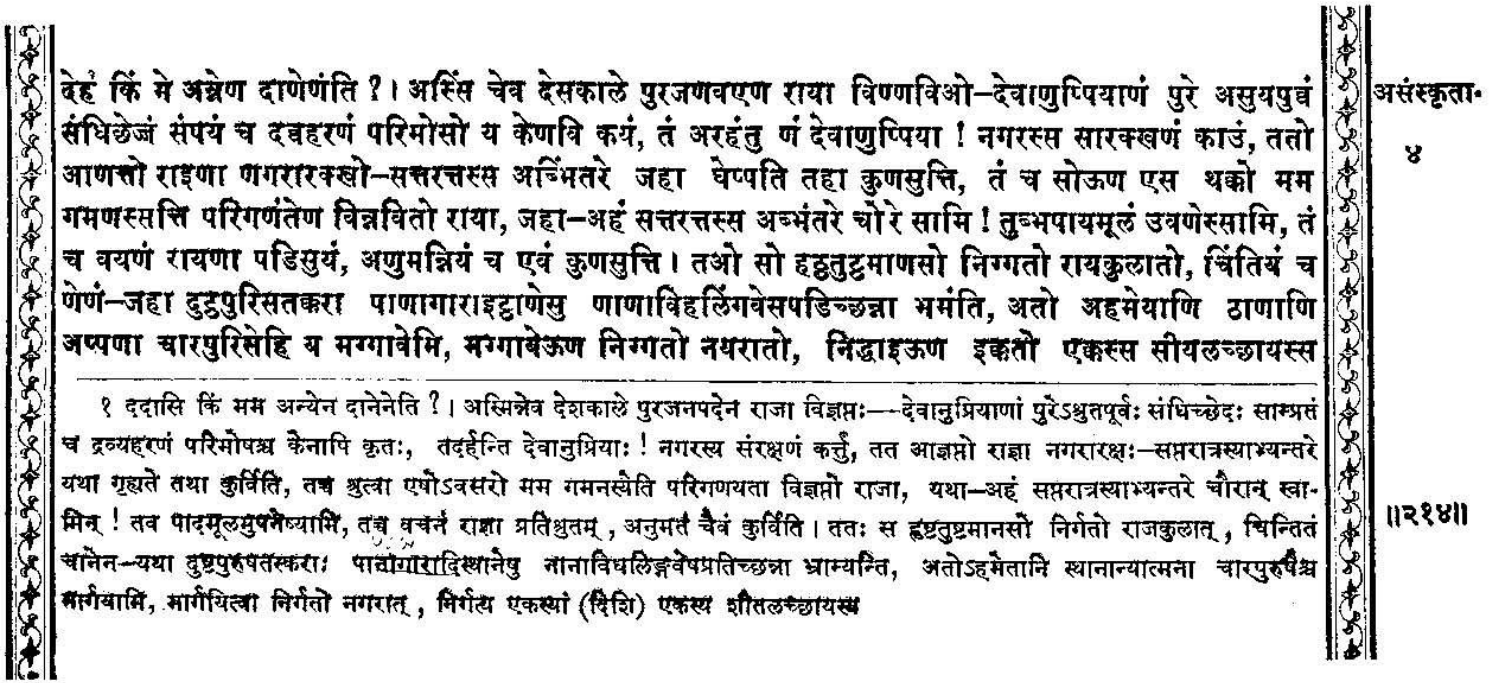
तस्स य बालभावे चेव पिया उवरतो। सो य अन्नया अभिक्खणं रोयमाणिं मायरं पुच्छइ, तीए निब्बंधेण कहियं–जहा एस अमोहपहारी रहिओ तुह पिउसन्तियं रिद्धिं पत्तो, तं च पच्चक्खकडुयं, तुमं च अकयविज्जं दट्ठुं अंतो अईव डज्झामि, तेण भणियं–अत्थि कोइ जो मं सिक्खावेति, तीए भणियं–अत्थि कोसंबीए दढप्पहारी नाम पिउमित्तो, गतो कोसंबिं, दिट्ठो दढप्पहारी ईसत्थसत्थरहचरियाकुसलो आयरितो, तेण पुत्तो विव णिप्फाइओ ईसत्थे कुंतादिपाडियक्के जंतमुक्के य अन्नासुवि कलासु। अण्णया गुरुजणाणुण्णातो सिद्धविज्जो सिक्खादंसणं काउं रायकुलं गतो, तत्थ य असिक्खेडयगहणाइयं जहासिक्खियं सव्वं दाइयं, जहा सव्वो जणो हयहियओ जातो, राया भणइ–नत्थि किंचि अच्छेरयं, नेव य विम्हितो, भणति–किं किं ते देमि ?, तेण विन्नवितो—सामि ! तुब्भे ममं साधुकारं ण

१ तस्य च बालभाव एव पितोपरतः। स चान्यदाऽभीक्ष्णं रुदतीं मातरं पृच्छति, तया निर्बन्धेन कथितं—यथैषोऽमोघप्रहारी रथिकस्तव पितृसत्कां ऋद्धिं प्राप्तः, तच्च प्रत्यक्षकटुकं, त्वां चाकृतविद्यं दृष्ट्वाऽन्तोऽतीव दह्ये, तेन भणितम्–अस्ति कश्चित् यो मां शिक्षयति, तया भणितम्–अस्ति कौशाम्ब्यां दृढप्रहारी नाम पितृमित्रं, गतः कौशाम्बीं, दृष्टो दृढप्रहारी इष्वस्त्रशस्त्ररथचर्याकुशल आचार्यः, तेन पुत्र इव निष्पादित इष्वस्त्रे कुन्तादिषु प्रत्येकं यन्त्रमोक्षे च अन्यास्वपि कलासु। अन्यदा गुरुजनानुज्ञातः सिद्धविद्यः शिक्षादर्शनं कारयितुं राजकुलं गतः, तत्र चासिखेटकग्रहणादिकं यथाशिक्षितं दर्शितं सर्वं, यथा सर्वो जनो हृतहृदयो जातः, राजा भणति–नास्ति किञ्चिदाश्चर्यं, नैव च विस्मितः, भणति–किं किं तुभ्यं ददामि ?, तेन विज्ञप्तः–स्वामिन् ! मह्यं साधुकारं न

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६॥

दीप अनुक्रम [१२१]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥२१४॥

देहं किं मे अन्नेण दाणेणंति ?। अस्सिं चेव देसकाले पुरजणवएण राया विण्णविओ–देवाणुप्पियाणं पुरे असुयपुवं संधिछेज्जं संपयं च दव्वहरणं परिमोसो य केणवि कयं, तं अरहंतु णं देवाणुप्पिया ! नगरस्स सारक्खणं काउं, ततो आणत्तो राइणा णगरारक्खो–सत्तरत्तस्स अब्भिंतरे जहा घेप्पति तहा कुणसुत्ति, तं च सोऊण एस थको मम गमणस्सत्ति परिगणंतेण विन्नवितो राया, जहा–अहं सत्तरत्तस्स अब्भंतरे चोरे सामि ! तुब्भपायमूलं उवणेस्सामि, तं च वयणं रायणा पडिसुयं, अणुमन्नियं च एवं कुणसुत्ति। तओ सो हट्ठतुट्ठमाणसो निग्गतो रायकुलातो, चिंतियं च णेणं–जहा दुट्ठपुरिसतक्करा पाणागाराइट्ठाणेसु णाणाविहलिंगवेसपडिच्छन्ना भमंति, अतो अहमेयाणि ठाणाणि अप्पणा चारपुरिसेहि य मग्गावेमि, मग्गावेऊण निग्गतो नयरातो, निद्धाइऊण इक्कतो एकस्स सीयलच्छायस्स

१ ददासि किं मम अन्येन दानेनेति ?। अस्मिन्नेव देशकाले पुरजनपदेन राजा विज्ञप्तः—देवानुप्रियाणां पुरेऽश्रुतपूर्वः संधिच्छेदः साम्प्रतं च द्रव्यहरणं परिमोषश्च केनापि कृतः, तदर्हन्ति देवानुप्रियाः ! नगरस्य संरक्षणं कर्तुं, तत आज्ञप्तो राज्ञा नगरारक्षः–सप्तरात्रस्याभ्यन्तरे यथा गृह्यते तथा कुर्विति, तच्च श्रुत्वा एषोऽवसरो मम गमनस्येति परिगणयता विज्ञप्तो राजा, यथा–अहं सप्तरात्रस्याभ्यन्तरे चौरान् स्वामिन् ! तव पादमूलमुपनेष्यामि, तच्च वचनं राज्ञा प्रतिश्रुतम्, अनुमतं चैवं कुर्विति। ततः स हृष्टतुष्टमानसो निर्गतो राजकुलात्, चिन्तितं चानेन–यथा दुष्टपुरुषतस्कराः पानागारादिस्थानेषु नानाविधलिङ्गवेषप्रतिच्छन्ना भ्राम्यन्ति, अतोऽहमेतानि स्थानान्यात्मना चारपुरुषैश्च मार्गयामि, मार्गयित्वा निर्गतो नगरात्, निर्गत्य एकस्यां (दिशि) एकस्य शीतलच्छायस्य

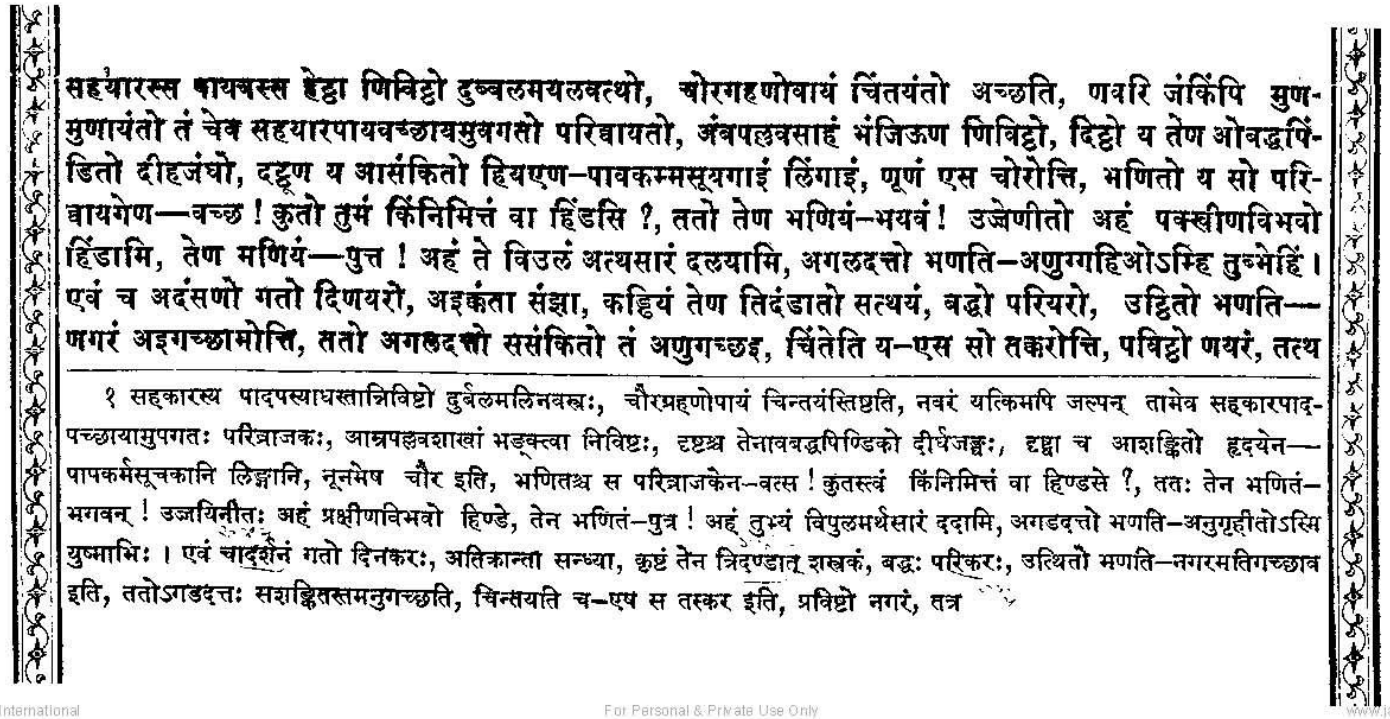
असंस्कृता- ४ ॥२१४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक ॥६॥

दीप अनुक्रम [१२१]



सहयारस्स पायवस्स हेट्ठा णिविट्ठो दुब्बलमयलवत्थो, चोरगहणोवायं चिंतयंतो अच्छति, णवरि जंकिंपि मुण-मुणायंतो तं चेव सहयारपायवच्छायमुवगतो परिव्वायतो, अंबपल्लवसाहं भंजिऊण णिविट्ठो, दिट्ठो य तेण ओवद्धपिंडितो दीहजंघो, दट्ठूण य आसंकितो हियएण–पावकम्मसूयगाइं लिंगाइं, णूणं एस चोरोत्ति, भणितो य सो परिव्वायगेण—वच्छ ! कुतो तुमं किंनिमित्तं वा हिंडसि ?, ततो तेण भणियं–भयवं! उज्जेणीतो अहं पक्खीणविभवो हिंडामि, तेण भणियं—पुत्त ! अहं ते विउलं अत्थसारं दलयामि, अगलदत्तो भणति–अणुग्गहिओऽम्हि तुब्भेहिं। एवं च अदंसणो गतो दिणयरो, अइक्कंता संझा, कड्ढियं तेण तिदंडातो सत्थयं, बद्धो परियरो, उट्ठितो भणति—णगरं अइगच्छामोत्ति, ततो अगलदत्तो ससंकितो तं अणुगच्छइ, चिंतेति य–एस सो तक्करोत्ति, पविट्ठो णयरं, तत्थ

१ सहकारस्य पादपस्याधस्तान्निविष्टो दुर्बलमलिनवस्त्रः, चौरग्रहणोपायं चिन्तयंस्तिष्ठति, नवरं यत्किमपि जल्पन् तामेव सहकारपादपच्छायामुपगतः परिव्राजकः, आम्रपल्लवशाखां भङ्क्त्वा निविष्टः, दृष्टश्च तेनावबद्धपिण्डिको दीर्घजङ्घः, दृष्ट्वा च आशङ्कितो हृदयेन—पापकर्मसूचकानि लिङ्गानि, नूनमेष चौर इति, भणितश्च स परिव्राजकेन–वत्स ! कुतस्त्वं किंनिमित्तं वा हिण्डसे ?, ततः तेन भणितं–भगवन् ! उज्जयिनीतः अहं प्रक्षीणविभवो हिण्डे, तेन भणितं–पुत्र ! अहं तुभ्यं विपुलमर्थसारं ददामि, अगडदत्तो भणति–अनुगृहीतोऽस्मि युष्माभिः । एवं चादर्शनं गतो दिनकरः, अतिक्रान्ता सन्ध्या, कृष्टं तेन त्रिदण्डात् शस्त्रकं, बद्धः परिकरः, उत्थितो भणति–नगरमतिगच्छाव इति, ततोऽगडदत्तः सशङ्कितस्तमनुगच्छति, चिन्तयति च–एष स तस्कर इति, प्रविष्टो नगरं, तत्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६॥

दीप अनुक्रम [१२१]

यं उत्ताणणयणपेच्छणिज्जं कस्सवि पुण्णविसेससिरिसूयगं भवणं, तत्थ य सिरिवच्छसंठाणं संधिं छेत्तूण अतिगतो परिव्वायतो, णीणीयातो अणेगभंडभरियातो पेडातो, तत्थ य तं ठवेऊण गतो,अगडदत्तेण चिंतियं–अंतगमणं करेमि, ताव य आगतो परिव्वायतो जक्खदेउलातो सइएहिं दारिद्दपुरिसे घेत्तूण, तेण ते य ताओ पेडातो गिण्हाविया, निद्धाइया य सव्वे नयरातो, भणति य परिव्वायतो–पुत्त ! इत्थ जिण्णुज्जाणे मुहुत्तागं निद्दाविणोयं करेमो जाव रत्ती गलति, तत्तो गमिस्सामोत्ति, ततो तेण लवियं–ताय ! एवं करेमत्ति, ततो तेहिं पुरिसेहिं ठवियाओ पेडातो, णिद्दावसं च उवगया, तो सो य परिव्वायतो अगलदत्तो य सेज्जं अत्थरिऊण अलियसुईयं काऊण अच्छंति। तओ य अगलदत्तो सणियं उट्ठेऊण अवक्कंतो रुक्खसंछण्णो अच्छति, ते य पुरिसा निद्दावसं गया जाणिऊण वीसंभघाइणा परिव्वायएण

१ च उत्ताननयनप्रेक्षणीयं कस्यापि पुण्यविशेषश्रीसूचकं भवनं, तत्र च श्रीवत्ससंस्थानं सन्धिं छित्त्वाऽतिगतः परिव्राजकः, अनेकभाण्डभृताः पेटा निष्काशिताः, तत्र च तं स्थापयित्वा गतः, अगडदत्तेन चिन्तितम्–अन्तगमनं करोमि ?, तावच्चागतः परिव्राजको यक्षदेवकुलात् सदा भ्राम्यतः (स्वकीयान्) दरिद्रपुरुषान् गृहीत्वा, तेन च तैः ताः पेटा ग्राहिताः, निर्गताश्च सर्वे नगरात्, भणति च परिव्राजकः—पुत्र ! अत्र जीर्णोद्याने मुहूर्त्तं निद्राविनोदं कुर्मो यावद्रात्रिर्गच्छति ततो गमयिष्याम इति, ततस्तेन लब्धं–तातैवं कुर्म इति, ततस्तैः पुरुषैः स्थापिताः पेटाः, निद्रावशं चोपगताः, ततः स च परिव्राजकोऽगडदत्तश्च शय्यामास्तीर्य अलीकस्वपितं कृत्वा तिष्ठतः। ततश्चागडदत्तः शनैरुत्थायापक्रान्तो वृक्षसंछन्नस्तिष्ठति, ते च पुरुषा निद्रावशं गताः ज्ञात्वा विश्रब्धघातिना परिव्राजकेन

॥२१५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६॥

दीप अनुक्रम [१२१]

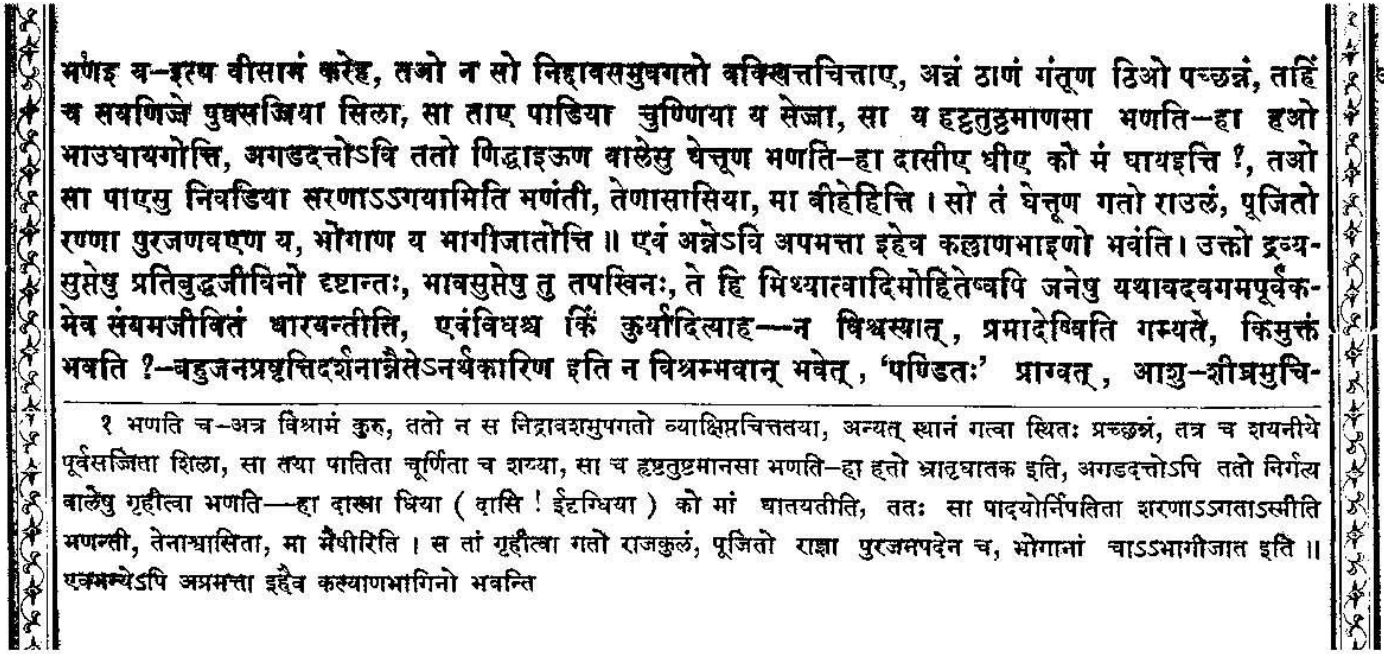
मारिया, अगलदत्तं च तत्थ सत्थरे अपेच्छमाणो मग्गिउं पयत्तो, मग्गंतो य साहापच्छाइयसरीरेण अभिमुहमागच्छंतो अंसदेसे असिणा आहतो, गाढपहारीकतो पडितो, पच्चागयसन्नेण य भणितो अगलदत्तो—वच्छ ! गिण्ह इमं असिं, वच्च मसाणस्स पच्छिमभागं, गंतूण संतिज्जाघरस्स भित्तिपासे सद्दं करेज्जासि, तत्थ भूमिघरे मम भगिणी वसति, ताए असिं दाएज्जसु, सा ते भज्जा भविस्सति , सव्वदव्वस्स य सामी भविस्ससि, अहं पुण गाढपहारो अइकंतजीवोत्ति । गओ य अगलदत्तो असिलट्ठिं गहाय, दिट्ठा य सा तत्तो भवणवासिणीविव पेच्छणिज्जा, भणइ य–कतो तुमंति ?, दाइतो अगलदत्तेण असिलट्ठी, विसन्नवयणहिययाए सोयं निगूहंतीए ससंभमं अतिनीतो संतिज्जाघरं, दिन्नं आसणं, उवविट्ठो अगलदत्तो ससंकितो, से चरियं उवलक्खेइ य, सा अतिआयरेण सयणिज्जं रएइ,

१ मारिताः, अगडदत्तं च तत्र संस्तारेऽप्रेक्षमाणो मार्गयितुं प्रवृत्तः, मार्गयंश्च शाखाच्छन्नशरीरेणाभिमुखमागच्छन् अंसदेशेऽसिनाऽऽहतो, गाढप्रहारीकृतः पतितः, प्रत्यागतसंज्ञेन च भणितोऽगडदत्तः—वत्स गृहाणेममसिं, व्रज श्मशानस्य पश्चिमभागं, गत्वा शान्त्यार्यागृहस्य भित्तिपार्श्वे शब्दं कुर्याः, तत्र भूमिगृहे मम भगिनी वसति, तस्यै असिं दर्शयेः, सा तव भार्या भविष्यति, सर्वद्रव्यस्य च स्वामी भविष्यसि, अहं पुनर्गाढप्रहारोऽतिक्रान्तजीव इति । गतश्चागडदत्तोऽसियष्टिं गृहीत्वा, दृष्ट्वा च सा तत्र भवनवासिनीव प्रेक्षणीया, भणति च–कुतस्त्वमिति ?, दर्शितोऽगडदत्तेनासियष्टिः, विषण्णवदनहृदयया शोकं निगूहन्त्या ससंभ्रममतिनीतः शान्त्यार्यागृहं, दत्तमासनम् , उपविष्टोऽगडदत्तः सशङ्कितः, तस्याश्चरितमुपलक्षयति च, सा अत्यादरेण शयनीयं रचयति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६॥

दीप अनुक्रम [१२१]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥२१६॥

भणइ य–इत्थ वीसामं करेह, तओ न सो निद्दावसमुवगतो वक्खित्तचित्ताए, अन्नं ठाणं गंतूण ठिओ पच्छन्नं, तहिं च सयणिज्जे पुव्वसज्जिया सिला, सा ताए पाडिया चुण्णिया य सेज्जा, सा य हट्ठतुट्ठमाणसा भणति–हा हओ भाउघायगोत्ति, अगडदत्तोऽवि ततो णिद्धाइऊण बालेसु घेत्तूण भणति–हा दासीए धीए को मं घायइत्ति ?, तओ सा पाएसु निवडिया सरणाऽऽगयामिति भणंती, तेणासासिया, मा बीहेहित्ति । सो तं घेत्तूण गतो राउलं, पूजितो रण्णा पुरजणवएण य, भोगाण य भागीजातोत्ति ॥ एवं अन्नेऽवि अपमत्ता इहेव कल्लाणभाइणो भवंति। उक्तो द्रव्यसुसेषु प्रतिबुद्धजीविनो दृष्टान्तः, भावसुसेषु तु तपस्विनः, ते हि मिथ्यात्वादिमोहितेष्वपि जनेषु यथावदवगमपूर्वकमेव संयमजीवितं धारयन्तीति, एवंविधश्च किं कुर्यादित्याह—न विश्वस्यात्, प्रमादेष्विति गम्यते, किमुक्तं भवति ?–बहुजनप्रवृत्तिदर्शनान्नैतेऽनर्थकारिण इति न विश्रम्भवान् भवेत्, 'पण्डितः' प्राग्वत्, आशु–शीघ्रमुचि-

१ भणति च–अत्र विश्रामं कुरु, ततो न स निद्रावशमुपगतो व्याक्षिप्तचित्ततया, अन्यत् स्थानं गत्वा स्थितः प्रच्छन्नं, तत्र च शयनीये पूर्वसज्जिता शिला, सा तया पातिता चूर्णिता च शय्या, सा च हृष्टतुष्टमानसा भणति–हा हतो भ्रातृघातक इति, अगडदत्तोऽपि ततो निर्गत्य बालेषु गृहीत्वा भणति—हा दास्या धिया (दासि ! ईदृग्धिया) को मां घातयतीति, ततः सा पादयोर्निपतिता शरणाऽऽगताऽस्मीति भणन्ती, तेनाश्वासिता, मा भैषीरिति । स तां गृहीत्वा गतो राजकुलं, पूजितो राज्ञा पुरजनपदेन च, भोगानां चाऽऽभागीजात इति ॥ एवमन्येऽपि अप्रमत्ता इहैव कल्याणभागिनो भवन्ति

असंस्कृता. ४ ॥२१६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ॥७॥

दीप अनुक्रम [१२२]

तकर्त्तव्येषु यतितव्यमिति प्रज्ञा–बुद्धिरस्येति–आशुप्रज्ञः, किमिति आशुप्रज्ञः ?, यतो घूर्णयन्तीति घोराः–निरनुकम्पाः, सततमपि प्राणिनां प्राणापहारित्वात् ,क एते ?–'मुहूर्त्ताः' कालविशेषाः,कदाचिच्छारीरबलाद् घोरा अप्यमी न प्रभविष्यन्तीत्यत आह—'अबलं' बलविरहितं न मृत्युदायिनो मुहूर्त्तान् प्रति सामर्थ्यवत् ,किं तत् ?–शरीरम् , एवं तर्हि किं कृत्यमित्याह—'भारण्डपक्खीव चरऽप्पमत्तो'इति पतत्यनेनेति पक्षः सोऽस्यास्तीति पक्षी भारण्डश्चासौ पक्षी च भारण्डपक्षी स यद्वदप्रमत्तश्चरति तथा त्वमपि प्रमादरहितश्चर–विहितानुष्ठानमासेवस्व, अन्यथा हि यथाऽस्य भारण्डपक्षिणः पक्ष्यन्तरेण सहान्तर्वर्त्तिसाधारणचरणसम्भवात् स्वल्पमपि प्रमाद्यतोऽवश्यमेव मृत्युः तथा तवापि संयमजीविताद् भ्रंश एव प्रमाद्यत इति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ अमुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह—

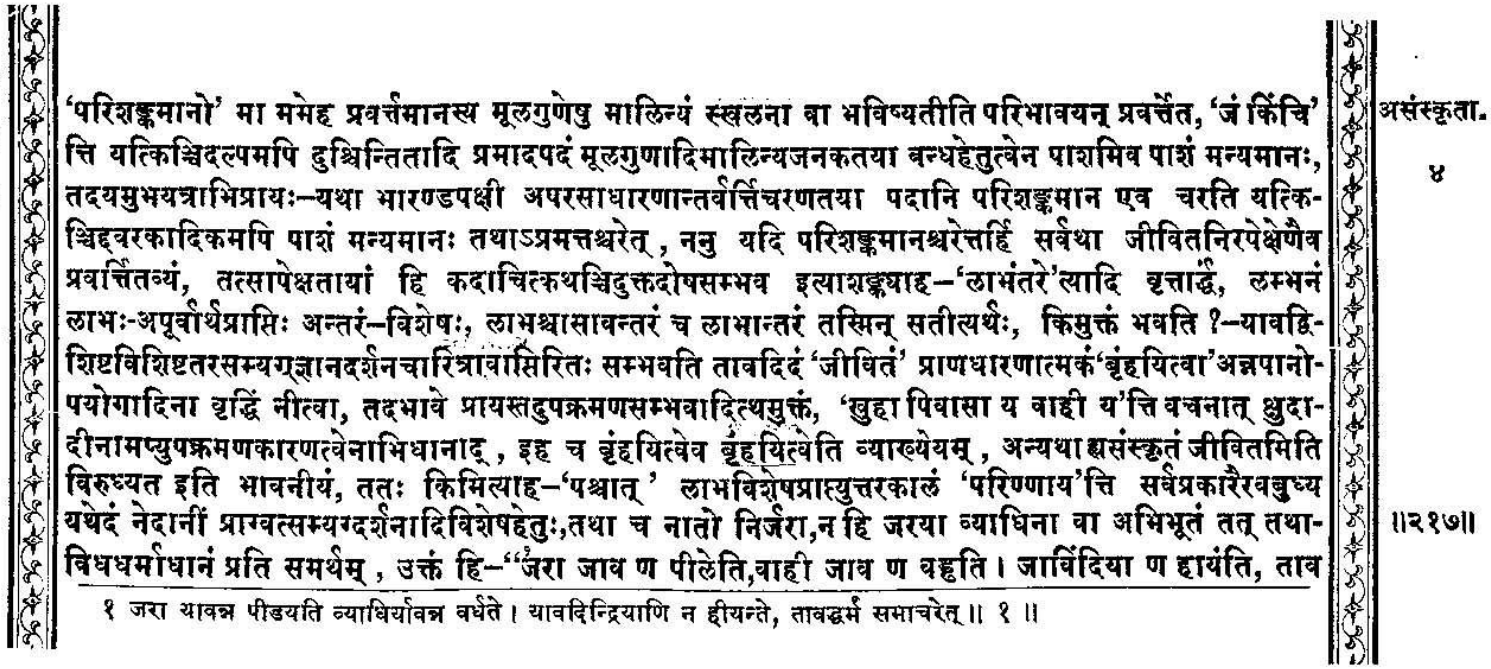
चरे पयाइं परिसंकमाणो, जं किंचि पासं इह मन्नमाणो ।
लाभंतरे जीविय वूहइत्ता, पच्छा परिण्णायमलावधंसी ॥ ७ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'चरेत्' गच्छेत् 'पदानि' पादविक्षेपरूपाणि 'परिशङ्कमानः' अपायं विगणयन् , किमित्येवमत आह–'यत्किञ्चिद्' गृहस्थसंस्तवाद्यल्पमपि पाशमिव पाशं संयमप्रवृत्तिं प्रति स्वातन्त्र्योपरोधितया 'मन्यमानो' जानानः, यद्वा 'चरेदि'ति संयमाध्वनि यायात् , किं कुर्वन् ?–'पदानि' स्थानानि, धर्म्मस्येति गम्यते, तानि च मूलगुणादीनि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७॥

दीप अनुक्रम [१२२]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥२१७॥

'परिशङ्कमानो' मा ममेह प्रवर्त्तमानस्य मूलगुणेषु मालिन्यं स्खलना वा भविष्यतीति परिभावयन् प्रवर्त्तेत, 'जं किंचि' त्ति यत्किञ्चिदल्पमपि दुश्चिन्तितादि प्रमादपदं मूलगुणादिमालिन्यजनकतया बन्धहेतुत्वेन पाशमिव पाशं मन्यमानः, तदयमुभयत्राभिप्रायः–यथा भारण्डपक्षी अपरसाधारणान्तर्वार्त्तिचरणतया पदानि परिशङ्कमान एव चरति यत्किञ्चिद्वरकादिकमपि पाशं मन्यमानः तथाऽप्रमत्तश्चरेत्, ननु यदि परिशङ्कमानश्चरेत्तर्हि सर्वथा जीवितनिरपेक्षेणैव प्रवर्त्तितव्यं, तत्सापेक्षतायां हि कदाचित्कथञ्चिदुक्तदोषसम्भव इत्याशङ्क्याह–'लाभंतरे'त्यादि वृत्तार्द्धं, लम्भनं लाभः-अपूर्वार्थप्राप्तिः अन्तरं–विशेषः, लाभश्चासावन्तरं च लाभान्तरं तस्मिन् सतीत्यर्थः, किमुक्तं भवति ?–यावद्विशिष्टविशिष्टतरसम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रावाप्तिरितः सम्भवति तावदिदं 'जीवितं' प्राणधारणात्मकं 'बृंहयित्वा' अन्नपानोपयोगादिना वृद्धिं नीत्वा, तदभावे प्रायस्तदुपक्रमणसम्भवादित्थमुक्तं, 'खुहा पिवासा य वाही य'त्ति वचनात् क्षुदादीनामप्युपक्रमणकारणत्वेनाभिधानाद्, इह च बृंहयित्वेव बृंहयित्वेति व्याख्येयम्, अन्यथा ह्यसंस्कृतं जीवितमिति विरुध्यत इति भावनीयं, ततः किमित्याह–'पश्चात्' लाभविशेषप्राप्त्युत्तरकालं 'परिण्णाय'त्ति सर्वप्रकारैरवबुध्य यथेदं नेदानीं प्राग्वत्सम्यग्दर्शनादिविशेषहेतुः,तथा च नातो निर्जरा,न हि जरया व्याधिना वा अभिभूतं तत् तथाविधधर्माधानं प्रति समर्थम्, उक्तं हि–"जरा जाव ण पीलेति,वाही जाव ण वड्ढति। जाविंदिया ण हायंति, ताव

१ जरा यावन्न पीडयति व्याधिर्यावन्न वर्धते। यावदिन्द्रियाणि न हीयन्ते, तावद्धर्मं समाचरेत्॥ १ ॥

असंस्कृता. ४ ॥२१७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७॥

दीप अनुक्रम [१२२]

धम्मं समायरे ॥ १ ॥" एवं ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय ततः प्रत्याख्यानपरिज्ञया च भक्तं प्रत्याख्याय, सर्वथा जीवितनिरपेक्षो भूत्वेति भावः, मलवदत्यन्तमात्मनि लीनतया मलः–अष्टप्रकारं कर्म्म तदपध्वंसत इत्येवंशीलः मलापध्वंसी–मलविनाशकृत्, स्यादिति शेषः, ततो यावल्लाभं देहधारणमपि गुणायैवेति भावः, यद्वा जीवितं बृंहयित्वा लाभान्तरे–लाभविच्छेदेऽन्तर्बहिश्च मलाश्रयत्वान्मलः–औदारिकशरीरं तदपध्वंसी स्यात्, कोऽर्थः ?–जीवितं त्यजेद्, इदमुक्तं भवति–अयमस्यैको हि गुणो मानुष्यमवाप्य लभ्यते धर्म्म इति भावयन् यावदितस्तल्लाभः तावदिदं बृंहयेत्, लाभविच्छेदं सम्भाव्य संलेखनादिविधानतस्त्यजेत् ॥ इह च यावल्लाभधारणे मण्डिकचौरोदाहरणं, तत्र च सम्प्रदायः—

विन्नागंयडे नयरे मंडितो नाम तुण्णातो परदव्वहरणपसत्तो आसी, सो य दुट्ठगंडो मित्ति जणे पगासेंतो जाणुदेसेण णिच्चमेव अद्दयालेवलित्तेण रायमग्गे तुण्णागस्स सिप्पमुवजीवति, चंकमंतोऽवि य दंडधरिएणं पाएण किलिस्संतो कहिंवि चंकमति, रत्तिं च खत्तं खणिऊण दव्वजायं घेत्तूण णगरसंनिहिए उज्जाणेगदेसे भूमिघरं, तत्थ णिक्खि-

१ वेभाकतटे नगरे मण्डिको नाम तन्तुवायः परद्रव्यहरणप्रसक्त आसीत्, स च दुष्टव्रणोऽस्मीति जने प्रकाशयन् जानुदेशेन नित्यमेव आर्द्रकलेपलिप्तेन राजमार्गे तन्तुवायस्य शिल्पमुपजीवति, चङ्क्रम्यमाणोऽपि च धृतदण्डेन पादेन क्लिश्यन् क्वचिदपि चङ्क्रम्यते, रात्रौ च क्षत्रं खनित्वा द्रव्यजातं गृहीत्वा नगरसन्निहिते उद्यानैकदेशे भूमिगृहं, तत्र निक्षि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७॥

दीप अनुक्रम [१२२]

वंति, तत्थ य से भगिणी कन्नगा चिट्ठति, तस्स भूमिघरस्स मज्झे कूवो, जं च सो चोरो दव्वेण पलोभेउं सहायं दव्ववोढारं आणेति तं सा से भगिणी अगडसमीवे पुव्वणत्थासणे णिवेसेउं पायसोयलक्खेण पाए गिण्हिऊण तम्मि कूवे पक्खिवइ, ततो सो तत्थेव विवज्जइ, एवं कालो वच्चति नयरं मुसंतस्स, चोरगाहा तं ण सक्किंति गिण्हउं, तओ नयरे उवरतो जातो । तत्थ मूलदेवो राया, सो कहं राया संवुत्तो ?—उज्जेणीए नयरीए सव्वगणियापहाणा देवदत्ता नाम गणिया, तीए सद्धिं अयलो नाम वाणियदारतो विभवसंपण्णो मूलदेवो य संवसइ, तीए मूलदेवो इट्ठो, गणियामाऊए अयलो,सा भणति–पुत्ति ! किमेएणं जूइकारेणंति ?, देवदत्ताए भण्णति–अम्मो ! एस पण्डितो, तीए भण्णइ–किं एस अम्ह अब्भहियं विण्णाणं जाणति, अयलो बाहत्तरिकलापंडिओ एव, तीए भण्णति–वच्छ !

१. पति, तत्र च तस्य भगिनी कन्या तिष्ठति, तस्य भूमिगृहस्य मध्ये कूपः, यं च स चौरो द्रव्येण प्रलोभ्य सहायं द्रव्यवोढारमानयति तं सा तस्य भगिनी अवटसमीपे पूर्वन्यस्तासने निवेश्य पादशौचमिषेण पादौ गृहीत्वा तस्मिन् कूपे प्रक्षिपति, ततः स तत्रैव विपद्यते, एवं कालो व्रजति नगरं मुष्णतः, चौरग्राहास्तं न शक्नुवन्ति ग्रहीतुं, ततो नगरे उपरको (उपद्रवो) जातः । तत्र मूलदेवो राजा, स कथं राजा संवृत्तः ?—उज्जयिन्यां नगर्यां सर्वगणिकाप्रधाना देवदत्ता नाम गणिका, तया सार्धमचलो नाम वणिग्दारको विभवसंपन्नो मूलदेवश्च संवसति, तस्या मूलदेव इष्टः, गणिकामातुरचलः, सा भणति–पुत्रि ! किमेतेन द्यूतकारेण ? इति, देवदत्तया भण्यते—अम्ब ! एष पण्डितः, तया भण्यते—किमेषोऽस्मत् अप्यधिकं विज्ञानं जानाति ?, अचलो द्वासप्ततिकलापण्डित एव, तया भण्यते—वत्से !

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७॥

दीप अनुक्रम [१२२]

अयलं भण–देवदत्ताए उच्छुं खाइउं सद्धा, तीए गंतूण भणितो, तेण चिंतियं–कओ खु ताइं अहं देवदत्ताए पणतितो, तेण सगडं भरेऊण उच्छुयलट्ठीण उवणीयं, ताए भण्णति—किमहं हत्थिणी ?, तीए भणियं–वच्च मूलदेवं भण–देवदत्ता उच्छुं खाइउं अहिलसति, तीए गंतूण से कहियं, तेण य कइ उच्छुलट्ठीतो छल्लेउं गंडलीतो काउंचाउज्जायगादिसुवासियातो काउं पेसियाओ, तीए भण्णति—पिच्छ विण्णाणंति, सा तुण्हिक्का ठिया, मूलदेवस्स पओसमावण्णा अयलं भणति–अहं तहा करेमि जहा मूलदेवं गिण्हिस्सित्ति, तेण अट्ठसयं दीणाराण तीए भाडिणिमित्तं दिन्नं, तीए गंतुं देवदत्ता भण्णति–अज्ज अयलो तुमे समं वसिही, इमे दीणारा दत्ता, अवरण्हवेलाए गंतुं भणति–अयलस्स कज्जं तुरियं जायं तेण गामं गतोत्ति, देवदत्ताए मूलदेवस्स पेसियं, आगतो मूलदेवो, तीए समाणं

१ अचलं भण–देवदत्ताया इक्षून् खादितुं श्रद्धा, तया गत्वा भणितः, तेन चिन्तितं–के इक्षवः (क खलु) ते अहं देवदत्तया प्रणयितः, तेन शकटं भृत्वा इक्षुयष्टीनामुपनीतं, तया भण्यते–किमहं हस्तिनी ?, तया भणितं–व्रज मूलदेवं भण—देवदत्ता इक्षुं खादितुमभिलष्यति, तया गत्वा तस्मै कथितं, तेन च कतिचिदिक्षुयष्टयो निस्त्वचीकृत्य खण्डीकृत्य चातुर्जातकादिसुवासिताः कृत्वा च प्रेषिताः, तया भण्यते—पश्य विज्ञानमिति, सा तूष्णीका स्थिता, मूलदेवे प्रद्वेषमापन्नाऽचलं भणति—अहं तथा करोमि यथा मूलदेवं ग्रहीष्यसीति, तेनाष्टशतं दीनाराणां तस्यै भाटीनिमित्तं दत्तं, तया गत्वा देवदत्ता भण्यते–अद्याचलस्त्वया समं वत्स्यति, इमे च दीनारा दत्ताः, अपराह्णवेलायां गत्वा भणति–अचलस्य कार्यं त्वरितं जातं तेन ग्रामं गत इति, देवदत्तया मूलदेवाय प्रेषितं (वृत्तं), आगतो मूलदेवः, तया समं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७॥

दीप अनुक्रम [१२२]

अच्छइ, गणिया माऊए,अयलो य अप्पाहितो, अन्नाओ पविट्ठो बहुपुरिससमग्गो वेढिउं गब्भगिहं, मूलदेवो अइसंभमेण सयणीयस्स हिट्ठा णिलुक्को, तेण लक्खितो, देवदत्ताए दासचेडीतो संवुत्तातो अचलस्स सरीरऽब्भंगादि घेत्तुं उवट्ठिया, सो य तंमि चेव सयणीए ठियनिसन्नो भणइ–इत्थ चेव सयणीए ठियं अब्भंगेहि, तातो भणंति–विणासिज्जइ सयणीयं, सो भणइ–अहं एत्तो उक्किट्ठतरं दाहामो, मया एवं सुविणो दिट्ठो, सयणीयऽब्भंगणउव्वलणण्हाणादि कायव्वं, ताहिं तधा कयं, ताहे ण्हाणगोल्लो मूलदेवो अयलेण वालेसु गहाय कड्ढितो,संलत्तो यऽणेण–वच्च मुक्कोऽसि, इयरहा ते अज्ज अहं जीवियस्स विवसामि, जदि मया जारिसो होज्जाहि ता एवं मुच्चेज्जाहि(त्ति) अयलाभिहितो तओ मूलदेवो अवमाणितो लज्जाए निग्गओ उज्जेणीए, पत्थयणविरहितो वेन्नायडं जतो पत्थितो, एगो से

१. तिष्ठति, गणिकामात्रा च अचलः संदिष्टः, अन्यस्मात् (अन्येन द्वारेण) प्रविष्टः बहुपुरुषसमग्रो वेष्टयित्वा गर्भगृहं, मूलदेवोऽतिसंभ्रमेण शयनीयस्याधस्तान्निलीनः, तेन लक्षितः, देवदत्तया दासचेट्यः संमुक्ताः अचलस्य शरीराभ्यङ्गादि गृहीत्वोपस्थिताः,स च तस्मिन्नेव शयनीये स्थितनिषण्णो भणति–अत्रैव शयनीये स्थितमभ्यङ्गय,ता भणन्ति–विनाश्यते शयनीयं, स भणति—अहमित उत्कृष्टतरं दास्यामि, मयैवं स्वप्नो दृष्टः, शयनीयाभ्यङ्गनोद्वर्त्तनस्नानादि कर्त्तव्यं, तामिस्तथा कृतं, तदा स्नानविलेपनार्द्रो मूलदेवोऽचलेन वालेषु गृहीत्वाऽऽकृष्टः, संलप्तश्चानेन—व्रज मुक्तोऽसि, इतरथा तेऽद्य जीवितस्य व्यवस्यामि, यदि मादृशो भवेस्तदैवं मुच्येरिति अचलाभिहितस्ततो मूलदेवोऽवमतो लज्जया निर्गत उज्जयिन्याः, पथ्यदनरहितः वेन्नातटं यतः प्रस्थितः, एकस्तस्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७॥

दीप अनुक्रम [१२२]

पुरिसो मिलितो, मूलदेवेण पुच्छितो–कहिं जासि ?, तेण भण्णति—विण्णायतडंमि, मूलदेवेण भण्णति–दोऽवि समं वच्चामोत्ति, तेण संलत्तं–एवं भवउत्ति, दोऽवि पट्ठिया,अंतरा य अडवी, तस्स पुरिसस्स संबलं अत्थि, मूलदेवो विचिंतेइ–एसो मम संबलेण संविभागं करेहित्ति, इण्हिं सुते परे ताए आसाए वच्चति, ण से किंचि देइ, तइयदिवसे छिण्णा अडवी, मूलदेवेण पुच्छितो–अत्थि एत्थ अब्भासे गामो ?, तेण भण्णति—एस णाइदूरे पंथस्स गामो, मूलदेवेण भणितो–तुमं कत्थ वससि ?, तेण भण्णति–अमुगत्थ गामे, मूलदेवेण भणितो–तो खाइ अहं एयं गामं वच्चामि, तेण से पंथो उवदिट्ठो, गओ तं गामं मूलदेवो, तत्थऽणेण भिक्खं हिंडंतेण कुम्मासा लद्धा, पवण्णो य कालो वट्टति, सो य गामातो निगच्छइ, साहू य मासखमणपारणएण भिक्खानिमित्तं पविसति, तेण य संवेगमा-

१ पुरुषो मिलितः, मूलदेवेन पृष्टः–क यासि ?, तेन भण्यते— वेन्नाकतटे, मूलदेवेन भण्यते–द्वावपि समं व्रजाव इति, तेन संलप्तम्–एवं भवत्विति, द्वावपि प्रस्थितौ, अन्तरा चाटवी, तस्य पुरुषस्य शम्बलमस्ति, मूलदेवो विचिन्तयति–एष मम शम्बलेन संविभागं करिष्यति, इदानीं श्वः परेद्युः तयाऽऽशया व्रजति, न तस्मै किञ्चिद्दाति, तृतीयदिवसे छिन्नाऽटवी, मूलदेवेन पृष्टः—अस्त्यत्राभ्यासे ग्रामः ?, तेन भण्यते–एष नातिदूरे पथो ग्रामः, मूलदेवेन भणितः–त्वं कुत्र वससि ?, तेन भण्यते–अमुष्मिन् ग्रामे, मूलदेवेन भणितः—तदा कथया (गच्छा) हमेनं ग्रामं व्रजामि, तेन तस्मै पन्था उपदिष्टः, गतस्तं ग्रामं मूलदेवः, तत्रानेन भिक्षां हिण्डमानेन कुल्माषा लब्धाः, प्रपन्नश्च (संपन्नश्च) कालो वर्त्तते, स च ग्रामान्निर्गच्छति, साधुश्च मासक्षपणपारणकेन भिक्षानिमित्तं प्रविशति, तेन च संवेगमा—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७॥

दीप अनुक्रम [१२२]

वण्णेणं पराए भत्तीए तेहिं कुम्मासेहिं सो साधू पडिलाभितो, भणियं चऽणेणं—'धन्नाणं खु नराणं कोम्मासा हुंति साहुपारणए ' देवयाए अहासन्निहियाए भण्णति–पुत्त ! एतीए गाहाए पच्छद्धे जं मग्गसि तं देमि, 'गणियं च देवदत्तं दंतिसहस्सं च रज्जं च ॥ १ ॥' देवयाए भण्णति—अचिरेण भविस्सतित्ति, ततो गतो मूलदेवो वेन्नायडं, तत्थ खत्तं खणंतो गहितो, वज्झाए नीणिज्जइ, तत्थ पुण अपुत्तो राया मओ, आसो अहियासिओ, मूलदेवसगास-मागतो, पट्ठिदायणं रज्जे अहिसित्तो राया जाओ, सो पुरिसो सद्दाविओ, सो अणेण भणितो–तुब्झं तणियाए आसाते आगतो अहं, इहरहा अहं अंतराले चेव विवज्जंतो, तेण तुज्झं एस मया गामो दत्तो, मा य मम सगासं एज्जसुत्ति, पच्छा उज्जेणीएण रण्णा सद्धिं पीतिं संजोएति, दाणमाणसंपूतियं च काउं देवदत्तं अणेण मग्गितो, तेण पच्चुवगा-

१. पन्नेन परया भक्त्या तैः कुल्माषैः स साधुः प्रतिलम्भितः, भणितं चानेन—'धन्यानामेव नराणां कुल्माषाः साधुपारणके भवन्ति' देवतया यथासन्निहितया भण्यते—पुत्र ! एतस्या गाथायाः पश्चार्धेन यन्मार्गयसि तद्दामि–'गणिकां च देवदत्तां दन्तिसहस्रं च राज्यं च ॥ १ ॥' देवतया भण्यते–अचिरेण भविष्यतीति, ततो गतो मूलदेवो वेन्नातटं, तत्र क्षत्रं खनन् गृहीतः, वध्यायां नीयते, तत्र पुनः अ-पुत्रो राजा मृतः, अश्वोऽधिवासितः, मूलदेवसकाशमागतः, पृष्टिदानं राज्येऽभिषिक्तो राजा जातः, स पुरुषः शब्दितः, सोऽनेन भणितः—त्वत्सत्कयाऽऽशया आगतोऽहम् , इतरथा अहमन्तराल एव व्यपत्स्ये, तेन तुभ्यमेष मया ग्रामो दत्तः, मा च मम सकाशमायासी-रिति, पश्चादुज्जयिनीयेन राज्ञा सार्धं प्रीतिं संयोजयति, दानमानसत्कारं (सम्भूजितां) च कृत्वा देवदत्तामनेन मार्गितः, तेन प्रत्युपका—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७॥

दीप अनुक्रम [१२२]

रसंधिएण दिण्णा, मूलदेवेण अंतेउरे छूढा, ताए समं भोगे भुंजति। अन्नया अयलो पोयवहणेण तत्थागतो, सुक्के विज्जंते भंडे जातिं पाए दव्वणूमणाणि ठाणाणि ताणि जाणमाणेण मूलदेवेण सो गिण्हाविंतो,तुमे दव्वं णूमियंति पुरिसेहिं बद्धिऊण रायसयासमुवणीतो, मूलदेवेण भण्णति–तुमं मम जाणसि ?, सो भणति–तुमं राया को तुमं न जाणइ ?, तेण भण्णइ–अहं मूलदेवो, सक्कारिउं विसज्जितो, एवं मूलदेवो राया जातो। ताहे सो अण्णं णगरारक्खियं ठवेति, सोऽवि न सक्को चोरं गिण्हउं, ताहे मूलदेवो सयं णीलपडं पाउणिऊण रत्तिं णिग्गतो, मूलदेवो अणज्जंतो एगाए सभाए णिविण्णो अच्छति, जाव सो मंडियचोरो आगंतूण भणति—को इत्थ अच्छति ?, मूलदेवेण भणियं–अहं कप्पडितो, तेण भण्णइ–एहि मणूसं करेमि, मूलदेवो उट्ठितो, एगंमि ईसरघरे खत्तं खयं, सुबहुं

१. रसन्धिना दत्ता, मूलदेवेनान्तःपुरे न्यस्ता, तया समं भोगान् भुनक्ति । अन्यदाऽचलः पोतवाहनेन तत्रागतः, शुल्कीये भाण्डे विद्यमाने यानि पात्रेषु द्रव्यगोपनानि स्थानानि तानि जानता मूलदेवेन स ग्राहितः, त्वया द्रव्यं गोपितमिति पुरुषैर्बद्धा राजसकाशमुपनीतः, मूलदेवेन भण्यते-त्वं मां जानासि ?, स भणति—त्वं राजा त्वां को न जानाति ?, तेन भण्यते—अहं मूलदेवः, सत्कृत्य विसृष्टः, एवं मूलदेवो राजा जातः । तदा सोऽन्यं नगररक्षकं स्थापयति, सोऽपि न शक्तश्चौरं गृहीतुं, तदा मूलदेवः स्वयं नीलपटं प्रावृत्य रात्रौ निर्गतः, मूलदेवोऽज्ञायमान एकस्यां सभायां निषण्णस्तिष्ठति, यावत्स मण्डिकश्चौर आगत्य भणति–कोऽत्र तिष्ठति ?, मूलदेवेन भणितम्–अहं कार्पटिकः, तेन भण्यते–एहि मनुष्यं करोमि, मूलदेव उत्थितः, एकस्मिन्नीश्वरगृहे क्षत्रं खातं, सुबहु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७॥

दीप अनुक्रम [१२२]

दव्वजायं णीणेऊण मूलदेवस्स उवरिं चडाविउं पट्ठिया नयरबाहिरियं, जातो मूलदेवो पुरतो, चोरो असिणा कहिएण पिट्ठओ एइ, संपत्ता भूमिघरं, चोरो तं दव्वं णिहिणिउमारद्धो, भणिया अणेण भगिणी–एयस्स पाहुणयस्स पायसोयं देहि, ताए कूवतडसन्निविट्ठे आसणे संणिवेसितो, ताए पायसोयलक्खेण पाओ गहिओ कूवे छुहामित्ति, जाव अतीव सुकुमारा पाया, ताए नायं—जहेस कोइ भूयपुव्वरज्जो विहलियगो, तीए अणुकंपा जाया, तओ ताए पायतले सन्नितो णस्सत्ति, मा मारिज्जिहिसित्ति, ततो पच्छा सो पलातो,ताए वोलो कतो णट्ठो णट्ठोत्ति, सो असिं कड्ढिऊण मग्गतो लग्गो, मूलदेवो रायप्पहे अइसन्निकिट्ठं णाऊण चच्चरसिवंतरितो ठितो, चोरो तं सिवलिंगं एस

१ द्रव्यजातं नीत्वा मूलदेवस्योपरि चटापयित्वा (आरोह्य) प्रस्थितौ नगरबाहिरिकां, यातो मूलदेवः पुरतः, चौरोऽसिना कृष्टेन (सह) पृष्ठत आयाति, संप्राप्तौ भूमिगृहं, चौरस्तत् द्रव्यं निहितुमारब्धः, भणिता अनेन भगिनी–एतस्मै प्राघूर्णकाय पादशौचं देहि, तया कूपतटसन्निविष्ट आसने सन्निवेशितः, तया पादशौचमिषेण पादो गृहीतः कूपे क्षिपामीति, यावदतीव सुकुमारौ पादौ, तया ज्ञातं—यथा एष कश्चित् भूतपूर्वराज्यो राज्यभ्रष्टः, तस्या अनुकम्पा जाता, ततस्तया पादतले संन्यस्तो नश्येति, मा मारयिष्यसीति, ततः पश्चात्स पलायितः, तया रावः (पूत्कारः) कृतः नष्टो नष्ट इति, सोऽसिं कृष्ट्वा पृष्ठतो लग्नः, मूलदेवः राजपथेऽतिसंनिकृष्टं ज्ञात्वा चत्वरशिवान्तरितः स्थितः, चौरस्तत् शिवलिङ्गमेष

॥२२१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७॥

दीप अनुक्रम [१२२]

पुरिसोत्ति काउं कंकग्गेण असिणा दुहा काऊण पडिनियत्तो, गतो भूमिघरं, तत्थ वसिऊण पहायाए रयणीए तओ निग्गंतूण गतो वीहिं, अंतरावणे तुण्णागत्तं करेंति, रायणा पुरिसेहि सद्दाविंतो, तेण चिंतियं–जहा सो पुरिसो णूणं न मारितो, अवस्सं च सो एस राया भविस्सइत्ति, तेहिं पुरिसेहिं आणितो, रायणा अब्भुट्ठाणेण पूइतो, आसणे निवेसाविंतो, स वहुं च पियं आभासिउं संलत्तो-मम भगिणीं देहित्ति,तेण दिन्ना, विवाहिया, रायणा भोगा य से संपदत्ता,कइसुवि दिणेसु गएसु रायणा मंडितो भणिओ–दव्वेण कज्जंति, तेण सुवहुं दव्वजायं दिण्णं, रायणा संपूइतो,अण्णया पुणो मग्गितो पुणोऽवि दिण्णं,तस्स य चोरस्स अतीव सक्कारसम्भाणं पउंजति, एएण पगारेण सव्वं दव्वं दवावितो, भगिणी से पुच्छति, ताए भण्णति—इत्तियं वित्तं, तओ पुव्वावेइयलक्खाणुसारेण सव्वं दवावेऊणं मंडितो सूलाए आरोवितो॥ दृष्टान्तानुवादपूर्वकोऽयमिहोपनयः–यथाऽयम-

१ पुरुष इतिकृत्वा कङ्कग्रेणासिना द्विधा कृत्वा प्रतिनिवृत्तः, गतो भूमिगृहं, तत्रोषित्वा प्रभातायां रजन्यां ततो निर्गत्य गतो वीथिम्, अन्तरापणे तन्तुवायत्वं करोति, राज्ञा पुरुषैः शब्दितः, तेन चिन्तितं—यथा स पुरुषो नूनं न मारितः, अवश्यं च स एष राजा भविष्यतीति, तैः पुरुषैरानीतः, राज्ञाऽभ्युत्थानेन पूजितः, आसने निवेशितः, स बहु प्रियं चाभाष्य संलग्नः–मह्यं भगिनीं देहीति, तेन दत्ता, विवाहिता, राज्ञा भोगाश्च तस्मै संप्रदत्ताः, कतिपयेष्वपि दिनेषु गतेषु राज्ञा मण्डिको भणितः—द्रव्येण कार्यमिति, तेन सुबहु द्रव्यजातं दत्तं, राज्ञा संपूजितः,अन्यदा पुनर्मार्गितः पुनरपि दत्तं, तस्य च चौरस्यातीव सत्कारसन्मानं प्रयुनक्ति, एतेन प्रकारेण सर्वं द्रव्यं दापितं, भगिनी तस्या अपृच्छत्यत, तया भण्यते–एतावत् वित्तं, ततः पूर्वावेदितलक्ष्यानुसारेण सर्वं दापयित्वा मण्डिकः शूलायामारोपितः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८॥

दीप अनुक्रम [१२३]

कार्यकार्यपि मण्डिको यावल्लाभं मूलदेवनृपतिना धारितः तथा धर्मार्थिनाऽपि संयमोपहतिहेतुकमपि जीवितं निर्जरालाभमभिलषता तल्लाभं यावद्धार्यमिति, न च तद्धारणे संयमोपरोध एव, यथाऽऽगमं हि प्रवृत्तस्य तत्तदुपष्टम्भकमेवेति भावनीयम्, इत्यलं प्रसङ्गेनेति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥ सम्प्रति यदुक्तं 'जीवितं बृंहयित्वा मलापध्वंसी स्यादि'ति तत्किं स्वातन्त्र्यत एव उतान्यथेत्याह—

छंदंणिरोहेण उवेति मुक्खं, आसे जहा सिक्खियवम्मधारी।
पुव्वाइ वासाइ चरऽप्पमत्तो, तम्हा मुणी खिप्पमुवेति मुक्खं ॥८॥ (सूत्रम्)

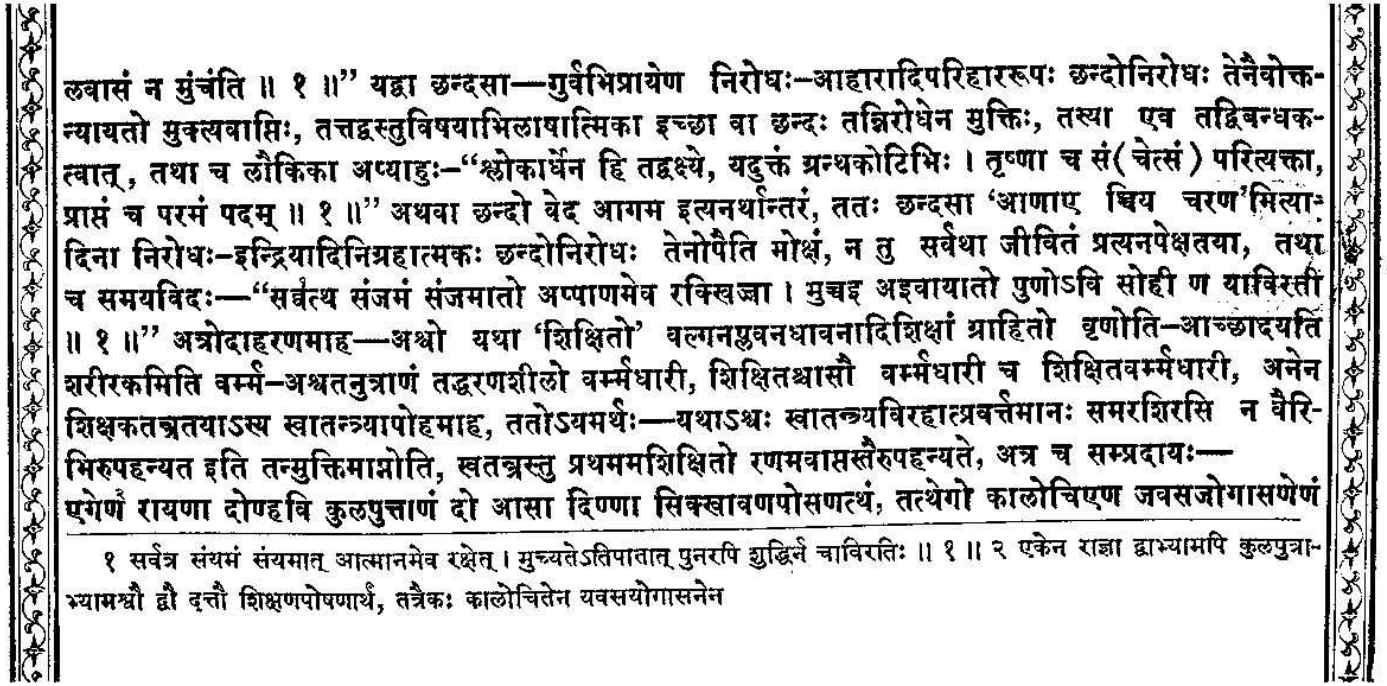
व्याख्या—छन्दो–वशस्तस्य निरोधः छन्दोनिरोधः–स्वच्छन्दतानिषेधः तेन 'उपैति' उपयाति 'मोक्षं' मुक्तिं, किमुक्तं भवति ?–गुरुपरतन्त्रतया स्वाग्रहाग्रहयोगितां विना तत्र प्रवर्त्तमानोऽपि सङ्क्लेशविकल इति न कर्म्मबन्धभाक्, किन्त्वविकलचरणतया तन्निर्जरणमेवाप्नोति, अप्रवर्त्तमानोऽपि चाहारादिष्वाग्रहग्रहाकुलितचेताः 'छट्ठट्ठमदसमे'त्यादिवचनादनन्तसंसारितामनर्थभागेव भवति, तत्सर्वथा तत्परतन्त्रेणैव मुमुक्षुणा भाव्यं, तस्यैव सम्यग्ज्ञानादिसकलकल्याणहेतुत्वाद्, उक्तं च—"णाणस्स होइ भागी थिरयरतो दंसणे चरित्ते य। धण्णा आवकहाए गुरुकु-

१ ज्ञानस्य भवति भागी स्थिरतरो दर्शने चारित्रे च। धन्या यावत्कथं गुरुकुलवासं न मुञ्चन्ति ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८॥

दीप अनुक्रम [१२३]



लवासं न मुंचंति ॥ १ ॥" यद्वा छन्दसा—गुर्वभिप्रायेण निरोधः–आहारादिपरिहाररूपः छन्दोनिरोधः तेनैवोक्तन्यायतो मुक्त्यवाप्तिः, तत्तद्वस्तुविषयाभिलाषात्मिका इच्छा वा छन्दः तन्निरोधेन मुक्तिः, तस्या एव तद्बिबन्धकत्वात्, तथा च लौकिका अप्याहुः–"श्लोकार्धेन हि तद्वक्ष्ये, यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः । तृष्णा च सं(चेत्सं) परित्यक्ता, प्राप्तं च परमं पदम् ॥ १ ॥" अथवा छन्दो वेद आगम इत्यनर्थान्तरं, ततः छन्दसा 'आणाए च्चिय चरण'मित्यादिना निरोधः–इन्द्रियादिनिग्रहात्मकः छन्दोनिरोधः तेनोपैति मोक्षं, न तु सर्वथा जीवितं प्रत्यनपेक्षतया, तथा च समयविदः—"सव्वत्थ संजमं संजमातो अप्पाणमेव रक्खिज्जा । मुच्चइ अइवायातो पुणोऽवि सोही ण याविरती ॥ १ ॥" अत्रोदाहरणमाह—अश्वो यथा 'शिक्षितो' वल्गनप्लवनधावनादिशिक्षां ग्राहितो वृणोति–आच्छादयति शरीरकमिति वर्म्म–अश्वतनुत्राणं तद्धरणशीलो वर्म्मधारी, शिक्षितश्चासौ वर्म्मधारी च शिक्षितवर्म्मधारी, अनेन शिक्षकतन्त्रतयाऽस्य स्वातन्त्र्यापोहमाह, ततोऽयमर्थः—यथाऽश्वः स्वातन्त्र्यविरहात्प्रवर्त्तमानः समरशिरसि न वैरिभिरुपहन्यत इति तन्मुक्तिमाप्नोति, स्वतन्त्रस्तु प्रथममशिक्षितो रणमवाप्तस्तैरुपहन्यते, अत्र च सम्प्रदायः—
एगेणं रायणा दोण्हवि कुलपुत्ताणं दो आसा दिण्णा सिक्खावणपोसणत्थं, तत्थेगो कालोचिएण जवसजोगासणेणं

१ सर्वत्र संयमं संयमात् आत्मानमेव रक्षेत् । मुच्यतेऽतिपातात् पुनरपि शुद्धिर्न चाविरतिः ॥ १ ॥ २ एकेन राज्ञा द्वाभ्यामपि कुलपुत्राभ्यामश्वौ द्वौ दत्तौ शिक्षणपोषणार्थं, तत्रैकः कालोचितेन यवसयोगासनेन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८॥

दीप अनुक्रम [१२३]

संरक्ष्यमाणो धावितलालितवल्गितयाईयातो कलातो सिक्खावेइ, बीओ को एयस्स इट्ठजवसजोगासणं दाहिइत्ति घरट्टे वाहेइ ण तु सिक्खावेइ, सेसं अप्पणा भुंजति । संगामकाले उवट्ठिए ते रण्णा वुत्ता–तेसु चेवास्सेसु आरोहुं झत्ति आगच्छह, संपत्ता, भणिया य राइणा–पविसह संगामं, तत्थ पढमोऽसो सिक्खागुणत्तणतो सारहियमणुयत्तमाणो संगामपारतो जातो, दुइओ विसिट्ठसिक्खाभावतोऽसब्भावभावणाभावियत्तणओ गोधूमजंतगजुत्त इव तत्थेव भमिउमाढत्तो, तं च परा उवलक्खेउं हयसारहिं काऊण गृहीतवन्तः ॥ दृष्टान्तानुवादपूर्वकोऽयमुपनयः— यथाऽसावश्वः तथा धर्मार्थ्यपि स्वातन्त्र्यविरहितो मुक्तिमवाप्नोति, अत एव च 'पूर्वाणि' 'उक्तपरिमाणानि 'वर्षाणि' वत्सराणि, कालात्यन्तसंयोगे द्वितीया (पा०२–३–५), किमित्याह–'चर' इति सततमागमोक्तक्रियामासेवस्व, कथम्?– 'अप्रमत्तः' गुरुपारतन्त्र्यापहारिप्रमादपरिहर्त्ता, 'तम्ह'त्ति तस्मात् अप्रमादचरणादेव, मन्यते जानाति जीवादीनिति मुनिः–तपस्वी 'क्षिप्रं' शीघ्रम् उपैति मोक्षं, ननु छन्दोनिरोधोऽपि तत्त्वतोऽप्रमादात्मक एवेति कथं न पुनरुक्तदोषः ?,

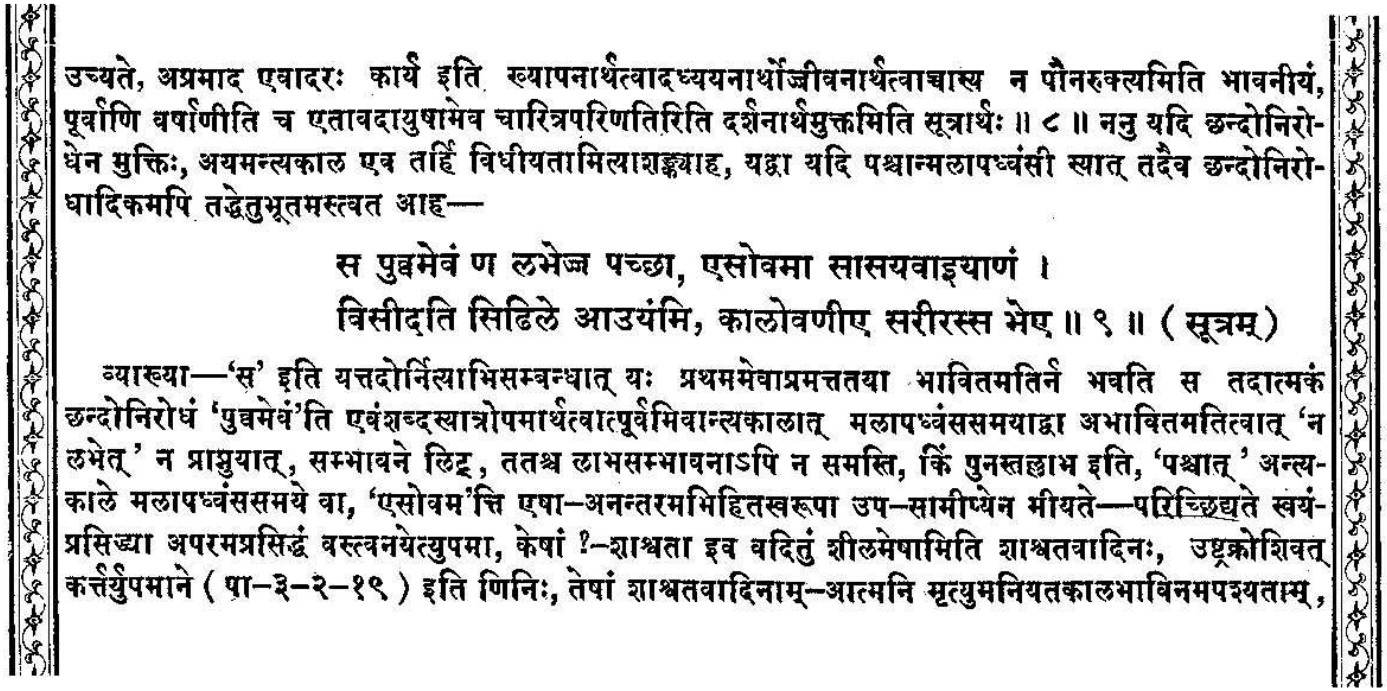
१ संरक्ष्यन् धावनलालितवल्गनादिकाः कलाः शिक्षयति, द्वितीयः क एतस्मै इष्टयवसयोगासनं ददातीति घरट्टे वाहयति न तु शिक्षयति, शेषमात्मना भुङ्क्ते । संग्रामकाले उपस्थिते तौ राज्ञोक्तौ–तयोरेवाश्वयोरारुह्य झटित्यागच्छतं, संप्राप्तौ, भणितौ च राज्ञा–प्रविशतं संग्रामं, तत्र प्रथमोऽश्वः शिक्षागुणत्वात् सारथिमनुवर्त्तमानः संग्रामपारगो जातः, द्वितीयो विशिष्टशिक्षाभावात् असद्भावभावनाभावितत्वात् गोधूमयन्त्रकयुक्त इव तत्रैव भ्रमितुमारब्धः, तच्च परे उपलक्ष्य हृतसारथिं कृत्वा गृहीतवन्तः ।

॥२२३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९॥

दीप अनुक्रम [१२४]



उच्यते, अप्रमाद एवादरः कार्य इति ख्यापनार्थत्वादध्ययनार्थोऽजीवनार्थत्वाच्चास्य न पौनरुक्त्यमिति भावनीयं, पूर्वाणि वर्षाणीति च एतावदायुषामेव चारित्रपरिणतिरिति दर्शनार्थमुक्तमिति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥ ननु यदि छन्दोनिरोधेन मुक्तिः, अयमन्त्यकाल एव तर्हि विधीयतामित्याशङ्क्याह, यद्वा यदि पश्चान्मलापध्वंसी स्यात् तदैव छन्दोनिरोधादिकमपि तद्धेतुभूतमस्त्वत आह—

स पुव्वमेवं ण लभेज्ज पच्छा, एसोवमा सासयवाइयाणं ।
विसीदति सिढिले आउयंमि, कालोवणीए सरीरस्स भेए ॥ ९ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'स' इति यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् यः प्रथममेवाप्रमत्ततया भावितमतिर्न भवति स तदात्मकं छन्दोनिरोधं 'पुव्वमेवं'ति एवंशब्दस्यात्रोपमार्थत्वात्पूर्वमिवान्त्यकालात् मलापध्वंससमयाद्वा अभावितमतित्वात् 'न लभेत्' न प्राप्नुयात्, सम्भावने लिङ्, ततश्च लाभसम्भावनाऽपि न समस्ति, किं पुनस्तल्लाभ इति, 'पश्चात्' अन्त्यकाले मलापध्वंससमये वा, 'एसोवम'त्ति एषा–अनन्तरमभिहितस्वरूपा उप–सामीप्येन मीयते—परिच्छिद्यते स्वयंप्रसिद्ध्या अपरमप्रसिद्धं वस्त्वनयेत्युपमा, केषां ?–शाश्वता इव वदितुं शीलमेषामिति शाश्वतवादिनः, उष्ट्रक्रोशिवत् कर्त्तर्युपमाने (पा–३–२–१९) इति णिनिः, तेषां शाश्वतवादिनाम्–आत्मनि मृत्युमनियतकालभाविनमपश्यताम्,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९॥

दीप अनुक्रम [१२४]

इदमिहाकूतं–यो हि छन्दोनिरोधमुत्तरकालमेव करिष्यामीति वक्ति सोऽवश्यं शाश्वतवादी, स चैवं प्रज्ञाप्यते– यथा भद्र ! इदानीं भवतस्तत्कालात्पूर्वमसावुक्तहेतुतो न समस्ति, तथोत्तरकालमप्यसौ प्रमादिनस्तव न भवितेति, यदि वा एषा उपमेति–उपेत्युपयोगपूर्वकं मेति ज्ञानमुपमा–सम्प्रधारणा यदुत पश्चाद्धर्मं करिष्यामः इति शाश्वतवादिनां–निरुपक्रमायुषां, ये निरुपक्रमायुष्कतया शाश्वतमिवात्मानं मन्यन्ते तेषां युज्येतापि, न तु जलबुद्बुदसमानायुषां, तथा चासावुत्तरकालमपि छन्दोनिरोधमनाप्नुवन् 'विषीदति' कथमहमकृतसुकृतः सम्प्रत्यनर्वाक्पारं भवाम्भोधिं भ्राम्यन् भविष्यामीत्येवमात्मकं वैक्लव्यमनुभवति, कदा ?–शिथिलयति–आत्मप्रदेशान् मुञ्चति 'आयुषि' मनुष्यभवोपग्राहिण्यायुःकर्म्मणि, 'कालोवणीय'त्ति कालेन–मृत्युना स्वस्थितिक्षयलक्षणेन वा समयेनोपनीतः–उपढौकितः तस्मिन्, क ? इत्याह—'शरीरस्य' औदारिककायात्मकस्य 'भेदे' सर्वपरिशाटतः पृथग्भावे, तदिदमैदम्पर्यम्—आदित एव न प्रमादवद्भिर्भाव्यं, तथा चाह—" गमनं किमद्य किं श्वः कदाऽपि वा सर्वथा ध्रुवं क्वापि ?। इति जानन्नपि मूढस्तथापि मोहात्सुखं शेते ॥ १ ॥" इति सूत्रार्थः ॥९॥ किं पुनः पूर्वमिव पश्चादपि छन्दोनिरोधं न लभत इत्याह—

खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं, तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे ।
समेच्च लोभं समता महेसी, आयाणरक्खी चरमप्पमत्तो ॥ १० ॥(सूत्रम्)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||१०||

दीप अनुक्रम [१२५]

व्याख्या—'क्षिप्रं' तत्क्षण एव 'न शक्नोति' न समर्थो भवति, किं कर्त्तुम् ?–'एतुं' गन्तुं प्रामुमितियावत् , कम् ?–'विवेकं' द्रव्यतो बहिःसङ्गपरित्यागरूपं भावतस्तु कषायपरिहारात्मकं, न ह्यकृतपरिकर्म्मा झगिति तत्परित्यागं कर्त्तुमलम् , अत्रोदाहरणं ब्राह्मणी—

एगो मरुतो परदेसं गंतूण साहापारतो होऊण सविसयमागतो, तस्सऽन्नेण मरुतेण खद्धपलालितोत्तिकाउं दारिका दत्ता, सो य लोए दक्खिणातो लहति, परे विभवे वड्ढति तेण तीसे भारियाए सुबहुं अलंकारं कारियं, सा निच्चमंडिया अच्छइ, तेण भण्णइ–एस पच्चंतगामो, ता तुमं एयाणि आभरणगाणि तिहिपव्वणीसु आविंधाहि, कहिं चोरा उवगच्छेज्जा तो सुहं गोविज्जंति, सा भणइ–अहं ताए वेलाए सिग्घमेव अवणेस्संति । अन्नया तत्थ चोरा पडिया, तमेव णिच्चमंडियागिहं अणुपविट्ठा, सा तेहिं सालंकिया गहिया, सा य पणीयभोयणत्ता मंसोवचितपाणिपाया ण सक्केइ कडगाईणि अवणेउं, ततो चोरेहिं तीसे हत्थे छेत्तूण अवणीया, गेण्हिउं च निग्गया ॥ एवमन्यो-

१ एको ब्राह्मणः परदेशं गत्वा शाखापारगो भूत्वा स्वविषयमागतः, तस्यान्येन ब्राह्मणेन प्रचुरप्रलालितं इतिकृत्वा दारिका दत्ता, स च लोकात् दक्षिणा लभते, अतिशयेन वर्धमाने विभवे तेन तस्या भार्यायाः सुबहवोऽलङ्काराः कारिताः, सा नित्यं मण्डिता तिष्ठति, तेन भण्यते–एष प्रत्यन्तग्रामः, तत्त्वमेतानि आभरणानि तिथिपर्वसु परिधेहि, कदाचिच्चौरा उपगच्छेयुस्तदा सुखं गोप्यन्ते, सा भणति–अहं तस्यां वेलायां शीघ्रमेवापनेष्यामीति । अन्यदा तत्र चौराः पतिताः, तदेव नित्यमण्डितागृहमनुप्रविष्टाः, सा तैः सालङ्कारा गृहीता, सा च प्रणीतभोजनत्वात् उपचितमांसपाणिपादा न शक्नोति कटकादीन्यपनेतुं, ततः चौरैस्तस्या हस्तौ छित्त्वा अपनीतानि, गृहीत्वा च निर्गताः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०॥

दीप अनुक्रम [१२५]

ऽपि प्रागकृतपरिकर्म्मा न तत्काल एव विवेकमेतुं शक्नोति, मलापध्वंसस्तु तथा सति दूरापास्त एवेति, न च मरुदेव्युदाहरणं तत्राप्यभिधेयम्, आश्चर्यरूपत्वादस्य, न ह्येवं तीव्रभावा बहवः सम्भवन्ति, यत एवं तस्मात् 'सम्' इति सम्यक्प्रवृत्त्या 'उत्थाये'ति च पश्चाच्छन्दो निरोत्स्याम इत्यालस्यत्यागेनोद्यमं विधाय, तथा 'पहाय कामे'त्ति प्रकर्षेण –मनसाऽपि तदचिन्तनात्मकेन 'हित्वा'त्यक्त्वा कामान् इच्छामदनात्मकान् 'समेत्य' सम्यग्ज्ञात्वा 'लोकं' समस्तप्राणिसमूहं, कथं ?–'समतया' समशत्रुमित्रतया क्वचिदरक्तद्विष्टतयेतियावत्, तथा च महर्षिः सन् महः–एकान्तोत्सवरूपत्वान्मोक्षस्तमिच्छतीत्येवंशीलो महैषी वा, किमुक्तं भवति ?–विषयाभिलाषविगमान्निर्निदानः सन् आत्मानं रक्षत्यपायेभ्यः कुगतिगमनादिभ्य इत्येवंशील आत्मरक्षी, यद्वाऽऽदीयते–स्वीक्रियते आत्महितमनेनेत्यादानः–संयमः तद्रक्षी 'चरमप्पमत्तो'त्ति मकारोऽलाक्षणिकः, ततश्चराप्रमत्तः–प्रमादरहितः, इह च प्रमादपरिहारापरिहारयोरैहिकमुदाहरणं वणिग्महिला, तत्र च सम्प्रदायः—

एगा वणिगमहिला पउत्थपतिया सरीरसुस्सूसापरा दासभयगकम्मकरे णिजणिजभियोगेसु न नियोजयति, न य तेसिं कालोवयन्नं जहिच्छं आहारं भतिं वा देति, ते सव्वे नट्ठा, कम्मंतपरिहाणीए विभवपरिहाणी, आगतो वाणियओ,

१ एका वणिग्महिला प्रोषितपतिका शरीरशुश्रूषापरा दासभृतककर्मकरान् निजनिजाभियोगेषु न नियोजयति, न च तेभ्यः कालोपपन्नं यथेष्टमाहारं भृतिं वा ददाति, ते सर्वे नष्टाः, कर्मान्तपरिहाण्या विभवपरिहाणिः, आगतो वणिक्,

॥२२५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०॥

दीप अनुक्रम [१२५]

एवंविहं पस्सिऊण पच्छा तेण णिच्छूढा। अण्णं तु पुक्खलेणं सुंकेणं वरेति, लद्धा य णेण, तेण तीसे णियगा भण्णंति— जइ अप्पाणं रक्खइ ता परिणेमित्ति, ताए यऽमुणियपरमत्थाए दुग्गयकन्नगाए सोउं नियगा भण्णंति–रक्खामि(क्खिहिइ)अप्पगं, सा तेण विवाहिया, गतो वाणिज्जेणं, सावि दासभयगकम्मकरातीणं संदेसं दाउं तेसिं पुव्वण्हिकाइकाले भोयणं देइ, महुराहिं च वायाहिं उच्छाहेइ, भइं च तेसिं अकालपरिहीणं देइ, ण य णियगसरीरसुस्सूसापरा, एवमप्पाणं रक्खंतीए भत्ता उवागओ, सो एवंविहं पस्सिऊण तुट्ठो, तेण सव्वसामिणी कया ॥ इत्थं तावदिहैव गुणायाप्रमादो दोषाय च प्रमादः आस्तामन्यजन्मनीत्यभिप्रायेणात्रैवैहिकोदाहरणाभिधानमिति परिभावनीयमिति सूत्रार्थः ॥ १० ॥ प्रमादमूलं च रागद्वेषाविति सोपायं तत्परिहारमाह–

मुहुं मुहुं मोहगुणे जयंतं, अणेगरूवा समणं चरंतं ।
फासा फुसंती असमंजसं च, ण तेसु भिक्खू मणसा पउस्से ॥ ११ ॥ (सूत्रम्)

१ एवंविधं दृष्ट्वा पश्चात्तेन निष्काशिता । अन्यां तु पुष्कलेन शुल्केन वृणुते, लब्धा चानेन, तेन तस्या निजका भण्यन्ते–यद्यात्मानं रक्षति तर्हि परिणयामीति, तस्याश्चाज्ञातपरमार्थाया दुर्गतकन्यायाः श्रुत्वा निजका भणन्ति–रक्षिष्यति आत्मानं, सा तेन विवाहिता, गतो वाणिज्याय, साऽपि दासभृत्यकर्मकरादिभ्यः संदेशं दापयित्वा (संगृह्य) तेभ्यः पूर्वाह्णादिकाले भोजनं ददाति, मधुराभिश्च वाचाभिरुत्साहयति, भृतिं च तेभ्योऽकालपरिहीणां ददाति, न च निजशरीरशुश्रूषापरा, एवमात्मानं रक्षन्त्या भर्त्तोपागतः, स एवंविधं दृष्ट्वा तुष्टः, तेन सर्वस्वामिनी कृता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११--१२॥

दीप अनुक्रम [१२६--१२७]

मंदा य फासा बहुलोभणिज्जा, तहप्पगारेसुमणं ण कुज्जा ।
रक्खेज्ज कोहं विणएज्ज माणं, मायं ण सेवेज्ज पहिज्ज लोहं ॥ १२ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या—'मुहुर्मुहुः' वारं वारं, सततप्रवृत्त्युपलक्षणमेतत्, मोहयति–जानानमपि जन्तुमाकुलयति प्रवर्त्तयति चान्यथेहेति मोहः तस्य गुणाः मोहगुणाः–तदुपकारिणः शब्दादयः, तान् 'जयंतं' अभिभवन्तं, किमुक्तं भवति ?–अविच्छेदतस्तज्जयप्रवृत्तं यद्वा कथञ्चिन्मोहनीयात्यन्तोदयत एकदा तैः पराजितमपि पुनः पुनस्तज्जयं प्रति प्रवर्त्तमानं न तु तत एव विमुक्तसंयमोद्योगम्, 'अनेकरूपाः' अनेकमिति–अनेकविधं परुषविषमसंस्थानादिभेदं रूपं–स्वरूपमेषामिति अनेकरूपाः, श्रमणं चरन्तं प्राग्वत्, 'फास'त्ति स्पृशन्ति स्वानि स्वानीन्द्रियाणि गृह्यमाणतया इति स्पर्शाः–शब्दादयस्ते 'स्पृशन्ति' गृह्यमाणतयैव सम्बध्नन्ति, 'असमंजसम्' अननुकूलमिति क्रियाविशेषणमेतत्, चशब्दोऽवधारणे, असमञ्जसमेव, अथवा स्पर्शनविषयाः–स्पर्शाः स्पृशन्ति, स्पर्शोपादानं चास्यैव दुर्जयत्वाद्यापित्वाच्च, न 'तेषु' स्पर्शेषु 'भिक्षुः' मुनिः, मनसा उपलक्षणत्वाच्च वाचा कायेन च, यद्वाऽपिशब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वान्मनसाऽपि आस्तां वाचा कायेन वा, 'पदूसे'त्ति प्रद्वेष्येत् प्रद्विष्याद्वा, किमुक्तं भवति ?–कर्कशसंस्तारकादिस्पर्शादौ हन्तोपतापिता वयमेतेनेति न चिन्त-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११--१२॥

दीप अनुक्रम [१२६--१२७]

येत् नैव वा वदेत्परिहरेद्वा तमिति॥ 'मंदा ये'ति सूत्रं, तथा मन्दायन्तीति मन्दाः–हिताहितविवेकिनमपि जनमन्यतां नयन्तीतिकृत्वा, चशब्दः पूर्वापेक्षया समुच्चये, स्पर्शाः प्राग्वच्छब्दादयः, बहून् लोभयन्ति–विमोहयन्तीति बहुलोभनीयाः 'अन्यत्रापी (कृत्यल्युटो बहुलम्) ति वचनात् कर्त्तर्यनीयः, अनेनात्याक्षेपकत्वमुक्तं, 'तहप्पगारेसु'त्ति अपेर्गम्यमानत्वात्तथाप्रकारेष्वतिबहुलोभनीयेष्वपि मृदुस्पर्शमधुररसादिषु 'मनः' चित्तं न कुर्यात्, अथवा धातूनामनेकार्थत्वान्न निवेशयेत्, यद्वा सङ्कल्पात्मकमेव मनः, ततो मन इति सङ्कल्पमपि 'न कुर्यात्' न विदध्याद् आस्तां तत्प्रवृत्तिमिति, अथवा मन्दबुद्धित्वान्मन्दगमनत्वाद्वा मन्दाः–स्त्रियः ता एव स्पर्शप्रधानत्वात् स्पर्शाः, ततश्च मन्दाश्च स्पर्शाः, बहूनां कामिनां लोभनीयाः–गृद्धिजनका बहुलोभनीयाः यास्तासु 'तहप्पगारेसु'त्ति लिङ्गव्यत्ययात्तथाप्रकारासु बहुलोभनीयासु मनोऽपि न कुर्याद्, इह च स्त्रीणामेव बहुतरापायहेतुत्वादित्थमुच्यते, तथा चाह– "स्पर्शेन्द्रियप्रसक्ताश्च, बलवन्तो मदोत्कटाः। हस्तिबन्धकिसंरक्ता, बध्यन्ते मत्तवारणाः॥ १॥" इति। एवं च पूर्वसूत्रेण द्वेषस्य परिहार उक्तः, अनेन च रागस्य, स तु कथं भवतीत्यत आह—'रक्षयेत्' निवारयेत्, कम् ?–'क्रोधम्' अप्रीतिलक्षणं, 'विनयेत्' अपनयेत् 'मानम्' अहङ्कारात्मकं, 'मायां' परवञ्चनबुद्धिरूपां न कुर्यात्, 'प्रजह्यात्' परित्यजेत् 'लोभम्' अभिष्वङ्गस्वभावं, तथा च क्रोधमानयोर्द्वेषात्मकत्वान्मायालोभयोश्च रागरूपत्वात्तन्निग्रह एव तत्परिहृतिरिति भावनीयम्। अथवा स्पर्शपरिहारमभिदधता चतुर्थव्रतमुक्तं, तच्च 'अबंभचेरं घोरं पमायं दुरहिट्ठगं'ति-

१ अब्रह्मचर्यं घोरं प्रमादं दुरधिष्ठितम्।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११--१२॥

दीप अनुक्रम [१२६--१२७]

वचनान्महाप्रमादरूपस्यान्यस्य निरोधकृदिति, तदभिधानाद्धिंसादिनिरोधोऽप्युक्त एवेति, अनेनार्थतो मूलगुणाभिधानं, रक्षेत् क्रोधमित्यादिना च पिण्डादिकमयच्छते यच्छते वा न कषायवशगो भवेदित्युत्तरगुणोक्तिरिति सूत्रद्वयार्थः ॥ ११–१२ ॥ सम्प्रति यदुक्तं—'तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे' इत्यादि, तत्कदाचिच्चरकादिष्वपि भवेत् अत आह– यद्वैतावता चारित्रशुद्धिरुक्ता, सा च न सम्यक्त्वविशुद्धिमपहायातस्तदर्थमिदमाह—

जे संखया तुच्छपरप्पवादी, ते पेज्जदोसाणुगया परज्झा ।
एए अहम्मुत्ति दुगुंछमाणो, कंखे गुणे जाव सरीरभेए ॥ १३ ॥ त्तिबेमि (सूत्रम्)

व्याख्या—'ये' इति अनिर्दिष्टस्वरूपाः, संस्कृता इति न तात्त्विकशुद्धिमन्तः किन्तूपचरितवृत्तयः, यद्वा संस्कृतागमप्ररूपकत्वेन संस्कृताः, यथा सौगताः, ते हि स्वागमे निरन्वयोच्छेदमभिधाय पुनस्तेनैव निर्वाहमपश्यन्तः परमार्थतोऽन्वयि द्रव्यरूपमेव सन्तानमुपकल्पयांबभूवुः, साङ्ख्याश्चैकान्तनित्यतामुक्त्वा तत्त्वतः परिणामरूपे चैतन्ये(पावे)व पुनराविर्भावतिरोभावावुक्तवन्तो, यथा वा–'उक्तानि प्रतिषिद्धानि, पुनः सम्भावितानि च । सापेक्षनिरपेक्षाणि, ऋषिवाक्यान्यनेकशः ॥ १ ॥' इतिवचनाद्वचननिषेधनसम्भवादिभिरुपस्कृतस्मृत्यादिशास्त्रा मन्वादयः, अत एव 'तुच्छ'त्ति तुच्छा यदृच्छाभिधायितया निःसाराः 'परप्पवाइ'त्ति परे च ते स्वतीर्थिकव्यतिरिक्ततया प्रवादिनश्च

॥२२७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१२८]

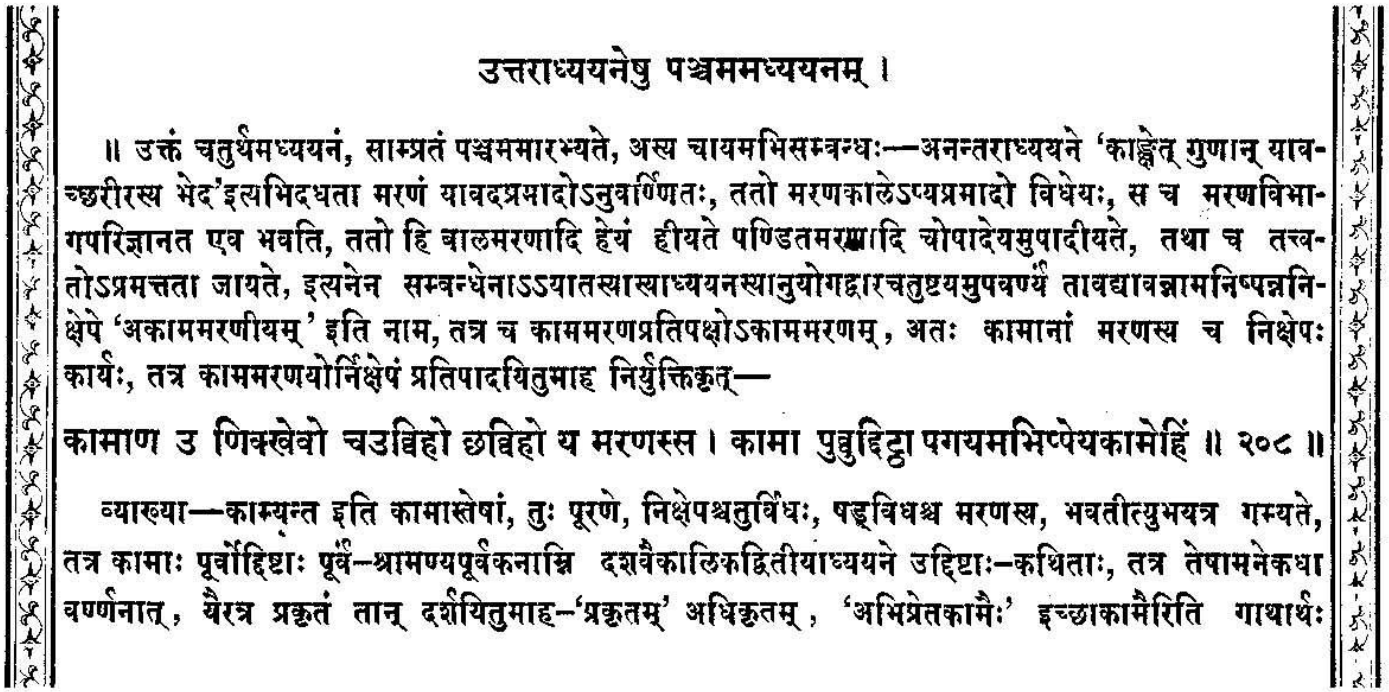
परप्रवादिनः, ते किमित्याह–'पेज्जदोसाणुगया' प्रेमद्वेषाभ्यामनुगताः प्रेमद्वेषानुगताः, तथाहि–सर्वथा संवादिनि भगवद्वचसि निरन्वयोच्छेदैकान्तनित्यत्वादिकल्पनं वचननिषेधनसम्भावनादि वा न रागद्वेषाभ्यां विनेति भावनीयम्, अत एव च 'परज्झ'त्ति देशीपरत्वात्परवशा रागद्वेषग्रहग्रस्तमानसतया न ते स्वतन्त्राः, यदि त एवंविधास्ततः किमित्याह– 'एते' इति अर्हन्मतबाह्याः, अधर्म्महेतुत्वादधर्म्मः, 'इती'त्यमुनोल्लेखेन 'दुगुंछमाणो'त्ति जुगुप्समानः उन्मार्गानुयायिनोऽमी इति तत्स्वरूपमवधारयन्, न तु निन्दन्, निन्दायाः सर्वत्र निषेधात्, तदेवंविधश्च किं कुर्यादित्याह— 'काङ्क्षेत्' अभिलषेत् 'गुणान्' सम्यग्दर्शनचारित्रात्मकान् भगवदागमाभिहितान्, किं नियतकालमेवोतान्यथेत्याह–यावच्छरीरात्–औदारिकात्पञ्चप्रकाराद्वा भेदः–पृथग्भावः शरीरभेदो, मरणं विमुक्तिर्वेतियावद्, अनेनेहैव समुत्थानं कामग्रहाणादि च तत्त्वतः, अन्यत्र तु संवृत्तिमदित्युक्तम्, एवं च काङ्क्षात्मकसम्यक्त्वातिचारपरिहाराभिधानतः समक्त्वशुद्धिर्वेति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥ इति परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत्, उक्तोऽनुगमः, सम्प्रति नयाः, ते च पूर्ववत् ॥ इति श्रीशान्त्याचार्यविरचितायामुत्तराध्ययनटीकायां शिष्यहितायां प्रमादाप्रमादनामकं चतुर्थमध्ययनं समाप्तमिति ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- ४ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१२८]



उत्तराध्ययनेषु पञ्चममध्ययनम् ।

॥ उक्तं चतुर्थमध्ययनं, साम्प्रतं पञ्चममारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—अनन्तराध्ययने 'काङ्क्षेत् गुणान् यावच्छरीरस्य भेद'इत्यभिदधता मरणं यावदप्रमादोऽनुवर्णितः, ततो मरणकालेऽप्यप्रमादो विधेयः, स च मरणविभागपरिज्ञानत एव भवति, ततो हि बालमरणादि हेयं हीयते पण्डितमरणादि चोपादेयमुपादीयते, तथा च तत्त्वतोऽप्रमत्तता जायते, इत्यनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्याध्ययनस्यानुयोगद्वारचतुष्टयमुपवर्ण्य तावद्यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपे 'अकाममरणीयम्' इति नाम, तत्र च काममरणप्रतिपक्षोऽकाममरणम्, अतः कामानां मरणस्य च निक्षेपः कार्यः, तत्र काममरणयोर्निक्षेपं प्रतिपादयितुमाह निर्युक्तिकृत्—

कामाण उ णिक्खेवो चउव्विहो छव्विहो य मरणस्स । कामा पुव्वुद्दिट्ठा पगयमभिप्पेयकामेहिं ॥ २०८ ॥

व्याख्या—काम्यन्त इति कामास्तेषां, तुः पूरणे, निक्षेपश्चतुर्विधः, षड्विधश्च मरणस्य, भवतीत्युभयत्र गम्यते, तत्र कामाः पूर्वोद्दिष्टाः पूर्वं–श्रामण्यपूर्वकनाम्नि दशवैकालिकद्वितीयाध्ययने उद्दिष्टाः–कथिताः, तत्र तेषामनेकधा वर्णनात्, यैरत्र प्रकृतं तान् दर्शयितुमाह–'प्रकृतम्' अधिकृतम्, 'अभिप्रेतकामैः' इच्छाकामैरिति गाथार्थः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – ५ "अकाममरणीय" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१२८]

'ओहे'त्ति ओघमरणं–सामान्यतः सर्वप्राणिनां प्राणपरित्यागात्मकं भवति, भवमरणं–यन्नारकादेर्नरकादिभवविषयतया विवक्षितं, 'तब्भविय'त्ति तद्भविकमरणं यस्मिन्नेव मनुष्यभवादौ मृतः पुनस्तस्मिन्नेवोत्पद्य यन्म्रियते इति व्याख्यानिकाभिप्रायो, वृद्धास्तु व्याचक्षते–'तं भावमरणं दुविहं–ओघमरणं तब्भवमरणं च, तथा तद्भवमरणस्वरूपं च 'जो जम्मि भवग्गहणे मरइ'। तत्र च 'ओहे तब्भवमरणे' इति पाठो लक्ष्यते। इह चैषां येनाधिकारस्तमाह—'मणुस्सभविएणं'ति मनुष्यभवभाविना भवमरणान्तर्वर्त्तिना मनुष्यभविकमरणेनाधिकारः–प्रकृतम्, इति गाथार्थः ॥२०९॥ सम्प्रति विस्तरतो मरणवक्तव्यताविषयं द्वारगाथाद्वयमाह—

मरणविभत्तिपरूवण अणुभावो चेव तह पएसग्गं। कइ मरइ एगसमयं? कइखुत्तो वावि इक्किक्के ?॥२१०॥
मरणंमि इक्कमिक्के कइभागो मरइ सव्वजीवाणं?। अणुसमय संतरं वा इक्किक्कं किच्चिरं कालं?॥ २११ ॥

व्याख्या—तत्र मरणस्य विभक्तिः–विभागस्तस्य प्ररूपणा–प्रदर्शना मरणविभक्तिप्ररूपणा, कार्येति शेषः, अनुभागश्च–रसः, स च तद्विषयस्यायुःकर्म्मणः, तत्रैव तत्संम्भवात्, मरणे हि तदभावात्मनि कथं तत्सम्भव इति भावनीयम्, एवेति पूरणे, तथा प्रदेशानां–तद्विषयायुःकर्म्मपुद्गलात्मकानाम् अग्रं–परिमाणं प्रदेशाग्रं, वाच्यमिति गम्यते,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

અહી પ્રતનું પાનું ૨૨૯/૨ આવશે,

સ્કેન કરનારની ભૂલ થી પાનું ૨૩૦/૧ બે વખત સ્કેન થઇ ગયેલ છે

प्रत सूत्रांक ||१३||

दीप अनुक्रम [१२८]

'ओहे'त्ति ओघमरणं–सामान्यतः सर्वप्राणिनां प्राणपरित्यागात्मकं भवति, भवमरणं–यन्नारकादेर्नरकादिभवविषयतया विवक्षितं, 'तब्भविय'त्ति तद्भविकमरणं यस्मिन्नेव मनुष्यभवादौ मृतः पुनस्तस्मिन्नेवोत्पद्य यन्म्रियते इति व्याख्यानिकाभिप्रायो, वृद्धास्तु व्याचक्षते–'तं भावमरणं दुविहं–ओघमरणं तब्भवमरणं च, तथा तद्भवमरणस्वरूपं च 'जो जम्मि भवग्गहणे मरइ'। तत्र च 'ओहे तब्भवमरणे' इति पाठो लक्ष्यते। इह चैषां येनाधिकारस्तमाह—'मणुस्सभविएणं'ति मनुष्यभवभाविना भवमरणान्तर्वर्त्तिना मनुष्यभविकमरणेनाधिकारः–प्रकृतम्, इति गाथार्थः ॥२०९॥ सम्प्रति विस्तरतो मरणवक्तव्यताविषयं द्वारगाथाद्वयमाह—

मरणविभत्तिपरूवण अणुभावो चेव तह पएसग्गं। कइ मरइ एगसमयं? कइखुत्तो वावि इक्किक्के ?॥२१०॥
मरणंमि इक्कमिक्के कइभागो मरइ सव्वजीवाणं?। अणुसमय संतरं वा इक्किक्कं किच्चिरं कालं?॥ २११ ॥

व्याख्या—तत्र मरणस्य विभक्तिः–विभागस्तस्य प्ररूपणा–प्रदर्शना मरणविभक्तिप्ररूपणा, कार्येति शेषः, अनुभागश्च–रसः, स च तद्विषयस्यायुःकर्म्मणः, तत्रैव तत्संम्भवात्, मरणे हि तदभावात्मनि कथं तत्सम्भव इति भावनीयम्, एवेति पूरणे, तथा प्रदेशानां–तद्विषयायुःकर्म्मपुद्गलात्मकानाम् अग्रं–परिमाणं प्रदेशाग्रं, वाच्यमिति गम्यते,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||१३||

दीप अनुक्रम [१२८]

'कति' कियन्ति मरणानि, अङ्गीकृत्य इति शेषः, म्रियते–प्राणांस्त्यजति, जन्तुरिति गम्यते, 'एगसमयं'ति सुब्व्यत्ययात् एकस्मिन् समये 'कइखुत्तो'त्ति कतिकृत्वः कियतो वारान्, 'वा' समुच्चये, अपिः पूरणे, 'एक्केक्कंति' एकैकस्मिन् वक्ष्यमाणभेदे मरणे म्रियते इति योज्यम्, 'मरणे' वक्ष्यमाणभेद एवैकैकस्मिन् 'कतिभागो'त्ति कतिसङ्ख्यो भागो म्रियते, 'सर्वजीवानाम्' अशेषजीवानाम् 'अणुसमयं'ति प्रतिसमयं निरन्तरमितियावत्, अन्तरं–व्यवधानं सहान्तरेण वर्त्तत इति सान्तरं, वा विकल्पे, किमुक्तं भवति ?–एषु कतरन्निरन्तरं सान्तरं वा ?, तथैकैकं 'कियच्चिरं' कियत्परिमाणं कालं सम्भवतीति गाथाद्वयाक्षरार्थः ॥ २१०–२११ ॥ भावार्थं तु स्वत एव वक्ष्यति निर्युक्तिकारः–तत्र च 'यथोद्देशं निर्देश' इति न्यायतः प्रथमं द्वारमाश्रित्याह—

आवीचि ओहि अंतिय वलायमरणं वसट्टमरणं च । अंतोसल्लं तब्भव बालं तह पंडियं मीसं ॥ २१२ ॥
छउमत्थमरण केवलि वेहाणस गिद्धपिट्ठमरणं च । मरणं भत्तपरिण्णा इंगिणी पाओवगमणं च ॥२१३॥

व्याख्या—इह च मरणशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् आवीचिमरणम् १ अवधिमरणम् २ 'अन्तिय'त्ति आर्षत्वादत्यन्तमरणं ३ 'वलायमरणं'ति तत एव वलन्मरणं ४ वशार्त्तमरणं च ५ अन्तःशल्यमरणं ६ तद्भवमरणं ७ बालमरणं ८ तथा पण्डितमरणं ९ मिश्रमरणं १० छद्मस्थमरणं ११ केवलिमरणं १२ 'वेहाणसं'ति तत एव वैहायसमरणं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१२८]

१३ गृध्रपृष्ठमरणं १४ 'मरणं भत्तपरिण्ण'त्ति भक्तपरिज्ञामरणम् १५ इङ्गिनीमरणं १६ पादपोपगमनमरणं १७ चेति गाथाद्वयार्थः ॥ २१२–२१३ ॥ सम्प्रत्यतिबहुभेददर्शनान्मा भूत् कस्यचिदश्रद्धानमिति सम्प्रदायगर्भं निगमनमाह—

सत्तरसविहाणाइं मरणे गुरुणो भणंति गुणकलिआ । तेसिं नामविभत्तिं वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ २१४ ॥

व्याख्या—सप्तदश-सप्तदशसङ्ख्यानि विधीयन्ते–विशेषाभिव्यक्तये क्रियन्त इति विधानानि–भेदाः 'मरणे' मरण-विषयाणि 'गुरवः' पूज्यास्तीर्थकृद्गणभृदादयो 'भणन्ति' प्रतिपादयन्ति, गुणैः–सम्यग्दर्शनज्ञानादिभिः कलिता–युक्ता गुणकलिताः, न तु वयमेव इत्याकूतं, वक्ष्यमाणग्रन्थसम्बन्धनार्थमाह—'तेषां' मरणानां नाम्नाम्–अभिधाना-नामनन्तरमुपदर्शितानां विभक्तिः–अर्थतो विभागो नामविभक्तिस्तां 'वक्ष्ये' अभिधास्ये, 'अथे'त्यनन्तरमेव आनुपू-र्व्या–क्रमेणेति गाथार्थः ॥ २१४ ॥ यथाप्रतिज्ञातमाह—

अणुसमयनिरंतरमवीइसन्नियं तं भणंति पंचविहं । दव्वे खित्ते काले भवे य भावे य संसारे ॥ २१५ ॥

व्याख्या—'अणुसमयं' समयमाश्रित्य, इदं च व्यवहितसमयाश्रयणतोऽपीति मा भूद्भ्रान्तिरत आह—निरन्तरं, न सान्तरम्, अन्तरालासम्भवात्, किं तदेवंविधम् ?–'अवीइसंनियं'ति प्राकृतत्वादा–समन्ताद्वीचय इव वीचयः प्रतिसमयमनुभूयमानायुषोऽपरायुर्दलिकोदयात् पूर्वपूर्वायुर्दलिकविच्युतिलक्षणाऽवस्था यस्मिंस्तदाऽऽवीचि, ततश्चा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१२८]

वीचीति संज्ञा संजाता अस्मिंस्तारकादित्वात् 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतजि' (पा० ५-२-४६) स्वनेनेत्यावीचिसंज्ञितम्, अथवा वीचिः-विच्छेदस्तदभावादवीचि तत्संज्ञितम्, उभयत्र प्रक्रमान्मरणं, यद्वा संज्ञितशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, ततश्च अनुसमयसंज्ञितं–निरन्तरसंज्ञितम् अवीचिसंज्ञितमिति एकार्थिकान्येतानि, 'तदि'त्यावीचिमरणं 'भणन्ति' प्रतिपादयन्ति 'पञ्चविधं' पञ्चप्रकारं, गणधरादय इति गम्यते, अनेन च पारतन्त्र्यं द्योतयति, तदेवाह—'दव्वे'त्ति द्रव्यावीचिमरणं 'खेत्ते'त्ति क्षेत्रावीचिमरणं 'काले'त्ति कालावीचिमरणं 'भवे य'त्ति भवावीचिमरणं च 'भावे य'त्ति भावावीचिमरणं च, संसार इत्याधारनिर्देशः, तत्रैव मरणस्य सम्भवात्, तत्र द्रव्यावीचिमरणं नाम यन्नारकतिर्यङ्नरामराणामुत्पत्तिसमयात् प्रभृति निजनिजायुःकर्म्मदलिकानामनुसमयमनुभवनाद्विचटनं, तच्च नारकादिभेदाच्चतुर्विधम्, एवं नरकादिगतिचातुर्विध्यापेक्षया तद्विषयं क्षेत्रमपि चतुर्द्धैव, ततस्तत्प्राधान्यापेक्षया क्षेत्रावीचिमरणमपि चतुर्द्धैव, 'काल'इति यथाऽऽयुष्ककालो गृह्यते, न त्वद्धाकालः, तस्य देवादिष्वसम्भवात्, स च देवायुष्ककालादिभेदाच्चतुर्विधः, ततस्तत्प्राधान्यापेक्षया कालावीचिमरणमपि चतुर्विधम्, एवं नरकादिचतुर्विधभवापेक्षया भवावीचिमरणमपि चतुर्धैव, तेषामेव च नारकादीनां चतुर्विधमायुःक्षयलक्षणं भावं प्राधान्येनापेक्ष्य भावावीचिमरणमपि चतुर्धैव वाच्यमिति गाथार्थः ॥ २१५ ॥ अधुनाऽवधिमरणमाह—

एमेव ओहिमरणं जाणि मओ ताणि चेव मरइ पुणो ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१२८]

व्याख्या—'एवमेव' यथाऽऽवीचिमरणं द्रव्यक्षेत्रकालभवभावभेदतः पञ्चविधं, तथाऽवधिमरणमपीत्यर्थः। तत्स्वरूपमाह–यानि मृतः, सम्प्रतीति शेषः, तानि चैव 'मरइ पुणो'त्ति आर्षत्वात्तिङ्व्यत्ययेन मरिष्यति पुनः, किमुक्तं भवति ?–अवधिः–मर्यादा, ततश्च यानि नारकादिभवनिबन्धनतयाऽऽयुःकर्मदलिकान्यनुभूय म्रियते, यदि पुनस्तान्येवानुभूय मरिष्यति तदा तद् द्रव्यावधिमरणं, सम्भवति हि गृहीतोज्झितानामपि कर्म्मदलिकानां पुनर्ग्रहणम्, परिणामवैचित्र्याद्, एवं क्षेत्रादिष्वपि भावनीयं। पश्चार्द्धेनाऽऽत्यन्तिकमरणमाह–

एमेव आइयंतियमरणं नवि मरइ ताइ पुणो ॥ २१६ ॥

व्याख्या—'एवमेव' अवधिमरणवदात्यन्तिकमरणमपि द्रव्यादिभेदतः पञ्चविधं, विशेषस्त्वयम्–'णवि मरइ ताइ पुणो'त्ति अपिशब्दस्यैवकारार्थत्वान्नैव तानि द्रव्यादीनि पुनर्म्रियते, इदमुक्तं भवति–यानि नरकाद्यायुष्कतया कर्मदलिकान्यनुभूय म्रियते मृतो वा न पुनस्तान्यनुभूय मरिष्यति, एवं क्षेत्रादिष्वपि वाच्यं, त्रीण्यपि चामून्यवीच्यवध्यात्यन्तिकमरणानि प्रत्येकं पञ्चानां द्रव्यादीनां नारकादिगतिभेदेन चतुर्विधत्वाद्विंशतिभेदानीति गाथार्थः ॥२१६॥ साम्प्रतं वलन्मरणमाह—

संजमजोगविसन्ना मरंति जे तं वलायमरणं तु। इंदियविसयवसगया मरंति जे तं वसट्टं तु ॥२१७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१२८]

व्याख्या—संयमयोगाः–संयमव्यापारास्तैस्तेषु वा विषण्णाः संयमयोगविषण्णा अतिदुश्चरं तपश्चरणमाचरितुमक्षमाः व्रतं च मोक्तुमशक्नुवन्तः कथञ्चिदस्माकमितो मुक्तिरस्त्विति विचिन्तयन्तो म्रियन्ते यत्तद्बलतां–संयमान्निवर्त्तमानानां मरणं वलन्मरणं, तुर्विशेषणे, भग्नव्रतपरिणतीनां व्रतिनामेवैतदिति विशेषयति, अन्येषां हि संयमयोगानामेवासम्भवात् कथं तद्विषादः ? तदभावे च तदिति । पश्चार्द्धेन वशार्त्तमाह–इन्द्रियाणां–चक्षुरादीनां विषयाः–मनोज्ञरूपादय इन्द्रियविषयास्तद्वशं गताः–प्राप्ता इन्द्रियविषयवशगताः स्निग्धदीपकलिकाऽवलोकनाकुलितपतङ्गवत् म्रियन्ते यत्तद्वशार्त्तमरणं, कथञ्चिद्द्रव्यपर्याययोरभेदादेवमुच्यते, एवं पूर्वत्रापि भावनीयं, तुशब्द एषामप्यध्यवसानभेदतो वैचित्र्यख्यापनार्थ इति गाथार्थः ॥ २१७ ॥ अन्तःशल्यमरणमाह—

अकाममरणाध्य.

लज्जाइ गारवेण य बहुस्सुयमएण वाऽवि दुच्चरिअं । जे न कहंति गुरूणं न हु ते आराहगा हुंति ॥२१८॥
गारवपंकनिबुड्डा अइयारं जे परस्स न कहंति । दंसणनाणचरित्ते ससल्लमरणं हवइ तेसिं ॥ २१९ ॥

व्याख्या—तत्र 'लज्जया' अनुचितानुष्ठानसंवरणाऽऽत्मिकया 'गौरवेण च' सातर्द्धिरसगौरवात्मकेन, मा भून्ममालोचनार्हमाचार्यमुपसर्पतस्तद्वन्दनादिना तदुक्ततपोऽनुष्ठानासेवनेन च ऋद्धिरससाताभावसम्भवः इति, 'बहुश्रुतमदेन वा' बहुश्रुतोऽहं तत्कथमल्पश्रुतोऽयं मम शल्यमुद्धरिष्यति ? कथं चाहमस्मै वन्दनादिकं दास्यामि ? अपभ्रा-

॥२३२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||१३||

दीप अनुक्रम [१२८]

जना हि इयं मम इत्यभिमानेन, अपिः पूरणे, ये गुरुकर्म्माणो 'न कथयन्ति' नालोचयन्ति, केषाम् ?–'गुरूणाम्' आलोचनार्हाणामाचार्यादीनां, किं तद् ?–'दुश्चरितं' दुरनुष्ठितम् इति सम्बन्धः, 'न हु' नैव 'ते' अनन्तरमुक्तरूपा आराधयन्ति–अविकलतया निष्पादयन्ति सम्यग्दर्शनादीनि इत्याराधका भवन्ति, ततः किमित्याह–गौरवं पङ्क इव कालुष्यहेतुतया तस्मिन् निवुड्डा–इति प्राकृतत्वान्निमग्ना इव निमग्नाः तत्क्रोडीकृततया, लज्जामदयोरपि प्रागुपादाने यदिह गौरवस्यैवोपादानं तदस्यैवातिदुष्टताख्यापनार्थम्, 'अतिचारम्' अपराधं ये 'परस्य' आचार्यादेः न कथयन्ति, किंविषयम् ? इत्याह—'दर्शनज्ञानचारित्रे' दर्शनज्ञानचारित्रविषयं, तत्र दर्शनविषयं शङ्कादि ज्ञानविषयं कालातिक्रमादि चारित्रविषयं समित्यननुपालनादि, शल्यमिव शल्यं कालान्तरेऽप्यनिष्टफलविधानं प्रत्यबन्ध्यतया, सह तेन सशल्यं तच्च तन्मरणं च सशल्यमरणम्–अन्तःशल्यमरणं भवति, 'तेषां' गौरवपङ्कमग्नानामिति गाथाद्वयार्थः ॥ २१८–२१९ ॥ अस्यैवात्यन्तपरिहार्यतां ख्यापयन् फलमाह—

एयं ससल्लमरणं मरिऊण महब्भए दुरंतंमि । सुइरं भमंति जीवा दीहे संसारकंतारे ॥ २२० ॥

व्याख्या—'एतद्' उक्तस्वरूपं सशल्यमरणं यथा भवति तथेत्युपस्कारः, सुष्ठ्यत्ययाद्वा एतेन–सशल्यमरणेन 'मृत्वा' त्यक्त्वा प्राणान्, के ?–जीवा इति सम्बन्धः, किम् ?–'सुचिरं भ्रमन्ति' बहुकालं पर्यटन्ति, क ?–संसारः कान्तारमिवातिगहनतया संसारकान्तारः तस्मिन्निति सप्टङ्कः, कीदृशि ?–महद्भयं यस्मिन् तन्महाभयं तस्मिन्, तथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१२८]

दुःखेनान्तः–पर्यन्तो यस्य तद्दुरन्तं तस्मिन्, तथा 'दीर्घे' अनादौ केषाञ्चिदपर्यवसिते चेति तत् सर्वथा परिहर्त्तव्यमेवेति भाव इति गाथार्थः ॥ २२० ॥ तद्भवमरणमाह—

मोत्तुं अकम्मभूमगनरतिरिए सुरगणे अ नेरइए । सेसाणं जीवाणं तब्भवमरणं तु केसिंचि ॥ २२१ ॥

व्याख्या—'मुक्त्वा' अपहाय, कान् ?–'अकम्मभूमगनरतिरिए'त्ति सूत्रत्वात् अकर्म्मभूमिजाश्च ते देवकुरूत्तरकुर्वादिषूत्पन्नतया नरतिर्यञ्चश्च अकर्म्मभूमिजनरतिर्यञ्चस्तान्, तेषां हि तद्भवानन्तरं देवेष्वेवोत्पादः, तथा 'सुरगणांश्च' सुरनिकायान्, किमुक्तं भवति ?–चतुर्निकायवर्तिनोऽपि देवान्, निरयो–नरकः तस्मिन् भवा नैरयिकाः, इहापि चशब्दानुवृत्तेस्तांश्च मुक्त्वेति सम्बन्धः, तेषां देवानां च तद्भवानन्तरं तिर्यग्मनुष्येष्वेवोत्पत्तेः, 'शेषाणाम्' एतदुद्धरितानां कर्म्मभूमिजनरतिरश्चां 'जीवानां' प्राणिनां तद्भवमरणं, तेषामेव पुनस्तत्रोत्पत्तेः, तद्धि यस्मिन् भवे वर्त्तते जन्तुस्तद्भवयोग्यमेवायुर्बद्धा पुनस्तत्क्षयेण म्रियमाणस्य भवति, तुशब्दस्तेषामपि सङ्ख्येयवर्षायुषामेवेति विशेषख्यापकः, असङ्ख्येयवर्षायुषां हि युगलधार्मिकत्वादकर्म्मभूमिजानामिव देवेष्वेवोत्पादः, तेषामपि न सर्वेषां, किन्तु 'केषाञ्चित्' तद्भवोत्पादानुरूपमेवायुःकर्म्मोपचिन्वतामिति गाथार्थः ॥ २२१ ॥ अत्रान्तरे प्रत्यन्तरेषु 'मोत्तूण ओहिमरणं' इत्यादिगाथा दृश्यते, न चास्या भावार्थः सम्यगवबुध्यते, नापि चूर्णिकृताऽसौ व्याख्यातेति उपेक्ष्यते ॥ सम्प्रति बालपण्डितमिश्रमरणस्वरूपमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१२८]

अविरयमरणं बालं मरणं विरयाण पंडियं बिंति। जाणाहि बालपंडियमरणं पुण देसविरयाणं ॥२२२॥

व्याख्या—विरमणं विरतं–हिंसाऽनृतादेरुपरमणं न विद्यते तद् येषां तेऽमी अविरताः तेषां–मृतिसमयेऽपि देश-विरतिमप्रतिपद्यमानानां मिथ्यादृशां सम्यग्दृशां वा मरणमविरतमरणं–बालमरणमिति ब्रुवत इति सम्बन्धः, तथा 'विरतानां' सर्वसावद्यनिवृत्तिमभ्युपगतानां मरणं 'पण्डित'मिति प्रक्रमात्पण्डितमरणम्, 'बिंति'त्ति ब्रुवते तीर्थक-रगणधरादयः, जानीहि 'बालपण्डितमरण'मिति मिश्रमरणं, पुनःशब्दः पूर्वापेक्षया विशेषं द्योतयति, देशात् सर्व-विषयापेक्षया स्थूलप्राणिव्यपरोपणादेर्विरता देशविरतास्तेषामिति गाथार्थः ॥ २२२ ॥ एवं चरणद्वारेण बालादि-मरणत्रयमभिधाय ज्ञानद्वारेण छद्मस्थमरणकेवलिमरणे प्रतिपादयितुमाह—

मणपज्जवोहिनाणी सुअमइनाणी मरंति जे समणा। छउमत्थमरणमेयं केवलिमरणं तु केवलिणो ॥२२३॥

व्याख्या—मनःपर्यवज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनश्च, ज्ञानिशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात्, श्रुतज्ञानिनो मतिज्ञानिनश्च 'म्रियन्ते' प्राणांस्त्यजन्ति ये 'श्रमणाः' तपस्विनः छादयन्ति छद्मानि–ज्ञानावरणादीनि तेषु तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः तेषां मरणं छद्मस्थमरणमेतत्, इह च प्रथमतो मनःपर्यायनिर्देशो विशुद्धिकृतप्राधान्यमङ्गीकृत्य चारित्रिण एव तदुपजा-यत इति स्वामिकृतप्राधान्यापेक्षो वा, एवमवध्यादिष्वपि यथायोगं स्वधियैव हेतुरभिधेयः, केवलिमरणं तु ये केव-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१२८]

लिनः–उत्पन्नकेवलाः सकलकर्म्मपुद्गलपरिशाटतो म्रियन्ते तज्ज्ञेयमिति शेषः, उभयत्राभेदनिर्देशः प्राग्वदिति गाथार्थः ॥ २२३ ॥ साम्प्रतं वैहायसगृध्रपृष्ठमरणे अभिधातुमाह—

गिद्धाइभक्खणं गिद्धपिट्ठ उब्बंधणाइ वेहासं । एए दुन्निवि मरणा कारणजाए अणुण्णाया ॥ २२४ ॥

व्याख्या—'गृद्धाः' प्रतीतास्ते आदिर्येषां शकुनिकाशिवादीनां तैर्भक्षणं गम्यमानत्वादात्मनः तदनिवारणादिना तद्भक्ष्यकरिकरभादिशरीरानुप्रवेशेन च गृध्रादिभक्षणं, तत् किमुच्यत इत्याह—'गिद्धपिट्ठ'त्ति गृध्रैः स्पृष्टं–स्पर्शनं यस्मिंस्तद्गृध्रस्पृष्टम्, यदिवा गृध्राणां भक्ष्यं पृष्ठमुपलक्षणत्वादुदरादि च मर्तुर्यस्मिंस्तद्गृध्रपृष्ठम्, स ह्यलक्तकपूणिकापुटप्रदानेनाप्यात्मानं गृध्रादिभिः पृष्ठादौ भक्षयतीति, पश्चान्निर्दिष्टस्यापि चास्य प्रथमतः प्रतिपादनमत्यन्तमहासत्त्वविषयतया कर्म्मनिर्जरां प्रति प्राधान्यख्यापनार्थम्, 'उब्बंधणाइ वेहासंति' उत्–ऊर्ध्वं वृक्षशाखादौ बन्धनमुद्बन्धनं तदादिर्यस्य तरुगिरिभृगुप्रपातादेरात्मजनितस्य मरणस्य तदुद्बन्धनादि 'वेहास'न्ति प्राकृतत्त्वाद्यलोपे वैहायसम्, उद्बद्धस्य हि विहायस्येव भवनमिति तत्प्राधान्यविवक्षयेत्थमुक्तम्। आह–एवं गृध्रपृष्ठस्याप्यात्मघातरूपत्वाद्वैहायसिकेऽन्तर्भावः, सत्यमेतत्, केवलमल्पसत्त्वैरध्यवसातुमशक्यताख्यापनार्थमस्य भेदेनोपन्यासः, ननु–"भावियजिणवयणाणं ममत्तरहियाण णत्थि हु विसेसो। अत्ताणंमि परंमि य तो वज्जे पीडमुभएवि ॥ १ ॥" इत्यागमः, एते चानन्तरोक्ते मरणे

१ भावितजिनवचनानां ममत्वरहितानां नास्त्येव विशेषः। आत्मनि परस्मिंश्च ततो वर्जयेत् पीडामुभयोरपि ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||१३||

दीप अनुक्रम [१२८]

आत्मविघातकारिणी, तथा चात्मपीडाहेतुरिति कथं नागमविरोधः ?, अत एव च भक्तपरिज्ञानादिषु पीडापरिहाराय 'चत्तारि विचित्ताइं विगईणिज्जूहियाइं'इत्यादिसंलेखनाविधिः पानकादिविधिश्च तत्र तत्राभिहितः, दर्शनमालिन्यं चोभयत्रेत्याशङ्क्याह—'एते' अनन्तरोक्ते 'द्वे अपि' गृध्रपृष्ठवैहायसाख्ये मरणे 'कारणजाते' कारणप्रकारे दर्शनमालिन्यपरिहारादिके उदायिनृपानुमृततथाविधाचार्यवत् अनुज्ञाते, तीर्थकृद्गणधरादिभिरिति, अनेन च सम्प्रदायानुसारितां दर्शयन्नन्यथाकथने श्रुताशातनाया अतिदुरन्तत्वमाह इति गाथार्थः ॥ २२४ ॥ साम्प्रतमन्त्यमरणत्रयमाह—

भत्तपरिण्णा इंगिणी पाओवगमं च तिण्णि मरणाइं । कन्नसमज्झिमजेट्ठा धिइसंघयणेण उ विसिट्ठा २२५

व्याख्या—भक्तं–भोजनं तस्य परिज्ञा–ज्ञपरिज्ञयाऽनेकधेदमस्माभिर्भुक्तपूर्वमेतद्धेतुकं चावद्यमिति परिज्ञानं, प्रत्याख्यानपरिज्ञया च "[१]सव्वं च असणपाणं चउव्विहं जा य बाहिरा उवही । अब्भिंतरं च उवहिं जावज्जीवं च वोसिरे ॥ १ ॥" इत्यागमवचनाच्चतुर्विधाहारस्य [२]वा[३] यावज्जीवमपि परित्यागात्मकं प्रत्याख्यानं भक्तपरिज्ञोच्यते, इङ्गयते–प्रतिनियतप्रदेश एव चेष्ट्यते अस्यामनशनक्रियायामितीङ्गिनी, पादैः–अधःप्रसर्पिमूलात्मकैः पिबति पादपो–वृक्षः, उप-

१ चत्वारि विचित्राणि निर्यूढविकृतीनि । २ सर्वं चाशनपानं चतुर्विधं यश्च बाह्य उपधिः । अभ्यन्तरं चोपधिं यावज्जीवं च व्युत्सृजति । ३ वाशब्दः पूर्वगाथोक्तसोपध्याहारत्यागसूचार्थः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१२८]

शब्दश्चोपमेतिवत्सादृश्येऽपि दृश्यते, ततश्च पादपमुपगच्छति–सादृश्येन प्राप्नोतीति पादपोपगमं, किमुक्तं भवति ?– यथैव पादपः क्वचित् कथञ्चिन्निपतितः सममसममिति चाविभावयन्निश्चलमेवास्ते, तथाऽयमपि भगवान् यद् यथा समविषमदेशेष्वङ्गमुपाङ्गं वा प्रथमतः पतितं न तत्ततश्चलयति, तथा च प्रकीर्णकृत्–णिंचल णिप्पडिकम्मो णिक्खिवए जं जहिं जहा अंगं । एयं पादोवगमं णीहारिं वा अणीहारिं ॥ १ ॥ पातोवगमं भणियं सम विसमो पायवोव्व जह पडितो । णवरं परप्पतोगा कंपेज्ज जहा फलतरूव्व ॥ २ ॥" चः समुच्चये, इह चैवंविधानशनोपलक्षितानि मरणान्यप्येवमुक्तानि, अत एवाह–त्रीणि मरणानि, एतत्स्वरूपं च यथेदं विधेयं यच्चात्र सपरिकर्म्म अपरिकर्म्म च इत्यादिकं सूत्रकार एवोत्तरत्र तपोमार्गनाम्नि त्रिंशत्तमाध्ययनेऽभिधास्यत इति निर्युक्तिकृता नोक्तम् । द्वारनिर्देशावश्यं किञ्चिद्वाच्यमितिमत्वेदमाह–'कण्णस'त्ति सूत्रत्वात् कनिष्ठं–लघु जघन्यमितियावत्, मध्यमं–लघुज्येष्ठयोर्मध्ये भावि, ज्येष्ठम्–अतिशयवृद्धमुत्कृष्टमित्यर्थः, एषां द्वन्द्वः तत एतानि, धृतिः–संयमं प्रति चित्तस्वास्थ्यं संहननं–शरीरसामर्थ्यहेतुः वज्रऋषभनाराचादि ताभ्यां, प्राकृतत्वाच्चैकवचननिर्देशः, समाहाराश्रयणाद्वा, तुशब्दात्सपरिकर्म्मा-

१ निश्चलो निष्प्रतिकर्मा निक्षिपति यद्यत्र यथाऽङ्गम् । एतत्पादपोपगमनं निर्हारं वाऽनिर्हारम् ॥ १ ॥ पादपोपगमनं भणितं समो विषमो वा पादप इव यथा पतितः । नवरं परप्रयोगात् कम्पेत यथा फलतरुवत् ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१२८]

परिकर्म्मतादिभिश्च विशेषैर्विशिष्टानि–विशेषवन्ति, इदमुक्तं भवति–यद्यपि त्रितयमप्येतत् "धीरेणऽवि मरियव्वं कापुरिसेणवि अवस्स मरियव्वं । तम्हा अवस्समरणे वरं खु धीरत्तणे मरिउं ॥१॥ संसाररंगमज्झे धीबलसंनद्धबद्धकच्छातो । हंतूण मोहमल्लं हरामि आराहणपडागं ॥२॥ जह पच्छिमम्मि काले पच्छिमतित्थयरदेसियमुयारं । पच्छा निच्छयपत्थं उवेमि अब्भुज्जयं मरणं ॥ ३ ॥" इति शुभाशयवानेव प्रतिपद्यते, फलमपि च विमानिकतामुक्तिलक्षणं त्रयस्यापि समानं, तथा चोक्तम्–"एयं पच्चक्खाणं अणुपालेऊण सुविहिओ सम्मं । वेमाणितो व देवो हवेज्ज अहवाऽवि सिज्झिज्जा ॥ १ ॥" तथापि विशिष्टविशिष्टतरविशिष्टतमधृतिमतामेव तत्प्राप्तिरिति कनिष्ठत्वादिस्तद्विशेष उच्यते, तथाहि—भक्तपरिज्ञामरणमार्यिकादीनामप्यस्ति, यत उक्तम्–"सेवावि य अज्जाओ सव्वेऽवि य पढमसंघयणवज्जा । सव्वेऽवि देसविरया पच्चक्खाणेण उ मरंति ॥ १ ॥" अत्र हि प्रत्याख्यानशब्देन भक्तपरिज्ञैवोक्ता, तत्र प्राक् पादपोपगमनादेरन्यथाऽभिधानात्, इङ्गिनीमरणं तु विशिष्टतरधृतिसंहननवतामेव सम्भवतीत्यार्यिकादिनिषेधत एवावसी-

१ धीरेणापि मर्तव्यं कापुरुषेणाप्यवश्यं मर्तव्यम् । तस्मादवश्यंमरणे वरमेव धीरत्वेन मर्त्तुम ॥ १ ॥ संसाररङ्गमध्ये धृतिबलसन्नद्धबद्धकक्षाकः । हत्वा मोहमलं हराम्याराधनापताकाम् ॥ २ ॥ यथा पश्चिमे काले पश्चिमतीर्थकरदेशितमुदारम् । पश्चान्निश्चयपथ्यमुपैमि अभ्युद्यतं मरणम् ॥ ३ ॥ २ एतत्प्रत्याख्यानमनुपाल्य सुविहितः सम्यक् । वैमानिको वा देवो भवेदथवाऽपि सिध्येत् ॥ ४ ॥ ३ सर्वा अपि चार्याः सर्वेऽपि च प्रथमसंहननवर्जाः । सर्वेऽपि देशविरताः प्रत्याख्यानेनैव म्रियन्ते ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१२८]

यते, पादपोपगमनं तु नाम्नैव विशिष्टतमधृतिमतामेवेत्युक्तप्रायं, ततश्च वज्रऋषभनाराचसंहननिनामेवैतत्, उक्तं हि– "पढमंमि य संघयणे वट्टंते सेलकुड्डसामाणे । तेसिंपि य वोच्छेओ चोद्दसपुवीण वोच्छेए ॥ १ ॥" कथं चान्यथैवंविधविशिष्टधृतिसंहननाभावे–'पुव्वभवियवेरेणं देवो साहरइ कोऽवि पायाले । मा सो चरिमसरीरो न वेयणं किंपि पावेज्जा ॥१॥'तथा 'देवो नेहेण नयइ देवारण्णं व इंदभवणं वा । जहियं इट्ठा कंता सव्वसुहा हुंति सुहभावा ॥२॥ उप्पण्णे उवसग्गे दिव्वे माणुस्सए तिरिक्खे य । सव्वे पराजिणित्ता पाओवगया परिहरंति ॥ ३ ॥ पुव्वावरउत्तरेहिं दाहिणवाएहिं आवडंतेहिं । जह नवि कंपइ मेरू तह झाणातो नवि चलंति ॥ ४ ॥" इति मरणविभक्तिकृदुक्तं महासामर्थ्यं सम्भवि, किञ्च–तीर्थकरसेवितत्वाच्च पादपोपगमनस्य ज्येष्ठत्वं, इतरयोश्चाविशिष्टसाधुसेवितत्वादन्यथात्वं, तथा चावादि–"सव्वे[६] सव्वद्धाए सव्वण्णू सव्वकम्मभूमीसु । सव्वगुरू सव्वहिया सव्वे मेरूसु अहिसित्ता ॥ १ ॥

१ प्रथमे च संहनने वर्त्तमाने शैलकुड्यसमाने । तस्यापि च व्युच्छेदश्चतुर्दशपूर्विणां व्युच्छेदे । ॥ १ ॥ २ पूर्वभविकवैरेण देवः संहरति कोऽपि पाताले । मा स चरमशरीरो न वेदनां कामपि प्राप्नुयात् ॥ १ ॥ ३ देवः स्नेहेन नयति देवारण्यं वेन्द्रभवनं वा । यत्रेष्टाः कान्ताः सर्वसुखा भवन्ति शुभभावाः ॥ २ ॥ ४ उत्पन्नानुपसर्गान् दिव्यान् मानुष्यकान् तैरश्चांश्च । सर्वान् पराजित्य पादपोपगताः परिहरन्ति ॥३॥ ५ पूर्वापरोत्तरैर्दक्षिणवातैश्चापतद्भिः । यथा नापि कम्पते मेरुस्तथा ध्यानान्नापि चलन्ति ॥ ४ ॥ ६ सर्वे सर्वाद्धायां सर्वज्ञाः सर्वकर्मभूमिषु । सर्वगुरवः सर्वहिताः सर्वे मेरुषु अभिषिक्ताः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१२८]

सर्वाभिः लब्धिभिः परीषहान् पराजित्य । सर्वेऽपि च तीर्थकराः पादपोपगतास्तु सिद्धिं गताः ॥२॥ । अवशेषा अनगारा अतीतप्रत्युत्पन्नागताः सर्वे । केचित्पादपोपगताः प्रत्याख्यानेङ्गिन्यौ केचित् ॥ ३ ॥

सव्वाहिं लद्धीहिं सव्वेऽवि परीसहे पराजित्ता । सव्वेऽवि य तित्थयरा पातोवगया उ सिद्धिगया ॥ २ ॥ अवसेसा अणगारा तीयपडुप्पण्णऽणागया सव्वे । केती पातोवगया पच्चक्खाणिंगिणिं केती ॥ ३ ॥" इति कृतं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥ २२५ ॥ इत्थं प्रतिद्वारगाथाद्वयवर्णनात् मूलद्वारगाथायां मरणविभक्तिप्ररूपणाद्वारमनुवर्णितम्, अधुनाऽनुभावप्रदेशाग्रद्वारद्वयमाह—

सोवक्कमो अ निरुवक्कमो अ दुविहोऽणुभावमरणंमि । आउगकम्मपएसग्गणंतणंता पएसेहिं ॥ २२६ ॥

व्याख्या—सहोपक्रमेण–अपवर्तनाकरणाख्येन वर्तत इति सोपक्रमश्च, निर्गत उपक्रमान्निरुपक्रमश्च द्विविधो, द्वैविध्यं चोक्तभेदेनैव, कोऽसौ?–अनुभाव–अनुभागः, क्व?–'मरणे' इत्यर्थात् मरणविषयायुषि, तत्र हि सप्तभिरष्टभिर्वाऽऽकर्षैर्गवामिव मरुषु जलगण्डूषग्रहणरूपैर्यत्पुद्गलोपादानं तदनुभागोऽतिदृढ इत्यपवर्तयितुमशक्यतया निरुपक्रममुच्यते, यत्तु षड्भिः पञ्चभिश्चतुर्भिर्वा आगृहीतं–दलिकं तदपवर्तनाकरणेनोपक्रम्यते इति सोपक्रमं, न चैतदुभयमप्यायुःक्षयात्मनि मरणे सम्भवति, तथा एति याति च इत्यायुस्तन्निबन्धनं कर्म्म आयुःकर्म्म तस्य विभक्तुमशक्यतया प्रकृष्टा देशाः प्रदेशास्तेषामग्रं–परिमाणमायुःकर्म्मप्रदेशाग्रम्, अनन्तानन्ताः–अनन्तानन्तसङ्ख्यापरिमिता मरणप्रक्रमेऽप्यर्थादायुःपुद्गलास्तद्विषयत्वाच्च मरणस्यैवमुपन्यासः, किमेतावन्तः कृत्स्नेऽप्यात्मनि ?, अत आह—'पएसेहिं'ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१२८]

प्रक्रमात् सुब्व्यत्ययाच्चात्मप्रदेशेषु, आत्मप्रदेशो ह्येकैकस्तत्प्रदेशैरनन्तानन्तैरावेष्टितः संवेष्टितः, तथा च वृद्धव्याख्या—इदाणिं पदेसग्गं–अणंताणंता आउगकम्मपोग्गला जेहिं एगमेगो जीवपएसो आवेढिय परिवेढितो, इति गाथार्थः ॥ २२६ ॥ सम्प्रति कति म्रियन्ते एकसमयेनेतिद्वारमाह—

दुन्नि व तिन्नि व चत्तारि पंच मरणाइ अवीइमरणंमि। कइ मरइ एगसमयंसि विभासावित्थरं जाणे॥२२७॥
सव्वे भवत्थजीवा मरंति आवीइअं सया मरणं। ओहिं च आइअंतिय दुन्निवि एयाइ भयणाए ॥ २२८ ॥
ओहिं च आइअंतिअ बालं तह पंडिअं च मीसं च। छउमं केवलिमरणं अन्नुन्नेणं विरुज्झंति ॥ २२९ ॥

व्याख्या—द्वे वा त्रीणि वा, वाशब्दस्योत्तरत्रानुवृत्तेः चत्वारि वा पञ्च वा मरणानि वक्ष्यमाणविवक्षातः प्रक्रमादेकस्मिन् समये सम्भवन्ति, आवीचिमरणे सतीति शषः, अनेन चास्य सततावस्थितत्वमेतदविवक्षया च तद्भवादिभेदपरिकल्पनेत्याह, कति म्रियन्त एक समये ? इति चतुर्थद्वारस्य विशेषेण भाषणं विभाषणं विभाषा—व्याख्या विविधैर्वा प्रकारैर्भाषणं विभाषा–भेदाभिधानं तया विस्तरः–प्रपञ्चस्तं विस्तरं जानीहि जानीयाद्वा, निगमनमेतत्, प्रस्तुतमेवार्थं प्रकटयितुमाह—'सर्वे' निरवशेषाः, तत् किं मुक्तिभाजोऽपीत्याह—'भवस्थजीवाः' भवन्त्यस्मिन् कर्म्म-

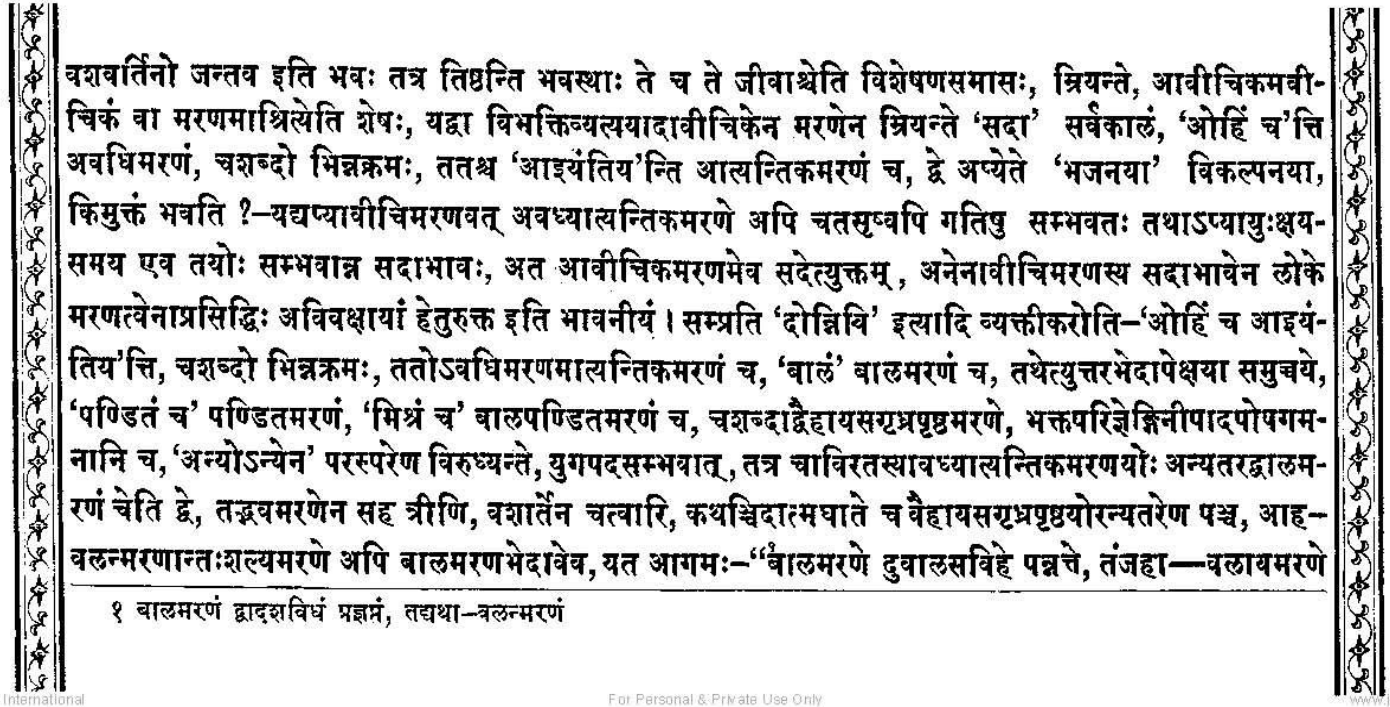
१ इदानीं प्रदेशाग्रम्–अनन्तानन्ता आयुःकर्मपुद्गला यैरेकैको जीवप्रदेश आवेष्टितः परिवेष्टितः

॥२३७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||१३||

दीप अनुक्रम [१२८]



वशवर्तिनो जन्तव इति भवः तत्र तिष्ठन्ति भवस्थाः ते च ते जीवाश्चेति विशेषणसमासः, म्रियन्ते, आवीचिकमवीचिकं वा मरणमाश्रित्येति शेषः, यद्वा विभक्तिव्यत्ययादावीचिकेन मरणेन म्रियन्ते 'सदा' सर्वकालं, 'ओहिं च'त्ति अवधिमरणं, चशब्दो भिन्नक्रमः, ततश्च 'आइयंतिय'न्ति आत्यन्तिकमरणं च, द्वे अप्येते 'भजनया' विकल्पनया, किमुक्तं भवति ?–यद्यप्यावीचिमरणवत् अवध्यात्यन्तिकमरणे अपि चतसृष्वपि गतिषु सम्भवतः तथाऽप्यायुःक्षयसमय एव तयोः सम्भवान्न सदाभावः, अत आवीचिकमरणमेव सदेत्युक्तम्, अनेनावीचिमरणस्य सदाभावेन लोके मरणत्वेनाप्रसिद्धिः अविवक्षायां हेतुरुक्त इति भावनीयं। सम्प्रति 'दोन्निवि' इत्यादि व्यक्तीकरोति–'ओहिं च आइयंतिय'त्ति, चशब्दो भिन्नक्रमः, ततोऽवधिमरणमात्यन्तिकमरणं च, 'बालं' बालमरणं च, तथेत्युत्तरभेदापेक्षया समुच्चये, 'पण्डितं च' पण्डितमरणं, 'मिश्रं च' बालपण्डितमरणं च, चशब्दाद्वैहायसगृध्रपृष्ठमरणे, भक्तपरिज्ञेङ्गिनीपादपोपगमनानि च, 'अन्योऽन्येन' परस्परेण विरुध्यन्ते, युगपदसम्भवात्, तत्र चाविरतस्यावध्यात्यन्तिकमरणयोः अन्यतरद्बालमरणं चेति द्वे, तद्भवमरणेन सह त्रीणि, वशार्तेन चत्वारि, कथञ्चिदात्मघाते च वैहायसगृध्रपृष्ठयोरन्यतरेण पञ्च, आह–वलन्मरणान्तःशल्यमरणे अपि बालमरणभेदावेव, यत आगमः–"बालमरणे दुवालसविहे पन्नत्ते, तंजहा—वलायमरणे

१ बालमरणं द्वादशविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–वलन्मरणं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१२८]

वंसट्टमरणे अंतोसल्लमरणे तब्भवमरणे गिरिपडणे तरुपडणे जलप्पवेसे जलणप्पवेसे विसभक्खणे सत्थोवहणणे वेहाणसे गिद्धपट्ठे"त्ति, एतेषु च यद्यपि गिरिपतनादिषट्कस्य वैहायस एवान्तर्भावः तथापि बलन्मरणान्तःशल्यमरणयोः प्रक्षेपे कथं नोक्तसङ्ख्याविरोधः?, उच्यते, इहाविरतस्यैव बालमरणं विवक्षितम्, उक्तं हि–'अविरयमरणं बालमरणं' अनयोस्त्वेकत्र संयमस्थानेभ्यो निवर्तनम्, अन्यत्र मालिन्यमात्रं विवक्षितं, न तु सर्वथा विरतेरभाव एवेति कथं बालमरणे सम्भवः?, तथा छद्मस्थमरणमपि विरतानामेव रूढमिति नोक्तसङ्ख्याविरोधः, एवं देशविरतस्यापि बालादिभङ्गभावना कार्या, नवरं बालमरणस्थाने बालपण्डितमरणं वाच्यं, विरतस्य त्ववध्यात्यन्तिकमरणयोरन्यतरत् पण्डितमरणं चेति द्वे, छद्मस्थकेवलिमरणयोश्चान्यतरदिति त्रीणि; भक्तपरिज्ञेङ्गिनीपादपोपगमनानामन्यतरेण सह चत्वारि, कारणिकस्य तु वैहायसगृध्रपृष्ठयोरन्यतरेण सह पञ्च, दृढसंयमं प्रत्येवमुक्तं, शिथिलसंयमस्य त्ववध्यात्यन्तिकमरणयोरन्यतरत्, कुतश्चित्कारणाद्वैहायसगृध्रपृष्ठयोश्चान्यतरदिति द्वे, कथञ्चिच्छल्यसम्भवे चान्तःशल्यमरणेन सह त्रीणि, बलन्मरणेन सह चत्वारि, छद्मस्थमरणेन तु पञ्च, पण्डितमरणस्य यथोक्तभक्तपरिज्ञादीनां वा विशुद्धसंयमत्वादस्याभाव एवेति, आह—विरतस्यावस्थाद्वयेऽपि तद्भवमरणप्रक्षेपे कथं न षष्ठमरणसम्भवः?, उच्यते, विरतस्य देवेष्वेवोत्पाद इति तत्रै-

१० वशार्त्तमरणमन्तःशल्यमरणं तद्भवमरणं गिरिपतनं तरुपतनं जलप्रवेशो ज्वलनप्रवेशो विषभक्षणं शस्त्रोपहननं वैहायसं गृध्रपृष्ठमिति।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१२८]

वोत्पत्त्यभावान्न तद्भवमरणसम्भव इति गाथात्रयार्थः ॥ २२७–२२८–२२९ ॥ गतं कति म्रियन्त एकसमय इति द्वारम्, इदानीं कतिकृत्वो म्रियते एकैकस्मिन् ? इति द्वारमाह—

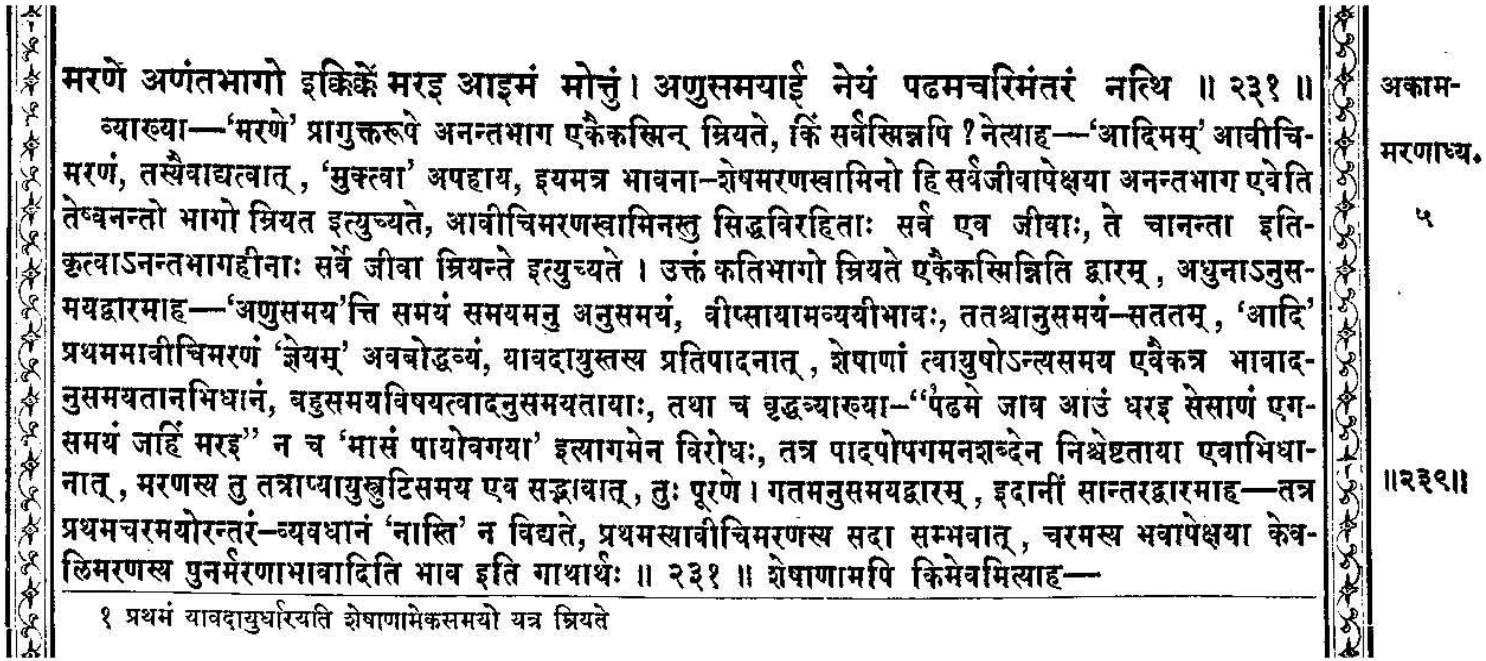
संखमसंखमणंता कमो उ इक्किक्कगंमि अपसत्थे । सत्तट्ठग अणुबंधो पसत्थए केवलिंमि सइं ॥ २३० ॥

व्याख्या—'संखमसंखं'ति आर्षत्वात् सङ्ख्याः–सङ्ख्याताः असङ्ख्या–अविद्यमानसङ्ख्याः अनन्ता–अपर्यवसिता, वारा इति प्रक्रमः, 'कमो उ'त्ति क्रमः-परिपाटी, तुशब्दश्च कायस्थितेरल्पबहुत्वापेक्षयाऽयं ज्ञेय इति विशेषद्योतकः, 'एक्केक्कगंमि'त्ति एकैकस्मिन् 'अप्रशस्ते' बालमरणादौ निरूप्यमाणे, तत्र सामान्येन पञ्चेन्द्रियाविरतदेशविरतौ च सङ्ख्याताः, शेषाः पृथिव्युदकाग्निवायुद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाः असङ्ख्याताः, वनस्पतयोऽनन्ता, एते हि कायस्थित्यपेक्षया यथाक्रमं बहुबहुतरबहुतमस्थितिभाज इतिकृत्वा । प्रशस्ते कति वारा म्रियत इत्याह—'सत्तट्ठग'त्ति सप्त वाऽष्ट वा सप्ताष्टास्ते परिमाणमस्येति सप्ताष्टकः, कोऽसौ ?–'अनुबन्धः' सातत्येन भवनं तन्मरणानामिति, ततोऽयमर्थः–सप्त वा अष्ट वा वारा म्रियते, क ?–'प्रशस्तके' सर्वविरतिसम्बन्धिनि पण्डितमरणे, इह च चारित्रस्य निरन्तरमवाप्यसम्भवात् तद्वत एव च प्रशस्तमरणभावादर्थाद् व्यवधानमपि देवभवैराश्रीयते, 'केवलिनि' यथाख्यातचारित्रवति समुत्पन्नकेवले 'सइं'ति सकृदेकमेव मरणमिति गाथार्थः ॥ २३० ॥ उक्तं कतिकृत्वो म्रियत एकैकस्मिन्निति द्वारं, सम्प्रति कतिभाग एकैकस्मिन्मरणे म्रियत इति द्वारमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१२८]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥२३९॥

मरणे अणंतभागो इक्किक्के मरइ आइमं मोत्तुं। अणुसमयाई नेयं पढमचरिमंतरं नत्थि ॥ २३१ ॥

व्याख्या—'मरणे' प्रागुक्तरूपे अनन्तभाग एकैकस्मिन् म्रियते, किं सर्वस्मिन्नपि ? नेत्याह—'आदिमम्' आवीचिमरणं, तस्यैवाद्यत्वात्, 'मुक्त्वा' अपहाय, इयमत्र भावना–शेषमरणस्वामिनो हि सर्वजीवापेक्षया अनन्तभाग एवेति तेष्वनन्तो भागो म्रियत इत्युच्यते, आवीचिमरणस्वामिनस्तु सिद्धविरहिताः सर्व एव जीवाः, ते चानन्ता इति कृत्वाऽनन्तभागहीनाः सर्वे जीवा म्रियन्ते इत्युच्यते । उक्तं कतिभागो म्रियते एकैकस्मिन्निति द्वारम्, अधुनाऽनुसमयद्वारमाह—'अणुसमय'त्ति समयं समयमनु अनुसमयं, वीप्सायामव्ययीभावः, ततश्चानुसमयं–सततम्, 'आदि' प्रथममावीचिमरणं 'ज्ञेयम्' अवबोद्धव्यं, यावदायुस्तस्य प्रतिपादनात्, शेषाणां त्वायुषोऽन्त्यसमय एवैकत्र भावादनुसमयतानभिधानं, बहुसमयविषयत्वादनुसमयतायाः, तथा च वृद्धव्याख्या–"पढमे जाव आउं धरइ सेसाणं एगसमयं जहिं मरइ" न च 'मासं पायोवगया' इत्यागमेन विरोधः, तत्र पादपोपगमनशब्देन निश्चेष्टताया एवाभिधानात्, मरणस्य तु तत्राप्यायुस्त्रुटिसमय एव सद्भावात्, तुः पूरणे। गतमनुसमयद्वारम्, इदानीं सान्तरद्वारमाह—तत्र प्रथमचरमयोरन्तरं–व्यवधानं 'नास्ति' न विद्यते, प्रथमस्यावीचिमरणस्य सदा सम्भवात्, चरमस्य भवापेक्षया केवलिमरणस्य पुनर्मरणाभावादिति भाव इति गाथार्थः ॥ २३१ ॥ शेषाणामपि किमेवमित्याह—

१ प्रथमं यावदायुर्धारयति शेषाणामेकसमयो यत्र म्रियते

अकाम-मरणाध्य. ५ ॥२३९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१२८]

सेसाणं मरणाणं नेओ संतरनिरंतरो उ गमो । साई सपज्जवसिया सेसा पढमिल्लुगमणाइ ॥ २३२ ॥

व्याख्या—शेषाणां मरणानाम्–अवधिमरणादीनां पञ्चदशानां ज्ञेयः, सहान्तरेण–व्यवधानेन वर्तत इति सान्तरः, निष्क्रान्तोऽन्तराद्निरन्तरश्च, तुःशब्दस्य समुच्चयार्थत्वात्, उक्तं हि—"तुशब्दो विशेषणपादपूरणावधारणसमुच्चयेषु" कोऽसौ ?–गम्यते अनेन वस्तुस्वरूपमिति गमः–प्ररूपणा, इदमुक्तं भवति—यदाऽन्यतरद्बालमरणादिकं प्राप्य म्रियते मृत्वा च भवान्तरे मरणान्तरमनुभूय पुनस्तदेवाप्नोति तदा सान्तरमिति प्ररूपणा, यदा तु बालमरणादिकमवाप्य पुनस्तदेवाव्यवहितमाप्नोति तदा निरन्तरं भवति, तत्प्ररूपकत्वाच्चेह गमोऽपि सान्तरो निरन्तरश्चेत्युक्तः । सम्प्रति गाथापश्चार्धेन कालद्वारमाह—सादीनि च सपर्यवसितानि च सादिसपर्यवसितानि 'शेषाणि' षोडश वक्ष्यमाणापेक्षया अवधिमरणादीनि, एकसामयिकतायास्तेषामभिहितत्वात्, प्रवाहापेक्षया तु शेषभङ्गोपलक्षणमेतत्, प्रवाहतोऽपि भङ्गत्रयपतितानि शेषमरणानि सम्भवन्ति, तथा च वृद्धाः—"[१]बालमरणाणि अणाइयाणि वा अपज्जवसियाणि वा, अणादियाणि वा सपज्जवसियाणि, पंडियमरणाणि पुण साइयाणि सपज्जवसियाणि" मुक्त्यवाप्तौ तदुच्छित्तिसम्भवादिति भावः, 'पढमिल्लुगं'ति प्रथमकम्—आवीचिमरणम् 'अनादि' आदिरहितं प्रवा-

१ बालमरणानि अनादिकानि वा अपर्यवसितानि वा, अनादिकानि वा सपर्यवसितानि, पण्डितमरणानि पुनः सादिकानि सपर्यवसितानि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१२८]

हापेक्षयेतिभावः, प्रतिनियतायुःपुद्गलापेक्षया तु साद्यपि सम्भवति, उपलक्षणत्वाच्चास्यापर्यवसितं च अभव्यानां, भव्यानां पुनः सपर्यवसितमपीति गाथार्थः ॥ २३२ ॥ सम्प्रत्यतिगम्भीरतामागमस्य दर्शयन्नात्मौद्धत्यपरिहारायाह भगवान् निर्युक्तिकारः—

सव्वे एए दारा मरणविभत्तीइ वण्णिआ कमसो। सगलणिउणे पयत्थे जिणचउदसपुव्वि भासंति ॥२३३॥

व्याख्या—'सर्वाणि' अशेषाणि 'एतानि' अनन्तरमुपदर्शितानि 'द्वाराणि' अर्थप्रतिपादनमुखानि 'मरणविभक्तेः' मरणविभक्त्यपरनाम्नोऽस्यैवाध्ययनस्य 'वर्णितानि' प्ररूपितानि, मयेति शेषः, 'कमसो'त्ति प्राग्वत् क्रमतः, आह— एवं सकलापि मरणवक्तव्यतोक्ता उत नेत्याह—सकलाश्च–समस्ता निपुणाश्च–अशेषविशेषकलिताः सकलनिपुणाः तान् पदार्थान् इह प्रशस्तमरणादीन् जिनाश्च–केवलिनः चतुर्दशपूर्विणश्च–प्रभवादयो जिनचतुर्दशपूर्विणो 'भाषन्ते' व्यक्तमभिदधति, अहं तु मन्दमतित्वान्न तथा वर्णयितुं क्षम इत्यभिप्रायः, स्वयं चतुर्दशपूर्वित्वेऽपि यच्चतुर्दशपूर्व्युपादानं, तत्तेषामपि षट्स्थानपतितत्वेन शेषमाहात्म्यख्यापनपरमदुष्टमेव, भाष्यगाथा वा द्वारगाथाद्वयादारभ्य लक्ष्यन्त इति प्रेर्यानवकाश एवेति गाथार्थः ॥ २३३ ॥ इहैव प्रशस्ताप्रशस्तमरणविभागमाह—

एगंतपसत्था तिण्णि इत्थ मरणा जिणेहि पण्णत्ता। भत्तपरिण्णा इंगिणी पाउवगमणं च कमजिट्ठं ॥२३४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१२९]

व्याख्या—एकान्तेन–नियमेन प्रशस्तानि–श्लाघ्यानि 'त्रीणि' त्रिसङ्ख्यानि 'अत्र' एतेष्वनन्तराभिहितेषु मरणेषु मरणानि 'जिनैः' केवलिभिः 'प्रज्ञप्तानि' प्ररूपितानि, तान्येवाह—भक्तपरिज्ञा इङ्गिनी 'पायवगमणं' चेति पादपोपगमनं च, इदमपि त्रयं किमेकरूपमित्याह—क्रमेण-परिपाट्या ज्येष्ठम्–अतिशयप्रशस्यं क्रमज्येष्ठं यथोत्तरं प्रधानमितिभावः। शेषमरणान्यपि यानि प्रशस्तानि तेषामत्रैवान्तर्भावः, इतराणि कानिचित् कथञ्चित् प्रशस्तानि, अपराणि तु सर्वथैवाप्रशस्तानीति गाथार्थः ॥ २३४ ॥ इह च येनाधिकारस्तदाह—

इत्थं पुण अहिगारो णायव्वो होइ मणुअमरणेणं। मुत्तुं अकाममरणं सकाममरणेण मरियव्वं ॥ २३५ ॥

व्याख्या—'अत्र' एतेषु मरणेषु, पुनःशब्दो वाक्योपन्यासार्थः, अधिकारो ज्ञातव्यो भवति मनुजमरणेन, किमुक्तं भवति ?–मनुष्यभवसम्भविना पण्डितमरणादिना, तान्येव प्रत्युपदेशप्रवृत्तेः। सम्प्रत्युक्तार्थसंक्षेपद्वारेणोपदेशसर्वस्वमाह–मुक्त्वाऽकाममरणं–बालमरणाद्यमप्रशस्तं 'सकाममरणेन' भक्तपरिज्ञादिना प्रशस्तेन मर्तव्यमिति गाथार्थः ॥ २३५ ॥ गतो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

अण्णवंसि महोहंसि, एगे तरइ दुरुत्तरं। तत्थ एगे महापण्णे, इमं पण्हमुदाहरे ॥ १ ॥

व्याख्या—अर्णो–जलं विद्यते यत्रासावर्णवः, अर्णसो लोपश्चेति (पा० ५–२–१०९ वार्त्तिकं) वप्रत्ययः सकारलोपश्च, स च द्रव्यतो जलधिर्भावतश्च संसारः तस्मिन्, कीदृशि ?–'महोघंसि'त्ति महानोघः–प्रवाहो द्रव्यतो जल-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१२९]

सम्बन्धी भावतस्तु भवपरम्परात्मकः प्राणिनामत्यन्तमाकुलीकरणहेतुः चरकादिमतसमूहो वा यस्मिन् स महौघः तस्मिन्, महत्त्वं चोभयत्रागाधतयाऽदृष्टपरपारतया च मन्तव्यं, तत्र किमित्याह—'एक' इत्यसहायो रागद्वेषादिसहभावविरहितो गौतमादिरित्यर्थः, 'तरति' परं पारमाप्नोति, तत्कालापेक्षया वर्त्तमाननिर्देशः, 'दुरुत्तरं'ति विभक्तिव्यत्ययादुरुत्तरे–दुःखेनोत्तरितुं शक्ये, दुरुत्तरमिति क्रियाविशेषणं वा, न हि यथाऽसौ तरति तथाऽपरैर्गुरुकर्म्मभिः सुखेनैव तीर्यते, अत एव एक इति, सङ्ख्यावचनो वा, एक एव–जिनमतप्रतिपन्नाः, न तु चरकादिमताकुलितचेतसोऽन्ये तथा तरितुमीशत इति, 'तत्रे'ति गौतमादौ तरणप्रवृत्ते 'एक' इति तथाविधतीर्थकरनामकर्मोदयादनुत्तरावासविभूतिरद्वितीयः, किमुक्तं भवति ?–तीर्थकरः, स ह्येक एव भरते सम्भवतीति, 'महापण्णे'त्ति महती–निरावरणतयाऽपरिमाणा प्रज्ञा–केवलज्ञानात्मिका संवित् अस्येति महाप्रज्ञः, स किं इत्याह—'इमम्' अनन्तरवक्ष्यमाणं हृदि विपरिवर्तमानतया प्रत्यक्षं प्रक्रमात्तरणोपायं, 'पट्ठं'ति स्पष्टम्–असन्दिग्धं, पठ्यते च 'पण्हं'ति पृच्छयत इति प्रश्नं—प्रष्टव्यार्थरूपम् 'उदाहरे'त्ति भूते लिट्, तत उदाहरेद्—उदाहृतवान्, पठ्यते च—'अण्णवंसि महोघंसि एगे तिण्णे दुरुत्तरं'ति, अत्र सुव्व्यत्यये विशेषः, ततश्च—अर्णवान्महौघादुरुत्तरात् तीर्ण इव तीर्णः–तीरप्राप्त इतियोगः, एको घातिकर्म्मसाहित्यरहितः, 'तत्रे'ति सदेवमनुजायां परिषदि, एकोऽद्वितीयः, स च तीर्थकृदेव, शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ १ ॥ यदुदाहृतवांस्तदेवाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२॥

दीप अनुक्रम [१३०]

संतिमे य दुवे ट्ठाणा, अक्खाया मारणंतिया । अकाममरणं चेव, सकाममरणं तहा ॥ २ ॥

व्याख्या—सन्तीति प्राकृतत्वात् वचनव्यत्ययेन स्तो–विद्येते 'इमे' प्रत्यक्षे, चः पूरणे, पठ्यते च 'संतिमेए'त्ति स्त एते, मकारोऽलाक्षणिकः, एवमन्यत्रापि यत्र नोच्यते तत्र भावनीयं, 'द्वे' द्विसङ्ख्ये तिष्ठन्त्यनयोर्जन्तव इति स्थाने 'आख्याते' पुरातनतीर्थकृद्भिरपि कथिते, अनेन तीर्थकृतां परस्परं वचनाव्याहतिरुपदर्शिता, ते च कीदृशे ?–'मारणंतिए'त्ति मरणमेवान्तो–निजनिजायुषः पर्यन्तो मरणान्तः तस्मिन् भवे मारणान्तिके, ते एव नामत उपदर्शयति–'अकाममरणम्' उक्तरूपमनन्तरवक्ष्यमाणरूपं च, वक्ष्यमाणापेक्षया चः समुच्चये, एवेति पूरणे, 'सकाममरणम्' उक्तरूपं वक्ष्यमाणस्वरूपं च तथेति सूत्रार्थः ॥ २ ॥ केषां पुनरिदं कियत्कालं च ? इत्यत आह—

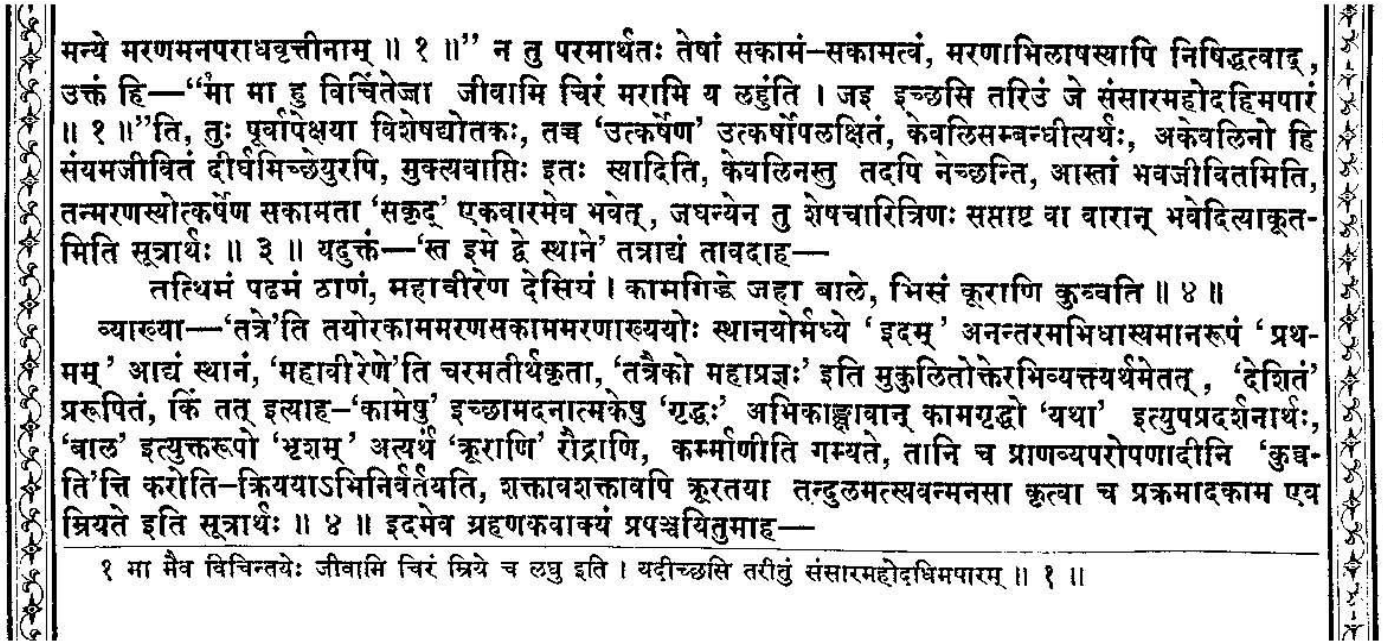
बालाणं अकामं तु, मरणं असतिं भवे । पंडियाणं सकामं तु, उक्कोसेण सतिं भवे ॥ ३ ॥

व्याख्या—बाला इव बालाः सदसद्विवेकविकलतया तेषाम् 'अकामं तु'त्ति तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् अकाममेव मरणमसकृद्–वारं वारं भवेत्, ते हि विषयाभिष्वङ्गतो मरणमनिच्छन्त एव म्रियन्ते, तत एव च भवाटवीमटन्ति, 'पण्डितानां' चारित्रवतां सह कामेन—अभिलाषेण वर्तते इति सकामं सकाममिव सकामं मरणं प्रत्यसंत्रस्ततया, तथात्वं चोत्सवभूतत्वात् तादृशां मरणस्य, तथा च वाचकः–"सञ्चिततपोधनानां नित्यं व्रतनियमसंयमरतानाम् । उत्सवभूतं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३॥

दीप अनुक्रम [१३१]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥२४२॥

मन्ये मरणमनपराधवृत्तीनाम् ॥ १ ॥" न तु परमार्थतः तेषां सकामं–सकामत्वं, मरणाभिलाषस्यापि निषिद्धत्वाद्, उक्तं हि—"मा मा हु विचिंतेजा जीवामि चिरं मरामि य लहुंति । जइ इच्छसि तरिउं जे संसारमहोदहिमपारं ॥ १ ॥"ति, तुः पूर्वापेक्षया विशेषद्योतकः, तच्च 'उत्कर्षेण' उत्कर्षोपलक्षितं, केवलिसम्बन्धीत्यर्थः, अकेवलिनो हि संयमजीवितं दीर्घमिच्छेयुरपि, मुक्त्यवाप्तिः इतः स्यादिति, केवलिनस्तु तदपि नेच्छन्ति, आस्तां भवजीवितमिति, तन्मरणस्योत्कर्षेण सकामता 'सकृद्' एकवारमेव भवेत्, जघन्येन तु शेषचारित्रिणः सप्ताष्ट वा वारान् भवेदित्याकूतमिति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥ यदुक्तं—'स्त इमे द्वे स्थाने' तत्राद्यं तावदाह—

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं । कामगिद्धे जहा बाले, भिसं कूराणि कुव्वति ॥ ४ ॥

व्याख्या—'तत्रे'ति तयोरकाममरणसकाममरणाख्ययोः स्थानयोर्मध्ये 'इदम्' अनन्तरमभिधास्यमानरूपं 'प्रथमम्' आद्यं स्थानं, 'महावीरेणे'ति चरमतीर्थकृता, 'तत्रैको महाप्रज्ञः' इति मुकुलितोक्तेरभिव्यक्त्यर्थमेतत्, 'देशितं' प्ररूपितं, किं तत् इत्याह–'कामेषु' इच्छामदनात्मकेषु 'गृद्धः' अभिकाङ्क्षावान् कामगृद्धो 'यथा' इत्युपप्रदर्शनार्थः, 'बाल' इत्युक्तरूपो 'भृशम्' अत्यर्थं 'क्रूराणि' रौद्राणि, कर्म्माणीति गम्यते, तानि च प्राणव्यपरोपणादीनि 'कुर्वति'त्ति करोति–क्रियया ऽभिनिर्वर्तयति, शक्तावशक्तावपि क्रूरतया तन्दुलमत्स्यवन्मनसा कृत्वा च प्रक्रमादकाम एव म्रियते इति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥ इदमेव ग्रहणकवाक्यं प्रपञ्चयितुमाह—

१ मा मैव विचिन्तयेः जीवामि चिरं म्रिये च लघु इति । यदीच्छसि तरीतुं संसारमहोदधिमपारम् ॥ १ ॥

अकाम-मरणाध्य. ५ ॥२४२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [१३३]

जे गिद्धे कामभोगेसु, एगे कूडाय गच्छइ । न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रती ॥ ५ ॥

व्याख्या—'य'इत्यनिर्दिष्टस्वरूपो गृद्धः, काम्यन्त इति कामाः भुज्यन्त इति भोगाः ततश्च कामाश्च ते भोगाश्च कामभोगाः तेषु–अभिलषणीयशब्दादिषु, यद्वा कामौ च शब्दरूपाख्यौ भोगाश्च स्पर्शरसगन्धाख्याः कामभोगाः तेषु, उक्तं हि—"कामा दुविहा पण्णत्ता–सद्दा रूवा य, भोगा तिविहा पण्णत्ता, तंजहा–गंधा रसा फासा य"त्ति, 'एकः' कश्चित् क्रूरकर्म्मा तन्मध्यात् कूटमिव कूटं—प्रभूतप्राणिनां यातनाहेतुत्वान्नरक इत्यर्थः, यथैव हि कूट-निपतितो मृगो व्याधैरनेकधा हन्यते, एवं नरकपतितोऽपि जन्तुः परमाधार्मिकैरिति, तस्मै कूटाय, गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ (पा० २-३-१२) वित्यादिना चतुर्थी, 'गच्छति' याति, यद्वा यो गृद्धः 'कामभोगेष्वि'ति कामेषु–स्त्रीसङ्गेषु भोगेषु–धूपनविलेपनादिषु स 'एकः' सुहृदादिसाहाय्यरहितः कूटाय गच्छति, अथवा कूटं द्रव्यतो भाव-तश्च, तत्र द्रव्यतो मृगादिबन्धनं, भावतस्तु मिथ्याभाषणादि, तस्मै गच्छतीत्यनेकार्थत्वात् प्रवर्तते, स हि मांसादि-लोलुपतया मृगादिबन्धनान्यारभते, मिथ्याभाषणादीनि चासेवत इति, प्रेरितश्च कैश्चिद्वदति–'न मे'इति न मया 'दृष्टः' अवलोकितः, कोऽसौ ?–'परलोको' भूतभाविजन्मात्मकः, कदाचिद्विषयाभिरतिरप्येवंविधैव स्यादत आह— चक्षुषा–लोचनेन दृष्टा–प्रतीता चक्षुर्दृष्टा 'इय'मिति तामेव प्रत्यक्षां निर्दिशति, रम्यतेऽस्यामिति रतिः–स्पर्शनादि-

१ कामा द्विविधाः प्रज्ञप्ताः–शब्दा रूपाणि च, भोगास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—गन्धा रसाः स्पर्शाश्च ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६॥

दीप अनुक्रम [१३४]

सम्भोगजनिता चित्तप्रहृत्तिः, तस्यायमाशयः–कथं दृष्टपरित्यागतोऽदृष्टपरिकल्पनयाऽऽत्मानं विप्रलभेयमिति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥ पुनस्तदाशयमेवाभिव्यञ्जयितुमाह—

हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया। को जाणइ परे लोए ?, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥ ६ ॥

व्याख्या—हसन्ति तेनावृत्य मुखं घ्नन्ति वा घात्यमनेनेति हस्तस्तम् आगताः-प्राप्ताः हस्तागताः, उपमार्थोऽत्र गम्यते, ततो हस्तागता इव स्वाधीनतया, क एते ?–'इमे' प्रत्यक्षोपलभ्यमानाः काम्यन्त इति कामाः–शब्दादयः, कदाचिदागामिनोऽप्येवंविधा एव स्युरित्याह—काले सम्भवन्तीति कालिकाः–अनिश्चितकालान्तरप्राप्तयो ये 'अनागता' भाविजन्मसम्बन्धिनः, कथं पुनरमी अनिश्चितप्राप्तय इत्याह—'को जाणइ'त्ति उत्तरस्य पुनःशब्दस्येह सम्बन्धनात् कः पुनर्जानाति ?, नैव कश्चित्, यथा–परलोकोऽस्ति नास्ति वेति, अयं चास्याशयः–परलोकस्य सुकृतादिकर्म्मणां वाऽस्तित्वनिश्चयेऽपि 'को हि हस्तगतं द्रव्यं पादगामि करिष्यती'ति न्यायतः क इव हस्तागतान् कामानपहाय कालिककामार्थं यतेत, तत्त्वतस्तु परलोकनिश्चय एव न समस्ति, तत्र प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेः, अनुमानस्य तु प्रवृत्तावपि गोपालघटिकादिधूमादश्यनुमानवदन्यथाऽप्युपलम्भनान्निश्चायकत्वासम्भवान्न ततस्तदस्तित्वनिश्चयो नास्तित्वनिश्चयो वा, किन्तु सन्देह एव, न त्वयमेवं विवेचयति–यथाऽवाप्ता अपि कामा दुरन्ततया त्यक्तुमुचिताः, दुर-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६॥

दीप अनुक्रम [१३४]

न्तत्वं च तेषां शल्यविषादिभिरुदाहरणैः प्रतीतमेव, तथा च वक्ष्यति–"सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा। कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दुग्गतिं ॥१॥" न हि विषादीनि मुखमधुराण्यप्यायतिविरसतया विवेकिभिर्न हीयन्ते, यदपि परलोकसन्देहाभिधानं तदपि न पापपरिहारोपदेशं प्रति बाधकं, पापानुष्ठानस्येहैव चौरपारदारिकादिषु महानर्थहेतुतया दर्शनात्, परलोकनास्तित्वानिश्चये च तत्रापि तथानर्थहेतुतया सम्भाव्यमानत्वाद्वल्मीककरप्रवेशनादिवत् प्रेक्षावद्भिः परिहर्तुमुचितत्वात्, न च परलोकास्तित्वं प्रति सन्देहः, तन्निश्चायकानुमानस्य तदहर्जातबालकस्तनाभिलाषादिलिङ्गबलोत्पन्नस्य तथाविधाध्यक्षवदव्यभिचारित्वेन तत्र तत्र समर्थितत्वादित्यलं प्रसङ्गेनेति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ अन्यस्तु कथञ्चिदुत्पादितप्रत्ययोऽपि कामान् परिहर्तुमशक्नुवन्निदमाह—

जणेण सद्धिं होक्खामि, इति बाले पगब्भइ। कामभोगाणुरागेणं, केसं संपडिवज्जइ ॥ ७ ॥

व्याख्या—जायत इति जनो-लोकस्तेन 'सार्द्धं' सह भविष्यामि, किमुक्तं भवति ?–बहुर्जनो भोगासङ्गी तदहमपि तद्गतिं गमिष्यामि, यद्वा 'होक्खामि'त्ति भोक्ष्यामि–पालयिष्यामि, यथा ह्ययं जनः कलत्रादिकं पालयति तथाऽहमपि, न हीयान् जनोऽज्ञ इति 'बालः' अज्ञः 'प्रगल्भते' धार्ष्ट्यमवलम्बते, अलीकवाचालतया च स्वयंनष्टः परानपि नाशयति, न विवेचयति यथा–किमुन्मार्गप्रस्थितेनाविवेकिजनेन बहुनाऽपि ? मम विवेकिनः प्रमाणीकृतेन[२], स्वकृत-

१ शल्यं कामा विषं कामाः, कामा आशीविषोपमाः। कामान् प्रार्थयन्तोऽकामा यान्ति दुर्गतिम् ॥ १ ॥ २ प्रमाणीकरणेनेति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७॥

दीप अनुक्रम [१३५]

कर्मफलभुजो हि जन्तवः, स चैवं कामभोगेषु–उक्तरूपेषु अनुरागः–अभिष्वङ्गः कामभोगानुरागः–तेन 'क्लेशम्' इह परत्र च विविधबाधात्मकं 'सम्प्रतिपद्यते' प्राप्नोतीति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥ यथा च कामभोगानुरागेण क्लेशं संप्रतिपद्यते तथा वक्तुमाह—

तओ दंडं समारभति, तसेसु थावरेसु य । अट्ठाए य अणट्ठाए, भूयगामं विहिंसइ ॥ ८ ॥

व्याख्या—'तत' इति कामभोगानुरागात् 'से'इति स धाष्टर्यवान् दण्ड्यते संयमसर्वस्वापहरणेनात्मा अनेनेति दण्डो–मनोदण्डादिस्तं 'समारभते' प्रवर्तत इति, केषु ?–त्रस्यन्ति–तापाद्युपतप्तौ छायादिकं प्रत्यभिसर्पन्तीति त्रसाः–द्वीन्द्रियादयस्तेषु, तथा शीतातपाद्युपहता अपि स्थानान्तरं प्रत्यनभिसर्पितया स्थानशीलाः स्थावरास्तेषु च, अर्थः–प्रयोजनं वित्तावाप्त्यादिः तदर्थमर्थाय, चस्य व्यवहितसम्बन्धत्वात् अनर्थाय च–यदात्मनः सुहृदादेर्वा नोपयुज्यते, ननु किमनर्थमपि कश्चिद्दण्डं समारभते, एवमेतत् तथाविधपशुपालवत्, तत्र सम्प्रदायः–यथैकः पशुपालः प्रतिदिनं मध्याह्नगते रवौ अजासु महान्यग्रोधतरुं समाश्रितासु तत्थुत्तीर्णतो णिविण्णो वेणुविदलेण अजोद्दीर्णकोलास्थिभिः तस्य वटस्य पत्राणि छिद्रीकुर्वन् तिष्ठति, एवं तेन स वटपादपः प्रायसश्छिद्रपत्रीकृतः, अन्नया तत्थेगो रायपुत्तो दातियधाडितो तच्छायसमस्सितो पेच्छए य तस्स वडस्स सर्वाणि पत्राणि छिद्रितानि, तो तेण सो

१ तत्रोत्तानको निविष्टो वेणुविदलेन, अन्यदा तत्रैको राजपुत्रो दायादधाटितः तच्छायासमाश्रितः प्रेक्षते च तस्य वटस्य, ततस्तेन स

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८॥

दीप अनुक्रम [१३६]

पसुपालतो पुच्छितो–केणेयाणि पत्राणि छिद्दीकयाणि ?, तेण भण्णइ–मया, एयाणि क्रीडापूर्वं छिद्रितानि, तेण सो बहुणा दव्वजाएण विलोभेउं भण्णति–सक्केसि जस्साहं भणामि तस्स अच्छीणि छिद्देउं ?, तेण भण्णति–छुडु अब्भासत्थो होउ तो सक्केमि, तेण णयरं नीतो, रायमग्गसन्निविट्ठे घरे ठवितो, तस्स रायपुत्तस्स भाया राया, सो तेण मग्गेण अस्सवाहणियाए णिज्जइ, एएण भण्णति—एयस्स अच्छीणि पाडेहित्ति, तेण य गोलियधणुयएण तस्स णिग्गच्छमाणस्स दोवि अच्छीणि पाडियाणि, पच्छा सो रायपुत्तो राया जातो, तेण य सो पसुपालो भण्णति–ब्रूहि वरं, किं ते प्रयच्छामि ?, तेण भण्णति–मज्झ तमेव गामं देहि जत्थ अच्छामि, तेण सो दिण्णो, पच्छा तेण तम्मि पच्चंतगामे उच्छू रोविओ तुंबीतो य, निप्फण्णेसु तुंबाणि गुले सिद्धिउं तं गुडतुंबयं भुक्त्वा २ गायति स–अट्टमट्टं च

१ पशुपालः पृष्टः—केनैतानि पत्राणि छिद्रीकृतानि ?, तेन भण्यते–मयैतानि । तेन स बहुना द्रव्यजातेन विलोभ्य भण्यते–शक्नोषि यस्याहं भणामि तस्याक्षिणी छिद्रयितुम् ?, तेन भण्यते–सुष्ठु अभ्यासस्थो भवेयं तदा शक्नुयाम्, तेन नगरं नीतः, राजमार्गसन्निविष्टे गृहे स्थापितः, तस्य राजपुत्रस्य भ्राता राजा, स तेन मार्गेणाश्ववाहनिकया याति, एतेन भण्यते–एतस्याक्षिणी पातयेति, तेन च गोलिकधनुषा तस्य निर्गच्छतो द्वे अप्यक्षिणी पातिते, पश्चात्स राजपुत्रो राजा जातः, तेन च स पशुपालो भण्यते–तेन भण्यते–मम तमेव ग्रामं देहि यत्र तिष्ठामि, तेन स (तस्मै) दत्तः, पश्चात्तेन तस्मिन् प्रत्यन्तग्रामे इक्षू रोपितस्तुम्ब्यश्च, निष्पन्नेषु तुम्बानि गुडे पक्त्वा तत् गुडतुम्बकं भुक्त्वा गायति चासौ—अट्टमट्टं च

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८॥

दीप अनुक्रम [१३६]

सिक्खिज्जा, सिक्खियं ण णिरत्थयं । अट्ठमट्ठपसाएण, भुंजए गुडतुंबयं ॥१॥ तेण ताणि वडपत्ताणि अणट्ठाए छिद्दियाणि, अच्छीणि पुण अट्ठाए पाडियाणि । दण्डमारभत इत्युक्तं, तत्किमसावारम्भमात्र एवावतिष्ठते इत्याह—'भूयगामं'ति भूताः-प्राणिनस्तेषां ग्रामः–समूहस्तं विविधैः प्रकारैर्हिनस्ति–व्यापादयति, अनेन च दण्डत्रयव्यापार उक्त इति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥ किमसौ कामभोगानुरागेणैतावदेव कुरुते ? उतान्यदपीत्याह—

हिंसे बाले मुसावाई, माईल्ले पिसुणे सढे । भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेयंति मन्नइ ॥ ९ ॥

व्याख्या—हिंसनशीलो हिंस्रः अनन्तरोक्तनीत्या, तथैवंविधश्च सन्नसौ 'बालः' उक्तरूपो 'मृषावादी'ति अलीकभाषणशीलः, 'माइल्ले'त्ति माया–परवञ्चनोपायचिन्ता तद्वान् 'पिशुनः' परदोषोद्घाटकः 'शठः' तत्तन्नेपथ्यादिकरणतोऽन्यथाभूतमात्मानमन्यथा दर्शयति, मण्डिकचौरवत् , अत एव च भुञ्जानः 'सुरां' मद्यं 'मांसं' पिशितं 'श्रेयः' प्रशस्यतरमेतदिति मन्यते, उपलक्षणत्वात् भाषते च–'न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुन'इत्यादि, तदनेन मनसा वचसा कायेन चासत्यत्वमस्योक्तमिति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥ पुनस्तद्वक्तव्यतामेवाह—

कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु । दुहओ मलं संचिणइ, सिसुनागुव्व मट्टियं ॥ १० ॥

१ शिक्षेत, शिक्षितं न निरर्थकम् । अट्टमट्टप्रसादेन, भुज्यते गुडतुम्बकम् ॥ १ ॥ तेन तानि वटपत्राणि अनर्थाय छिद्रितानि, अक्षिणी पुनरर्थाय पातिते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक ॥१०॥

दीप अनुक्रम [१३८]

व्याख्या—'कायस'त्ति सूत्रत्वात् कायेन–शरीरेण वचसा–वाचा उपलक्षणत्वात् मनसा च 'मत्तो' दृप्तः, तत्र काय-मत्तो मदान्धगजवत् यतस्ततः प्रवृत्तिमान्, यद्वाऽहोऽहं बलवान् रूपवान् वेति चिन्तयन् वचसा स्वगुणान् ख्याप-यन् अहोऽहं सुस्वर इत्यादि वा चिन्तयन्, मनसा च मदाध्मातमानसः अहोऽहमवधारणाशक्तिमानिति वा मन्वानो 'वित्ते'द्रविणे 'गृद्धो' गृद्धिमान्, चशब्दो भिन्नक्रमः, ततः स्त्रीषु च गृद्धः, तत्र वित्ते गृद्ध इति अदत्तादानपरि-ग्रहोपलक्षणं, तद्भावभावित्वात्तयोः, स्त्रीषु गृद्ध इत्यनेन मैथुनासेवित्वमुक्तं, स हि स्त्रियः संसारसर्वस्वभूता इति मन्यते, तथा च तद्वचः—'सत्यं वच्मि हितं वच्मि, सारं वच्मि पुनः पुनः । अस्मिन्नसारे संसारे, सारं सारङ्गलोचनाः ॥ १ ॥' तदभिरतिमांश्च मैथुनासेव्येव भवति, स एवंविधः किमित्याह—'दुहतो'त्ति द्विधा–द्वाभ्यां रागद्वेषात्मकाभ्यां बहि-रन्तःप्रवृत्त्यात्मकाभ्यां वा प्रकाराभ्यां, सूत्रत्वाद्विविधं वा इहलोकपरलोकवेदनीयतया पुण्यपापात्मकतया वा, 'मलम्' अष्टप्रकारं कर्म्म 'संचिनोति' बध्नाति, क इव किमित्याह—'शिशुनागो'गण्डूपदोऽलस उच्यते, स इव मृत्तिकां, स हि स्निग्धतनुतया बही रेणुभिरवगुण्ड्यते, तामेव चाश्नीते इति बहिरन्तश्च द्विधापि मलमुपचिनोति, तथाऽयमपि, एतदृष्टान्ताभिधाने त्वयमभिप्रायो–यथाऽसौ बहिरन्तश्चोपचितमलः खरतरदिवाकरकरनिकरसंस्पर्शतः शुष्यन्निहैव क्लिश्यति विनाशं चाप्नोति, तथाऽयमप्युपचितमलः आशुकारिकर्म्मवशत इहैव जन्मनि क्लिश्यति विन-श्यति चेति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥ अमुमेवार्थं व्यक्तीकर्तुमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र सूत्रान्ते यत् ॥११॥ लिखितं तत् मुद्रणदोषः, अत्र सूत्र ॥१०॥ एव वर्तते

प्रत सूत्रांक ॥११॥

दीप अनुक्रम [१३९]

तओ पुट्ठो आयंकेण, गिलाणो परितप्पति । पभीओ परलोगस्स, कम्माणुप्पेही अप्पणो ॥ ११ ॥

व्याख्या—'ततो'त्ति तकः ततो वा दण्डारम्भणाद्युपार्जितमलतः स्पृष्टः, केन ?–'आतङ्केन' आशुघातिना शूल-विसूचिकादिरोगेण तत्तद्दुःखोदयात्मकेन वा 'ग्लान'इति मन्दोऽपगतहर्षो वा परीति–सर्वप्रकारं तप्यते, किमुक्तं भवति ?–बहिरन्तश्च खिद्यते, 'प्रभीत'इति प्रकर्षेण त्रस्तः, कुतः ?–'परलोगस्स'त्ति परलोकात्, सुब्व्यत्ययेन पञ्चम्यर्थे षष्ठी, किमिति ?–क्रियत इति कर्म–क्रिया तदनुप्रेक्षत इत्येवंशीलः कर्मानुप्रेक्षी, यत इति गम्यते, कस्य ?–आत्मनः, स हि हिंसालीकभाषणादिकामात्मचेष्टां चिन्तयन्न किञ्चिन्मया शुभमाचरितं, किन्तु सदैवाजरामरवच्चेष्टितमिति चिन्तयंश्चेतस्यातङ्कतश्च तनावपि खिद्यते, भवति हि विषयाकुलितचेतसोऽपि प्रायः प्राणोपरमसमयेऽनुतापः, तथा चाहुः—"भवित्रीं भूतानां परिणतिमनालोच्य नियतां, पुरा यद्यत्किञ्चिद्विहितमशुभं यौवनमदात् । पुनः प्रत्यासन्ने महति परलोकैकगमने, तदेवैकं पुंसां व्यथयति जराजीर्णवपुषाम् ॥ १ ॥" इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥ अमुमेवार्थं व्यक्तीकर्तुमाह—(ग्रन्थाग्रम् ६०००)

सुया मे णरए ठाणा, असीलाणं च जा गती । बालाणं कूरकम्माणं, पगाढा जत्थ वेयणा ॥ १२ ॥

व्याख्या—'सुय'त्ति श्रुतानि–आकर्णितानि 'मे' इति मया 'नरके' सीमन्तकादिनाम्नि, कानि ?–'ठाणा' इति

१ प्राकृतानुकरणमेतदिति प्रतिभाति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१२॥

दीप अनुक्रम [१४०]

लिङ्गव्यत्ययेनोत्पत्तिस्थानानि घटिकालयादीनि येष्वतिसंपीडिताङ्गा दुःखमाकृष्यमाणाः बहिर्निष्क्रामन्ति जन्तवः, यद्वा नरके–रत्नप्रभादिनरकपृथिव्यात्मके स्थानानि–सीमन्तकाप्रतिष्ठानादीनि कुम्भीवैतरण्यादीनि वा, अथवा स्थानानि–सागरोपमादिस्थित्यात्मकानि, तत्किमियताऽपि परितप्यत इत्यत आह—'अशीलानाम्' अविद्यमानसदाचाराणां या गतिर्नरकात्मिका सा च श्रुतेति सम्बन्धः, कीदृशानाम् ?–'बालानाम्' अज्ञानां 'क्रूरकर्म्मणां' हिंस्रमृषाभाषकादीनां, कीदृशी गतिरित्याह–प्रगाढा नामात्युत्कटतया निरन्तरतया च प्रकर्षवत्यो 'यत्र' यस्यां गतौ वेद्यन्त इति वेदनाः–शीतोष्णशाल्मल्याश्लेषणादयः, तदयमस्याशयः–ममैवंविधानुष्ठानस्येदृश्येव गतिरिति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥ तथा—

तत्थोववाइयं ठाणं, जहा मे तमणुस्सुयं। आहाकम्मेहिं गच्छन्तो, सो पच्छा परितप्पति ॥ १३ ॥

व्याख्या—'तत्रे'ति नरकेषु उपपाते भवेमौपपातिकं 'स्थानं' स्थितिः 'यथा' येन प्रकारेण, भवतीति शेषः, 'मे' मया तदित्यनन्तरोक्तपरामर्शे 'अनुश्रुतम्' अवधारितं, गुरुभिरुच्यमानमिति शेषः, औपपातिकमिति च ब्रुवतोऽस्यायमाशयः–यदि गर्भजत्वं भवेत् भवेदपि तदवस्थायां छेदभेदादिनारकदुःखान्तरम्, औपपातिकत्वे त्वन्तर्मुहूर्तानन्तरमेव तथाविधवेदनोदय इति कुतस्तदन्तरसम्भवः ?, तथा च—'आहाकम्मेहिं'ति आधानमाधाकरणम्, आत्मनेति गम्यते, तदुपलक्षितानि कर्माण्याधाकर्म्माणि, तैः आधाकर्मभिः–स्वकृतकर्मभिः, यद्वाऽऽर्षत्वात्, 'आहेति' आधाय कृत्वा, कर्माणीति गम्यते, ततस्तैरेव कर्म्मभिः 'गच्छन्' यान्, प्रक्रमान्नरकं, यद्वा–'यथाक-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१४१]

र्मभिः' गमिष्यमाणगत्यनुरूपैः तीव्रतीव्रतराद्यनुभावान्वितैर्गच्छंस्तदनुरूपमेव स्थानं, 'स' इति बालः, 'पश्चादि'त्या-युषि हीयमाने 'परितप्यते' यथा धिङ् मामसदनुष्ठायिनं, किमिदानीं मन्दभाग्यः करोमि ? इत्यादि शोचत इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥ अमुमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण दृढयन्नाह—

जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं । विसमं मग्गमोतिण्णो, अक्खभग्गंमि सोयइ ॥ १४ ॥

व्याख्या—'यथे'त्युदाहरणोपन्यासार्थः, शक्नोति शक्यते वा धान्यादिकमनेन वोढुमिति शकटं तेन चरति शाक-टिकः—गन्त्रीवाहकः 'जाणं'ति जानन्नवबुध्यमानः 'समम्' उपलादिरहितं 'हित्वा'त्यक्त्वा, कम् ?—महांश्चासौ विस्तीर्णतया प्राधान्येन च पन्थाश्च महापथः, 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे (पा० ५–४–७४) इत्यकारः समासान्तस्तं, 'विषमम्' उपलादिसङ्कुलं 'मार्गं' पन्थानं 'ओतिन्नो'त्ति अवतीर्णः—गन्तुमुपक्रान्तः, पठ्यते च—'ओगाढो'त्ति तत्र चावगाढ आरूढः प्रपन्न इति चैकोऽर्थः, अक्षीते नवनीतादिकमित्यक्षो—धूः तस्य भङ्गो—विनाशः अक्षभङ्गः तस्मिन्, पाठान्तरतश्चाक्षे भग्ने, शोचते यथा धिग् मम परिज्ञानं यज्जानन्नपीत्थमपायमवाप्तवानिति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥ सम्प्रत्युपनयमाह—

एवं धम्मं विउक्कम्म, अहम्मं पडिवज्जिया । बाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयइ ॥ १५ ॥

व्याख्या—'एव'मिति शाकटिकवद् 'धर्मं' क्षान्त्यादिकं यतिधर्मं सदाचारात्मकं वा 'विउक्कम्म'त्ति व्युत्क्रम्य–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१५॥

दीप अनुक्रम [१४३]

विशेषेणोल्लङ्घ्य न धर्मोऽधर्म्मः, नञ् विपक्षेऽपि वर्तते इति धर्मप्रतिपक्षः, तं–हिंसादिकं 'प्रतिपद्य' अभ्युपगम्य 'बालः' अभिहितरूपो मरणं–मृत्युस्तस्य मुखमिव मुखं मृत्युमुखं–मरणगोचरं 'प्राप्तो' गतः, किमित्याह–अक्षे भग्न इव शोचति, किमुक्तं भवति ?–यथा–अक्षभङ्गे शाकटिकः शोचति तथाऽयमपि स्वकृतकर्मणामिहैव मारणान्तिकवेदनात्मकं फलमनुभवन्नात्मानमनुशोचति, यथा हा किमेतज्जानताऽपि मयैवमनुष्ठितमिति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥ शोचनानन्तरं च किमसौ करोतीत्याह—

तओ से मरणंतंमि, बाले संतस्सई भया। अकाममरणं मरई, धुत्ते वा कलिणा जिए ॥ १६ ॥

व्याख्या—'तत'इत्यातङ्कोत्पत्तौ यच्छोचनमुक्तं तदनन्तरं 'से' इति स मरणमेवान्तो मरणान्तस्तस्मिन्, उपस्थित इति शेषः, 'बालो' रागाद्याकुलितचित्तः 'संत्रस्यति' समुद्विजते बिभेतीतियावत्, कुतः ?–'भयात्' नरकगतिगमनसाध्वसाद्, अनेनाकामत्वमुक्तं, स च किमेवं बिभ्यत् मरणाद्विमुच्यते ? उत नेत्याह–अकामस्य–अनिच्छतो मरणमकाममरणं तेन, सूत्रे चार्षत्वाद्वितीया, 'म्रियते' प्राणांस्त्यजति, क इव कीदृशः सन् ?–'धूर्त इव' द्यूतकार इव, वाशब्दस्योपमार्थत्वात्, 'कलिना' एकेन, प्रक्रमात् दायेन, जितः सन्नात्मानं शोचति, यथा ह्ययमेकेन दायेन जितः सन्नात्मानं शोचति तथाऽसावपीत्वरैर्विपाककटुभिः सङ्क्लेशबहुलैर्मनुजभोगैर्दिव्यसुखं हारितः शोचन्नेव म्रियत इति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥ प्रस्तुतमेवार्थं निगमयितुमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७॥

दीप अनुक्रम [१४५]

एयं अकाममरणं, बालाणं तु पवेइयं । इत्तो सकाममरणं, पंडियाण सुणेह मे ॥ १७ ॥

व्याख्या—'एतद्' अनन्तरमेव दुष्कृतकर्म्मणां परलोकाद्विभ्यतां यन्मरणमुक्तं तदकाममरणं, बालानामेव, तुशब्दस्यैवार्थत्वात्, 'प्रवेदितं' प्रकर्षेण प्रतिपादितं, तीर्थकृद्गणधरादिभिरिति गम्यते । पण्डितमरणप्रस्तावनार्थमाह—'एत्तो'त्ति इतोऽकाममरणादनन्तरं 'सकाममरणं पण्डितानां सम्बन्धि 'शृणुत' आकर्णयत 'मे' मम, कथयत इत्युपस्कारः इति सूत्रार्थः ॥ १७ ॥ यथाप्रतिज्ञातमाह—

मरणंपि सपुण्णाणं, जहा मे तमणुस्सुयं । विप्पसण्णमणाघायं, संजयाणं वुसीमओ ॥ १८ ॥

व्याख्या—मरणमपि आस्तां जीवितमित्यपिशब्दार्थः, 'पुण कर्म्मणि शुभे'इत्यस्माद्धातोः 'उणादयो बहुल' (पा० ३-३-१)मिति बहुलवचनाद्भावे क्यपि पुण्यम्, उक्तं हि—"पुण्यं कर्म्मणि निर्दिष्टः शुभविशेषप्रकाशको धातुरयम् । भावप्रत्यययोगाद्भिक्तिनिर्देशसिद्धमेतद्रूपम् ॥ १ ॥" सह तेन वर्तन्त इति सपुण्यास्तेषां न त्वन्येषामपुण्यवतां, किं सर्वमपि ?, नेत्याह—'यथा' येन प्रकारेण 'मे' मम, कथयत इति गम्यते, तदित्युपक्षेपः, तत्रोपात्तम् 'अनुश्रुतम्' अवधारितं, भवद्भिरिति शेषः, सुष्ठु प्रसन्नं मरणसमयेऽप्यकलुषं कषायकालुष्यापगमान् मनः—चेतो येषां ते सुप्रसन्नमनसः महामुनयस्तेषां ख्यातं—स्वसंवेदनतः प्रसिद्धं सुप्रसन्नमनःख्यातं, यद्वा—'सुप्पसन्नेहि अक्खायं' अत्र च सुष्ठु प्रसन्नैः—

१ अत्र पूर्वार्धे चतुर्थपञ्चमषष्ठाः पादाः उत्तरार्धेऽष्टचाः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१८॥

दीप अनुक्रम [१४६]

पापपङ्कापगमनेनात्यन्तनिर्मलीभूतैः, शेषतीर्थकृद्भिरिति गम्यते, आख्यातं । पठ्यते च 'विप्पसण्णमणाघायं'ति, तत्र च विशेषेण विविधैर्वा भावनादिभिः प्रकारैः प्रसन्ना–मरणेऽप्यपहतमोहरेणुतयाऽनाकुलचेतसो विप्रसन्नाः, तत्सम्बन्धि मरणमप्युपचाराद्विप्रसन्नं, न विद्यते आघातः तथाविधयतनयाऽन्यप्राणिनामात्मनश्च विधिवत् संलिखितशरीरतया यस्मिंस्तदनाघातं, केषां पुनरिदम् ?, उच्यते–'संयतानां' समिति–सम्यग् यतानां–पापोपरतानां, चारित्रिणामित्यर्थः, 'वुसीमतो'त्ति, आर्षत्वाद्वश्यवतां वश्य इत्यायत्तः, स चेहात्मा इन्द्रियाणि वा, वश्यानि विद्यन्ते येषां ते अमी वश्यवन्तः तेषाम् , अयमपरः सम्प्रदायार्थः–वसंति वा साहुगुणेहिं वुसीमंतः, अहवा वुसीमा–संविग्गा तेसिं'ति एतच्चार्थात् पण्डितमरणमेव, ततोऽयमर्थः–यथैतत् संयतानां वश्यवतां विप्रसन्नमनाघातं च सम्भवति, न तथाऽपुण्यप्राणिनाम्। 'अन्ते समाहिमरणं अभवजीवा ण पावेंति'त्ति वचनात्, विशिष्टयोग्यताभाजामेव तत्प्राप्तिसम्भवादिति सूत्रार्थः ॥ १८ ॥ यथा चैतदेवं तथा दर्शयितुमाह—

न इमं सव्वेसु भिक्खूसुं, ण इमं सव्वेसु गारिसु। नानासीला य गारत्था, विसमसीला य भिक्खुणो ॥१९॥

व्याख्या—'ने'त्यवधारणफलत्वाद्वाक्यस्य नैव 'इद'मिति पण्डितमरणं 'सव्वेसु भिक्खूसु'त्ति सूत्रत्वात् सर्वेषां भिक्षूणां परदत्तोपजीविनां व्रतिनामितियावत् , किन्तु केषाञ्चिदेव परोपचितपुण्यानुभाववतां भावभिक्षूणां, तथा च

१ वसन्ति वा साधुगुणैः वसीमन्तः, अथवा वशिमानः संविग्नास्तेषामिति । २ अन्ते समाधिमरणमभव्यजीवा न प्राप्नुवन्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१९॥

दीप अनुक्रम [१४७]

गृहस्थानां दूरापास्तमेव, अत एवाह–नेदं पण्डितमरणं 'सव्वेसु गारिसु'त्ति सर्वेषामगारिणा गृहिणां, चारित्रिणामेव तत्सम्भवात्, तथात्वे च तेषामपि तत्त्वतो यतित्वाद्, उभयत्र विषयसप्तम्यन्ततया वा नेयं, यथा चैतदेवं तथोपपत्तित आह–नाना–अनेकविधं शीलं–व्रतं स्वभावो वा येषां ते नानाशीलाः 'अगारस्था' गृहस्थाः, तेषां हि नैकरूपमेव शीलं किन्त्वनेकभङ्गसम्भवादनेकविधं, देशविरतिरूपस्य तस्यानेकधाऽभिधानात्, सर्वविरतिरूपस्य च तेष्वसम्भवात्, 'विषमम्' अतिदुर्लक्षतयाऽतिगहनं विसदृशं वा शीलमेषां विषमशीलाः, के ते ?–भिक्षवः, न हि सर्वेऽप्यनिदानिनोऽविकलचारित्रिणो वा तत्कालं म्रियन्ते जिनमतप्रतिपन्ना अपि, तीर्थान्तरीयास्तु दूरोत्सारिता एव, तेषु हि गृहिणस्तावदत्यन्तं नानाशीला एव, यतः–केचिद्वहाश्रमप्रतिपालनमेव महाव्रतमिति प्रतिपन्नाः, अन्ये तु सप्त शिक्षापदशतानि गृहिणां व्रतमित्याद्यनेकधैव ब्रुवते, भिक्षवोऽप्यत्यन्तं विषमशीला एव, यतस्तेषु केषाञ्चित्पञ्चयमनियमात्मकं व्रतमिति दर्शनम्, अपरेषां तु कन्दमूलफलाशितैव इति, अन्येषामात्मतत्त्वपरिज्ञानमेवेति विसदृशशीलता, न च तेषु क्वचिदविकलचारित्रसम्भव इति सर्वत्र पण्डितमरणाभाव इति सूत्रार्थः ॥ १९ ॥ विषमशीलतामेव भिक्षूणां समर्थयितुमाह—

संति एगेहि भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा । गारत्थेहि य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ॥ २० ॥

व्याख्या—'सन्ति' विद्यन्ते 'एकेभ्यः' कुप्रवचनेभ्यो भिक्षुभ्यः 'गारत्थ'त्ति सूत्रत्वादगारस्थाः संयमेन–देश-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२१॥

दीप अनुक्रम [१४९]

विरत्यात्मकेनोत्तराः–प्रधानाः संयमोत्तराः, कुप्रवचनभिक्षवो हि जीवाद्यास्तिक्यादपि बहिष्कृताः सर्वथाऽचारित्रिणश्चेति कथं न सम्यग्दृशो देशचारित्रिणो गृहिणस्तेभ्यः संयमोत्तराः सन्तु ?, एवं सत्यगारस्थेष्वेव तदस्तित्वत्यत आह–'अगारस्थेभ्यश्च सर्वेभ्य' इति अनुमतिवर्जसर्वोत्तमदेशविरतिप्राप्तेभ्योऽपि साधवः संयमोत्तराः, परिपूर्णसंयमत्वात्तेषां, तथा च वृद्धसम्प्रदायः–एगो सावगो साहुं पुच्छति–सावगाणं साहूणं किमंतरं ?, साहुणा भण्णति–सरिसवमंदरंतरं, ततो सो आउलीहूओ पुणो पुच्छति–कुलिंगीणं सावगाण य किमंतरं ?, तेण भण्णति–तदेव सरिसवमंदरंतरंति, ततो समासासितो, जतो भणियं–"देसेक्कदेसविरया समणाणं सावगा सुविहियाणं । जेसिं परपासंडा सतिमंपि कलं न अग्घंति ॥ १ ॥" तदनेन तेषां चारित्राभावदर्शनेन पण्डितमरणाभाव एव समर्थित इति सूत्रार्थः ॥२०॥ ननु कुप्रवचनभिक्षवोऽपि विचित्रलिङ्गधारिण एवेति कथं तेभ्योऽगारस्थाः संयमोत्तराः, अत आह—

चीराजिणं निगिणिणं, जडी संघाडि मुंडिणं । एयाइंपि न तायंति, दुस्सीलं परियागतं ॥ २१ ॥

व्याख्या—चीराणि च–चीवराणि अजिनं च–मृगादिचर्म चीराजिनं 'णिगिणिणं'ति सूत्रत्वान्नाश्यं 'जडि'त्ति

१ एकः श्रावकः साधुं पृच्छति–श्रावकाणां साधूनां (च) किमन्तरम् ?, साधुना भण्यते–सर्षपमन्दरान्तरम् , ततः स व्याकुलीभूतः पुनः पृच्छति–कुलिङ्गिनां श्रावकाणां च किमन्तरम् ?, तेन भण्यते—तदेव सर्षपमन्दरान्तरमिति, ततः समाश्वस्तः, यतो भणितम्—देशैकदेशविरताः श्रमणानां श्रावकाः सुविहितानाम् । येषां परपाषण्डाः शतीमपि कलां नार्घन्ति ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२१॥

दीप अनुक्रम [१४९]

भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य जटित्वं, सङ्घाटी–वस्त्रसंहतिजनिता 'मुंडिणं'ति यत्र शिखाऽपि स्वसमयतश्छिद्यते, ततः प्राग्वत् मुण्डित्वं, 'एतान्यपी'ति निजनिजप्रक्रियाविरचितव्रतिवेषरूपाणि लिङ्गान्यपि, किं पुनर्गार्हस्थ्यमित्यपिशब्दार्थः, किमित्याह–नैव त्रायन्ते भवाद्दुष्कृतकर्मणो वेति गम्यते, कीदृशम् ?–'दुःशीलं' दुराचारं 'परियागयं'ति पर्यायागतं–प्रव्रज्यापर्यायप्राप्तम्, आर्षत्वाच्च याकारस्यैकस्य लोपः, यद्वा–'दुस्सीलंपरियागयं'ति मकारोऽलाक्षणिकः, ततो दुःशीलमेव दुष्टशीलात्मकः पर्यायस्तमागतं दुःशीलपर्यायागतं, न हि कषायकलुषचेतसो बहिर्बकवृत्तिरतिकष्टहेतुरपि नरकादिकुगतिनिवारणायालं, ततो न लिङ्गधारणादि विशिष्टहेतुरिति सूत्रार्थः ॥ २१ ॥ आह— कथं गृहाद्यभावेऽप्यमीषां दुर्गतिरिति ?, उच्यते—

पिंडोलए व दुस्सीलो, नरगाओ न मुच्चइ । भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कमति दिवं ॥ २२ ॥

व्याख्या—'पिंडोलए व'त्ति वाशब्दोऽपिशब्दार्थः, ततश्च 'पिंडि सङ्घाते' पिण्ड्यते तत्तद्गृहेभ्य आदाय सङ्घात्यत इति पिण्डः तमवलगति–सेवते पिण्डावलगो–यः स्वयमाहाराभावतः परदत्तोपजीवी सोऽपि, आस्तां गृहादिमानित्यर्थः, दुःशीलः प्राग्वत्, 'नरकात्' स्वकर्म्मोपस्थापितात् सीमन्तकादेर्न मुच्यते, अत्र चोदाहरणं तथाविधद्रमकः, तत्र च–सम्प्रदायः–[1]रायगिहे णयरे एगो पिंडोलओ उज्जाणियाए विणिग्गए जणे भिक्खं हिंडइ, ण

१ राजगृहे नगरे एकः पिण्डावलगः उद्यानिकायै विनिर्गते जने भिक्षां हिण्डते, न

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२२॥

दीप अनुक्रम [१५०]

यं तस्स केणइ किंचि दिण्णं, सो तेसिं वैभारपव्वयकडगसन्निविट्ठाण पव्वतोवरि चडिऊण महतिमहालयं सिलं चालेइ, एएसिं उवरिं पाडेमित्ति रोद्दज्झाई विच्छुट्टिऊण ततो सिलातो निवडितो सिलातले संचुण्णियसव्वकातो य मरिऊण अप्पइट्ठाणे णरए समुप्पन्नो। तर्हि किमत्र तत्त्वतः सुगतिहेतुरित्याह–'भिक्खाए व'त्ति भिक्षामत्ति अकति वा भिक्षादो भिक्षाको, वा विकल्पे, अनेन यतिरुक्तः, गृहे तिष्ठति गृहस्थः स वा, शोभनं निरतिचारतया सम्यग्भावानुगततया च व्रतं–शीलं परिपालनात्मकमस्येति सुव्रतः, 'क्रामति' गच्छति 'दिवं' देवलोकं, मुख्यतो मुक्तिहेतुत्वेऽपि व्रतपरिपालनस्य दिवं क्रामतीत्यभिधानं जघन्यतोऽपि देवलोकप्राप्तिरिति ख्यापनार्थम्, उक्तं हि— "अविराहियसामण्णस्स साहुणो सावगस्स य जहण्णो। उववातो सोहम्मे भणितो तेलोक्कदंसीहिं ॥ १ ॥" अनेन व्रतपरिपालनमेव तत्त्वतः सुगतिहेतुरित्युक्तमिति सूत्रार्थः ॥ २२ ॥ यद्व्रतयोगाद्गृहस्थोऽपि दिवं क्रामति तद्वक्तुमाह—

अगारिसामाइयंगाइं, सड्ढी काएण फासए। पोसहं दुहओ पक्खं, एगराइं न हावए ॥ २३ ॥

१. च तस्मै केनचित् किञ्चिद्दत्तं, स तेषु वैभारगिरिकटकसन्निविष्टेषु पर्वतस्योपरि चटित्वा (आरुह्य) अतिमहतीं शिलां चालयति, एतेषामुपरि पातयामीति रौद्रध्यायी विच्छुट्य ततः शिलातो निपतितः शिलातले संचूर्णितसर्वकायश्च मृत्वाऽप्रतिष्ठाने नरके समुत्पन्नः। २ अविराद्धश्रामण्यस्य साधोः श्रावकस्य च जघन्येन। उपपातः सौधर्मे भणितस्त्रैलोक्यदर्शिभिः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२३॥

दीप अनुक्रम [१५१]

व्याख्या—अगारिणो–गृहिणः सामायिकं–सम्यक्त्वश्रुतदेशविरतिरूपं तस्याङ्गानि–निःशङ्कताकालाध्ययनाणुव्रतादिरूपाणि अगारिसामायिकाङ्गानि, 'सद्दि'त्ति सूत्रत्वात् श्रद्धा–रुचिरस्यास्तीति श्रद्धावान्, कायेनेत्युपलक्षणत्वान्मनसा वाचा च 'फासइ'त्ति स्पृशति सेवते, पोषणं पोषः, स चेह धर्म्मस्य तं धत्त इति पोषधः–आहारपोषधादिः, तं 'दुहतो पक्ख'न्ति तत एव द्वयोरपि सितेतररूपयोः पक्षयोश्चतुर्दशीपूर्णिमास्यादिषु तिथिषु 'एगराइं' ति अपेर्गम्यमानत्वादेकरात्रमपि, उपलक्षणत्वाच्चैकदिनमपि, 'न हावए'त्ति न हापयति–न हानिं प्रापयति, रात्रिग्रहणं च दिवा व्याकुलतया कर्तुमशक्नुवन् रात्रावपि पोषधं कुर्यात्, इह च सामायिकाङ्गत्वेनैव सिद्धेर्यदस्य भेदेनोपादानं तदादरख्यापनार्थमदुष्टमेव, यद्वा–यत एवं गृहस्थोऽपि सुव्रतो दिवं क्रामति अतोऽगारी सामायिकाङ्गानि स्पृशेत् पोषधं च न हापयेदित्युपदेशपरतया व्याख्येयमिति सूत्रार्थः ॥ २३ ॥ प्रस्तुतमेवार्थमुपसंहर्तुमाह—

एवं सिक्खासमावन्नो, गिहवासेऽवि सुव्वओ । मुच्चति छविपव्वाओ, गच्छे जक्खसलोगयं ॥ २४ ॥

व्याख्या—'एवम्' अमुनोक्तन्यायेन शिक्षया–व्रतासेवनात्मिकया समापन्नो–युक्तः शिक्षासमापन्नो गृहवासेऽपि, आस्तां प्रव्रज्यापर्याय इत्यपिशब्दार्थः, 'सुव्रतः' शोभनव्रतो मुच्यते, कुतः ?–छविः–त्वक् पर्वाणि च–जानुकूर्परादीनि छविपर्व तद्योगादौदारिकशरीरमपि छविपर्व ततः, तदनन्तरं च 'गच्छेद्' यायात् यक्षा–देवाः समानो लोकोऽस्येति सलोकस्तद्भावः सलोकता यक्षैः सलोकता यक्षसलोकता ताम्, इयं च देवगतावेव भवतीत्यर्थादेव-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२४॥

दीप अनुक्रम [१५२]

गतिमिति, अनेन च पण्डितमरणावसरेऽपि प्रसङ्गतो बालपण्डितमरणमुक्तमिति सूत्रार्थः ॥२४॥ साम्प्रतं प्रस्तुतमेव पण्डितमरणं फलोपदर्शनद्वारेणाह–

अह जे संवुडे भिक्खू, दुण्हमेगयरे सिया । सव्वदुक्खपहीणे वा, देवे वावि महिड्ढिए ॥ २५ ॥

व्याख्या—'अथे'त्युपप्रदर्शने 'य'इत्यनुद्दिष्टनिर्देशे 'संवृत'इति पिहितसमस्ताश्रवद्वारः 'भिक्षु'रिति भावभिक्षुः, स च द्वयोरन्यतरः-एकतरः 'स्यात्' भवेद्, ययोर्द्वयोरन्यतरः स्यात् तावाह–सर्वाणि–अशेषाणि यानि दुःखानि क्षुत्-पिपासेष्टवियोगानिष्टसंयोगादीनि तैः प्रकर्षेण–पुनरनुत्पत्त्यात्मकेन हीनो–रहितः सर्वदुःखप्रहीणः, स्यादिति सम्बन्धः, यद्वा–सर्वदुःखानि प्रहीणान्यस्येति सर्वदुःखप्रहीणः, आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वात् निष्ठान्तस्य परनिपातः, स च सिद्ध एव, ततः स वा देवो वा, अपिः सम्भावने, सम्भवति हि संहननादिवैकल्यतो मुक्त्यनवाप्तौ देवोऽपि स्यादिति, कीदृग् ?–महती ऋद्धिः–सुखादिसम्पदस्येति महर्द्धिक इति सूत्रार्थः ॥ २५ ॥ आह–गृहीमो देवो वा स्यादिति, यत्र चासौ देवो भवति तत्र कीदृशा आवासाः ? कीदृशाश्च देवा ? इत्याह–

उत्तराइं विमोहाइं, जुइमंताणुपुव्वसो । समाइण्णाइ जक्खेहिं, आवासाइ जसंसिणो ॥ २६ ॥

दीहाउया दित्तिमंतो, समिद्धा कामरूविणो । अहुणोववन्नसंकासा, भुज्जो अच्चिमालिप्पभा ॥ २७ ॥

१ भण्णयरेत्ति टीका । २ रिद्धिमंता इति टीका ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२६--२७॥

दीप अनुक्रम [१५४--१५५]

व्याख्या–'उत्तरा' उपरिवर्तिनोऽनुत्तरविमानाख्याः, सर्वोपरिवर्तित्वात्तेषा, विमोहा इवाल्पवेदादिमोहनीयोदयतया विमोहाः, अथवा मोहो द्विधा–द्रव्यतो भावतश्च. द्रव्यतोऽन्धकारो भावतश्च मिथ्यादर्शनादिः, स द्विविधोऽपि सततरत्नोद्योतितत्वेन सम्यग्दर्शनस्यैव च तत्र सम्भवेन विगतो येषु ते विमोहाः, द्युतिः–दीप्तिरन्यातिशायिनी विद्यते येषु ते द्युतिमन्तः, 'अणुपुव्वसो'त्ति प्राग्वदनुपूर्वतः क्रमेण विमोहादिविशेषणविशिष्टाः, सौधर्म्मादिषु ह्यनुत्तरविमानावसानेषु पूर्वपूर्वापेक्षया प्रकर्षवन्त्येव विमोहत्वादीनि, 'समाकीर्णा' व्याप्ता 'यक्षैः' देवैः, आ–समन्ताद्वसन्ति तेष्वित्यावासाः, प्राकृतत्वाच्च सर्वत्र नपुंसकतया निर्देशः, देवास्तु तत्र 'यशस्विनः' श्लाघान्विताः, दीर्घं—सागरोपमपरिमिततया आयुरेषामिति दीर्घायुषः, 'ऋद्धिमन्तो' रत्नादिसम्पदुपेताः, 'समिद्धा' अतिदीप्ताः, 'कामरूपिणः' कामः—अभिलाषस्तेन रूपाणि कामरूपाणि तद्वन्तः, विविधवैक्रियशक्त्यन्विता इत्यर्थः, न चैतदनुत्तरेष्वनुपपन्नं विशेषणमिति वाच्यं, विकरणशक्तेस्तत्रापि सत्त्वात्, 'अधुनोपपन्नसङ्काशाः' प्रथमोत्पन्नदेवतुल्याः, अनुत्तरेषु हि वर्ण्णद्युत्यादि यावदायुस्तुल्यमेव भवति, 'भूयोऽर्चिमालिप्रभा' इति, भूयःशब्दः प्राचुर्ये, ततः प्रभूतादित्यदीप्तयो न ह्येकस्यैवादित्यस्य तादृशी द्युतिरस्तीति भूयोग्रहणमिति सूत्रार्थः ॥ २६ ॥ २७ ॥ उपसंहर्तुमाह—

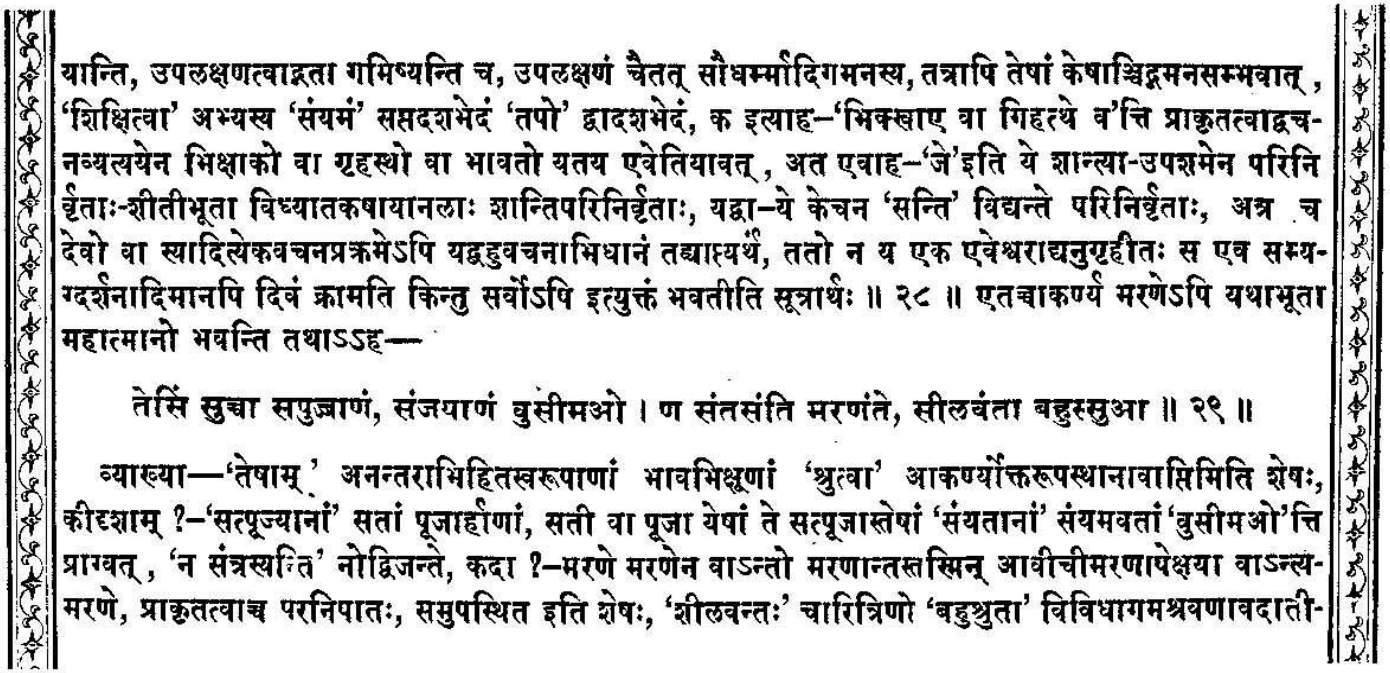
ताणि ठाणाइ गच्छंति, सिक्खित्ता संजमं तवं । भिक्खाए वा गिहत्थे वा, जे संतिपरिनिव्वुडा ॥ २८ ॥

व्याख्या—'तानि' अभिहितरूपाणि तिष्ठन्त्येषु सुकृतिनो जन्तव इति स्थानानि-आवासात्मकानि 'गच्छन्ति'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२८॥

दीप अनुक्रम [१५६]



यान्ति, उपलक्षणत्वाद्वता गमिष्यन्ति च, उपलक्षणं चैतत् सौधर्म्मादिगमनस्य, तत्रापि तेषां केषाञ्चिद्भमनसम्भवात्, 'शिक्षित्वा' अभ्यस्य 'संयमं' सप्तदशभेदं 'तपो' द्वादशभेदं, क इत्याह–'भिक्खाए वा गिहत्थे व'त्ति प्राकृतत्वाद्वचनव्यत्ययेन भिक्षाको वा गृहस्थो वा भावतो यतय एवेतियावत्, अत एवाह–'जे'इति ये शान्त्या-उपशमेन परिनिर्वृताः-शीतीभूता विध्यातकषायानलाः शान्तिपरिनिर्वृताः, यद्वा–ये केचन 'सन्ति' विद्यन्ते परिनिर्वृताः, अत्र च देवो वा स्यादित्येकवचनप्रक्रमेऽपि यद्बहुवचनाभिधानं तद्बाह्यर्थं, ततो न य एक एवेश्वराद्यनुगृहीतः स एव सम्यग्दर्शनादिमानपि दिवं क्रामति किन्तु सर्वोऽपि इत्युक्तं भवतीति सूत्रार्थः ॥ २८ ॥ एतच्चाकर्ण्य मरणेऽपि यथाभूता महात्मानो भवन्ति तथाऽऽह—

तेसिं सुच्चा सपुज्जाणं, संजयाणं वुसीमओ । ण संतसंति मरणंते, सीलवंता बहुस्सुआ ॥ २९ ॥

व्याख्या—'तेषाम्' अनन्तराभिहितस्वरूपाणां भावभिक्षूणां 'श्रुत्वा' आकर्ण्योक्तरूपस्यानावाप्तिमिति शेषः, कीदृशाम् ?–'सत्पूज्यानां' सतां पूजार्हाणां, सती वा पूजा येषां ते सत्पूजास्तेषां 'संयतानां' संयमवतां 'वुसीमओ'त्ति प्राग्वत्, 'न संत्रस्यन्ति' नोद्विजन्ते, कदा ?–मरणे मरणेन वाऽन्तो मरणान्तस्तस्मिन् आवीचीमरणापेक्षया वाऽन्त्यमरणे, प्राकृतत्वाच्च परनिपातः, समुपस्थित इति शेषः, 'शीलवन्तः' चारित्रिणो 'बहुश्रुता' विविधागमश्रवणावदाती-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२९॥

दीप अनुक्रम [१५७]

कृतमतयः, इदमुक्तं भवति–य एवाविदितधार्मिकगतयोऽनुपार्जितधर्माणश्च त एव मरणादुद्विजन्ते, यथा–कास्माभिर्मृत्वा गन्तव्यमिति, उपार्जितधर्माणस्तु धर्मफलमवगच्छन्तो न कुतोऽप्युद्विजन्ते, यथा–कास्माभिर्मृत्वा गन्तव्यं, यदुक्तम्–"चरितो निरुपक्लिष्टो धर्म्मो हि मयेति निर्वृतः स्वस्थः । मरणादपि नोद्विजते कृतकृत्योऽस्मीति धर्म्मात्मा ॥ १ ॥" इति सूत्रार्थः ॥ २९ ॥ इत्थं सकामाकाममरणस्वरूपमभिधाय शिष्योपदेशमाह—

तुलिया विसेसमायाय, दयाधम्मस्स खंतिए । विप्पसीइज्ज मेधावी, तहाभूएण अप्पणा ॥ ३० ॥

व्याख्या—'तोलयित्वा' परीक्ष्यात्मानं धृतिदार्ढ्यादिगुणान्वितमिति गम्यते, 'विशेषं' प्रक्रमाद्बालमरणपरिज्ञादिकं मरणभेदम् 'आदाय' बुद्ध्या गृहीत्वाऽभ्युपगम्येतियावत्, दयाप्रधानो धर्म्मो दयाधर्म्मो–दशविधयतिधर्मरूपः तस्य सम्बन्धिनी या क्षान्तिस्तया, उपलक्षणत्वात् मार्दवादिभिश्च, 'विप्रसीदेत्' विशेषेण प्रसन्नो भवेत्, न तु मरणादुद्विजेतेति भावः, 'मेधावी' मर्यादावर्त्ती 'तथाभूतेन' उपशान्तमोहोदयेन, यदिवा–यथैव मरणकालात्प्रागनाकुलचेता अभूत् मरणकालेऽपि तथैवावस्थितेन तथाभूतेनात्मना स्वयमयमपरकल्पोऽपि विप्रसीदेत्–कषायपङ्कापगमतः स्वच्छतां भजेत् न तु कृतद्वादशवर्षसंलेखनतथाविधतपस्विवन्निजाङ्गुलीभङ्गादिना कषायितामवलम्बेत मेधावी, किं कृत्वा ?–तोलयित्वा बालमरणपण्डितमरणे, ततश्च 'विशेषं' बालमरणात् पण्डितमरणस्य विशिष्टत्वलक्षणमादाय–गृहीत्वा तथा दयाधर्मस्येति, चशब्दस्य गम्यमानत्वात्, दयाधर्म्मस्य च–यतिधर्म्मस्य विशेषं–शेषधर्म्मातिशायित्वल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३०॥

दीप अनुक्रम [१५८]

क्षणमादायेति सम्बन्धः, कया विप्रसीदेत् ?–क्षान्त्या, तथाभूतेनेति निष्कषायेणात्मनोपलक्षित इति सूत्रार्थः ॥३०॥ विप्रसन्नश्च यत् कुर्यात्तदाह—

तओ काले अभिप्पेए, सड्ढी तालीसमंतिए । विणएज्ज लोमहरिसं, भेयं देहस्स कंखए ॥ ३१ ॥

व्याख्या—'तत' इति कषायोपशमानन्तरं 'काले' मरणकाले 'अभिप्रेते' अभिरुचिते, कदा च मरणमभिप्रेतम् ?, यदा योगा नोत्सर्प्पन्ति, 'सड्ढि'त्ति प्राग्वत् श्रद्धावान्, तादृशमिति भयोत्थं 'अन्तिके' समीपे गुरूणां मरणस्य वा 'विनयेद्' विनाशयेत्, कम् ?–लुनाति लीयन्ते वा तेषु यूका इति लोमानि तेषां हर्षो लोमहर्षस्तं–रोमाञ्चं, हा ! मम मरणं भविष्यतीति भयाभिप्रायसम्प्राप्यं, किं च–'भेदं' विनाशं 'देहस्य' शरीरस्य काङ्क्षेदिव काङ्क्षेत्, त्यक्ततत्परिकर्म्मत्वात्, अथवा 'तालिस'न्ति सुब्व्यत्ययात् तादृशो यादृशः प्रव्रज्याप्रतिपत्तिकाले संलेखनाकाले वा अन्तकालेऽपि तादृशः श्रद्धावान् सन्, उक्तं हि–'[1]जाए सद्धाए णिक्खंतो, परियायट्ठाणमुत्तमं । तमेव अणुपालेज्ज'त्ति, ईदृशश्च परीषहोपसर्गजं लोमहर्षं विनयेदिति सम्बन्धः इति सूत्रार्थः ॥ ३१ ॥ निगमयितुमाह—

अह कालंमि संपत्ते, आघायाय समुच्छयं । सकाममरणं मरति, तिण्हमन्नयरं मुणी ॥ ३२ ॥ त्तिबेमि

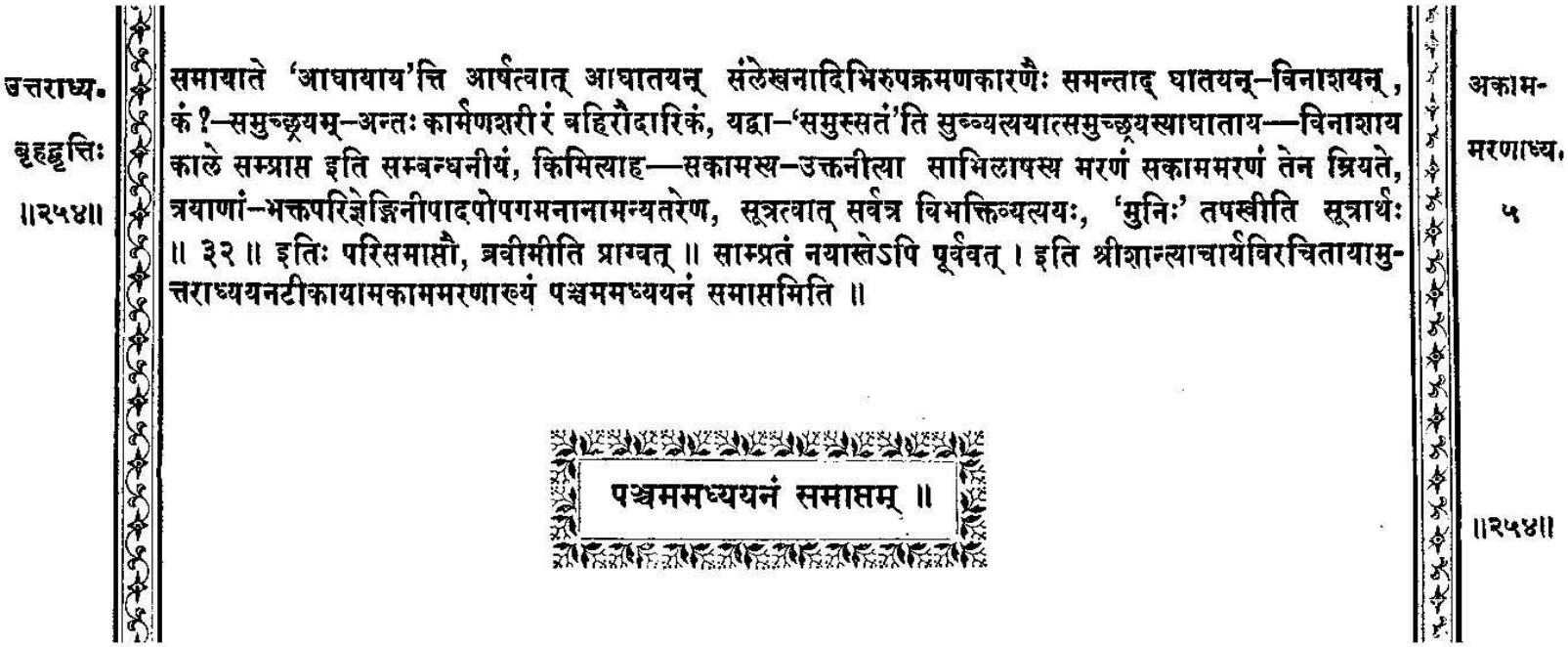
व्याख्या—'अथे'ति मरणाभिप्रायानन्तरं 'काल'इति मरणकाले सम्प्राप्ते 'णिप्फोइया य सीसा' इत्यादिना क्रमेण

१ यया श्रद्धया निष्क्रान्तः, पर्यायस्थानमुत्तमम्। तामेवानुपालयेत्। २ निष्पादिताश्च शिष्याः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [१६०]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥२५४॥

समायाते 'आघायाय'त्ति आर्षत्वात् आघातयन् संलेखनादिभिरुपक्रमणकारणैः समन्ताद् घातयन्–विनाशयन्, कं ?–समुच्छ्रयम्–अन्तः कार्मणशरीरं बहिरौदारिकं, यद्वा–'समुस्सतं'ति सुव्व्यत्ययात्समुच्छ्रयस्याघाताय—विनाशाय काले सम्प्राप्त इति सम्बन्धनीयं, किमित्याह—सकामस्य–उक्तनीत्या साभिलाषस्य मरणं सकाममरणं तेन म्रियते, त्रयाणां–भक्तपरिज्ञेङ्गिनीपादपोपगमनानामन्यतरेण, सूत्रत्वात् सर्वत्र विभक्तिव्यत्ययः, 'मुनिः' तपस्वीति सूत्रार्थः ॥ ३२ ॥ इतिः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति प्राग्वत् ॥ साम्प्रतं नयास्तेऽपि पूर्ववत् । इति श्रीशान्त्याचार्यविरचितायामुत्तराध्ययनटीकायामकाममरणाख्यं पञ्चममध्ययनं समाप्तमिति ॥

पञ्चममध्ययनं समाप्तम् ॥

अकाम-मरणाध्य. ५ ॥२५४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भाग 35	'उत्तराध्ययनानि'-मूलसूत्र [४/१] मूलं एवं शान्त्याचार्यजी रचिता टीका परिसमाप्ता: मूल संशोधकः सम्पादकश्च पूज्य आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब किंचित् वैशिष्ट्य समर्पितेन सह पुन: संकलनकर्ता मुनि दीपरत्नसागरजी [M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

	सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि भाग १ से ४० में कहां क्या मिलेगा?		
भाग	इस भागमे समाविष्ट आगम के नाम और आगम-क्रम		कुलपृष्ठ
01	आगम ०१ आचार मूलं एवं वृत्ति भाग-१ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- १,२		३१४
02	आगम ०१ आचार मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- ३ से ९, श्रुतस्कन्ध- २		५८६
03	आगम ०२ सूत्रकृत मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- १ से १३		४९८
04	आगम ०२ सूत्रकृत मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन १४ से १६, श्रुतस्कन्ध-२		३९२
05	आगम ०३ स्थान मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ स्थान- १ से ४		५९४
06	आगम ०३ स्थान मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ स्थान- ५ से १० संपूर्ण		४९४
07	आगम ०४ समवाय मूलं एवं वृत्ति.		३३८
08	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ शतक- १ से ६		५९२
09	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ शतक- ७ से ११		५५२
10	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-३ शतक- १२ से २०		५१४
11	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-४ शतक- २१ से ४१ संपूर्ण		३८४
12	आगम ०६ ज्ञाताधर्मकथा मूलं एवं वृत्ति.		५२२
13	आगम-७,८,९,१०उपासकदशा, अंतकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण मूलं एवं वृत्ति.		५३८
14	आगम-११,१२, विपाक, उववाई मूलं एवं वृत्ति.		३८४
15	आगम १३ राजप्रश्नीय मूलं एवं वृत्ति.		३१४
16	आगम१४ जीवाजीवाभिगम भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. [प्रतिपत्ति-३-अतर्गत] सूत्र- १ से १३८		४८०
17	आगम१४ जीवाजीवाभिगम भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. [प्रतिपत्ति-३-अतर्गत] सूत्र- १३९ से प्रतिपत्ती-१० संपूर्ण		४८८
18	आगम १५ प्रज्ञापना भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. पद- १ से ५		४२६
19	आगम १५ प्रज्ञापना भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. पद- ६ से २२		५१४
20	आगम १५ प्रज्ञापना भाग-३ मूलं एवं वृत्ति. पद- २३ से ३६ संपूर्ण		३३६
21	आगम १६ सूर्यप्रज्ञप्ति मूलं एवं वृत्ति.		६१०

	सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि भाग १ से ४० में कहां क्या मिलेगा?		
भाग	इस भागमे समाविष्ट आगम के नाम और आगम-क्रम		कुलपृष्ठ
22	आगम १७ चन्द्रप्रज्ञप्ति मूलं एवं वृत्ति.		६१४
23	आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- १ एवं २.		३७६
24	आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- ३ एवं ४.		४२६
25	आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-३ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- ५ से ७.		३४४
26	आगम १९-३२ निरयावलिका, कल्पवतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा, चतु:शरण, आतुरपरत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, तंदुलवैचारिक, संस्तारक, गच्छाचार, गणिविदया, देवेन्द्रस्तव मूलं एवं छाया		३१२
27	आगम ३३ थी ३९ मरणसमाधि मूलं एवं छाया, निशीथ, ब्रुहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कंध, जीतकल्प/पंचकल्प, महानिशीथ मूलं एव		३३०
28	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-१, निर्युक्ति- १ से ५२१		४६६
29	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-२, निर्युक्ति- ५२२ से ९५१		४४२
30	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-३ निर्युक्ति- ९५२ से १२७३ अपूर्ण, [अध्ययन- १ से ४ अपूर्ण]		४६४
31	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-४ निर्युक्ति- १२७३ अपूर्ण से १६२३, [अध्ययन- ४ अपूर्ण से ६ संपूर्ण]		४२६
32	आगम ४१/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं वृत्ति.		४७२
33	आगम ४१/२ पिंडनिर्युक्ति मूलं एवं वृत्ति.		३७६
34	आगम ४२ दशवैकालिक मूलं एवं वृत्ति.		५९०
35	आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-१, अध्ययन- १ से ५		५२२
36	आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-२, अध्ययन- ६ से २१		४८२
37	आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-३, अध्ययन- २२ से ३६		४६६
38	आगम ४४ नन्दिसूत्र मूलं एवं वृत्ति.		५२८
39	आगम ४५ अनुयोगद्वार् मूलं एवं वृत्ति.		५६०
40	कल्प[बारसा]सूत्र... चतु:शरण, तन्दुलवैचारिक, गच्छाचार मूलं एवं वृत्ति.		३९४

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर गुरूभ्यो नम:

[भाग-३५] आगम 43/1

पूज्य आगमोध्धारक आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरेण संशोधित: संपादितश्च

"उत्तराध्ययनानि मूलसूत्र" [मूलं + निर्युक्ति: + शान्तिसूरि-रचिता वृत्ति:]

(किंचित् वैशिष्ठ्यं समर्पितेन सह)

मुनि दीपरत्नसागरेण पुन: संकलित:

"उत्तराध्ययनानि" मूलं एवं वृत्ति: नामेण परिसमाप्तं

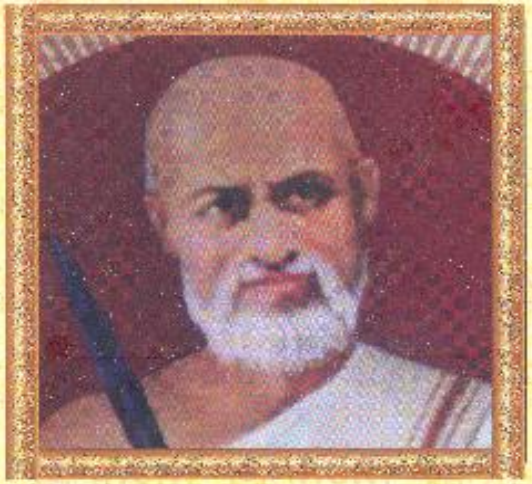
"सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि" श्रेणि, भाग-35


आगम
वाचना शताब्दी वर्ष

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

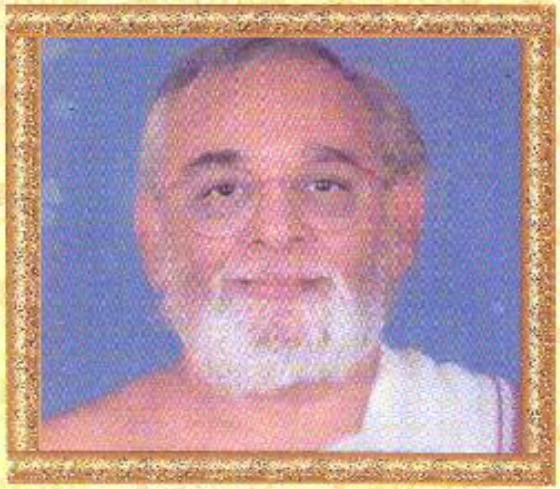
सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

मूल संशोधक



पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

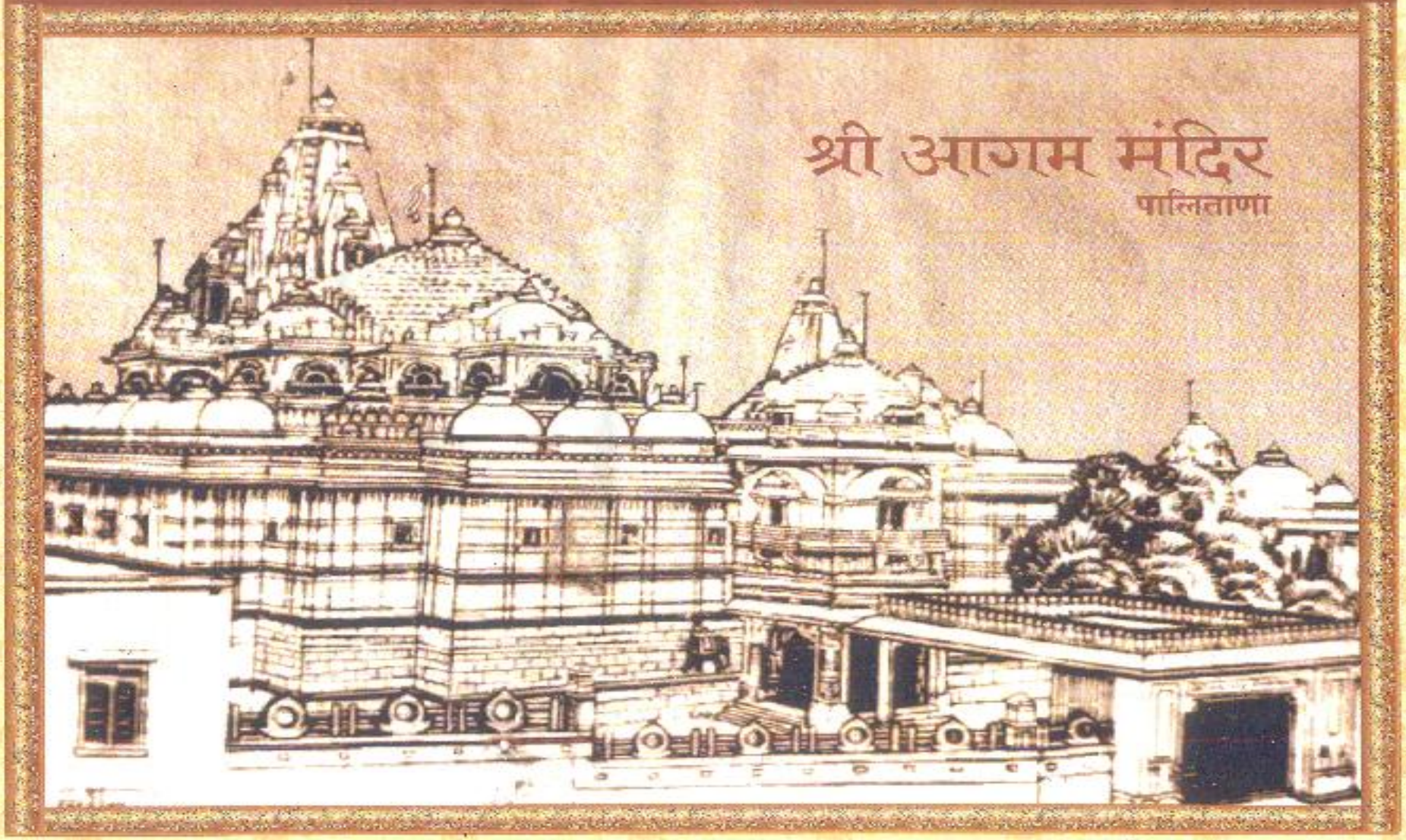
अभिनव-संकलनकर्ता

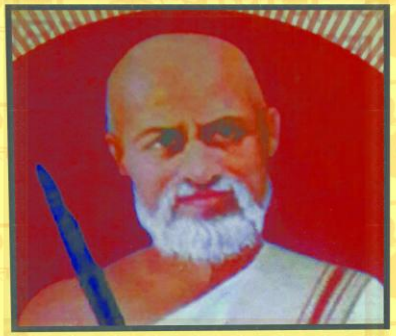


आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदाबाद Mo 9825598855 / 9825306275

ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता





मूल संशोधक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य

श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

आगम ४३

"उत्तराध्ययनानि" मूलं एवं वृत्तिः [१]

अभिनव-संकलनकर्ता

आगम दिवाकर **मुनिश्री दीपरत्नसागरजी**

[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

